स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-04
स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में कृषि का विकास

प्रथम खण्ड : उपनिवेशवाद और भारतीय कृषि का अल्पविकास 1760 से 1950 तक

द्वितीय खण्ड : भू-संपत्ति, कृषि ढाँचा और ग्रामीण ऋण

तृतीय खण्ड : भारतीय कृषि विकास : अस्थिरता तथा जल-व्यवस्था

चतुर्थ खण्ड : भारत में वृहद् तथा लघु सिंचाई

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-04
स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में कृषि का विकास

खंड
1

उपनिवेशवाद और भारतीय कृषि का अल्पविकास : 1760 से 1950 तक

इकाई 1

ब्रिटिश शासन का प्रारंभ और कृषिक भारत पर उसका प्रभाव : 1760-1850 5

इकाई 2

कृषि का अभ्युदय 20

इकाई 3

भारत में अकाल, 1760 से 1943 37

ई.ई.सी. 04 स्वतंत्रता के बाद भारत में कृषि का विकास

प्रस्तावना

यह पाठ्यक्रम स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में खेती के विकास से संबंधित है। इसमें 8 खंड हैं और यह इस खंड की औपनिवेशिक वसीयत से शुरू होता है। आठ क्रेडिटों का यह पाठ्यक्रम सामान्य वर्ग के उन छात्रों के लिए बनाया गया है जो अर्थशास्त्र में 16 से ज्यादा क्रेडिट लेना चाहते हैं। इस पाठ्यक्रम के परिशिष्टों के रूप में एक अतिरिक्त खंड भी होगा और वह उन छात्रों के लिए होगा जो अर्थशास्त्र में 48 या इससे अधिक क्रेडिट लेना चाहते हैं तथा जो परिशिष्टों के इस खंड में मूल्यांकित होने के लिए तैयार हैं, इससे उन्हें दो अतिरिक्त क्रेडिटें प्राप्त हो जाएंगी। यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को उपनिवेशी शासन की देन के परिप्रेक्ष्य में भारत के कृषि क्षेत्र के विकास में आने वाली समस्याओं तथा बाद में होने वाले भूमि सुधारों को गहराई से समझने और उन पर विस्तार से चर्चा करने का मौका देने के लिए तैयार किया गया है। साथ ही यह कृषि-उत्पादन की संवृद्धि तथा अस्थिरता और क्षेत्रीयता, सिंचाई के क्षेत्र में सरकारी निवेश, नई प्रौद्योगिकी का प्रयोग तथा उससे मिलने वाले लाभों, कीमतों, आर्थिक सहायता, कृषि के क्षेत्र में कराधान तथा ऋण नीतियों आदि का खाका भी प्रस्तुत करता है।

खंड 1 में 3 इकाइयाँ हैं। पहली इकाई में 1760 के दशक से लेकर 1850 के दशक के उपनिवेशी शासन के प्रभाव पर चर्चा की गई है तो दूसरी इकाई में 1850 के दशक में हुए रेलवे के विस्तार से शुरू होकर द्वितीय विश्व युद्ध तक के विकासों का उल्लेख किया गया है। तीसरी इकाई में भारत में उपनिवेशी शासन के विशिष्ट लक्षण अर्थात् बार-बार पड़ने वाले अकालों और विशेष रूप से रेलवे के चालू होने तथा स्वेज नहर के खुलने के बाद से पड़ने वाले अकालों और उसका आर्थिक अपवाह (economic drain) की प्रक्रिया से संबंध स्थापित करने पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

इकाई 1 ब्रिटिश शासन का प्रारंभ और कृषिक भारत पर उसका प्रभाव : 1760-1850

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 भारतीय ग्रामीण समाज
  1.2.1 रूढ़िबद्ध समाज
  1.2.2 पारस्परिक श्रम-विभाजन
1.3 ग्राम-समाज का विनाश
  1.3.1 पद्धतियाँ
  1.3.2 प्रत्यक्ष लूट का दौर
1.4 भू-राजस्व बंदोबस्त
  1.4.1 सामान्य लक्षण
  1.4.2 सामान्य परिणाम
1.5 राजस्व कृषि—मुख्य साधन
1.6 पूर्वी भारत : बंगाल प्रेज़ीडेन्सी
  1.6.1 राजस्व की बढ़ती मांग
  1.6.2 भूमि बाजार
  1.6.3 काश्तकारों पर बढ़ता बोझ
1.7 पश्चिमी भारत—बंबई प्रेज़ीडेन्सी
  1.7.1 बंबई—दक्खन में रैयतवारी प्रथा
  1.7.2 गुजरात तथा सौराष्ट्र
1.8 दक्षिण भारत : मद्रास प्रेज़ीडेन्सी
  1.8.1 सिंचाई तथा रैयतवारी प्रणाली
  1.8.2 परिणाम
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

- ब्रिटिश शासन के आगमन से पहले के पारंपरिक भारतीय ग्रामीण समाज के मुख्य लक्षणों की पहचान कर सकेंगे;
- ग्रामीण समाज को ध्वस्त कर देने वाले विभिन्न तरीकों को समझ सकेंगे; और
- सामान्य रूप से भू-राजस्व बंदोबस्तों और विशेष रूप से पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिण भारत के संदर्भ में इन बंदोबस्तों का विवेचन कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत में ब्रिटिश शासन के तीन चरणों और उन तीनों चरणों में आर्थिक अपवाह के बदलते प्रतिरूपों के बारे में हम ई.ई.सी-02 के खंड 1 में पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। 1760 के दशक से लेकर 1840 के दशक की अवधि में इंग्लैंड में (अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में) प्रथम औद्योगिक क्रांति का आगमन हो चुका था और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यह क्रांति काफी परिपक्व हो चुकी थी। इस अवधि के दौरान भारत के साथ इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था तथा शासन के बीच जो परस्पर अंत:क्रिया हुई उसकी प्रमुख बात यह थी कि इस अवधि में ईस्ट इंडिया कंपनी का उदय हुआ और प्लासी के युद्ध (1757) के

बाद से उसने भारत की अधिकाधिक भूमि पर कब्जा करना शुरू कर दिया और अंत में तथाकथित 'सिपाही विद्रोह' (1857) या जिसे इतिहासकार भारत का प्रथम विद्रोह का नाम देते हैं, के साथ कंपनी की राजनीतिक शक्ति तथा आर्थिक विशेषाधिकारों का अंत हो गया। कंपनी के विशेषाधिकारों की समाप्ति के साथ ही इंग्लैंड में कार्न कानूनों के रद्द हो जाने के बाद मुक्त व्यापार सिद्धांत की विजय हुई। कार्न कानूनों की समाप्ति से ब्रिटिश कृषकों को मिला संरक्षण, जिसके द्वारा ब्रिटेन के भू-स्वामी समूहों द्वारा एकाधिकारी लगान वसूल करने अर्थात् ऊंचे लगान तथा मजदूरी हासिल करने और उसकी वजह से खाद्यान्नों तथा कृषि-कच्चे मालों की अधिक कीमतें हो जाने तथा उनके कारण औद्योगिक लाभों में नुकसान पहुंचने और परिणामस्वरूप संपत्ति का संचयन हो जाने की क्लासिकी रिकार्डो-स्थिति समाप्ति हो गई। मुक्त व्यापार का उद्देश्य उपनिवेशों की लागत पर इंग्लैंड में पूंजी निर्माण तथा आर्थिक उन्नति को सुकर बनाना था। इस अवधि के शुरू में इंग्लैंड में उपनिवेशों से चूसी गई धन-संपदा तथा कोष पर प्राथमिक स्वामित्व संचयन की दौड़-सी शुरू हो गई क्योंकि यही संपदा तथा कोष वास्तविक पूंजी निर्माण के माध्यम से औद्योगिक क्रांति की जड़ों को मजबूत बनाने, संभवतः कुछ समय बाद, के काम आने थे। प्राथमिक संचयन के तर्क ने तथा इसके कारण ब्रिटेन में विनिर्माताओं की उन्नति ने ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के बीच अंतःक्रिया के स्वरूप को निर्धारित किया।

इस इकाई का उद्देश्य इस अवधि के दौरान इस अंतःक्रिया तथा उसके भारतीय अर्थव्यवस्था और विशेष रूप से कृषिक ढाँचे पर पड़े प्रभाव के स्वरूप की जाँच करना है। इस अंतःक्रिया की प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाली मुख्य संकल्पनात्मक समस्या यह है कि भारतीय ग्राम-समाज में भूमि के निजी स्वामित्व के संदर्भ में जो परिवर्तन आए उन्हें ठीक तरह से समझा जाए। इस संदर्भ में हम आपको यह ध्यान दिलाना चाहेंगे कि ई.ई.सी-02 के खंड 1 में हम देख चुके हैं कि अकालों तथा आर्थिक अपवाह के बीच कितना घनिष्ट संबंध है। यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत में ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ होने के एक दशक के भीतर अर्थात् 1770 में बंगाल का अकाल पड़ा और इस शासन का अंत भी 1943 के बंगाल के अकाल के साथ ही हुआ।

1.2 भारतीय ग्रामीण समाज

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन तथा पहले से विद्यमान भारतीय कृषिक ढाँचे के बीच जो परस्पर क्रिया हुई, उसका सार तत्व यह है कि श्रम द्वारा उत्पादित उत्पादों का अभूतपूर्व निष्कर्षण तथा निजी स्वार्थ के लिए उपयोग किया गया। इसका उद्देश्य आंतरिक अपवाह द्वारा कंपनी के हाथों में प्राथमिक संचयन की प्रक्रिया का संवर्धन करना और फिर बाह्य अपवाह द्वारा इंग्लैंड में धन-संपदा पर स्वामित्व हासिल करना था। अंतःक्रिया के इस उपनिवेशी तरीके का, विशेष रूप से प्रारम्भिक अवस्था में, मुख्य उद्देश्य यही रहा कि जहाँ तक देशी अर्थव्यवस्था का संबंध है प्राथमिक संचयन तथा उत्पादक पूँजी निर्माण और तकनीकी प्रगति के बीच जो सीधी कड़ी है उसे तोड़ दिया जाए। ऐसा जोर जबर्दस्ती करके हथियाने के असमान विनिमय के माध्यम से हुआ क्योंकि इसके जरिए महाशक्तियों द्वारा उपनिवेशी अर्थव्यवस्था पर निष्कर्षण की शक्तियों को आरोपित कर दिया गया और एक ओर तो उपनिवेशी अर्थव्यवस्था में प्राथमिक संचयन की प्रक्रिया कायम कर दी गई तो दूसरी ओर इसकी वजह से महाशक्तियों की अर्थव्यवस्था में तकनीकी प्रगति के माध्यम से उत्पादन पूँजी का निर्माण होने लगा। इस प्रक्रिया की वजह से भारतीय ग्रामीण समाज में कला-कौशलों, कृषि तथा सेवाओं के बीच पहले से विद्यमान संतुलन बुरी तरह से गड़बड़ा गया।

1.2.1 रूढ़िबद्ध समाज

लेकिन क्या कुछ ऐसा था जिसे भारतीय ग्रामीण समाज की संज्ञा दी जा सके? भारतीय ग्रामीण समाज का वर्णन करने वाले आर्थिक तथा समाजशास्त्रीय इतिहासकारों ने इसे व्यापक रूप से एक रूढ़िबद्ध समाज की संज्ञा दी है। हेनरी मेन, कार्ल मार्क्स तथा डेनियल थार्नर जैसे विभिन्न विद्वानों के बीच यद्यपि विचारों में भिन्नता है परन्तु रूढ़िबद्ध समाज के बारे में उनके विचारों को साररूप में इस तरह व्यक्त किया जा सकता है:

गाँव के समाज एक तरह से कबीले के भाईचारे के प्रतिरूप थे, उनमें से कुछ तो अपने को एक बड़े समूह या कुल से संबद्ध मानते थे और कुछ, शायद जाति के धुंधले बंधन को छोड़कर, स्वयं को किसी बाहरी संस्था से असंबद्ध मानते थे। गांवों का संगठन इस प्रकार का होता था कि वे कृषि तथा हस्तशिल्प उद्योग दोनों में स्वावलंबी होते थे। समूह के अधिकांश लोग खेतिहर परिवारों के होते थे, इनके अलावा जो भी परिवार होते थे उनके बीच भाईचारा इसलिए होता था कि वे ऐसे परिवारों के सदस्य होते थे जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसे छोटे-छोटे कलात्मक उत्पाद करने के कार्य में लगे हुए थे जो उस छोटे से समाज के लिए उपयोगी या आरामदायक होते थे। इनमें गाँव का चौकीदार भी होता था, गाँव की पुलिस भी होती थी और झगड़ों के निपटान तथा नागरिक व्यवस्था कायम रखने के लिए संगठित सत्ता भी होती थी।

उपर्युक्त वर्णन बहुत कुछ मेन द्वारा प्रस्तुत एक रूढ़िबद्ध समाज की अनिवार्य विशेषताओं के चित्रण से मिलता जुलता है। इसे मार्क्स द्वारा लिखे गए भारत संबंधी लेख में ग्रामीण क्षेत्रों के 'लघु गणराज्य' के वर्णन के अनुरूप भी कहा जा सकता है। लेकिन यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस रूढ़िबद्ध-समाज के बारे में मार्क्स की जो संकल्पना है उसे एशियाई समाज, जिसे वह मोटे तौर पर द्रवचालित समाज (hydraulic society) पर आधारित मानते हैं, से संबंधित सामान्य सिद्धांत के एक तत्व के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। मार्क्स का यह विचार था कि अक्सर एक अच्छे पैमाने पर पानी प्राप्त करना निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण होता है। जैसा कि उनका कहना था समाज के आधार स्थल पर इन 'लघु गणराज्यों' के निर्माण तथा साथ ही सम्पत्ति के अधिकारों के स्वरूप के लिए 'अत्यधिक अभीष्ट' यही है कि ऐसे अधिकार ऊँचे स्तर पर विकसित हुए हैं। जब से मार्क्स ने यह लिखा है, के.ए. विटफोजल ने इसी प्रकार के विचारों की पुष्टि के लिए अपने विवेचक साक्ष्य भी प्रस्तुत किए हैं, हालांकि 'एशियाई समाज' या 'पूर्वात्य निरंकुश तंत्र' जैसी स्पष्ट संकल्पना की विद्यमानता पर ही बहुत से विद्वानों के बीच मतभेद है।

1.2.2 पारस्परिक श्रम-विभाजन

इस रूढ़िबद्ध समाज में दो अन्य बातों का होना भी बताया गया। पहला, कि ग्रामीण समाज के आधारिक स्तर पर ये छोटे-छोटे ग्राम समुदाय अनिवार्य रूप से स्थैतिक थे और प्रौद्योगिकी-संगठन तथा श्रम के विभाजन, रीतिरिवाजों और समग्र व्यवहार प्रणाली की दृष्टि से हजारों वर्षों से अधिकांशतः स्थिर ही बने रहे थे। दूसरे, विनिमय अर्थात् मुद्रा के माध्यम से व्यापार की भूमिका ग्राम-स्तर पर न्यूनतम थी और निश्चित रूप से वह अपनी उस प्रकार की दुहरी भूमिका-अर्थात् घरेलू शिल्प इकाइयों के साथ समाकलन की और सामंती गठजोड़ों के साथ विघटनकारी—तो निभा ही रही थी जैसी कि सामंतवाद के ह्रास के साथ पश्चिमी यूरोप में बढ़चढ़कर निभा रही थी। ऐसा अधिकांशतः इसलिए था कि शिल्पों, सेवाओं तथा कृषि के बीच ग्राम स्तर पर एक संतुलन था और यह संतुलन जाति व्यवस्था द्वारा स्वीकृत सामाजिक श्रम विभाजन की अन्तर्भूत पारस्परिकता पर आधारित था। इसी पारस्परिकता की वजह से वस्तुओं तथा सेवाओं की पारंपरिक वस्तु विनिमय प्रणाली का जन्म हुआ जिसके बचे-खुचे रूप को समाजशास्त्री 'जजमानी' (यजमानी) व्यवस्था का नाम देते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न तो मेन का ही और न मार्क्स का ही यह कहना है कि यह रूढ़िबद्ध ग्राम-समाज स्तरीकृत या सोपानिक नहीं था और कि इसके अंतर्गत शक्ति तथा विशेषाधिकारों का असमान वितरण नहीं होता था। इस बात पर जोर देना इसलिए जरूरी है कि बाद पोवेल से लेकर अभी हाल तक पश्चिमी देशों के विश्वविद्यालयों से जो कृतियाँ आ रही हैं उनमें रूढ़िबद्ध समाज के इस मूलभूत घटक को नकारने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के हाल के प्रयत्नों को यदि कठोरता के साथ कहा जाए तो ये पारंपरिक ग्राम-समाज के संबंध में ब्रिटिश शासन की अत्यंत विध्वंसकारी भूमिका को कम करके दिखाने की चाल है।

इसका यह अर्थ नहीं कि बाद के अनुसंधानकर्त्ता रूढ़िबद्ध समाज के इन अनिवार्य घटकों का वर्णन करना जरूरी ही नहीं समझें। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि मुगल काल के उत्तरार्द्ध में सामंतीकरण के कुछ रूप या सामंतीकरण की प्रक्रिया देश के एक बड़े भाग में काफी उन्नत दशा में पहुँच गई थी। लेकिन थार्नर का कहना यह है कि यदि हम भारत में मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में हुए कुछ विकासों को किसी प्रकार के 'सामंतवाद' की निशानी की संज्ञा दे भी देते हैं तो भी उससे विश्लेषणात्मक अंतर्दीष्ट में कोई खास बढ़ोत्तरी नहीं होगी।

लेकिन इन दोनों ही मतों का यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ब्रिटिश शासन से पूर्व और ब्रिटिश शासन के बाद की अवधि अर्थात् 1760 के पहले और बाद की अवधि, विशेष रूप से 1793 के बाद से जब बंगाल में स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया, के बीच भूमि-संबंधों तथा ग्राम-समाज की संरचना में कोई मूलभूत परिवर्तन आया ही नहीं। ब्रिटिश शासन काल के दौरान लागू हुई पट्टेदारी व्यवस्था को यदि महादेशीय तथा उपनिवेशी अर्थव्यवस्था के बीच आर्थिक संबंधों की समग्रता के संदर्भ में देखा जाए तो इस व्यवस्था ने ग्रामीण क्षेत्रों में निष्कर्षण की ऐसी नई शक्तियों को चालू या कहिए जबर्दस्ती चालू कर दिया जो आगे चलकर आर्थिक अपवाह की प्रक्रिया में सहायक बन गई।

हम इसके बाद वाले खंड में ब्रिटिश शासन से पूर्व के इस 'ग्राम समुदाय' के बारे में व्यापक रूप से अध्ययन करेंगे और यह भी देखेंगे कि ब्रिटिश शासकों ने संपत्ति के बारे में जो नया नियम बनाया उसके माध्यम से इसमें क्या परिवर्तन आए या कितना इसमें नुकसान हुआ।

1.3 ग्राम-समाज का विनाश

बाद के अनुसंधानों ने भारतीय ग्राम-समाज के रूढ़िबद्ध प्रकार के सौम्य स्वावलंबी (idyllic self-sufficient) स्वरूप पर बल दिया। यह समाज कृषि, शिल्पों तथा सेवाओं के बीच ग्राम स्तर पर संतुलन पर आधारित था, उसमें मुद्रा तथा विनिमय का कोई खास दखल नहीं था किन्तु उसमें व्यापक पारस्परिक श्रम विभाजन मौजूद था। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि 1813 तक ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार के साथ ब्रिटिश शासन के लागू हो जाने तथा उस एकाधिकार के समाप्त हो जाने पर ब्रिटिश विनिर्माताओं की घुसपैठ से ग्राम-अर्थव्यवस्था के आधार का ही ऐसा व्यापक सर्वनाश और रूपांतरण हो गया जैसा पहले कभी नहीं हुआ था।

1.3.1 पद्धतियाँ

हम ई.ई.सी.-02 के खंड एक में पहले ही देख चुके हैं कि प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी, इंग्लैंड तथा यूरोप में व्यापार के लिए जो भी माल भारत से निर्यात करती थी उसके विनिमय के रूप में देने को उसके पास कुछ खास था ही नहीं। इसलिए प्रारंभ में तो कंपनी और उसके प्रतिनिधियों ने माल के किसी विनिमय के माध्यम द्वारा निष्कर्षण करने की बजाय इस देश से सीधी लूट करना ही शुरू किया। गाँव की अर्थव्यवस्था के पतन का दूसरा बड़ा महत्वपूर्ण स्रोत उन सार्वजनिक निर्माणों को सींचने में कोताही की गई जो गाँव की अर्थव्यवस्था तथा ब्रिटिश-पूर्व शासक समुदाय के उच्च पदस्थ लोगों के बीच करद संबंधों (tributory relations) के मुख्य कार्यमूलक आधार हुआ करते थे। इसके बाद भूसंपत्ति पर बड़े पैमाने पर स्वामित्व स्थापित करने की अंग्रेजी प्रणाली का पदार्पण हो गया, जिसके अंतर्गत इसे एक वस्तु के रूप में खरीदने-बेचने तथा स्वामित्व हासिल करने की संभावना पैदा हो गई और फिर राजस्व जमींदारी प्रथा का आगमन हो गया। अंत में, इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के परिपक्व होते ही वहाँ के शासकों ने आयातों पर सीधा निषेध लागू करने तथा/या भारत में बने माल पर पहले इंग्लैंड में और फिर यूरोप में आयात पर भारी शुल्क लगाए जाने शुरू कर दिए।

1.3.2 प्रत्यक्ष लूट का दौर

1765 में कंपनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की 'दीवानी' मिल गई अर्थात् उन्हें इस बड़े क्षेत्र के वित्त पर पूरा नियंत्रण मिल गया।

1765 से 1772 तक कंपनी ने एक दुहरे प्रशासन के अंतर्गत काम किया यानी वे मुगल प्रशासन के साथ सत्ता में भागीदार बने।

इस अवधि के दौरान कंपनी अधिकारियों का मुख्य ध्येय गरीब ग्रामीण किसानों से यथा संभव ज्यादा से ज्यादा धन वसूल करना था। सबसे ज्यादा बोली देने वाले के पक्ष में मालगुजारी बंदोबस्त कर देना उस समय का प्रचलित कानून था।

कंपनी के एक कर्मचारी ने 1769 में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को लिखा "किसी भी अंग्रेज को

यह सोचकर अवश्य दुःख होगा कि जब से कंपनी को दीवानी हासिल हुई है तब से इस देश के लोगों की हालत पहले से बदतर हो गई है किन्तु फिर भी तथ्य यह है कि यह सुंदर देश जो अत्यधिक निरंकुश और स्वेच्छाचारी सरकार के अधीन भी फलाफूला अब विनाश के कगार पर खड़ा है।''

यह बात एक भविष्यवाणी सिद्ध हुई क्योंकि अगले ही वर्ष 1770 में अर्थात् बलात् निष्कर्षण के केवल पाँच वर्ष बाद ही बंगाल में भीषण अकाल पड़ा और सरकारी अनुमान के अनुसार वहाँ की एक तिहाई आबादी काल का ग्रास बन गई। बंगाल में इस अकाल का प्रभाव वैसा ही था जैसाकि इंग्लैंड में ब्लैक डेथ का हुआ था लेकिन उसके बाद जो दीर्घकालीन घटनाएँ घटीं वे इंग्लैंड से काफी भिन्न थीं। ब्लैक डेथ की वजह से इंग्लैंड में मजदूरों की कमी हो गई थी और वहाँ कृषिदास प्रथा का पतन हो गया था। लेकिन दूसरी ओर बंगाल तथा पूर्वी भारत में विपन्नता तथा अर्द्धदासत्व की परिस्थितियाँ एक प्रकार से स्थायी-सी बन गईं।

बंगाल के आखिरी नवाब मुर्शीद कुली खाँ के शासन के अंतिम वर्षों (1760-63) के दौरान कुल मालगुज़ारी की राशि के मूल्यांकन (असली जुम्मा) के बारे में उपलब्ध सूचना के अनुसार 1770 के अकाल के वर्ष में भी ईस्ट इंडिया कंपनी को कम से कम दस गुनी धनराशि जमा करने में सफलता मिली।

1772 में फोर्ट विलियम में गवर्नर के रूप में बैठने वाले वारेन हैस्टिंग्स ने कंपनी के संचालन मंडल को आश्वस्त किया कि अकाल की भीषणता तथा उसमें लोगों के मर जाने के बावजूद बंगाल और बिहार दोनों में बंदोबस्त करने में प्रगति हुई है और अकाल वाले वर्ष और उसके बाद वाले वर्ष में मालगुजारी की वसूली अकाल पूर्व वर्षों के औसत से अधिक हुई है क्योंकि यह वसूली सेना की सहायता से कंपनी के कर्मचारियों द्वारा की गई है जो सूर्यास्त कानून (सनसेट लॉ) द्वारा निरस्त पुराने पड़ गए क्षीण कारकूनों के बाद भावी नए जमींदारों तथा भूमि सटोरियों के रूप में उभर कर आ रहे हैं। इस कानून द्वारा यह शर्त लगाई गई कि जमींदारों को एक नियत तिथि के सूर्यास्त तक मालगुजारी का नकद भुगतान करना होगा। जैसे ही कंपनी को खाद्यान्न की कमी पड़ने की आशंका नजर आई उसने सेना के लिए बड़ी मात्रा में अनाज का भंडारण शुरू कर दिया और उन्होंने विखंडित बाजार में थोड़े से बिक्री योग्य अधिशेष में से 1,20,000 से 1,50,000 मन अन्न आहरित कर लिया। 1943 में भी इसी प्रकार के परिणाम निकले थे—छोटी सी अवधि में ही चावल की कीमतों में काफी बढ़ोत्तरी हो गई जो कुछ क्षेत्रों में तो एक रुपए के 100 सेर से घटकर एक रुपए के तीन सेर बिकने लगे।

''ऐसा प्रतीत होता है कि यह मान लिया गया था कि बंगाल के पास व्यापक स्रोत उपलब्ध हैं और इस धारणा पर आधारित जो उपाय अपनाए गये वे बंगाल की सरकार के लिए अधिकांश में बड़ी विपत्ति के कारण बने। दूसरी प्रेज़ीडेन्सियों में निवेश बढ़ाने के लिए या उनके कोष में से फिजूलखर्ची के लिए जो भी धन व्यय किया गया उसकी भरपाई के लिए बंगाल की ओर ही देखा गया क्योंकि यह माना जाता था कि बंगाल के पास कभी न खत्म होने वाले धनस्रोत उपलब्ध हैं। इसलिए बंगाल से धन का बहाव साल-दर-साल बढ़ता गया। लेकिन बंगाल के धनस्रोत भी अनंत नहीं थे····1770 के अकाल ने बंगाल को तबाह करके रख दिया····मैं अन्य प्रांतों के सभी उत्प्रवासियों को भूमि तथा माल के साथ बंगाल में शरण दे सकता था····मैं इस बात की पुष्टि करता हूँ कि बंगाल में जब से (कंपनी को) दीवानी दी गई है (1765) तब से बंगाल में अंग्रेजों के जमीनी कब्जे से अधिक मालगुजारी वसूल की गई है।'' ये शब्द खुद वारेन हैस्टिंग्स के हैं।

हैस्टिंग्स ने कंपनी के साधन दो अरब तीन लाख पौंड वार्षिक तक बढ़ा दिए। बंगाल से प्राप्त लगभग नब्बे लाख के वेशी राजस्व को यूरोप के लिए निवेशों की खरीद, कर्ज को चुकाने, चीन को धन भेजने तथा फौज के व्यय की अदायगी में खर्च किया गया। इसी नीति के कारण अकाल पीड़ित बंगाल को राजस्व वसूली से मुक्त नहीं किया और वहाँ राजस्व न केवल कड़ाई के साथ वसूल किया गया बल्कि बहुत से मामलों में तो इसे बढ़ाकर वसूला गया। एक जिला कलक्टर ने कलकत्ता काउंसिल को लिखा कि भीषण अक़ाल का प्रभाव राजस्व वसूली पर अभी न तो दिखाई दे रहा है और न महसूस किया जा रहा है, सिवाय उनके जिनसे यह वसूला जा रहा है, क्योंकि अकाल के परिणामस्वरूप जनसंख्या तथा खेती में हुई कमी के बावजूद 1770 में राजस्व की निवल वसूली 1768 की अपेक्षा अधिक हुई।

बोध प्रश्न 1

1) आर्थिक तथा सामाजिक इतिहासकारों ने भारतीय ग्राम-समाज के लिए रूढ़िबद्धता शब्द प्रयुक्त किया है; उसका अर्थ क्या है? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सही के लिए 'स' और गलत के लिए 'ग' चिह्न लगाएं।

i) रूढ़िबद्ध ग्राम-समाज का आधार लघु गणराज्यीय समुदाय थे।

ii) ग्रामीण समाज में एकमात्र विनिमय माध्यम मुद्रा ही होती थी।

iii) विभिन्न धंधों के बीच ग्राम स्तर पर संतुलन जाति व्यवस्था द्वारा स्वीकृत सामाजिक श्रम विभाजन पर आधारित होता था।

3) पारंपरिक-ग्राम-समाजों का विनाश कैसे हुआ? (चार वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.4 भू-राजस्व बंदोबस्त

सन् 1772 के बाद से कंपनी ने विभिन्न प्रकार के बंदोबस्तों यथा पाँच वर्षीय, एक वर्षीय, दस वर्षीय बंदोबस्त के प्रयोग किए किन्तु लार्ड कार्नवालिस ने हमेशा के लिए एक नकद मालगुजारी नियत कर दी जिसे 'स्थायी बंदोबस्त' कहा गया और यह व्यवस्था 1950 के दशक में आकर ही समाप्त की गई।

मुगल प्रशासन के भूतपूर्व मालगुजारी इकट्ठा करने वालों अर्थात् 'जमींदारों' को भू-स्वामियों के रूप में परिवर्तित करके स्थायी बंदोबस्त प्रणाली ने भू-पट्टेदारी संबंधों पर अत्यधिक प्रभाव डाला जिसे आज तक महसूस किया जाता है। वास्तव में तो भारत जैसे प्राचीन देश में भूमि पर शासन स्थापित करने वाले नए विदेशी शासक लगातार ऐसी संकल्पनाओं—विशेषकर कानूनी संकल्पनाएँ तथा संपत्ति विषयक संकल्पनाएँ—को यहाँ लागू करने की कोशिश कर रहे थे जिनके वे अपने देश में अभ्यस्त थे। इन संकल्पनाओं में न केवल निजी संपत्ति की संकल्पना ही शामिल थी अपितु वे भी शामिल थीं जो भूस्वामी, काश्तकार, वैध लगानदाता काश्तकार, रैयत की परिभाषा तथा उनके अधिकारों से संबंधित थीं। हालाँकि, यह मानना गलत होगा कि ये परिवर्तन इसलिए किए जा रहे थे कि ब्रिटेन के शासक हैसियत अथवा प्रतिष्ठा (status) पर आधारित भारतीय समाज को संविदा पर आधारित समाज के रूप में परिवर्तित करने की कोशिश कर रहे थे।

1.4.1 सामान्य लक्षण

शुरू में तो ब्रिटिश अधिकारी पुरानी ग्राम व्यवस्था को बड़ी सरल मानते थे किन्तु कालांतर

में उन्होंने अधिकाधिक यह महसूस किया कि भू-संबंध वास्तव में बड़े जटिल हैं। परिणामस्वरूप, राज्य के प्रति राजस्व दायित्व को पूरा करने के साथ-साथ इन प्रशासकों ने राजस्व संबंधी कानूनों के जरिए गाँव के स्तर तक एक व्यवस्थित, संहिताबद्ध, लिखित कानूनी प्रावधानों तथा कानूनी संहिताओं की एक पूरी प्रणाली बनाना प्रारंभ कर दिया। स्पष्ट है इसके लिए वे उन्हीं संकल्पनाओं का सहारा ले रहे थे जिनसे वे अपने देश में वाकिफ थे। इन प्रावधानों को उन्होंने यथासंभव बिना किसी भेदभाव के लागू किया जिससे भारतीय ग्राम समाज में अभी तक प्रचलित पारंपरिक सामान्य अधिकारों पर सर्वाधिक व्यवस्थित रूप से तथा अभूतपूर्व हमला किया जा सका। इस प्रक्रिया को मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "केपीटल" के तीसरे भाग में बड़े अच्छे ढंग से इस तरह व्यक्त किया है:

> "यदि किसी राष्ट्र के इतिहास में ऐसा हुआ है तो वह भारत में अंग्रेजों के इतिहास में ही हुआ कि उन्होंने यहाँ बहुत से निरर्थक तथा वास्तव में बेतुके (व्यावहारिक रूप से कुख्यात) आर्थिक प्रयोग किए। बंगाल में उन्होंने इंग्लैंड की बड़े पैमाने की भू-संपदाओं का विकृत रूप पैदा कर दिया तो दक्षिण-पूर्वी भारत में लघु संपत्ति का विकृत रूप। उत्तर-पश्चिम भारत में उन्होंने भूमि पर पंचायती स्वामित्व वाले भारतीय आर्थिक समाज को अपने विकृत रूप में परिवर्तित करने का भरसक प्रयास किया।"

लेकिन देश के विभिन्न भागों में चालू किए गए राजस्व-जमींदारी प्रथा के औपचारिक प्रतिरूपों में काफी वैभिन्य के बावजूद उनका भूमि-संबंधों तथा प्रतिरूप या उत्पादन के ढंगों के सामान्य ढाँचे में मोटे तौर पर एक समान ही असर पड़ा। हालाँकि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में कुछ स्पष्ट भिन्नताएँ भी थीं जो न केवल पट्टेदारी कानूनों में देखी जा सकती थीं अपितु अन्य बहुत से पर्यावरणीय तथा आर्थिक कारकों और विशेष रूप से पानी की उपलब्धता आदि में दिखाई देती थीं। विभिन्न प्रकार की भू-राजस्व प्रणालियों की विशिष्टताओं का हम अगले खंड में अध्ययन करेंगे। यहाँ तो हम प्रारम्भिक दौर के कुछ सामान्य परिणामों पर ही चर्चा करेंगे।

1.4.2 सामान्य परिणाम

अधिकांश ब्रिटिश भारत में ग्राम-अर्थव्यवस्था को बड़े पैमाने पर प्रछन्न रूप से नष्ट कर देने के जो सामान्य परिणाम हुए उन्हें डेनियल थोर्नर ने सार रूप में इस तरह व्यक्त किया है:

"ये ब्रिटिश शासन से पहले की आर्थिक व्यवस्था (जिसमें सर्वप्रथम भूमि की उपज में राज्य के अंश का दावा शामिल है) के अवशेष रूप तथा निजी संपत्ति के आधुनिक पाश्चात्य विचारों का एक मिला-जुला रूप था। इसका परिणाम यह हुआ कि सर्वोपरि भूस्वामी (या अंतिम स्वामी) के रूप में राज्य से लेकर निचले स्तर पर उप भूस्वामियों (उपांतिम स्वामी) और फिर काश्तकारों के कई स्तरों तक के अधिकारों के कई स्तर बन गए। राज्य तथा वरिष्ठ भू-धारक लगान के रूप में भूमि से आमदनी प्राप्त करने का अधिकार लागू करने लगे और जब भी संभव हुआ काश्तकार भी अपने से निम्न अधिकार रखने वाले जुताईदारों से लगान वसूल करके अपनी भरपाई करने की कोशिश करने लगे। ....भारत के ग्रामीण इलाकों में प्रचलित इन अनूठे विशिष्ट कानूनी, आर्थिक तथा सामाजिक जटिल संबंधों ने, जिसे मैं कहना चाहूंगा, एक अंतर्भूत अवसादकारी प्रभाव (built-in depressor) पैदा कर दिए। इस बहुमुखी अवसादी के कारण भारतीय कृषि अल्प पूँजी तथा पुराने तरीकों से ही की जाती रही। असल जुताईदारों में बहुत कम ही ऐसे रहते थे जिन्हें खेती के आधुनिकीकरण में या खेतों के विखंडन जैसी जानी पहचानी बुराइयों को रोकने में कोई खास दिलचस्पी हो। जोत, खेती तथा फसल-बंटाई का जो रूप प्रचलित था उसकी वजह से कृषि की उपज भी कम ही होती रही।" भूमि संबंधों के इसी ढाँचें के कारण इंग्लैंड में पूँजी के संचयन में वृद्धि हुई और भारत में कृषि की उत्पादिता में कमी रही।

मौरिस डाब, आर.पी. दत्त तथा अन्यों का कहना है कि बंगाल के (बिहार और उड़ीसा समेत) तथा प्लासी के युद्ध (1757) और वाटरलू के युद्ध (1814) के बीच कंपनी के शासन में आए क्षेत्रों की लूट ने इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की जड़ों को सींचा। इसी वजह से, 1824 में साउथ सी बब्बल एक्ट के वापस लिए जाने के बाद 1825 में ब्रिटेन के निवेशकों ने लंदन शहर के पूँजी बाजार में इतनी भारी मात्रा में शेयरों की खरीद की कि उसकी संख्या पिछले वर्ष तक बकाया शेयरों के कुल मूल्य से अधिक थी—यह एक ऐसी असाधारण घटना है जिसका डब्लू.डब्लू. रोस्टोव ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर अपनी कृति में उल्लेख

किया है। भारत से प्राप्त राजस्व से होने वाले 'निवेश' तिजारती प्राथमिक संचयन के साधन बने और कुछ समय बाद इस तरह के संचयन को, जैसा डाब का कहना है, औद्योगिक संयुक्त पूँजी में तब्दील कर लिया गया।

1.5 राजस्व कृषि–मुख्य साधन

समीक्षाधीन अवधि के दौरान इंग्लैंड और भारत के बीच व्यापार तथा वाणिज्य ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाना शुरू कर दिया, विशेष रूप से 1813 के बाद जब कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। इससे भारतीय हस्तशिल्पों के ह्रास की प्रक्रिया शुरू हो गई और इसके फलस्वरूप भूमि के ऊपर उत्तरोत्तर भार बढ़ता गया और कृषि का वाणिज्यीकरण हो गया। लेकिन कंपनी के बढ़ते प्रभुत्व का कृषिक क्षेत्रक में हस्तक्षेप करने का प्रमुख साधन विभिन्न राजस्व खेती प्रणालियों के अधीन खेती के उपज के एक अंश को सीधे कब्जे में ले लेने का था। इस अवधि के दौरान यही तिजारती संचयन का मुख्य स्रोत था। हमने प्रारंभ में ही देखा कि कंपनी ने कैसे बंगाल में इसे अपने शासन के पहले दस वर्षों में वसूल किया था। वास्तव में तो कंपनी ने सबसे पहले पूर्वी भारत में, बंगाल से शुरू करके, अपना शासन स्थापित किया था और वहाँ का शासन कई रूपों में एक ऐसा मॉडल प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर भारत के अन्य हिस्सों में हुए परिवर्तनों का विश्लेषण किया जा सकता है या उनको समझा जा सकता है। अतः आरंभ में हम बंगाल प्रेज़ीडेन्सी में इस राजस्व खेती प्रणाली का ब्यौरेवार अध्ययन करेंगे और फिर बंबई तथा मद्रास की अन्य दो प्रेजीडेन्सियों में इसमें आए कुछ परिवर्तनों को देखेंगे ताकि हम इस अवधि के दौरान तिजारती संचयन के इस प्रमुख साधन का गहराई से अध्ययन कर सकें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जबर्दस्ती थोपे गए नमक एकाधिकार जैसे कुछ व्यापार संबंधी एकाधिकारों ने भी प्राथमिक संचयन की समग्र योजना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। फिर भी, कृषिक व्यवस्था पर प्रमुख प्रभाव विभिन्न प्रकार की राजस्व खेती के माध्यम से ही पड़ा।

बोध प्रश्न 2

1) भू-राजस्व बंदोबस्तों ने पारंपरिक ग्राम समाजों के विनाश को कैसे बढ़ावा दिया? (चार वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भू-राजस्व बंदोबस्तों को लागू करने के आम परिणाम क्या थे? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

3) समीक्षाधीन अवधि के दौरान तिजारती संचयन के मुख्य स्रोत क्या थे? (एक वाक्य में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

6 पूर्वी भारत : बंगाल प्रेज़ीडेन्सी

ाल, बिहार तथा उड़ीसा के एक भाग की दीवानी प्राप्त कर लेने के बाद जो प्रक्रियाएँ
ू की गईं उनके अनुसार 1765 से 1793 के बीच स्थायी बंदोबस्त द्वारा जमींदारों को
म का स्वामी घोषित कर दिया गया और सतत् रूप से उनकी राज्य को राजस्व देयता
ेश्चित कर दी गई, यह बात हम पहले ही पढ़ चुके हैं। यह व्यवस्था लार्ड कार्नवालिस ने
ू की, इसका उद्देश्य एक ओर तो कंपनी के डोमिनियनों की बढ़ती मांग के लिए
ास्व की स्थायी पूर्ति सुनिश्चित करना था और दूसरी ओर उद्यमी निवेशकों को कृषि की
र आकर्षित करने के लिए भू-संपत्ति को आकर्षक तथा उत्पादक बनाना भी था। राजस्व
ा काश्तकारी की स्थायी बंदोबस्त प्रणाली के विभिन्न पक्षों पर हम अगले खंड में
तार से चर्चा करेंगे। यहाँ तो हम इसके सामान्य लक्षणों तथा प्रभाव पर विचार करने
ी ही सीमित रहेंगे।

6.1 राजस्व की बढ़ती मांग

ायी बंदोबस्त का अर्थ भू-राजस्व को पूरी तरह निश्चित कर देना नहीं था। कंपनी
क्कर्त्ता (defaulting) जमींदारों की संपदाओं को समय-समय पर नीलाम करके तथा नई
ानमुक्त और कोरी भूमि का बंदोबस्त करके राजस्व में वृद्धि कर सकती थी। इस तरह
ना जिले में स्थायी बंदोबस्त से तत्काल पहले कुल कृषि उपज में सरकार का अंश
भग 45% था, किन्तु 1740 से 1850 के बीच की अवधि में चूककर्त्ता जमींदारों की
दा या पहले लगान मुक्त भूमियों का पुनः बंदोबस्त करके यह बढ़कर लगभग 48
ंशत हो गया। हालाँकि, एक लंबी अवधि तक कृषि उपजों की कीमतों में वृद्धि होती
इसलिए जमींदारों पर राजस्व मांग का वास्तविक बोझ कम हो गया। कर वृद्धि के
ार्डो के लगान संबंधी सिद्धांत ने परजीवी जमींदारों की लगान आमदनी पर कर बढ़ाने
तार्किक आधार प्रदान किया जिसके अनुसार इस वृद्धि से संभवतः उत्पादन पर कोई
कूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। लेकिन नए जमींदारों ने काफी पुरानी सिंचाई प्रणाली के
रखाव की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ली और इसलिए वह क्षीण हो गई। सरकार की
स्व की मांग इन राजस्व भूस्वामियों की लगान की आमदनी में से हिस्सा वसूली का एक
था किन्तु इन भूस्वामियों को अपने अधीन काश्तकारों पर बोझा बढ़ाने की खुली छूट दे
ाई थी। उड़ीसा और असम दोनों जगह समय-समय पर राजस्व मांग में वृद्धि की गई
नए शासन के पहले तीस वर्षों के दौरान यह सबसे ज्यादा थी। अपेक्षाकृत बड़ी
ाओं में राजस्व मांग उसकी लगान आमदनी से 80 से 85 प्रतिशत से शायद ही कभी
रही हो।

6.2 भूमि बाजार

स्व की अदायगी को कौड़ियों के स्थान पर चांदी के माध्यम से कर देने से कौड़ियों का
ह्रास हो गया और राजस्व के वास्तविक भार में तदनुरूप बढ़ोत्तरी हो गई। इसकी
ह से कृषि में वस्तु बाजार का निर्माण हो गया। राजस्व की बढ़ती मांग और फसल तथा
ज की कीमतों में उतार-चढ़ाव दोनों ने मिलकर भूमि बाजार को जन्म दिया क्योंकि
ंदार अपनी वित्तीय कठिनाइयों से उबरने के लिए अपनी परिसंपत्तियों को बेचने का
रा लेते थे। उदाहरणतः उड़ीसा में 1804 के पहले बंदोबस्त के 3000 मालिकों में आधे
धिक मालिकों की 1804 से 1818 के बीच मिल्कियत खत्म हो गई। बंगाल और
ार में अधिकांश बिक्री 1793-94 से 1806-7 के बीच हुई। इस तरह की बिक्री का
ला दौर उक्त शताब्दी के तीसरे दशक में चला जब बहुत बड़ी संख्या में संपदाएं बेची
इसका कारण वित्तीय तथा वाणिज्यिक संकट था जब बहुत से तिजारती और वित्तीय

एजेंसी घराने धराशायी हो गए। स्थायी बंदोबस्त के बाद लगभग दो दशकों तक भूमि की कीमतों में मंदी रही। लेकिन शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशकों में भूमि की कीमतों में बढ़ोत्तरी रही, सिवाय तीसरे दशक में कुछ मामूली-सा धक्का अवश्य लगा। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के पुराने जमींदारों को इन भूमि-सौदों तथा हस्तांतरणों से काफी हानि उठानी पड़ी, हालाँकि कुछ बड़ी जमींदारियाँ जैसे बंगाल में बर्दवान और बिहार में दरभंगा की जमींदारियाँ और भी समृद्ध होती रहीं। बहुत से नए जमींदार व्यापार तथा वाणिज्य के क्षेत्र से आए थे क्योंकि वे तिजारती मुनाफों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त आमदनी को ज़मीन खरीदने में निविष्ट करना चाहते थे।

1.6.3 काश्तकारों पर बढ़ता बोझ

राजस्व कृषि अधिकारों के स्वामित्व में होने वाले इन परिवर्तनों का एक परिणाम तो यह हुआ कि काश्तकारों तथा रैयतों पर बढ़ते लगान का दबाव पड़ने लगा। जबकि सरकार को देय राजस्व मांगें जो स्थायी बंदोबस्त के रूप में सीमित कर दी गई थीं, बंगाल में किसानों को अक्सर अपनी उपज का आधा भाग तक लगान के रूप में अदा करना पड़ता था। उड़ीसा में शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में आकर 'थानी' रैयतों को कभी-कभी तो अपनी पूरी उपज लगान के रूप में देनी पड़ जाती थी। चालीस के दशक में कृषि की कम कीमतों के दौरान 'थानी' लगान की दरें असहनीय बोझ बन गई और किसानों को इसकी अदायगी के लिए अपनी 90 प्रतिशत तक उपज बेच देनी पड़ती थी। बंगाल और बिहार के किसानों के लिए भी लगान देयताओं में काफी वृद्धि हो गई, हालाँकि यह उतनी असहनीय नहीं थी जितनी कि उड़ीसा के 'थानी' रैयतों के लिए थी। 1799 तथा 1812 में लागू किए गए कानूनों के अधीन जमींदारों को असाधारण शक्तियाँ प्राप्त हो गई थीं। इनके द्वारा वे मानकर चलते थे कि यदि उन्हें लगान की कोई कठिनाई होगी तो रैयतों तथा काश्तकारों को उसमें हिस्सेदारी करना लाजमी होगा। इस तरह की दुस्सह लगान देयताओं का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता व्याप्त हो गई और अनाज के व्यापारियों का ग्रामीण ऋणदाता के रूप में जन्म हो गया और पेशगी देने की प्रणाली के जरिए किसानों की उपज पर उनका नियंत्रण स्थापित हो गया। इस प्रकार बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में वाणिज्यीकरण तथा दरिद्रता की प्रक्रिया का बोलबाला हो गया जिसने भारत के अंदर आंतरिक आर्थिक अपवाह के जरिए इंग्लैंड में बाह्य प्राथमिक संचयन की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया।

1.7 पश्चिमी भारत : बम्बई प्रेज़ीडेन्सी

पश्चिमी भारत पर दो चरणों में विजय हासिल की गई। गुजरात पर ब्रिटिश आधिपत्य 1803 में हुआ और बंबई प्रेज़ीडेन्सी के बड़े हिस्से को 1818 में कब्जे में लिया गया। किन्तु भू-राजस्व की एक समान प्रणाली 1847 में आकर ही लागू की जा सकी। ब्रिटिश आधिपत्य के कुछ समय बाद ही एलफिस्टन तथा चेपलिन ने लिखा है, कि दक्खन में भूमि पर पारंपरिक आनुवंशिक अधिकार रखने वाले मीरासदारों की संख्या उपसारियों अर्थात् काश्तकार तथा मज़दूरों से कहीं ज्यादा थी। तब ऐसे बहुत से गाँव थे जो पूरा भू-राजस्व तथा इमाम भूमि तथा बंजर भूमि अदा करते थे। बंजर भूमि पूरे गाँव की शामिलात भूमि होती थी और इमाम भूमि पर नाममात्र लगान होता था। भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की संख्या बहुत कम होती थी। मराठा प्रणाली यह थी कि भू-राजस्व नकद या वस्तु रूप में अदा किया जा सकता है, यह राजस्व कुल उपज के लगभग एक तिहाई के बराबर होगा। दक्खन के पहले दो कमिश्नर और विशेष रूप से एलफिस्टन गाँव के मुखिया तथा मीरासदार के पारंपरिक अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहते थे।

1.7.1 बंबई-दक्खन में रैयतवारी प्रथा

बंगाल में स्थायी बंदोबस्त का कामकाज संतोषजनक नहीं लगा, अतः राजस्व का निर्धारण पहले तो पूरे गाँव को इकाई मानकर किया गया फिर उसे अलग-अलग उन किसानों के बीच विभाजित कर दिया गया जो सरकार के साथ अलग-अलग बांड भरते थे। इसे रैयतवारी प्रथा कहते थे। लेकिन पहले निर्धारण में ब्रिटिश अधिकारियों ने मराठा शासन काल के दौरान उच्चतम राजस्व दरों को मानक दर माना। किसानों को ऐसी ऊँची दर के

लगान को अदा करने के लिए अक्सर अपनी पूरी फसल साहूकार के पास बंधक रखनी पड़ती थी। लगभग दो दशकों तक किसान दरिद्र बनते रहे, गाँव के गाँव खाली हो गए और जमीनें बिना खेती खाली पड़ी रहीं। दक्खन का अकाल एक प्रमुख घटना बन गई। यहाँ तक कि अफसरों के बीच भी "बंबई सर्वेक्षण" द्वारा यह सामान्य सहमति थी कि यह सब अत्यधिक लगान निर्धारण के कारण हैं।

सर्वेक्षण तथा निर्धारण की एक व्यवस्था 1835 में बनाई गई, जिसे "बंबई सर्वेक्षण प्रणाली" कहा जाता है । इसे अपना काम पूरा करने में 60 वर्ष लगे और बंबई प्रेज़ीडेन्सी के अधिकांश भाग पर औपचारिक रूप से रैयतवारी प्रथा लागू कर दी गई। राजस्व देयताओं का निर्धारण सकल उपज या निवल उपज के अंश या किराया मूल्य के आधार पर नहीं अपितु किसानों के 'भुगतान सामर्थ्य' के आधार पर किया गया। भुगतान सामर्थ्य का निर्धारण बंदोबस्त अधिकारी करता था, जो सबसे पहले हाल में किए गए वास्तविक भुगतानों तथा तीस वर्षों के दौरान कीमतों तथा उपज में प्रत्याशित वृद्धि को मद्दे नजर रखकर पूरे क्षेत्र विशेष का लगान निर्धारित करता था और ये लगान दरें तीस वर्षों की अवधि तक तय रहती थीं। ये दरें सिंचाई सुविधा, मिट्टी की किस्म, बाजार की समीपता आदि जैसे कारकों पर भी निर्भर होती थीं। क्षेत्र विशेष की इस कुल राशि को फिर गाँव वासियों में विभाजित कर दिया जाता था। मीरासी तथा उपसारी की पारंपरिक काश्तकारियों को मिला दिया गया और उन्हें समान अधिकारों वाली काश्त माना गया। इस निर्धारण की प्रत्येक तीस साल बाद समीक्षा की जानी थी और इसका स्वत्व अंतरित या हस्तांतरित करने की पूरी आजादी थी।

1.7.2 गुजरात तथा सौराष्ट्र

मराठा दक्खन में यह प्रणाली चल रही थी, 18वीं शताब्दी के मध्य तक गुजरात का अधिकांश मैदानी इलाका और सौराष्ट्र के कुछ हिस्से मराठा आधिपत्य में आ चुके थे, अतः पेशवाओं ने कर की वास्तविक वसूली के काम का पट्टा गायकवाड़ को दे दिया। फिर गायकवाड़ ने राजस्व वसूली के लिए मध्यवर्तियों की एक शृंखला सी बना दी। जिले की वसूली का काम मराठा अधिकारियों के बीच बोली लगाकर उन्हें सौंप दिया गया फिर उन्होंने उसे पट्टे पर देसाई लोगों को दिया, जो आनुवंशिक रूप से परगना प्रमुख होते थे, देसाइयों ने पटेलों के साथ संविदा की, जो आनुवंशिक गाँव के मुखिया होते थे, और यह गाँव का मुखिया ही किसानों से असल में वसूली करता था। गुजरात की राजस्व प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि संविदा करते समय हर बिचौलिए को साहूकार या महाजन से गारंटी दिलानी होती थी। इन्हें मनौतीदार कहा जाता था, गारंटी देने की एवज में दिये जाने वाले शुल्क को मनौती कहते हैं। यह शुल्क ब्रिटिश शासन के प्रारंभ में तो 25 प्रतिशत तक होता था लेकिन शताब्दी के दूसरे दशक के अंत तक यह घटकर औसतन 2 प्रतिशत ही रह गया। राजस्व देयता पूरा करने में असफल होने पर मनौतीदार स्वतः ही गाँव की उस भूमि पर बंधक अधिकार प्राप्त कर लेता था। राजस्व वसूली प्रणाली में रास्ती या 'आज्ञाकारी' गाँवों तथा मेवाज़ी या उपद्रवी गाँवों के बीच भी भेद होता था क्योंकि मेवाज़ी गाँव राजपूतों, कोलियों तथा मुस्लिमों के होते थे जिन्हें मराठा 'जमींदार' कहते थे। रास्ती गाँव दो प्रकार के होते थे। पाटीदार या संयुक्त गाँव, जिन पर पाटीदारों यानी हिस्सेदारों का आधिपत्य होता था, इन गाँवों में राजस्व की अदायगी के लिए सभी हिस्सेदार संयुक्त रूप से जिम्मेवार होते थे और दूसरे सेंजा या गैर-हिस्सेदार गाँव, इनमें भूस्वामी व्यक्तिगत रूप से राजस्व की अदायगी का जिम्मेदार होता था।

बृहत्तर गुजरात पर कब्जा कर लेने के बाद उसका लगभग एक तिहाई भू-भाग बंबई प्रेज़ीडेन्सी का हिस्सा बन गया। ब्रिटिश गुजरात के इस भाग में ब्रिटिश लोगों ने भूमि संबंधी कुछ ऐसे विशेष अधिकारों की पहचान की जिसके अन्तर्गत उपद्रवी गाँवों के जमींदार, गैर-हिस्सेदारी वाले गाँवों के पाटीदार तथा विभिन्न प्रकार के अंतरित भूमि धारक आते थे जो या तो बहुत कम भू-राजस्व दे रहे थे या बिल्कुल नहीं दे रहे थे। ये जमींदार राजस्व देने वाले किसानों से काफी अधिक थे। वास्तव में तो वे शासक थे और कानून तथा व्यवस्था कायम करने वाले थे और अपने तालुकों से मनमानी तौर से कर वसूल करते थे। बंबई सरकार ने उनकी शक्तियों को कम करना शुरू किया और इसके लिए उन्होंने इन तालुकेदारी गाँवों से वसूली की अनुमानित राशि का 80 प्रतिशत भाग भू-राजस्व के रूप में वसूल करना शुरू कर दिया और उनके लिए केवल 20 प्रतिशत ही छोड़ा और उनके कानून तथा व्यवस्था वाले अधिकारों को भी छीन लिया। बाद में इस अंश को 30-35 प्रतिशत तक बढ़ा दिया और 1821 में वार्षिक निर्धारण की जगह पाँच या

सात साल तक के लिए नकद निर्धारण कर दिया गया। ऊँची दर पर इस निर्धारण के साथ ही कृषि उपज की कीमतों में गिरावट आने के फलस्वरूप साहूकारों से ऋणग्रस्तता और तालुकेदारों में दिवालियापन बढ़ने लगा।

ब्रिटिश आधिपत्य वाले गुजरात में 70 प्रतिशत से अधिक कृषि क्षेत्र हिस्सेदारी तथा गैर-हिस्सेदारी साधारण गाँवों का था जिनमें से बहुसंख्यक गैर-हिस्सेदारी वाले गाँव थे। प्रारंभ में तो हिस्सेदारी प्रणाली तथा गैर-हिस्सेदारी वाले साधारण गाँव प्रणाली दोनों को रैयतवारी प्रणाली में परिवर्तित कर दिया गया जिनमें उनकी पूर्व हैसियत को अनदेखा कर भू-खंड का व्यक्तिगत काबिज बना दिया गया और इस प्रकार पारंपरिक प्रणाली को पूरी तरह अनदेखा कर दिया गया। नकद राजस्व दर कुल उपज के आधे पर तय की गई जो काफी अधिक तथा मनमाने ढंग की थी। कपास की काली मिट्टी कृषि के तीव्र वाणिज्यीकरण के लिए तैयार और उर्वर भूमि सिद्ध हुई। लेकिन आम तौर पर कृषि अवरुद्ध थी और स्थायी बंदोबस्त वाले क्षेत्रों की तरह यहाँ भी वाणिज्यीकरण तथा दरिद्रता की प्रक्रियाएँ शुरू हो गईं।

1.8 दक्षिण भारत : मद्रास प्रेज़ीडेन्सी

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न युद्धों के कारण उत्पन्न हुई अनिश्चितता की अवधि के बाद सन् 1800 आते-आते इस क्षेत्र की राजनीतिक स्थिति कमोवेश स्थिर हो गई और ब्रिटिश लोगों ने मद्रास प्रेज़ीडेन्सी पर सीधा शासन मजबूत बना लिया। बहुत से समकालीन लेखकों ने लिखा कि अनिश्चितता तथा युद्धों की इस लम्बी अवधि की वजह से बड़े पैमाने पर विध्वंस हुआ, खेत अनजुते रह गए, तालाब नष्ट हो गए और बस्तियाँ सूनी हो गईं। उदाहरण के लिए इस बात के साक्ष्य मौजूद हैं कि पहले के शासकों ने कावेरी पर बड़ी-बड़ी सिंचाई प्रणालियाँ बनाई थीं तथा निजी और सामुदायिक स्तर पर तालाबों तथा नहरों का एक विस्तृत जाल फैलाया गया था। सर टामस मुनरो ने तो यहाँ तक कहा कि देशी शासकों ने सिंचाई सुविधाओं पर बहुत अधिक खर्च किया था।

1.8.1 सिंचाई तथा रैयतवारी प्रणाली

यह सारी सिंचाई प्रणाली पूरी तरह से बेकार हो गई क्योंकि कंपनी अपने द्वारा लागू राजस्व कृषि की रैयतवारी प्रणाली के अधीन इनके रख-रखाव पर न्यूनतम पैसा भी खर्च नहीं करना चाहती थी। इसके बावजूद, शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आयात और निर्यात में मूल्यानुसार 1.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कपास, नील, चीनी तथा अनाजों के निर्यात में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई और सूती वस्त्रों के निर्यात में कमी आई। इससे राजस्व कृषि की रैयतवारी प्रणाली द्वारा प्रेरित कृषि के वाणिज्यीकरण की गति का पता चलता है। इस प्रणाली के अंतर्गत कुल उपज का एक तिहाई से लेकर आधा हिस्सा राजस्व के रूप में वसूल किया जाता था। लेकिन फिर भी ज्यादा से ज्यादा 1 प्रतिशत राजस्व ही सिंचाई पर खर्च किया जाता था।

1.8.2 परिणाम

प्रेज़ीडेन्सी में बहुत से अकाल तथा महामारियाँ आईं। शुष्क तेलुगु जिले ज्यादा अकालग्रसित होते थे और तीस के दशक के मध्य में पड़े अकालों से तो गुन्टूर की एक तिहाई से लेकर आधी जनसंख्या ही समाप्त हो गई। इससे पहले 1809 से 1811 के बीच बुखार की महामारी से कोयम्बटूर, मदुरै, डिंडिगुल तथा तिरुनिवेली की पाँच प्रतिशत से ज्यादा जनसंख्या की मृत्यु हो जाने का अनुमान है। शताब्दी के तीस के दशक में गुंटूर, मदुरै और नैल्लोर की जनसंख्या में 50 प्रतिशत या इससे अधिक की कमी आ गई। भू-राजस्व की दरें अधिक उपजाऊ ज़मीन पर सबसे ज्यादा थीं, जिसके कारण लोग कृषि में निवेश करने से हिचकते थे। इस बात के सबूत हैं कि मालाबार तथा कनारा जैसे क्षेत्रों में खेती के इलाके में वृद्धि हुई क्योंकि वहाँ राजस्व की दरें सबसे कम थीं, जबकि तेलुगु जिलों में 1830 से 1857 के बीच खेती क्षेत्र में कमी आई क्योंकि वहाँ राजस्व दरें ऊँची थीं। इसलिए यह प्रतीत होता है कि राजस्व खेती की प्रणाली से मद्रास प्रेज़ीडेन्सी में भी वाणिज्यीकरण तथा दरिद्रता की प्रक्रियाएँ उसी प्रकार फलीभूत हुई जैसे कि बंगाल में हुई थीं, हालाँकि दोनों क्षेत्रों में काश्तकारी के रूप काफी भिन्न थे। उत्तरी और मध्य भारत में महलवाड़ी तथा मालगुजारी प्रणालियों के भी कोई खास अलग प्रभाव नहीं पड़े, जैसाकि हम बाद में देखेंगे।

ोध प्रश्न 3

) ब्रिटिश भारत में भूमि बाजार (land market) के उदय के क्या कारण थे? (दो वाक्यों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

:) रिक्त स्थानों की भरिए:

i) बंबई सर्वेक्षण प्रणाली में यह सुझाव दिया गया कि रैयतवारी प्रणाली में राजस्व देयताओं का निर्धारण ..... द्वारा किया जाए (सकल उपज के अंश/भुगतान सामर्थ्य)।

ii) भारत में कंपनी शासन के अंत के बाद संचयन का मुख्य रूप ..... था (सीधी लूट/व्यापार तथा वाणिज्य का माध्यम)।

:) बंबई प्रेज़ीडेन्सी में रैयतवारी प्रणाली के अधीन भुगतान सामर्थ्य का कैसे निर्धारण किया जाता था? (दो वाक्यों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

) दक्षिण भारत में लागू किए गए भू-राजस्व प्रणाली के क्या परिणाम हुए? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.9 सारांश

स इकाई के अध्ययन के बाद हमें मालूम पड़ा कि 1760 के दशक से 1840 के दशक तक ी अवधि के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन था। इस अवधि में भारत में तीव्रगति से ाथमिक संचयन हुआ और ब्रिटिश अर्थव्यवस्था तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के बीच ासमान विनिमय की प्रक्रिया के माध्यम से ब्रिटिश विनिर्माताओं का उदय हुआ। असमान विनिमय के जरिए आर्थिक अपवाह की प्रक्रिया ने पारंपरिक तथा स्वावलंबी ग्रामीण र्थव्यवस्था को भंग कर दिया। इस ग्राम-अर्थव्यवस्था को समाप्त करने के लिए सीधी ूट, सिंचाई साधनों की उपेक्षा, भूमि में बड़े पैमाने पर निजी संपत्ति चालू करना और ग्लैंड में औद्योगिक क्रांति की प्रगति के साथ भारत से आयातों पर प्रत्यक्ष निषेध तथा ारतीय विनिर्मित वस्तुओं पर भारी शुल्क लगाने आदि जैसे कई उपाय अपनाए गए।

772 के बाद से विभिन्न प्रकार की भू-राजस्व प्रणालियाँ अपनाई गईं जैसे स्थायी दोबस्त, अस्थायी बंदोबस्त, रैयतवारी प्रणाली, आदि। इससे जो राजस्व प्राप्त होता था ही ब्रिटिश संचयन का मुख्य स्रोत था, कंपनी के शासन काल में भी और उसके बाद के मय में भी।

तिजारती संचयन के बारे में विस्तार से जानने पर हम पाते हैं कि बंगाल प्रेज़ीडेन्सी में भू-राजस्व की स्थायी बंदोबस्त प्रणाली प्रमुख थी। इस प्रणाली के अंतर्गत नकदी की बढ़ती माँग की वजह से कृषि वस्तुओं के विक्रय के लिए बाजार का विकास हुआ तथा भूमि बाजार का भी उदय हुआ क्योंकि जमींदारों ने अपनी वित्तीय कठिनाइयों से उबरने के लिए जमीनों को बेचना शुरू किया। राजस्व खेती के अधिकारों के स्वामित्व में परिवर्तन होने के कारण काश्तकारों तथा रैयतों पर दबाव बढ़ा। इन सबका परिणाम यह हुआ कि बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता तथा दरिद्रता में बढ़ोत्तरी हुई।

पश्चिमी भारत में, भू-राजस्व की रैयतवारी प्रणाली प्रमुख थी, विशेष रूप से बंबई, गुजरात तथा सौराष्ट्र में इसका ज्यादा प्रचलन था। मद्रास प्रेज़ीडेन्सी में भी तिजारती संचयन के लिए भू-राजस्व वसूल करने की रैयतवारी प्रणाली लागू कर दी गई। सिंचाई प्रणाली की उपेक्षा करके रेलवे का विस्तार किया गया। इसके परिणामस्वरूप कृषि का वाणिज्यीकरण हो गया, किसान वर्ग दरिद्र बन गया और अकाल तथा महामारियाँ फैलने लगी।

1.10 शब्दावली

एशियाई समाज: इस शब्द का मार्क्स ने विशेष रूप से भारत तथा चीन के संदर्भ में उपयोग किया है। उनके अनुसार एशियाई अर्थव्यवस्थाएँ स्वावलंबी ग्राम-समाजों से युक्त होती थीं उनका बाहरी दुनियाँ के साथ व्यापारिक संबंध नहीं के बराबर होता था और भूमि पर बड़े पैमाने पर निजी स्वामित्व के बिना वे अलग-अलग लघु गणराज्यों के रूप में काम करते थे। इस तरह की ग्राम-अर्थव्यवस्थाएँ उपनिवेश पूर्व भारत में प्राचीन काल से विद्यमान थीं।

कौड़ियाँ: चांदी के स्थान पर विनिमय का माध्यम जो ब्रिटिश शासन से पूर्व काल में प्रचलन में था।

तिजारती संचयन: औद्योगिक क्रांति से पहले इंग्लैंड के व्यापारी जिन्हें विदेशों में व्यापार-संबंधी एकाधिकार प्राप्त थे उनके माध्यम से संपत्ति तथा कोष पर स्वत्वों का बड़े पैमाने पर संचयन। ईस्ट इंडिया कंपनी की तरह इन कंपनियों ने एकाधिकारी व्यापारिक अधिकारों का प्रयोग कर, जो अक्सर बल प्रयोग द्वारा समर्थित होते थे, संपत्ति का संचय किया।

1.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dutt R.C. 1976, *Economic History of India*, Publication Division, Govt. of India, Delhi.

Kumar D. & Raychauduri T. (Ed.) 1982. *The Cambridge Economic History of India* Vol. II, Part I (Chapter II, Articles 2,3&4), Orient Longman, Hyderabad.

1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 1.2 और विशेष रूप से उपभाग 1.2.1 पढ़िए।

2) i) स ii) ग iii) स

3) यहाँ पर उन विभिन्न ढंगों का विवेचन कीजिए जिनके जरिए ब्रिटिश लोगों ने अपने प्रयोजन के लिए धन ऐंठा तथा ग्राम अर्थव्यवस्था को नष्ट किया। भाग 1.3 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

ोध प्रश्न 2

) भाग 1.4 पढ़िए

:) उपभाग 1.4.2 पढ़िए

) भाग 1.5 पढ़िए

ोध प्रश्न 3

) भाग 1.6 और विशेष रूप से उपभाग 1.6.2 पढ़िए।

2) i) भुगतान सामर्थ्य
ii) व्यापार तथा वाणिज्य के माध्यम से

3) उपभाग 1.7.2 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

4) उपभाग 1.8.2 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

इकाई 2 कृषि का अभ्युदय

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 कालावधि : 1850-1880
  2.2.1 नकदी फसलें
  2.2.2 फसलों का निर्यात
2.3 सापेक्षिक स्थिर कालावधि : 1880-1895
2.4 कालावधि : 1895-1914
  2.4.1 अकाल
  2.4.2 फसलों का स्वरूप
2.5 युद्ध के दौरान के वर्ष
  2.5.1 खाद्य फसलों में गतिरोध
  2.5.2 नकदी फसलें
  2.5.3 फसलों का विदेशी व्यापार
2.6 परिमाणात्मक खाका
  2.6.1 खाद्य फसलें
  2.6.2 जनसंख्या और फसलों का उत्पादन
2.7 गतिरोध के कारण
  2.7.1 वाणिज्यीकरण का प्रभाव
  2.7.2 भूमि की बढ़ती माँग
2.8 सारांश
2.9 शब्दावली
2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने से आपको नीचे लिखी बातों की जानकारी हो जाएगी:

- रेलों के आगमन के समय से लेकर आज़ादी मिलने के समय तक का कृषि का विकास;
- विभिन्न नकदी फसलें और औपनिवेशिक भारत से उनका निर्यात;
- अध्ययन काल के दौरान फसलों का स्वरूप;
- खाद्य फसलों के उत्पादन में गतिरोध और उसके विभिन्न उपयोग एवं परिणाम; और
- वाणिज्यीकरण का कृषि पर प्रभाव।

2.1 प्रस्तावना

इस खंड की पहली इकाई में आपको 1760 से 1850 के दौरान भारत में कृषि के विकास के बारे में बताया गया था। वह बताते समय यह कहा गया था कि भारत में कृषि का उत्पादन छोटे-छोटे गाँवों में रहने वाले किसानों द्वारा अपनी जीविका के लिए किया जाता था। उस समय गाँव बहुत कुछ आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के रूप में थे और बाहरी दुनिया के साथ उनके संबंध यहीं तक सीमित थे कि वे भू-राजस्व का भुगतान कर दें जो आमतौर से वस्तुओं के रूप में होता था, और गाँव के मेलों और कस्बों से अपनी जरूरत की कुछ चीजें जैसे नमक और लोहा आदि खरीद लें। किसान आमतौर से वही फसलें उगाते थे जिनकी उन्हें अपने उपभोग के लिए ज़रूरत होती थी और उसी से गाँव के कारीगरों का भुगतान करते थे जो उनकी ज़रूरत के साधारण औज़ार बनाकर उन्हें दिया करते थे क्योंकि उन्हें

भी अपने उपभोग के लिए उन चीजों की जरूरत होती थी। उसी उपज से किसान गाँव के उन लोगों का भी भुगतान करते थे जो कृषि-कार्य में और घर में विभिन्न प्रकार से उनकी सेवा करते थे। गाँव की फसलों का जो भाग स्थानीय विशिष्टजनों के पास पहुँचता था वह वहाँ से कुछ कम वेग से उच्चतम राजनीतिक अधिपतियों के पास पहुँचता था जिससे सरकार कायम रहती थी और शहरी आबादी का निर्वाह होता था। उन दिनों भारत के शहर और कस्बे उच्च राजनीतिक अधिपतियों या सरकारी अदालतों के मुख्यालयों से कुछ ही बड़े होते थे। आर्थिक रूप से शहरों का गाँवों से इकतरफा इतना ही संबंध होता था कि वे कर के रूप में गाँव से खाने-पीने की चीजें और दूसरे उत्पाद ले लेते थे और उसके बदले में उन्हें वास्तव में कुछ भी नहीं देते थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से भारत पर अंग्रेजों की विजय से यहाँ की काया ही पलट गई। यहाँ के जीवन में बड़े-बड़े परिवर्तन हो गए। उन परिवर्तनों में सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि गाँव के लोगों के रहन-सहन का पुराना ढाँचा एकदम बदल गया और हमारी कृषि अर्थव्यवस्था की शुरुआत हुई। इसका एक कारण तो यह था कि 1793-1850 के बीच अंग्रेजों ने नई-नई भू-प्रणालियों की शुरुआत की। इसके साथ ही दूसरा कारण यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी में वाणिज्यिक कृषि की शुरुआत हुई जो रेल और सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण संभव हो सकी थी।

इस इकाई में हम रेलों के आगमन के समय से लेकर आज़ादी प्राप्त होने के समय तक के कृषि-विकास का विवरण प्रस्तुत करेंगे। 1893-94 से पहले के कृषि-विकास को दर्शाने वाले प्रमुख विषयों यथा उपज, कृषिभूमि, फसलों की प्रकृति, उनका उत्पादन, कृषि उत्पाद का व्यापार आदि से संबंधित सांख्यिकीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए हम सबसे पहले उस विस्तृत सूचना या मत पर विचार करेंगे जो इन सूचकों के बारे में हमारे पास उपलब्ध है। फिर हम कृषि-स्थिति के इस विस्तृत वर्णन के साथ 1850 से द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक की स्थिति को शामिल करेंगे और 1893-94 से 1945-46 की अवधि के सूचकों की प्रवृत्तियों का सांख्यिकीय विश्लेषण करेंगे।

2.2 कालावधि : 1850-1880

हालाँकि कई शताब्दियों से पश्चिमी देशों के साथ भारत के संबंध थे और उनके साथ वाणिज्य भी होता था लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत तक भारत के आर्थिक ढाँचे पर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ा। इसके बाद नये-नये आविष्कार हुए जिनके कारण विनिर्माण कार्य में बड़े पैमाने पर यांत्रिक शक्ति का उपयोग होने लगा और अंग्रेज व्यवसायी भारतीय कारीगरों से बहुत लाभ कमाने लगे। यह लगभग वही समय था जबकि भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग पर इंग्लैंड ने अधिकार कर लिया था और यहाँ पर नये प्रकार की प्रशासनिक और अदालती/न्यायिक प्रणालियों की शुरुआत हुई थी। यह हम जानते ही हैं कि इसके कारण देश के बहुत से भागों में लोगों के मन में निराशा फैल गई और ग्राम-समाज जैसी पुरानी संस्थाओं की हालत बिगड़ गई।

किसानों को अपनी भूमि पर जो अधिकार मिले थे वे भूमि की पट्टेदारी पर निर्भर करते थे। पट्टेदारी की विविधता बहुत पेचीदी थी किंतु मोटे तौर पर उसे दो बड़े-बड़े भागों में बाँटा गया था। वे थीं—रैयतवाड़ी और जमींदारी पट्टेदारी की प्रथाएँ। बहुसंख्यक गाँव इन दोनों में से किसी एक प्रथा के अंतर्गत आते थे। इन विभिन्न प्रथाओं में से दक्षिण भारत में रैयतवाड़ी प्रथा प्रचलित थी और बंगाल में जमींदारी की प्रथा थी, जबकि उत्तरी पश्चिमी प्रांतों और पंजाब के अधिकतर गाँवों में दोनों प्रकार की प्रथाएँ प्रचलित थीं। नये उद्योगों की स्थापना और कृषि के रूपांतरण की दिशा में भारत को पश्चिमी देशों के संबंध का तब तक कोई लाभ नहीं मिल सका जब तक कि यहाँ पर रेलों की शुरुआत नहीं हुई।

2.2.1 नकदी फसलें

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश में खेती की पुरानी रीति चलती रही जो आत्मनिर्भर गाँवों में पहले से ही चली आ रही थी। उस समय कुल उत्पादन में एक बहुत बड़ा भाग अनाज का होता था जिसका उपभोग गाँव में ही किया जाता था और तिलहन, कपास, गन्ना आदि की फसलें स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप उगाई जाती थीं। 1830 के आसपास निर्यात

के लिए जूट की खेती के विस्तार की शुरुआत हुई। कपास और गन्ने का व्यापार भी उस समय एक सीमित दायरे के अंतर्गत था और उनका क्षेत्र भी सीमित था। इस प्रकार सारे भारत में गाँवों में व्यापक रूप से भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में कपास उगाई जाती थी और उसकी पूर्ति का एकमात्र स्थान बंगाल था। नागपुर और बरार की कपास मिर्जापुर के रास्ते से वहाँ भेजी जाती थी। बंगाल में भी अच्छे किस्म की कपास उगाई जाती थी।

गन्ने की भी एक ऐसी फसल थी जिसके लिए गहरी खेती और नियमित एवं अधिक मात्रा में पानी की पूर्ति की जरूरत होती थी। इसलिए गन्ने की खेती का बहुत हद तक स्थानीयकरण हो गया। इसलिए गुड़ (भारतीय कच्ची खाँड) कपास के बाद यहाँ की दूसरी प्रमुख उपज थी। संभवतः यह भारतीय कृषि उत्पाद की एक महत्वपूर्ण व्यापारिक वस्तु थी। किंतु इसकी कृषि एक दायरें तक सीमित थी।

1850 तक भारत के विदेशी व्यापार का आकार तेजी से नहीं बढ़ सका क्योंकि उस समय तक न तो समुद्री स्टीमरों में सुधार हुआ था और न ही देश के भीतरी भागों तक सड़कें पहुँच सकी थी। 1850 के बाद भारत में रेलों की शुरुआत हुई। इस दशक के अंतिम वर्षों में देश का एक बहुत बड़ा भाग ब्रिटिश शासन की सीमा के अंतर्गत आ गया। इसी समय ईस्ट इंडिया कंपनी का अंत हो गया और भारतीय सरकार इंग्लैंड के ताज के अधीन हो गई। सचमुच इस दशक में घटनाओं की भरमार रही और बहुत सी प्रमुख घटनाओं के कारण जो परिवर्तन हुए उनका भारत के आर्थिक इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

पश्चिमी दुनिया की सबसे पहली घटना थी अमेरिका का गृह-युद्ध जिसका भारत की अर्थव्यवस्था पर अचानक बहुत गहरा असर पड़ा। पहली बार यह पता चला कि भारत पश्चिम के बाज़ारों के कितने नजदीक आ गया है। यह भी एक प्रमुख घटना थी कि भारतीय किसानों को इस बात का पता लग गया कि इन बाज़ारों की स्थिति के प्रमुख तथ्य क्या हैं।

हालाँकि 1780 तक कपास के उत्पादक देशों में अमेरिका का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था किन्तु ह्विटनी के न्यू सा गिन(Whitney's new sawgin) की खोज़ के बाद इस दिशा में उसकी प्रगति महत्वपूर्ण हो गई और 1830 तक वह इंग्लैंड के बढ़ते हुए उद्योग के लिए कपास की पूर्ति का प्रधान स्रोत बन गया। उस समय भारत की कपास का निर्यात बहुत अल्प मात्रा में था।

1846 में अमेरिका में कपास की फसल खराब हो जाने पर इस स्रोत की अस्थिरता सामने आ गई और ब्रिटिश विनिर्माता आपातकाल के लिए कोई विकल्प खोजने लगे।

2.2.2 फसलों का निर्यात

फिर अमेरिका में गृह-युद्ध हो गया फलस्वरूप दक्षिण के बंदरगाह बंद हो गए और लंकाशायर में कपास का अकाल पड़ गया। ऐसे समय में यह स्वाभाविक ही था कि विनिर्माताओं का झुकाव भारत की ओर हो गया। भारतीय कपास की माँग में एकाएक बहुत बड़ी वृद्धि हो जाने से इसके कई परिणाम सामने आए। सरकार ने खुद इस दिशा में बड़े पैमाने पर प्रयत्न शुरू किए और बंबई एवं मध्यप्रदेश में कपास आयुक्तों की नियुक्ति की गई। रेल, सड़क एवं आवागमन के अन्य साधनों के विकास की गति तेज़ की गई। साथ ही किसान भी इस सुअवसर का फायदा उठाकर अतिरिक्त लाभ कमाने के लिए चुस्त हो गए। कपास की कीमत बहुत बढ़ गई और कपास उगाना बहुत फायदेमंद हो गया।

अमेरिका के गृह-युद्ध का बहुत बड़ा प्रभाव खासकर मध्यप्रदेश के कपास उगाने वाले क्षेत्र में दिखाई दिया जहाँ एकाएक कपास की खेती में बहुत वृद्धि हो गई। वहाँ पर साठ के दशक में कपास उगाने वाली भूमि का क्षेत्रफल लगभग दुगुना हो गया।

अमेरिका के गृह-युद्ध के दौरान भी कपास उगाने वाले क्षेत्र की यह वृद्धि लगातार जारी रही। जिस तेज़ी के साथ भारत द्वारा इंग्लैंड की कपास की माँग की पूर्ति की गई उसे उस समय के भारत द्वारा कपास के निर्यात के आँकड़ों के उछाल में देखा जा सकता है। 1859-60 में भारत से सिर्फ 5.6 करोड़ रुपये की कपास का निर्यात हुआ था जो 1864-65 में बढ़कर 37.5 करोड़ रुपये का हो गया। ऐसा केवल उन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप संभव हो सका था जो पिछले दशक में भारत में किए गए थे।

इनमें से सबसे प्रमुख था रेल और सड़क मार्ग का विकास। रेल मार्ग की लंबाई 1857 में सिर्फ 288 मील थी जो बढ़कर 1861 में 1599,1865 में 3373 और 1871 में 5077 मील हो गई।

रेल मार्ग का सबसे प्रमुख प्रत्यक्ष लाभ यह था कि लंबी दूरी की यात्राएँ बहुत जल्दी और काफी सस्ती होने लगी। रेल और सड़क मार्ग के विस्तार का कपास के निर्यात में बहुत बड़ा योगदान रहा क्योंकि इसके कारण ही कपास की बहुत बड़ी मात्रा उत्पादन क्षेत्रों से बंदरगाहों तक पहुँचाना संभव हो सका था। इसका लाभ सिर्फ कपास के निर्यात को ही नहीं मिला बल्कि इससे चावल, गेहूँ और दूसरे अनाजों के निर्यात में भी बहुत मदद मिली क्योंकि 1859-60 में इन वस्तुओं का सिर्फ 3.6 करोड़ का निर्यात हुआ था जो 1964-65 में बढ़कर 6 करोड़ रुपये का हो गया। इसका दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि अनाजों की कीमतों में वृद्धि हो गई। इसके साथ ही रेल और अन्य निर्माण कार्यों के परिणामस्वरूप श्रम की गतिशीलता बढ़ गई।

हालाँकि उस समय के सांख्यिकीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं किंतु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अनाज की कीमतों में वृद्धि के कारण अनाज की खेती का क्षेत्र भी बढ़ गया।

अमेरिका के गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप कपास की कीमत में जो वृद्धि हुई उसका बहुत बड़ा लाभ कपास उगाने वाले क्षेत्र के किसानों को मिला और उससे कुछ कम मात्रा में सभी क्षेत्रों के किसानों को हुआ।

किंतु उसी समय अकालों का सिलसिला शुरू हो गया। पहला अकाल बंगाल और बिहार में 1873-74 में पड़ा। इस दशक के आखिरी सालों में अकालों का ऐसा सिलसिला चला कि लगभग सारा भारत उनसे प्रभावित हुआ। दक्षिण भारत में बहुत भयंकर अकाल पड़ा जिससे बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी, निजाम राज्य और मैसर का एक बहुत बड़ा भाग प्रभावित हुआ।

इस अकाल का असर 1876 से 1878 तक रहा। इसका प्रभाव पश्चिमोत्तर प्रांतों एवं अवध में भी पड़ा जो उतना तीव्र नहीं था। अकाल का सबसे पहला और प्रत्यक्ष प्रभाव जनसंख्या की वृद्धि की दर में पड़ा। कुछ क्षेत्रों में जनसंख्या में कमी भी आ गई। इसका बहुत बड़ा धक्का कृषि की प्रगति को लगा। अगली इकाई में हम अकालों और उसके परिणामों के बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे।

2.3 सापेक्षिक स्थिर कालावधि : 1880-1895

आवागमन के साधनों में वृद्धि और बाज़ार की उपलब्धता के फलस्वरूप साठ के दशक में भारत में कपास की कृषि पर जो उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा अभी हमने की किंतु उससे उस कालावधि में राहत मिली जिसकी समीक्षा हम अब कर रहे हैं। लंकाशायर में कपास का अकाल एक अस्थायी घटना थी, स्वेज नहर, जिसकी भारत के निर्यात व्यापार के बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है, 1869 में आवागमन के लिए खुली किंतु उसके तुरंत बाद फ्रांस-जर्मन का युद्ध छिड़ गया और फिर अकाल पड़ गए। इसलिए 1870-80 का दशक नई स्थिति के प्रभाव को दर्शाने के लिए पूरी तरह से उपयुक्त नहीं था। किंतु इस दशक में भी अकालों के बावजूद गेहूँ के निर्यात में वृद्धि की एक साधारण प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। 1880-95 के दौरान भारत से कच्चे मालों के निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इस अवधि में कुछ स्थानीय कमियाँ रहीं और वर्षा भी ठीक से नहीं हुई किंतु इस बीच ऐसा कोई भीषण अकाल नहीं पड़ा जैसा कि 1876-78 में पड़ा था या फिर वे दो जो 1895 के बाद हुए थे।

पंद्रह वर्षों का यह समय किसानों के लिए तुलनात्मक रूप से संपन्नता का काल था। देश के कुछ भागों में यदाकदा आने वाली स्थानीय न्यूनताओं के कारण संपन्नता का यह जादू बीच-बीच में नाकाम भी रहा। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि 1884-85 में बंगाल में उपज में बड़ी कमी आ गई, 1886 में छत्तीसगढ़ के क्षेत्र में चावल की फसल एकदम बरबाद हो गई और फिर 1889 में उड़ीसा में भी वही हालत हुई। 1890-95 के

[illegible] के कुछ भागों में वर्षा बहुत अनियमित रही। लेकिन इन सबके बावजूद भी यह कालावधि किसानों के लिए आमतौर से अनुकूल बनी रही।

भारतीय कृषि उत्पाद की बढ़ती हुई माँग भी इसका एक प्रमुख कारण थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ औद्योगिक फसलों की कीमतों में वृद्धि हो गई। इस बीच कृषि उत्पाद का सिर्फ निर्यात व्यापार ही नहीं बढ़ा अपितु उसका आंतरिक व्यापार भी बढ़ गया। अनाज, तिलहन, जूट और चाय की यह विदेशी माँग 19वीं सदी के अंत तक लगातार बढ़ती ही रही। इस अवधि में भारत से निर्यात के दूसरे मद अफीम, नील और चमड़ा एवं खाल थे। उदाहरण के रूप में हम यह कह सकते हैं कि इस समय गन्ने की फसल एक प्रमुख फसल थी। हालाँकि उस समय चीनी का निर्यात व्यापार नहीं होता था।

कृषि क्षेत्र की वृद्धि के भी कुछ सामान्य संकेत मिलते हैं। यह वृद्धि इसलिए हुई थी कि सिंचाई के साधनों का विस्तार हुआ था और नई भूमि में खेती की शुरुआत की गई थी। इस समय भूमि का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा जिसकी खोज न की गई हो। जिन नये क्षेत्रों में कृषि शुरू की गई उनमें बहुत से क्षेत्र ऐसे थे जो बेकार थे या चरागाह थे या जंगल की भूमि को साफ करके बनाए गए थे। इस समय के कोई ऐसे आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिनसे यह प्रमाणित किया जा सके कि कृषि भूमि के प्रति एकड़ उत्पादन में भी वृद्धि हुई थी।

इस बात के भी संकेत नहीं मिलते कि उस समय उगाई जाने वाली फसलों की प्रकृति में कोई आमूल परिवर्तन हुआ था। इस समय भी कुल उत्पादन में अनाज का भाग सबसे बड़ा बना रहा। घटिया किस्म के अनाजों के स्थान पर बढ़िया किस्म के अनाजों के उत्पादन की प्रवृत्ति के अलावा अनाज के उत्पादन में इस बीच और कोई परिवर्तन नहीं दिखाई पड़े। हाँ, पंजाब में गेहूँ की कृषि के विस्तार के लिए जरूर कुछ प्रयत्न किए गए। किंतु कृषि-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ औद्योगिक फसलों के क्षेत्रफल में भी समानुपातिक वृद्धि हुई। यह वृद्धि सबसे अधिक जूट, गन्ना, तिलहन और कपास की कृषि में हुई।

औद्योगिक कृषि का विस्तार सिंचाई के साधनों के विस्तार के साथ-साथ काफी बढ़ता चला गया। जैसे ही किसी क्षेत्र में किसी प्रकार की सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होती थी, अधिक लाभप्रद फसलें उगाई जाने लगती थी और सघन कृषि की शुरुआत हो जाती थी। विभिन्न वाणिज्यिक फसलों की वृद्धि बहुत तेज गति से हो रही थी। यहाँ इस बात के संकेत मिलते हैं कि भारतीय कृषि को संचार और सिंचाई के साधनों की सुविधा मिलने पर खाद्य फसलों की अपेक्षा वाणिज्यिक फसलों की अधिक वृद्धि हुई। साथ ही इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि फसलों का कुछ अधिक स्थानीयकरण होने लगा। इस प्रकार बरार में कपास की फसल का स्थानीयकरण हो गया और दक्षिण के पठार के नीरा और मुथा क्षेत्रों में गन्ने का। किंतु बागान फसल लगभग सब जगह होने लगी।

बोध प्रश्न 1

1 वे कौन-कौन से कारण थे जिनकी वजह से 19वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन को भारतीय फसलों का निर्यात बढ़ गया? (दो वाक्यों में उत्तर दो)

.....

.....

.....

.....

2 19वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश लोगों ने रेलों और सड़कों के विकास में अधिक रुचि क्यों ली? (एक वाक्य में उत्तर दो)

.....

.....

2.4 कालावधि : 1895-1914

अकालों से उन्मुक्ति की 15 वर्ष की लंबी कालावधि 1895 में एकाएक समाप्त हो गई। दो भयंकर अकाल एक के बाद एक तेजी से आए जिनके कारण भारतीय कृषि के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों की गिनती बहुत ही बुरे वर्षों में होने लगी।

2.4.1 अकाल

ये दोनों अकाल वास्तव में बहुत बड़े संकट के रूप में आए थे। उनका प्रभाव कई प्रकार से पड़ा। बहुत से लोग हैज़ा और प्लेग जैसी महामारियों के शिकार हो गए। उनका सबसे बुरा प्रभाव यह हुआ कि कृषि की प्रगति की घड़ी पीछे की ओर चली गई। कृषि क्षेत्र में इन अकालों के दो तात्कालिक प्रभाव हुए: (क) दोहरी फसलों वाले क्षेत्रफल में गिरावट (ख) औद्योगिक फसलों और निर्यात फसलों का विस्थापन और उनके स्थान पर अनाज की फसलें उगाना। उदाहरणार्थ, मध्यप्रदेश में दुहरी फसल की प्रथा लगभग समाप्त हो गई। अकालों के कारण संयुक्त प्रदेश और बंबई प्रसीडेंसी में कुल कृषि-भूमि के क्षेत्रफल में गिरावट आ गई। फिर भी यह गिरावट उतनी अधिक नहीं थी जितनी कि मध्यप्रदेश में आई थी। इसका दूसरा नतीज़ा यह हुआ था कि निर्यात या औद्योगिक फसलों के स्थान पर अनाज की फसलें उगाई जाने लगी थीं। किंतु बहुत लाभप्रद फसलों के स्थान पर उगाया जाने वाला अनाज अच्छी किस्म का नहीं होता था। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि संयुक्त प्रदेश में नील और तिलहन की फसलों के स्थान पर आमतौर से अनाज की फसलें उगाई जाने लगी थी। बंबई प्रेसीडेंसी में भी यह प्रवृत्ति देखी गई थी। मध्यप्रदेश में कपास, अलसी और चावल के स्थान पर बहुत बड़े क्षेत्र में कम लाभप्रद ज्वार-बाजरा की फसलें उगाई जाने लगी थी। यहाँ इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि यह अंतिम प्रभाव अधिक समय तक नहीं रह सका।

बीसवीं सदी के प्रारंभ के चौदह वर्ष अर्थात् प्रथम विश्व युद्ध प्रारंभ होने तक का समय सौभाग्य से ऐसा था जिसमें कोई ऐसा मौका नहीं आया जबकि फसल एकदम खराब हो गई हो जैसा कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक के अंतिम दो वर्षों में आया था। किंतु नई सदी के प्रारंभिक वर्षों में अच्छी फसल नहीं हुई। बंगाल और बिहार में शुरू के सात वर्ष लगभग प्रतिकूल ही रहे और मद्रास प्रेसीडेंसी में पहले दशक के लगभग सभी मौसम सामान्य से नीचे ही रहे। मौसमों की प्रकृति के कारण कृषि-भूमि का क्षेत्रफल हर साल लगभग अलग-अलग ही रहा, किंतु यदि समग्र रूप से देखा जाए तो मालूम होता है कि इसमें वृद्धि हुई। इस वृद्धि का एक प्रमुख कारण यह था कि पंजाब में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो गई और इस अवधि में वहाँ नहरवाली बस्तियाँ बन गई। किंतु इससे इस बात का भी संकेत मिलता है कि इस अवधि में कृषि-भूमि में भी वृद्धि हुई क्योंकि सीमांत भूमि पर भी कृषि होने लगी।

2.4.2 फसलों का स्वरूप

सामानुपातिक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि अनाज उगाने वाली भूमि के क्षेत्रफल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। 1901-02 में इस भूमि का प्रतिशत लगभग 88 था जो 1913-14 में भी लगभग वही बना रहा। चना और चारे की फसलों के कुछ अपवाद को छोड़कर फसलों के क्षेत्रफल में कोई खास वृद्धि नहीं हुई थी। चावल की स्थिति लगभग वही बनी रही क्योंकि दूसरे अनाजों की अपेक्षा इसकी अधिक विस्तृत खेती होती थी। अनुपात की दृष्टि से सिर्फ एक प्रमुख बदलाव यह आया कि गेहूँ उगाने वाली भूमि का क्षेत्रफल काफी बढ़ गया। दालों और ज्वार-बाजरा जैसे छोटे अनाजों की फसलें देश में पूरी तरह से घरेलू उपभोग भर के लिए रह गई थीं। चावल का निर्यात सिर्फ 'बर्मा चावल' तक ही सीमित रह गया था, किंतु गेहूँ भारत की सबसे बड़ी एक ऐसी फसल थी जिसका निर्यात होता था।

गेहूँ के निर्यात में भी बहुत उतार-चढ़ाव आता रहता था। भारत में ऐसी स्थिति थी कि उपज में थोड़ी सी भी न्यूनता आने पर निर्यात में कमी हो जाती थी। वास्तव में सामान्य वर्षों में अनाज के निर्यात से यह पता नहीं चलता था कि भारत अनाज का निर्यात करने वाला देश है।

अनाज वाला भूमि के क्षेत्रफल में जो भी वृद्धि हुई थी वह बढ़ी हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई थी। इसलिए किसानों का एक बड़ा वर्ग अब भी निजी और स्थानीय बाजारों की जरूरत भर के लिए अनाज पैदा कर रहा था।

औद्योगिक फसलों में तिलहन और कपास उगाने वाली भूमि के क्षेत्रफल प्रमुख थे। 1901-02 के बाद के इन पंद्रह वर्षों में तिलहन उगानेवाली भूमि का क्षेत्रफल तेजी से बढ़ा। यह वृद्धि वास्तविक और समानुपातिक दोनों ही दृष्टियों से हुई थी। हालाँकि, इस वर्ग की हर चीज के उत्पादन में हर साल काफी अधिक उतार-चढ़ाव आता रहता था। इस वर्ग की मुख्य फसलें अलसी, तिल, रेप और सरसों अपनी स्थिति ज्यों की त्यों बनाये रहे। दूसरी चीजों में से मूँगफली में जो गिरावट उन्नीसवीं सदी के अंत में आई थी वह पूरी हो गई। साथ ही इसकी नई किस्म की शुरुआत हो जाने से इसकी स्थिति में सुधार भी हुआ। तिलहन निर्यात की एक बड़ी फसल थी। खासकर मूँगफली इस वर्ग की एक ऐसी चीज थी जिसका काफी निर्यात होता था।

कपास के क्षेत्रफल में काफी तेजी से वृद्धि हुई। किंतु समानुपातिक ढंग से देखने पर ज्ञात होता है कि यह वृद्धि कपास की अपेक्षा जूट में अधिक हुई थी। इन दोनों फसलों का फिर भी स्थानीयकरण बना रहा। दूसरी औद्योगिक फसलों यथा अफीम और नील के क्षेत्रफलों में गिरावट आ गई। पहले में इस कारण से गिरावट आई थी कि अफीम के बारे में भारत सरकार का चीन की सरकार के साथ एक समझौता हुआ था और दूसरी में इसलिए गिरावट आई थी कि उसका संश्लिष्ट (सिंथेटिक) नील के साथ मुकाबला होने लगा था। चारे की फसलें काफी प्रमुखता के साथ उगाई जाती थी। गन्ने की कृषि का क्षेत्रफल लगभग स्थिर रहा और कुछ स्थानों में उसमें कुछ मामूली गिरावट आ गई। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि अनाज की फसलें खासकर स्थानीय उपभोग के लिए उगाई जाती थी और उनका स्थान सबसे प्रमुख बना रहा। औद्योगिक फसलों में भी कपास, जूट और तिलहन जैसी कुछ मुख्य फसलों की कृषि-भूमि के क्षेत्रफल में कुछ वृद्धि हुई। हालाँकि, नील और अफीम के क्षेत्रफल में उनसे संबंधित विशेष कारणों की वजह से गिरावट आ गई।

इस समय की उपज संबंधी आँकड़े दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं हैं और पशुधन, जोतों, गाड़ियों आदि से संबंधित आँकड़े सिर्फ अंदाज से दिए गए हैं इसलिए वे वर्षों तक तुलना करने के लिए अविश्वसनीय साबित होते रहे।

2.5 युद्ध के दौरान के वर्ष

युद्ध के दौरान के कृषि-इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि 1915-16 और 1916-17 के वर्ष खासकर चावल और गेहूँ की उपज की दृष्टि से अच्छे वर्ष थे लेकिन इन वर्षों में अनाज का निर्यात बहुत कम हुआ। भारत में खाद्यान्नों की पूर्ति के लिए दो लाख टन गेहूँ का आयात आस्ट्रेलिया से शाही आयोग (Royal Commission) द्वारा किया गया। 1919 में भारत में अनाज, दालों और आटे का इतना अधिक आयात हुआ जितना इससे पहले कभी नहीं हुआ था। इसका कारण शायद युद्ध की अत्यावश्यकता रही होगी।

2.5.1 खाद्य फसलों में गतिरोध

1919 में सारे भारत में मानसून की वर्षा काफी अच्छी हुई थी। किंतु 1920 में फिर भारत के बहुत से भागों में मानसूनी वर्षा बहुत कम हुई। इस साल बंबई प्रेसीडेंसी और मध्यप्रदेश के कुछ जिलों में मानसून की कमी घोषित की गई किंतु सबसे अधिक परेशानी दक्षिण के पठार के मद्रास और हैदराबाद राज्यों में हुई थी। इसके साथ ही दूसरी बात यह हुई कि 1920 की मानसून की समाप्ति जल्दी हो जाने से शरद ऋतु की बुआई रुक गई। जिसका परिणाम यह हुआ कि 1921 की बसंत ऋतु की फसल खासकर पंजाब की गेहूँ की फसल की उपज बहुत कम हुई। उस समय गेहूँ की उपज में सामान्य से लगभग 25 प्रतिशत की गिरावट आ गई थी और इसीलिए गेहूँ की कीमत में बहुत ज्यादा वृद्धि हो गई थी। 1921 में अनाज और दालों का आयात 1919 के दर्ज आँकड़ों से भी आगे बढ़ गया। हालाँकि, 1918-19 के अकाल की तुलना में 1920-21 के अकाल की भयंकरता कम थी किंतु इसके प्रभाव अधिक महसूस हुए। 1921 के बाद लगभग दो दशकों तक कभी मानसून की इतनी कमी नहीं हुई कि उसका प्रभाव सारे देश में पड़ा हो। हालाँकि, कहीं-कहीं मानसून की

स्थानीय कमियाँ आई और साथ ही देश के कुछ भागों तथा बंगाल, मालाबार, सिंध और गुजरात में उन्हीं वर्षों में बाढ़ के संकट का सामना करना पड़ा। तालिका 2.1 से इस अवधि के नीचे दिए तथ्यों को समझा जा सकता है।

तालिका : 2.1
ब्रिटिश भारत के कृषि संबंधी सांख्यिकीय आँकड़े (हजार एकड़ों में)

	1918-19	1920-21	1924-25	1929-30	1934-35	1939-40
परती भूमि	72,668	61,347	47,179	49,714	52,297	47,328
बोया गया कुल क्षेत्रफल	2,01,384	2,12,260	2,26,980	2,28,161	2,26,981	2,09,960
सींचा गया क्षेत्रफल	47,222	48,957	45,299	51,010	50,534	54,945
चावल	77,613	78,120	79,306	79,424	79,520	70,101
गेहूँ	19,147	20,368	24,848	24,731	25,655	26,128
ज्वार	20,537	22,690	22,470	23,241	21,853	21,677
बाजरा	11,201	12,002	11,965	13,291	13,102	13,362
कुल अनाज	1,77,844	1,86,890	2,00,328	2,00,018	2,00,635	1,87,050
गन्ना (चीनी)	3,016	2,706	2,655	2,583	3,524	3,629
तिलहन	10,473	12,370	15,014	16,330	15,543	16,294
कपास	14,401	14,115	17,414	16,141	14,486	13,344
जूट	2,473	2,473	2,738	3,268	2,476	3,119
चाय	688	661	716	766	783	738
तम्बाकू	1,047	932	1,066	1,173	1,257	1,181
चारे की फसलें	7,228	8,108	8,836	9,381	10,308	10,467

स्रोत : गाडगिल (1938)

1914 से 1939 तक की 25 वर्ष की अवधि में निवल कृषित क्षेत्रफल (net sown area) या फसलें उगाने वाले कुल क्षेत्रफल में कोई उल्लेखनीय वृद्धि या कमी नहीं दिखाई पड़ी। हाँ, इतना जरूर दिखाई पड़ता है कि प्रारंभिक वर्षों की अपेक्षा अंतिम वर्षों में इनका स्तर थोड़ा सा ऊँचा रहा। फसलें उगाने वाले क्षेत्रफल में भी खाद्य और खाद्येतर (अखाद्य) फसलों के क्षेत्रफल में मामूली अंतर आता रहा। खाद्य फसलों में ज्यादा महत्वपूर्ण चावल, गेहूँ, ज्वार और बाजरा की चार अनाज की फसलें ही थी। इन चार फसलों के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रफल का अनुपात कुल कृषित क्षेत्र (total cropped area) और खाद्य-फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र की दृष्टि से लगभग समान बना रहा। अलग-अलग फसलों के क्षेत्रफल में हर साल काफी उतार-चढ़ाव आता रहा। इस पूरी अवधि में कोई समरूप प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी। हाँ, बाजरा उगाने वाले कुल क्षेत्रफल और उसके समानुपात में मामूली-सी गिरावट जरूर आई।

2.5.2 नकदी फसलें

इस पच्चीस वर्ष की अवधि में खाद्येतर वर्ग की फसलों में क्षेत्रफल की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी। किंतु तिलहन, गन्ना और बागान फसलों में मामूली-सी ऊपर की ओर उठती हुई प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई दी। तिलहन वर्ग के क्षेत्रफल में जो वृद्धि हुई थी वह मुख्य रूप से इस वजह से हुई थी कि मूँगफली के क्षेत्रफल में लगातार काफी वृद्धि होती रही जबकि कुछ दूसरे तिलहन खासकर तिल, रेप व सरसों के क्षेत्रफल में कुछ कमी आई। बागान फसलों में रबड़ और चाय के क्षेत्रफल में वृद्धि दिखाई पड़ी। इस अवधि में संपूर्ण कृषि के क्षेत्रफल में अल्प मात्रा में ही वृद्धि हुई। फसलों की समग्र रचना में भी कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ।

इस कालावधि की उत्पादकता का अध्ययन करने के लिए डा. पांसे ने पाँच प्रांतों की कई मुख फसलों के 1910-11 से 1940-41 तक के आँकड़ों का अध्ययन करके उनका सामान्यीकरण किया। डा. पांसे का यह सामान्यीकरण बहुसंख्यक लोगों द्वारा मान्य है। डा. पांसे ने अपना निष्कर्ष इस प्रकार दिया है:

नकदी फसलों के आँकड़े स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करते हैं कि उनकी उपज बढ़ती दर से

हो रही थी। जहाँ तक गन्ने का प्रश्न हैं ज्यादातर हालातों में उसके क्षेत्रफल का विस्तार प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है और साथ ही सिंचाई वाले क्षेत्रफल में भी वृद्धि नजर आती है। उपज की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है। कुछ राज्यों की उपज में वृद्धि दिखाई देती है तो कुछ की उपज में गिरावट। जबकि कुछ की उपज में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि यदि किसी फसल के क्षेत्रफल का विस्तार हो जाने से उपज की दर घटी है तो सिंचाई वाले क्षेत्र का आनुपातिक विस्तार हो जाने से उसमें वृद्धि भी हुई है।

2.5.3 फसलों का विदेशी व्यापार

इस अवधि के अभिलेख यह दर्शाते हैं कि 1920 के दशक में भारत ने अपनी देशीय आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए औषधि-युक्त फसलों के साथ-साथ पर्याप्त मात्रा में गेहूँ पैदा कर लिया था जबकि पिछले वर्षों में उसका काफी आयात हुआ था। अच्छी फसलों का ही यह परिणाम था कि उसकी बची हुई मात्रा निर्यात के लिए भी उपलब्ध थी। हालाँकि, भारत में गेहूँ की देशीय माँग इस समय लचीली थी और इस दशक में गेहूँ का पर्याप्त निर्यात भी हुआ और यह एक संयोग है कि जब भारत में अच्छी फसल हुई उसी समय गेहूँ की विश्व कीमत उच्च थी।

1924-25 में निर्यात असामान्य रूप से ऊँचा रहा। हालाँकि, उस वर्ष के बाद निर्यात कम हुआ और 1928-29, 1929-30 और 1930-31 के दौरान भारत में गेहूँ का शुद्ध आयात हुआ। यहाँ तक कि 1929-30 में जबकि गेहूँ की फसल बहुत अच्छी हुई थी तब भी उसका बहुत कम ही निर्यात हुआ। इसका कारण यह था कि उसकी अंतर्राष्ट्रीय माँग बहुत कम हो गई थी और विदेशी गेहूँ के साथ प्रतियोगिता बढ़ गई थी। यह भयानक मंदी का प्रभाव था।

1932-33 और 1935-36 के बीच गेहूँ के भारतीय निर्यात और आयात का स्तर बहुत नीचा रहा। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने से पिछले तीन वर्षों में दोनों के आकार में कुछ वृद्धि तो हुई किंतु किसी भी साल दर्शाने लायक न तो शुद्ध आयात हुआ और न ही निर्यात। इन वर्षों में लगभग सभी निर्यात कराची से हुआ और मुख्यतया बतानिया को भेजा गया।

1914 से पहले भारत से चावल का निर्यात मुख्य रूप से बर्मा से होता था। 1914 से पहले के पाँच वर्षों का औसत निर्यात 2,398 टन था जिसमें से 1814 हजार टन का निर्यात बर्मा से हुआ था।

युद्ध के बाद भारत में स्थायी रूप से चावल का शुद्ध आयात होने लगा। 1922-23 से 1924-25 तक के तीन वर्षों में भारत से 387 हजार टन चावल का वार्षिक निर्यात हुआ। इसके साथ ही, भारत में प्रतिवर्ष औसतन 512 हज़ार टन चावल का आयात हुआ। आगे आने वाले वर्षों में यह अंतराल तेजी से बढ़ता चला गया। 1938-39 में भारत से 282 हजार टन चावल का निर्यात किया गया जब कि भारत को इसी साल 1282 हजार टन चावल का आयात करना पड़ा।

अन्य कृषि उत्पादों के विदेशी व्यापार में भी परिवर्तन हुए और उनसे देशीय उत्पादन प्रभावित हुआ और उसका प्रभाव कृषि क्षेत्र पर भी पड़ा। युद्ध और उसकी बाद की स्थितियों का प्रभाव भारतीय तिलहन के यूरोपीय महाद्वीप के बाज़ार पर पड़ा और 1914-24 के दशक में यूरोप में उसका आयात घट गया। किंतु युद्ध के समय और भी दूसरे परिवर्तन आए जिनका अधिक दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा।

नीचे दी गई तालिका (2.2) परिवर्तन की सीमा को बताती है:

तालिका : 2.2
भारत से निर्यात (हजार टनों में)

	युद्ध से पहले का औसत 1913-14	युद्ध के बाद का औसत	तीन वर्षों का औसत 1936-39
अलसी	379(73)	142(59)	280(64)
रेप और सरसों	273(23)	206(19)	27(3.1)
तिल	119(25)	28(6)	12(2.8)
बिनौला	240	155	5
मूँगफली	212(35)	195(19)	731(24.2)

ये परिवर्तन मूँगफली के संबंध में कुछ अधिक से निकला निर्यात युद्ध के बाद के वर्षों में काफी बढ़ गया। नीचे की तालिका (2.3) में इस प्रवृत्ति की तुलना विभिन्न प्रकार के तिलहन की फसलों के एकड़ों के साथ करके स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

तालिका : 2.3
ब्रिटिश भारत

मिलयन (दसलाख) एकड़

	कुल तिलहन	अलसी	रेप	तिल	मूँगफली
1913-14 तीन वर्षों का औसत	16.5	2.6	6.2	3.9	1.8
1921-24 तीन वर्षों का औसत	16.6	3.0	6.2	3.3	2.2
1936-39	20.1	3.0	5.5	3.3	5.6

स्रोत : डब्ल्यू बर्न्स. टेकनोलाजिकल पासिबिलिटीज ऑफ डिवेलपमेंट इन इंडिया (1944)

बोध प्रश्न 2

1) अकालों का कृषि पर तुरंत प्रभाव क्या पड़ा? (दो वाक्यों में उत्तर दो)

.....

.....

.....

.....

2) सही के लिए 'स' और गलत के लिए 'ग' लिखिए।

i) युद्ध के दौरान के वर्षों में इंग्लैंड को अनाजों का बहुत अधिक निर्यात हुआ।

ii) गेहूँ बर्मा से निर्यात किया गया जबकि चावल कराँची से ब्रिटेन को निर्यात किया गया।

iii) प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में चावल का शुद्ध आयात होने लगा।

2.6 परिमाणात्मक स्वरूप

कृषि भूमि और उसकी उपज के संदर्भ में भारत की कृषि स्थिति का वर्णनात्मक विश्लेषण करने के पश्चात् उसकी प्रवृत्तियों के सांख्यकीय विश्लेषण द्वारा उसकी पुष्टि की जा सकती है और उसकी गतिविधियों के बारे में एक सामान्य परिकल्पना की जा सकती है। अब हम यहाँ डेनियल थार्नर द्वारा इस दिशा में किए गए कार्य की सहायता से इसी बात का प्रयत्न करेंगे।

एग्रीकलचरल स्टेटिस्टिकल ऑफ ब्रिटिश इंडिया वार्षिक ग्रंथ माला का पहला अंक 1886 में छपा। 1890 तक इसके अंकों में ब्रिटिश भारत और कुछ भारतीय राज्यों में विभिन्न फसलों को बोने के लिए उपयोग में आने वाली भूमि की सूची एकड़ों में दर्शाई गई इसी दशक में एक दूसरी वार्षिक ग्रंथमाला **एस्टीमेट्स ऑफ एरिया एंड प्रोडक्ट्स ऑफ द प्रिंसिपल क्राप्स इन इंडिया** का प्रकाशन प्रारंभ हुआ हालाँकि इसमें जिन बातों का समावेश किया गया वे अपने आप में उतनी पूर्ण नहीं थी जैसी कि इसके पहले वाली ग्रंथमाला में थी।

इन दोनों ग्रंथमालाओं को आधार बनाकर सबसे पहले जी. ब्लिन (G. Blyn) ने 1961 में लगभग संपूर्ण भारत (बर्मा को छोड़कर) की 1893-94 से 1945-46 तक की कृषि फसलों की उपज का अनुमानित विवरण प्रस्तुत किया। 1962 में डेनियल थार्नर द्वारा उनका संक्षेपण किया गया। इस अध्ययन की मुख्य बात यह थी कि इसमें कृषि-भूमि का एकड़ों में क्षेत्रफल और उसकी उपज के बारे में उपलब्ध अपूर्ण ऐतिहासिक आँकड़ों का उपयोग

करने का प्रयत्न किया गया और उन्हें आधार मानकर 1890 के दशक के प्रारंभ से लेकर ब्रिटिश शासन के अंत तक की अवधि की सभी कृषि फसलों की कुल उपज का अनुमान प्रस्तुत किया गया।

2.6.1 खाद्य फसलें

इस पूरी कालावधि में भारतीय कृषि की खाद्य फसलों का अध्ययन करने से एक प्रमुख निष्कर्ष यह निकलता है कि उनकी प्रवृत्ति लगभग स्थिर बनी रही। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो मामूली परिवर्तन दिखाई पड़ा वह नीचे की ओर था। यह प्रवृत्ति खासकर चावल की फसल में अधिक साफ नजर आती है और चावल यहाँ की एक ऐसी फसल है जिसकी उपज सब खाद्य फसलों की कुल उपज की लगभग आधी होती है। इसलिए दूसरी फसलों की उपज इस प्रवृत्ति को बदलने में असफल रही, हालाँकि गेहूँ की फसल का काफी विस्तार किया गया।

नीचे की तालिका 2.4 में पाँच दशकों की उपज का वार्षिक अनुमान औसत के रूप में दर्शाया गया है। संपूर्ण कालावधि के वार्षिक अनुमान का अंकगणितीय माध्य 71.7 मिलियन टन आता है।

तालिका : 2.4
खाद्य फसलों की सकल उपज का अखिल भारतीय अनुमान
(1893-94 से 1945-46 तक)

वर्ष	वार्षिक उपज का औसत (मिलियन दस लाख टनों में)
1893-94 से 1895-96 तक	73.9
1896-97 से 1905-06 तक	71.5
1906-07 से 1915-16 तक	75.0
1916-17 से 1925-26 तक	73.3
1926-27 से 1935-36 तक	69.6
1936-37 से 1945-46 तक	69.3

खाद्य फसलों की इस लगातार या मामूली गिरावट की प्रवृत्ति के विपरीत वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि दिखाई दी। इस प्रकार की फसलों में से कपास, गन्ना और चाय की फसलों में सबसे ज्यादा वृद्धि हुई। खाद्य फसलों, वाणिज्यिक फसलों और सभी फसलों की उपज के सूचकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अध्ययन काल के दौरान वाणिज्यिक फसलों का उत्पादन लगभग दुगुना हो गया था और यह वृद्धि मुख्य रूप से खाद्य फसलों की उपज की कीमत पर हुई थी। तालिका 2.5 में यह साफ-साफ देखा जा सकता है कि हालाँकि फसलों के कुल उत्पादन में वृद्धि हो रही थी किंतु समग्र वृद्धि का परिमाण बहुत छोटा था। प्रारंभिक अवधि से लेकर समापन अवधि तक समग्र वृद्धि सिर्फ 10 प्रतिशत हुई और अखाद्य और खाद्य फसलों का अनुपात जो शुरू में मोटे रूप से 1:5 था वह अंतिम दशक में बढ़कर लगभग 1:2 हो गया।

ब्रिटिश भारत की 1890 के दशक से 1940 के दशक तक की सांख्यिकी जिसमें बोई जाने वाली सकल कृषि भूमि को एकड़ों के माध्यम से दर्शाया गया था, उससे भी कुल उत्पाद की इन प्रवृत्तियों की पुष्टि होती है। प्रारंभिक वर्षों में लगभग 190 मिलीयन एकड़ भूमि में बुआई हुई थी जो समापन दशक में बढ़कर 210 मिलियन एकड़ हो गई थी और इस प्रकार उसमें 10 प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी।

2.6.2 जनसंख्या और फसलों का उत्पादन

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में जनसंख्या वृद्धि अधिक तेज दर से हुई। 1901 से 1940 तक हर दशक में जनसंख्या में औसतन 6.4% की वृद्धि हुई किंतु फसल की कुल उपज की वृद्धि की दशकीय दरें इन पाँच दशकों में सिर्फ 2.3 प्रतिशत रही। इस प्रकार इस अवधि में जनसंख्या की वृद्धि की दर फसलों के कुल उत्पादन की दर से लगभग तीन गुना अधिक रही। इस प्रकार 1893-96 से 1936-46 के दशक में प्रति व्यक्ति फसलों के कुल उत्पाद में 20 प्रतिशत की गिरावट आ गई। खाद्य फसलों के प्रति व्यक्ति उत्पादन में तो और भी

अधिक अर्थात् 32 प्रतिशत की गिरावट आ गई। यदि खाद्य फसलों के उत्पाद को सूचकों में न देखकर पौंड में देखा जाए (जैसा कि तालिका 2.6 में दर्शाया गया है) तो हम पायेंगे कि समापन अवधि में प्रति व्यक्ति उत्पादन 600 पौंड से घटकर सिर्फ 400 पौंड रह गया। तालिका 2.6 प्रति व्यक्ति उत्पाद में परिवर्तन दर्शाती है।

तालिका 2.5
खाद्य फसलों, वाणिज्यिक फसलों और कुल फसलों का अखिल भारतीय उत्पादन अनुमान
1893-94 से 1945-46
औसत वार्षिक फसल उत्पादन का सूचक

वर्ष	खाद्य	वाणिज्यिक	कुल	खाद्य फसलें
1893-94 से 1895-96 तक	100	100	100	0.22
1896-97 से 1905-06 तक	96	105	98	0.24
1906-07 से 1915-16 तक	99	126	104	0.28
1916-17 से 1925-26 तक	98	142	106	0.32
1926-27 से 1935-36 तक	94	171	108	0.41
1936-37 से 1945-46 तक	93	185	110	0.44

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि 1890 के दशक से सब फसलों का कुल उत्पाद बढ़ा जबकि खाद्य फसलों का कुल उत्पाद घट गया और खाद्य फसलों एवं सभी फसलों दोनों का प्रति व्यक्ति उत्पाद काफी नीचे गिर गया। इसलिए पिछले साठ वर्षों के दौरान कृषि उत्पाद की प्रवृत्ति गतिहीन कहलाई।

तालिका 2.6
खाद्य फसलों और कुल फसलों के प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पाद के औसत का अखिल भारतीय अनुमान

वर्ष	उत्पाद सूचक इकाइयों में प्रति व्यक्ति			खाद्य फसलों का उत्पाद पौंडों में प्रति व्यक्ति
	जनसंख्या सूचक	खाद्य फसलें	सभी फसलें	
1893-94 से 1895-96 तक	100	100	100	587
1896-97 से 1905-06 तक	101	95	97	560
1906-07 से 1915-16 तक	107	91	97	547
1916-17 से 1925-26 तक	109	90	91	538
1926-27 से 1935-36 तक	120	78	90	461
1936-37 से 1945-46 तक	138	68	80	399

2.7 गतिरोध के कारण

इस कृषि दृश्य ने खासकर भारतीय उत्पाद की विदेशी माँग बढ़ जाने पर जिसका विवरण ऊपर दिया गया है, भारत में कृषि विकास के लिए एक उत्प्रेरक एजेंट का काम करना चाहिए था न कि गतिहीन कृषि को गड्ढे में ढकेलने का। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर (क) देश के कृषि संगठन, और (ख) किसानों के पास तकनीकी सुधार के लिए साधनों की कमी, इन दोनों को देखकर दिया जा सकता है। निर्यात में वृद्धि और उसके परिणामस्वरूप कीमतों में वृद्धि के कारण छोटे किसानों को कोई लाभ नहीं पहुँच सका जिनके पास बेशी की मामूली सी गुंजाइश थी क्योंकि उनके छोटे खेतों की उपज से सिर्फ उनकी आवश्यकताएँ ही पूरी हो पाती थीं और बाज़ार में बेचने के लिए मुश्किल से कुछ बच पाता था। अधिकतर किसान अक्सर भूमि के उस टुकड़े के मालिक नहीं होते थे जिस पर वे कृषि करते थे इसलिए वे न तो उसमें कोई सुधार कर सकते थे और न ही कृषि के तरीके में कोई तकनीकी परिवर्तन ला सकते थे। यहाँ तक कि मालिक किसान भी इस प्रकार के सुधार लाने में असफल रहे क्योंकि उनके पास सुधार लाने के साधन उपलब्ध नहीं थे। इसलिए उस समय जबकि कृषि उत्पाद की माँग बढ़ रही थी, उत्पादकता में मुश्किल से कोई वृद्धि हुई थी।

ऐसी स्थिति में उत्पादन में गतिरोध का स्पष्टीकरण उन परिस्थितियों में खोजा जा सकता है जिनके अंतर्गत गतिहीन बने हुए कृषि विस्तार के लिए आवश्यक संसाधन सूख गए थे या कहीं और लगा दिए गये थे। सबसे पहले हम इस बात की जाँच करेंगे कि अंग्रेजों द्वारा जारी की गई भूमि पट्टेदारी की नई प्रणालियों का ग्रामीण भारत पर क्या प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश भूमि नीति का भारत में निरूपण करने के पीछे उनके दो प्रमुख उद्देश्य थे: (1) भारत के साथ मित्रता कायम करना ताकि यहाँ ब्रिटिश शासन स्थापित हो सके, और (2) भारत से अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त किया जा सके।

इसके बावजूद भी भारतीय किसानों से उनके शासक भूमि की उपज का अधिक से अधिक भाग माँगते रहते थे और उनसे अधिक से अधिक भाग वसूल करने के तरीके निकालते रहते थे। अंग्रेजों ने इस संबंध में तीन बातें जोड़ी—उस सारे क्षेत्र से जहाँ पर उनका सीधा शासन था उसका भुगतान रुपयों में किया जाए, यह भुगतान हर साल पूरा-पूरा किया जाए (इसकी माँग सापेक्षिक रूप से लचीली नहीं होती थी) और यह सब भू-जातों की निजी सम्पत्ति के ढाँचे के संदर्भ में हो।

इस नई स्थिति से किसानों को कोई खास लाभ नहीं हुआ क्योंकि न तो कृषि भूमि का ही अधिक विस्तार हो सका और न ही उत्पादकता में कोई वृद्धि हो सकी। हाँ, इसका यह प्रभाव जरूर हुआ कि अनाज, चारा और अन्य पुरानी फसलों के स्थान पर वाणिज्यिक फसलें उगाई जाने लगीं।

2.7.1 वाणिज्यीकरण का प्रभाव

विभिन्न वाणिज्यिक फसलें उन क्षेत्रों में उगाई जाने लगीं जो जलवायु की दृष्टि से उनके लिए बहुत अनुकूल पाये गए थे। इस प्रकार बंबई प्रेसीडेंसी के दक्षिणी जिले कच्ची कपास की कृषि के लिए चुने गए, बंगाल प्रांत को जूट और नील के लिए, बिहार अफीम के लिए, असम चाय के लिए और पंजाब का नहरों वाला क्षेत्र गेहूँ और कपास के लिए चुना गया। फसलों का यह क्षेत्रीय विशिष्टीकरण बाद में वाणिज्यिक क्रांति का प्रमुख कारण साबित हुआ।

वाणिज्यिक क्रांति से भारतीय अर्थव्यवस्था को पहले की अपेक्षा अधिक जोर का धक्का लगा। चूंकि देश में कृषि-उत्पाद का व्यापार बढ़ गया इसलिए किसी गाँव या पूरे क्षेत्र के लिए अधिक समय तक यह जरूरी नहीं रह गया कि अनाज या जीवन की दूसरी चीजों के लिए वह आत्मनिर्भर रह सके। वास्तव में यह हुआ कि जिन क्षेत्रों में वाणिज्यिक फसलें उगाई जाती थीं, वहाँ के लोगों की क्रय शक्ति अचानक बढ़ गई क्योंकि फसलों को बेचने से उन्हें नकद राशि मिल जाती थी, और वे उसका उपयोग देश के दूसरे भागों से अनाज और दूसरी चीजें खरीदने में करते थे। अब किसानों के लिए यह जरूरी नहीं रह गया था कि वे मंदे वर्षों के लिए अपने पास अनाज का भंडार रखें। यहाँ तक कि अब उन्हें अगली फसल आने तक के लिए भी अनाज का भंडार अपने पास रखना आवश्यक नहीं था। देश में कृषि-उत्पाद का बाज़ार विकसित हो गया था इसलिए किसान को यह सुविधा मिल गई थी कि वह अपना उत्पाद तुरंत उसके पास आते ही बेच सकता था और उसे फिर जब अपने उपभोग के लिए उसकी जरूरत होती थी तो वह बाज़ार से खरीद लेता था। गाँव की पृथकता और आत्मनिर्भरता अब समाप्त हो गई थी। अब दुनिया के बाज़ार में चीजों की कीमतों में होने वाले बदलाव और व्यवसाय में होने वाले उतार-चढ़ाव का प्रभाव भारतीय किसानों के जीवन में इतना अधिक होने लगा था जितना पहले कभी नहीं हुआ था। अब किसान अपनी फसलों का चुनाव करते समय इस बात का अधिक ध्यान रखता था कि बाज़ार में उसकी माँग और कीमतें कैसी हैं न कि अपनी निजी या अपने निकटवर्ती पड़ोसी की आवश्यकताओं की। पुराने तरीकों का अचानक यह बदलाव किसानों के हित में नहीं था। एक दृष्टि से तो इससे उनकी बहुत बड़ी हानि हुई क्योंकि कृषि का वाणिज्यीकरण होने से खाद्य फसलों के स्थान पर वाणिज्यिकी फसलें उगाई जाने लगीं। इस विकास का यह परिणाम हुआ कि देश में खाद्य उपलब्धता की स्थिति भयावह हो गई।

चूंकि किसानों की आय बहुत कुछ उनकी वाणिज्यिक फसलों की बिक्री पर निर्भर हो गई इसलिए उन्हें नियमित रूप से एक ऐसे ऋणदाता की जरूरत हो गई जो एक वित्त वर्ष से दूसरे वित्त वर्ष तक के लिए कर्ज़ देकर उनकी स्थिति संभाले रखे। यह आवश्यकता ऋणदाताओं व बाज़ार प्रमुखों द्वारा पूरी की गई जिनकी संख्या, प्रतिष्ठा और शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि राज्य को भुगतान की जाने वाली

राशि प्रायः लोचहीन होती थी अतः जब फसल खराब हो जाती थी या उसकी कीमत कम हो जाती थी तो किसानों द्वारा समय पर भुगतान न कर पाने की स्थिति में या फिर उसके भुगतान के लिए उन्हें ऋणदाताओं से उधार लेना पड़ता था। नये ब्रिटिश आदेश के अनुसार भूमि निजी संपत्ति बन गई थी जिसे बंधक रखा जा सकता था, हस्तांतरित किया जा सकता था और बेचा जा सकता था।

परिणामस्वरूप अंग्रेजों द्वारा भू-राजस्व का एक नया स्वरूप और एक नई कानूनी प्रक्रिया प्रारंभ की गई जिससे जमींदारों और ऋणदाताओं के रूप में एक ऐसा अनैतिक तंत्र देश में बन गया जो किसानों से उनकी उपज का अधिकांश भाग हड़प लेता था और उनके पास मुश्किल से उतना ही बच पाता था जिससे उनकी खेती होती रहे। 1870 से 1940 के दशक के बीच देश के अंदर अमीर जमींदारों का एक बहुत बड़ा वर्ग पैदा हो गया था जो हर प्रकार से स्थापित हो गया था और सुरक्षित भी था। भारतीय इतिहास के किसी काल में हमें कभी इतना बड़ा इस प्रकार का वर्ग देखने को नहीं मिलता।

2.7.2 भूमि की बढ़ती माँग

ब्रिटिश शासन की दूसरी देन जिससे किसानों की हालत बदतर होती गई, वह थी जनसंख्या की वृद्धि। भूमि पर जनसंख्या का दबाव फिर उतना हो गया जितना 1880 में था। 1879 और 1880 में विलियम विल्सन हंटर द्वारा एडिन बर्ग में भाषणों की एक शृंखला इस बारे में आयोजित की गई थी जिसमें इस विषय पर महत्वपूर्ण विचार सामने आए थे। विलियम विल्सन हंटर उस समय का एक ऐसा ब्रिटिश विश्लेषक था जिसे भारतीय सामाजिक और आर्थिक स्थिति की बहुत अच्छी जानकारी थी।

हंटर के समय की तुलना में अब जनसंख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। एक साधारण किसान परिवार को भूमि की जो मात्रा उपलब्ध थी वह बहुत कम हो गई थी। चूंकि भूमि के लिए काफी प्रतियोगिता थी, अतः भू-स्वामियों और ऋणदाताओं को यह सुविधा थी कि वे किसानों को काफी कड़ी शर्तों पर खेती करने और उधार लेने के लिए राजी कर लेते थे।

इस व्यवस्था के अंतर्गत कृषक कृषि-उत्पादन का नियंत्रण अपने हाथ में बनाए रखते थे किन्तु उत्पादन बढ़ाने के लिए उनके पास आवश्यक संसाधनों का अभाव था।

अब एक मुख्य प्रश्न यह रह जाता है कि भारत के जमींदारों, ऋणदाताओं और बाज़ार प्रमुखों को एक विशेष हैसियत दी गई थी जिससे उनको काफी आय होती थी, किंतु उन्होंने अपनी आय का क्या उपयोग किया? इस प्रश्न के एक भाग का उत्तर तो स्पष्ट है कि उन्होंने उस आय का निवेश कृषि का उत्पादन बढ़ाने में तो नहीं किया।

भारतीय जमींदारों को पूँजीपतियों के लाभ के स्थान पर लगान और सूद मिला करता था जो कहीं अधिक आसान, सुरक्षित, अधिक सहानुभूतिपूर्ण और अधिक लाभप्रद होता था। इस संबंध में हम यहाँ उदाहरण के रूप में यह उल्लेख कर सकते हैं कि पच्चीस वर्ष पहले भारतीय कृषि पर शाही आयोग (रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर इन इंडिया) के सामने पी.एम.ए. मेनन ने जो बंगाल में भू-अभिलेख और सर्वेक्षण निदेशक थे, कहा था कि मेरे पास काफी भूमि है और मैं खुद भी खेती करता हूँ तो भी मैं यह अनुभव करता हूँ कि अपने पशुओं से और मजदूरी पर नौकरों को रखकर भूमि पर खुद खेती करने की अपेक्षा उसे आधे उत्पाद पर (फसल की बंटाई पर) दे देना अधिक लाभप्रद होता है।

भारत सरकार की ओर से इस बात का कोई खास प्रयास नहीं किया गया कि भूमि को अधिकार में रखने वाला वर्ग कृषि-कर्म की उत्पादन की दिशा में रुचि ले। साथ ही राज्य की ओर से भी उत्पाद में वृद्धि लाने के लिए कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किए गए जैसे कि मेजी जापान में किए गए थे।

अंत में यह कह सकते हैं कि वास्तव में ब्रिटिश शासन ने भारतीय कृषि की सामाजिक संरचना को पूरी तरह से बदल दिया लेकिन कृषि की मूल प्रक्रिया, उसका उत्पादन और तकनीक का स्तर लगभग वैसा ही बना रहा। नए कृषक समाज के चोटी के कुछ लोगों को तो बहुत अधिक लाभ हुआ किंतु आम किसानों की दशा खराब हो गई। कृषि के विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता थी किंतु वह तो दूर चली गई थी और इसलिए कुल उत्पाद का स्तर गतिहीन होता जा रहा था। अतः डेनियल थार्नर के अनुसार 19वीं सदी के अंत से लेकर अंग्रेजों के भारत से जाने के समय तक भारत की ऐसी स्थिति थी।

बोध प्रश्न 3

1) इस बात की व्याख्या कीजिए कि भारतीय कृषि उत्पाद की माँग बढ़ने के बावजूद भी उसकी उत्पादकता में वृद्धि क्यों नहीं हो रही थी? (तीन वाक्यों में उत्तर दो)

.....

.....

.....

.....

.....

2) खाली स्थानों को भरिए।

i) नई परिस्थिति में कृषि उत्पाद की बढ़ती हुई माँग..... (क्षेत्र बढ़ाकर खाद्य फसलों के स्थान पर नकदी फसलें उगाकर) पूरी की गई।

ii) नई प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों और ऋणदाताओं की आय तो बहुत बढ़ गई थी किंतु वे उसका उपयोग कृषि-उत्पादन बढ़ाने में ..... (करते थे/नहीं करते थे)

3) जमींदार और ऋणदाता अपनी पूँजी का निवेश कृषि पर क्यों नही करते थे? (एक वाक्य में उत्तर दो)

.....

.....

.....

2.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने से हमें ज्ञात हुआ कि आविष्कारों की शृंखला के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश उद्योगपतियों ने भारतीय कारीगरों का उपयोग करके पर्याप्त लाभ कमाया। उसी समय उन्होंने यहाँ पर विभिन्न प्रशासनिक और न्यायिक प्रणालियों की शुरुआत की। किसानों को भूमि पर जो अधिकार दिए गए थे वे इस बात पर निर्भर करते थे कि पट्टेदारी किस तरह की है। उस समय मुख्य रूप से पट्टेदारी की दो प्रणालियाँ थीं—रैयतवाड़ी और जमींदारी।

हम यह जानते ही हैं कि ब्रिटिश काल से पहले भारत की कृषि आत्मनिर्भर प्रकृति की थी और उसमें खाद्य फसलों की ही प्रधानता रहती थी। अन्य फसलें जैसे तिलहन, कपास, गन्ना आदि स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिए उगाई जाती थीं। 1850 तक भारत के विदेशी व्यापार का आकार तेजी से बढ़ना नहीं शुरू हुआ था। अमेरिका के गृह-युद्ध के कारण लंकाशायर में जब कपास का अकाल पड़ गया तब अंग्रेज उद्योगपति कच्चे माल की पूर्ति के लिए भारत की ओर देखने लगे। परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने सड़कों और रेलों आदि आवश्यक और आधारभूत संरचना का भारत में विकास करने में अधिक रुचि ली। इससे सिर्फ नकदी फसलों का ही नहीं बल्कि खाद्य फसलों का भी भारत से निर्यात होने लगा और इसका नतीजा यह हुआ कि अनाजों की कीमतों में वृद्धि हो गई।

1880 से 1895 की कालावधि सातवें दशक की तुलना में स्थिर रही क्योंकि सातवें दशक में लंकाशायर में कपास की कमी, स्वेज नहर के खुलने, फ्रांस-जर्मन युद्ध और फिर अकालों के कारण बहुत हलचल रही। इस अवधि में भारतीय कच्चे माल की निर्यात काफी बढ़ गया था। युद्ध के दौरान भारत से कपास, तिलहन, जूट, चाय और अनाजों के अलावा अफीम, नील, चमड़ा व खाल और गन्ने का भी निर्यात किया गया था।

1895 से 1914 की कालावधि में दो भयंकर अकाल पड़े और इन अकालों का तुरंत प्रभाव यह हुआ कि दोहरी फसल वाले क्षेत्र में गिरावट आ गई और नगदी फसलों के स्थान पर खाद्य फसलें उगाई जाने लगीं तथा अधिक लाभप्रद फसलों की जगह घटिया खाद्य की

फसलें बोई जाने लगीं। फिर भी कुछ अपवादों को छोड़कर फसलों वाली भूमि के क्षेत्रफल में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई थी।

युद्ध के दौरान अनाजों का निर्यात काफ़ी कम हुआ। फसलों की समग्र संरचना में भी कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आया। 1924-25 में गेहूँ का निर्यात काफी ऊँचा रहा किंतु बाद के वर्षों में वह बहुत नीचे स्तर पर आ गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत स्थायी रूप से चावल का आयात करने लगा। दूसरी फसलों में मूँगफली के निर्यात में काफी वृद्धि हो गई।

हालाँकि, भारतीय कृषि उत्पाद की विदेशी माँग काफी बढ़ गई थी किंतु फिर भी भारतीय कृषि के उत्पादन की स्थिति/वास्तव में गतिहीन बनी रही। इसके लिए उत्तरदायी कारण थे–देश की कृषि व्यवस्था और तकनीकी सुधार के लिए संसाधनों की न्यूनता। कृषक वर्ग, कृषि उत्पाद की बढ़ती माँग की पूर्ति कृषि क्षेत्र का विस्तार करके या उसकी उत्पादकता बढ़ाकर नहीं कर सके लेकिन बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए खाद्य फसलों के स्थान पर वाणिज्यिक फसलें उगाई जाने लगीं। इसके कारण भूमि की माँग बहुत बढ़ गई। उस समय की संपूर्ण व्यवस्था कुछ इस प्रकार की थी कि भू-स्वामियों और विनिर्माताओं की आय में पर्याप्त वृद्धि हो गई किंतु उस पूँजी का निवेश कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए कभी नहीं किया गया क्योंकि उन्होंने देखा कि लगान और सूद पैसे कमाने के लिए बहुत सहानुभूतिपूर्ण और बहुत लाभप्रद तरीके हैं। किसानों की हालात बदतर हो गई। अंग्रेजों ने भारतीय कृषि की सामाजिक संरचना बदलने की कोशिश की लेकिन उत्पादन की मूल प्रवृत्तियों पर उनका कोई खास असर नहीं पड़ा। वाणिज्य के लिए सारे देश में रेलें चलने लगीं लेकिन सिंचाई की उपेक्षा की गई।

2.9 शब्दावली

फसलों का स्थानीयकरण : किसी विशेष क्षेत्र में फसलों को उगाना, वहाँ फसल विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप मिट्टी, वातावरण और साथ ही सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हों। उदाहरणस्वरूप, बरार में कपास उगाई जाती थी और दक्षिण के पठार के नीरा और मुधा में गन्ने की खेती होती थी।

औद्योगिक फसलें : यह वाणिज्यिक फसलों का दूसरा नाम है और ये फसलें औद्योगिक उत्पादन के लिए कच्चा माल देती हैं जैसे कपास, जूट, तिलहन, नील, गन्ना आदि। उपनिवेश-अवधि में इन फसलों का निर्यात इंग्लैंड को किया जाता था। कई बार ये फसलें निर्यात फसलें कही गई हैं।

2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhatia, B.M., 1975. "Agriculture and Cooperation" in *Economic History of India*, V.B. Singh (ed), Allied Publishers Pvt. Ltd., New Delhi.

Dutt, R.C., 1990. *Economic History of India*, Vol. II, (Ch. 36, pp. 410-417), Low Price Publications, Delhi.

Gadgil, D.R., 1938. *Industrial Evolution in India*, (Chapters 5, 7, 9, 11, 15), Oxford University Press.

Thorner, Daniel and Alice, 1962. *Land and Labour in India*, (Ch. 6 pp, 102-113), Asia Publishing House.

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 2.2.1 पढ़िये और उत्तर दीजिए

बोध प्रश्न 2

1) भाग 2.4 पढ़ो और प्रश्न का उत्तर दो

2) 1) ग 2) ग 3) स

बोध प्रश्न 3

1) भाग 2.7 पढ़िये और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

2) i) खाद्य फसलों के स्थान पर नकदी फसलें उगाकर।
ii) नहीं करते थे।

3) उपभाग 2.7.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

इकाई 3 भारत में अकाल, 1760 से 1943

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 प्रमुख अकाल
  3.2.1 1769-70 का अकाल और 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अन्य अकाल
  3.2.2 मद्रास में 1833 का अकाल
  3.2.3 1837-38 का अकाल
  3.2.4 1860-61 का अकाल
  3.2.5 1866-67 का अकाल
  3.2.6 1868-69 का अकाल
  3.2.7 1873-74 का बिहार का अकाल
  3.2.8 1876-78 का अकाल
  3.2.9 1896-1899 के अकाल
  3.2.10 1943 का बंगाल का अकाल
3.3 अकाल की विशेषताएँ और परिणाम
  3.3.1 अकाल और कीमतें
  3.3.2 पिछले अकालों में दी गई राहत की लागत
  3.3.3 मृत्यु दरों का अनुमान और अकाल
3.4 अकाल सहायता
  3.4.1 अकाल संहिता : सिद्धांत
  3.4.2 अकाल संहिता प्रारूप और संशोधन
3.5 अकाल की राजनीतिक अर्थव्यवस्था
  3.5.1 आर्थिक अपवाह और अकाल
  3.5.2 ज़मींदारी का उद्भव और दरिद्रीकरण की प्रक्रिया
  3.5.3 कृषि का वाणिज्यीकरण
  3.5.4 रेलवे और सिंचाई
  3.5.5 बंगाल का अकाल : युद्ध वित्त
  3.5.6 अकाल संहिताएँ
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे:

- सन् 1760 से 1943 तक होने वाले प्रमुख अकाल;
- अकाल की सामान्य विशेषताएँ;
- अकालों के दौरान ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए राहत कार्य;
- अकाल संहिताओं के विभिन्न सिद्धांत और संशोधन; और
- उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत अंकालों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था।

3.1 प्रस्तावना

सामान्यता, यह समझा जाता है कि अकाल वर्षा की कमी, एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवस (migration) और/अथवा राजनीतिक अशान्ति के कारण जन-साधारण तक भोजन

पहुँचने में रुकावट के कारण होते हैं। अंग्रेज़ों ने यही प्रचार किया और सामयिक मानसून की असफलताओं को भारत में अकालों का प्रमुख कारण बताया। लेकिन उपनिवेशकाल के दौरान भारत में स्थिति यह नहीं थी। दूसरी ओर, अनेक भारतीय तथा यहाँ तक कि ब्रिटिश इतिहासकारों ने साम्राज्यवादी निकास की प्रणाली और भारत में अकालों तथा भोजन में कमी में संबंध स्थापित किया। विलियम डिगबी के अनुसार, 11वीं और 18वीं शताब्दी के मध्य के साढ़े छः सौ वर्षों में भारत में अकालों की कुल संख्या 18 थी, जिसमें से सात अपेक्षाकृत काफी बड़े अकाल थे। लेकिन केवल 19वीं सदी में ही ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत 31 अकाल रजिस्टर किए गए जिनमें से 18 अंतिम 25 वर्षों में, अर्थात् स्वेज़ नहर के खुलने और परिणामस्वरूप भारत से खाद्यान्नों के बढ़ते निर्यात के बाद हुए। लेकिन सरकार का यह स्पष्टीकरण नहीं था। वह अकालों की घटना को मानसून की असफलता और सूखे के रूप में वर्णित करती रही।

इस इकाई में, हम ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान अर्थात् 1760 से 1943 तक की अवधि में होने वाले प्रमुख अकालों का अध्ययन करेंगे। पहले, हम अकाल पड़ने के बारे में सरकार का दृष्टिकोण देखेंगे और फिर इस पर विचार करेंगे कि अनेक आर्थिक इतिहासकारों ने अकालों की घटना का वर्णन किस प्रकार किया है। दूसरे शब्दों में, यह अकालों की राजनीतिक- अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से व्याख्या होगी।

3.2 प्रमुख अकाल

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में अकाल लगभग नियमित अंतराल के बाद पड़ते रहे। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में, शासक अकाल के प्रभावों को कम करने के लिए तैयार नहीं थे, यद्यपि ये अकाल स्थानीय थे। प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार और सार्वजनिक निर्माण कार्य, जैसे रेल लाइनों के बिछने के बाद, यह आशा हुई थी कि कम से कम भूख के कारण तो जानें नहीं जाएंगी। लेकिन वास्तव में, ऐसा हुआ नहीं और भारत को 1943 में भी बंगाल के भयानक अकाल का सामना करना पड़ा। इस अकाल में जान की भारी क्षति हुई। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान होने वाले कुछ प्रमुख अकाल (दुर्भिक्ष) निम्न हैं।

3.2.1 1769-70 का अकाल और 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अन्य अकाल

सबसे पहला गम्भीर अकाल बंगाल, बिहार और उड़ीसा में 1770 में पड़ा। इसका स्पष्टीकरण यह दिया गया कि 1768 से ही वर्षा बहुत कम हुई और इसी कारण 1770 तक खाद्यान्नों की कीमतों में बहुत वृद्धि हुई। खाद्यान्न की भारी कमी हो गई। इस स्थिति के साथ-साथ कुछ कम्पनी अधिकारियों और उनके अभिकर्त्ताओं ने खाद्यान्नों में संदिग्ध व्यापार किया। उस समय सरकारी रूप से अनुमान किया गया कि प्रदेश की एक-तिहाई अथवा लगभग एक करोड़ जनसंख्या मृत्यु का शिकार हुई।

1784 में, ऊपरी भारत में एक और अकाल पड़ा, जो और भी गंभीर था तथा जो 1770 से भी अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैला, लेकिन यहाँ तथ्यों की कमी है। 1791 में, मद्रास प्रेसीडेंसी के उत्तरी ज़िलों तथा हैदराबाद और बम्बई के दक्षिणी ज़िलों में गंभीर सूखा पड़ा तथा उसके बाद 1792 में भीषण अकाल। इस समय पहली बार सरकार द्वारा अकाल पीड़ित लोगों के लिए राहत कार्य शुरू किए गए।

फिर जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य भारत में फैला, 1802-04, 1807, 1812-13 और 1824-25 में मुख्य रूप से बम्बई तथा मद्रास प्रेसिडेन्सियों, हैदराबाद और उत्तरी-पश्चिमी प्रांतों में अकाल पड़े। 1880 के अकाल कमीशन द्वारा वर्षा का न होना, सूखा और खाद्यान्न की कमी अकाल के कारण बताए गए। टिड्डियों के आक्रमण, चूहों तथा महामारी के कारण खाद्यान्नों की भारी बरबादी हुई। राहत कार्यों और 1824-25 में खाद्यान्न के आयात के अतिरिक्त मद्रास और बंबई प्रेसिडेन्सियों की सरकारों द्वारा स्वतंत्र व्यापार के साथ अहस्तक्षेप की सामान्य नीति अपनाई गई। उस समय चल रही राजस्व बंदोबस्त से संबंधित गतिविधियों में विपदा के वर्षों में राजस्व माफ करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

3.2.2 मद्रास में 1833 का अकाल

1833 में मद्रास प्रेसीडेंसी में एक भीषण अकाल पड़ा। इस प्रेसीडेंसी में मृत्यु दर काफी अधिक होने के कारण इस अकाल को गुन्टूर अकाल के नाम से जाना जाता है। गंभीर रूप से प्रभावित कुल जनसंख्या 50 लाख थी और प्रभावित क्षेत्र लगभग 38000 वर्गमील था। केवल गून्टूर ज़िले में 5 लाख की जनसंख्या में से 2 लाख लोग काल का ग्रास हुए। केवल कुछ शहरों में, जहाँ भूख से पीड़ित लोग इकट्ठे हो गए, मुफ्त खाद्यान्न वितरण के अतिरिक्त दुःख को कम करने के लिए बहुत कम प्रयत्न किए गए। बम्बई, मैसूर और हैदराबाद के पास के इलाकों में भी संकट आया, हालाँकि यह कम गंभीर रूप में था।

3.2.3 1837-38 का अकाल

1837 में पहली बार ऊपरी भारत भयंकर अकाल से प्रभावित हुआ। इलाहाबाद और दिल्ली के बीच यह पूरे देश में आया, लेकिन कानपुर तथा आगरा में यह सबसे अधिक गंभीर था। अकाल का कारण 1836 में वर्षा का बिलकुल न होना बताया गया। यह विचार व्यक्त किया गया कि सरकार का मुख्य कार्य उन लोगों को रोज़गार दिलाना है जो काम कर सकते हैं। 1880-85 के अकाल कमीशन के अनुसार, "ऐसा प्रतीत होता है कि 1,00,000 लोग राहत-कार्यों में लगे हुए थे।" पड़ोसी राज्यों से, विशेषकर आगरा से, भी लोग आए। तीव्र कृषि बाधाओं और अनाज की गाड़ियों तथा भंडारों की लूट इतनी बढ़ गई थी कि कुछ स्थानों पर सेना को बुलाना पड़ा। इस अकाल में कीमतें सामान्य स्तर से लगभग तीन गुना बढ़ गई, लेकिन अकाल कमीशन के अनुसार, जनसंख्या द्वारा सहन किए गए दुःख की चरम सीमा इतनी अधिक थी कि बाद में भी अकाल की भयानकता की याद देर तक बनी रही और कुछ वर्षों तक इसके प्रभाव भू-राजस्व की कमी के रूप में स्पष्ट दिखाई देते रहे।

3.2.4 1860-61 का अकाल

1837-38 के अकाल के बाद, उत्तरी-पश्चिमी प्रांतों और पंजाब ने अच्छे मौसम और समृद्धि का युग देखा। लेकिन 1857 के सैनिक विद्रोह के बाद, कृषि में अनेक वर्षों तक अस्थिरता रही। मानसून भी बहुत प्रतिकूल था। फलस्वरूप, आगरा और दिल्ली के बीच के क्षेत्र और अलवर के पड़ोसी राज्यों तथा पंजाब के पूर्वी ज़िलों में अकाल फैला। बेरोज़गारी और भुखमरी बड़े पैमाने पर थीं। प्रांतीय सरकार ने अकाल सहायता के लिए नीति बनाने के लिए काफी पहल की। काम लायक लोगों को रोज़गार प्रदान करना और वृद्ध, औरतों तथा बच्चों, जो काम करने में असमर्थ थे, को निशुल्क सहायता वितरित करना इस नीति के अंग थे।

3.2.5 1866-67 का अकाल

1865 में सूखा पड़ा और उसके पश्चात् 1866 में वर्षा देर से हुई। इससे मद्रास से लेकर मैसूर, हैदराबाद, बंगाल का दक्षिण-पश्चिम और बिहार तक भारत के संपूर्ण पूर्वी तट के क्षेत्र अकाल की चपेट में आ गए। मद्रास में कीमतें बहुत बढ़ गई, एक रुपए में 10 या 12 पौंड चावल सामान्य बात हो गई। मुख्यतया पके हुए भोजन के रूप में 16 महीनों के लिए प्रतिदिन 31,000 लोगों को निशुल्क सहायता दी गई। मृत्यु दर के बारे में अधिक सूचना उपलब्ध नहीं है लेकिन 1866 के अंतिम 6 महीनों में मृतकों की संख्या लगभग 4 लाख 50 हज़ार थी।

उड़ीसा में सूखा अधिक गंभीर था। स्थानीय अधिकारियों ने स्थिति की गंभीरता को न समझते हुए कोई विशेष जाँच नहीं की। अचानक प्रांत में खाद्यान्न लगभग खत्म हो गए। कोई सहायता प्राप्त न हो सकी तथा यह अनुमान लगाया गया कि लगभग एक-तिहाई जनसंख्या अथवा लगभग 10 लाख लोग मृत्यु का शिकार हुए। 1866 के अंत में भारत सरकार ने जार्ज कैम्पबैल की अध्यक्षता में उड़ीसा अकाल कमीशन का गठन किया। यह अकाल और अकाल की नीति पर पहली विस्तृत सूचना थी और इसमें सुझाव दिया गया कि सार्वजनिक निर्माण कार्य अकाल के पूर्व ही तैयार रखने चाहिए। लेकिन, यह सूखा केवल उड़ीसा तक ही सीमित नहीं था बल्कि बंगाल और बिहार तक फैला हुआ था। लगभग 12 हज़ार लोग राहत कार्यों पर लगाए गए और लगभग 25 हज़ार को प्रतिदिन मुफ्त भोजन प्राप्त हुआ।

3.2.6 1868-69 का अकाल

केवल एक वर्ष के पश्चात्, 1868-69 में अगला बड़ा अकाल पड़ा। इस बार पश्चिमी भारत में वर्षा कम हुई। इसकी प्रवलता सबसे अधिक मारवाड़, बीकानेर, अजमेर, राजपूताना के देशी राज्यों और मध्य भारत में थी। सबसे अधिक कष्ट राजपूताना में था, जहाँ खाद्यान्न की कमी के साथ-साथ चारे की भी कमी हो गई। पानी अत्यधिक दुर्लभ था। बड़ुत-से ग्रामवासियों ने भोजन, पानी और चारे की खोज में अपने घर छोड़ दिए। अकाल के दौरान हैजे का प्रकोप भी होने के कारण काफी संख्या में लोग मरे।

3.2.7 1873-74 का बिहार का अकाल

1873 का मानसून असामान्य नहीं था, लेकिन यह सितम्बर में समय से पहले ही खत्म हो गया और सर्दी की चावल की फसल खराब हो गई। बंगाल सरकार ने, जिसके हाथ में बिहार का प्रशासन भी था, अकाल सहायता के लिए अलग सिद्धांत अपनाए। यह सोचा गया कि निजी व्यापारियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता और इसलिए, पीड़ित इलाकों को आवश्यक भोजन की पूरी मात्रा प्रदान करने की ज़िम्मेदारी सरकार ने स्वयं ले ली। फलस्वरूप, 4 लाख 80 हज़ार टन चावल आयात किया गया और इसे अकाल पीड़ित क्षेत्रों को सरकारी अधिकारियों के अभिकर्त्ता द्वारा वितरित किया। अकाल क्षेत्र का अनुमान 40 हज़ार वर्ग मील लगाया गया और प्रभावित जनसंख्या एक करोड़ 70 लाख थी।

3.2.8 1876-78 का अकाल

क्षेत्र और प्रभावित जनसंख्या तथा पीड़ा की अवधि एवं तीव्रता के दृष्टिकोण से दक्षिणी भारत में 1876-78 का महा अकाल, ब्रिटिश भारत में सदी के उस समय तक का सबसे अधिक गंभीर संकट था। पूरे मैसूर तथा हैदराबाद राज्य के दक्षिणी भाग और बम्बई प्रेसीडेंसी के सभी दक्षिणी ज़िलों में दुर्लभता बहुत अधिक महसूस की गई। दो लाख वर्ग मील का क्षेत्र अकाल से प्रभावित हुआ, जिसमें 3 करोड़ 60 लाख जनसंख्या थी। कीमतें बहुत बढ़ गईं, जो आंशिक रूप से फसल की कमी और आंशिक रूप से यूरोप को निर्यात से खाद्यान्न के भंडारों में कमी के कारण हुआ। मृत्यु दर बहुत अधिक थी, जो आंशिक रूप से हैजे, चेचक तथा बुखार के कारण थी।

3.2.9 1896-1899 के अकाल

1896 में वर्षा की कमी ने देश के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया और अगले दो वर्षों तक देश में अकाल की स्थिति बनी रही। अकाल सहायता की नीति की प्रभाविकता की जाँच के लिए 1897 में एक अकाल कमीशन का गठन किया गया। इसने सिंचाई कार्यों पर अधिक ज़ोर देने का सुझाव दिया। यह आर.सी. दत्त जैसे भारत सरकार के आलोचक का प्रभाव था, जो सरकार की सिंचाई कार्यों की बजाय रेलवे का जाल विकसित करने की उत्साहपूर्ण नीतियों की आलोचना कर रहे थे।

3.2.10 1943 का बंगाल का अकाल

यातायात की स्थिति में सुधार और राहत कार्यों के संगठन के कारण दूसरे क्षेत्रों के आधिक्य से स्थानीय कमी को पूरा करना संभव हो सका। भुखमरी से मृत्यु आम बात नहीं रह गई थी और सरकार ने यह दावा किया कि अकाल भारत से लुप्त हो गए। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध ने, सामान्य प्रशासनिक और बाज़ार प्रक्रिया में बाधा डालकर, बंगाल में एक स्थानीय कमी को एक बड़ी विपत्ति में बदल दिया।

विस्तार में देखने पर हम पाते हैं कि एक आरंभिक अकाल की स्थिति 1936 के तथाकथित "कमी वर्ष" से ही विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त, भारत के राष्ट्रीय उत्पादन का 1/5 वाँ हिस्सा युद्ध सामग्री के रूप में काम में लाया जा रहा था। पूंजीगत वस्तु क्षेत्र की पूर्ण अनुपस्थिति के कारण भारत में औद्योगिक अवनति हुई। काले धन की समांतर अर्थव्यवस्था का ढाँचा, जो स्वाधीनता के बाद में भारत में महामारी बना हुआ है, इन्हीं वर्षों के दौरान अस्तित्व में आया। अकाल से काले बाज़ार का अनुमानित लाभ 150 करोड़ था। जोतदारों के वर्ग, जो 1930 के वर्षों में महाजनी, ज़मींदारी और बिक्री के तीनों काम करते थे, काफी हद तक सट्टे के इन लाभों का हिस्सा लेने की स्थिति में थे। जोतदारों के शोषण की इस

प्रबलता ने 1945-46 में बटाईदारों के 'तेभागा आंदोलन' को जन्म दिया, जो बंगाल में सबसे अधिक विस्तृत किसान आंदोलन था।

इस समय के दौरान भूमि पर अधिकार अधिकतर व्यावसायिक गैर-खेतिहर मालिकों के हाथ में आ गया। बिक्री की गई 711,000 एकड़ भूमि में से 424,000 एकड़ भूमि गैर-खेतिहर मालिकों (Non-Cultivating Owners) के हाथ में आ गई। भूमिहीन मज़दूरों के साथ-साथ बटाईदारों की संख्या भी काफी बढ़ गई। परिणामस्वरूप, बड़े पैमाने पर बचत ह्रास और भूमि हस्तांतरण के साथ छोटे किसानों और कृषि मज़दूरों की ऋणग्रस्तता, बढ़ गई। लेकिन, यह संभव है कि किसानों का अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न वर्ग, कीमत वृद्धि का कुछ लाभ उठाने और फलस्वरूप अपना ऋण कम करने में सफल हुआ हो। रिकार्ड किए गए आँकड़ों से यह पता चलता है कि लगभग 15 लाख लोग मरे, लेकिन अकाल पर प्राप्त जानकारी से पता चलता है कि अकाल की भयावहता इससे भी कहीं अधिक थी। डॉ. एकरॉयड (Dr. Aykroyod), अकाल कमीशन के चिकित्सा सदस्य ने अकाल से होने वाले मृतकों की संख्या का अनुमान लगाया। उन्होंने सूचित किया, "15 लाख मृतकों की संख्या इतिहास की पुस्तकों में है और जब भी मैं उसे देखता हूँ, मैं उस प्रक्रिया को याद करता हूँ जिससे इसपर पहुँचा गया। मैं अब यह सोचता हूँ कि यह अल्पानुमान है, विशेषकर इसमें सड़क पर होने वाली मृत्यु पर ध्यान नहीं दिया गया। लेकिन यह उतना अल्पानुमान भी नहीं है जितना कमीशन की रिपोर्ट के कुछ आलोचकों, जिन्होंने मृतकों की संख्या 30 या 40 लाख घोषित की। नीची संख्या ही काफी दुःखद है।"

3.3 अकाल की विशेषताएँ और परिणाम

पिछली दो सदियों के दौरान होने वाले अकालों की पूरी समीक्षा करने से यह पता चलता है कि भारतीय साम्राज्य का शायद ही कोई भाग गंभीर अकालों से अछूता रहा और अधिकतर भागों में घोर विपत्तियाँ बार-बार आईं। अकाल कमीशन (1880-85) ने यह रिपोर्ट दी:

> "भारत के किसी भाग में पिछले 109 वर्षों में अभिलिखित कमियों और 21 अकालों को लेकर प्रतिकूल मौसमों की संख्या 24 वर्ष और अनुकूल मौसमों की संख्या 85 वर्ष थी। अर्थात् हर सात अनुकूल मौसम केलिए 2 प्रतिकूल मौसम थे। औसत रूप में, किसी भी स्थिति में, पूरे देश की जनसंख्या का 1/12वाँ हिस्सा अर्थात् 2 करोड़ लोगों को अकाल से प्रभावित कहा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि 54 वर्षों में एक बार पूरे देश पर कमी या अकाल की स्थिति आई। इन संकटों में से आठ को गंभीर अकाल, 9 को अकाल और 4 को गंभीर कमी की स्थिति में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ गंभीर कमियों को छोड़ते हुए 20 वर्ष तक प्रभावित करने वाले और औसतन 5 वर्ष के अंतराल पर घटित होने वाले 17 अकाल पड़े।"

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान होने वाले अकालों की सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं:

3.3.1 अकाल और कीमतें

फसल की कमी का कीमतों पर होने वाले प्रभाव का अनुमान लगाना बहुत कठिन है लेकिन अकाल कमीशन (1880-85) ने टिप्पणी की, कि बहुत अधिक कमी के समय खाद्यान्नों की कीमतें अपने सामान्य स्तर से तीन गुना तक बढ़ गईं। लेकिन कीमतों को अकाल या कमी का अनुमान लगाने के सही मापक के तौर पर प्रयोग करने के लिए सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि यह संभव है कि एक बिखरी हुई अर्थव्यवस्था में कीमत, जो देश के एक भाग में अकाल का संकेत देते हैं तो दूसरे भाग में सतत् समृद्धि के सूचक भी हो सकते हैं।

3.3.2 पिछले अकालों में दी गई राहत की लागत

19वीं शताब्दी के प्रथम 25 वर्षों के दौरान देश में अंग्रेज़ों की स्थिति ऐसी नहीं थी कि सहायता दे सकें या उसे पूरा करने के साधन प्रदान कर सकें। यह अनुमान है कि पहले 70 वर्षों में लगभग 30 लाख स्टर्लिंग प्रत्यक्ष सरकारी सहायता पर खर्च किए गए। लेकिन 1873-79 के दौरान, भारत में सहायता की लागत प्रत्यक्ष खर्च के रूप में कम से कम एक करोड़ 45 लाख स्टर्लिंग और राजस्व की हानि के रूप में 25 लाख स्टर्लिंग थी। लेकिन यह

मात्रा अब भी इंग्लैंड में सहायता की लागत का अपेक्षा कम थी, जो 3 करोड़ 40 लाख की जनसंख्या के लिए एक वर्ष में लगभग 70 अथवा 80 लाख थी।

3.3.3 मृत्यु दरों का अनुमान और अकाल

अकाल में विभिन्न वर्ग के लोगों के बीच मृत्यु के वितरण के बारे में कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, यद्यपि यह निश्चित है कि मज़दूर वर्ग और दस्तकारों को सबसे अधिक नुकसान हुआ। लेकिन अभिलिखित आँकड़े प्रमाण हैं कि अभाव ही के कारण मृतकों की संख्या बढ़ी। लेकिन यहाँ ध्यान देना चाहिए कि आँकड़ों में अभिलिखित बीमारी का निदान प्रायः गलत है क्योंकि भुखमरी से होने वाली मौतों को अन्य कारणों जैसे हैज़ा, चेचक, पेचिश और बुखार से जोड़ दिया गया है।

बोध प्रश्न 1

1) सही उत्तर के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए:

   क) मद्रास में 1833 के अकाल को गुन्टूर अकाल के नाम से जाना जाता है।

   ख) 1860 में पहली बार ऊपरी भारत एक बहुत गम्भीर अकाल से प्रभावित हुआ।

   ग) ब्रिटिश भारत में अकालों के दौरान कीमतें स्थिर रहीं।

   घ) ब्रिटिश दृष्टिकोण यह है कि भारत में अकाल मुख्यतया मानसून की कमी और सूखे के कारण पैदा हुए।

   च) रेलवे ने अकालों के प्रभाव को कम कर दिया।

2) 1876-78 का महा अकाल निम्नलिखित क्षेत्र में घटित हुआ:

   क) दक्षिणी भारत

   ख) पश्चिमी भारत

   ग) ऊपरी भारत

   घ) भारत का पूर्वी समुद्र तट

3) 1943 के बंगाल के महा अकाल के मुख्य कारण बताइए। इसके क्या परिणाम हुए? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

4) ब्रिटिश भारत का इतिहास बंगाल में 1770 के अकाल के साथ शुरू होता है और 1943 के बंगाल के अकाल के साथ खत्म होता है, क्यों? (6 पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 अकाल सहायता

अब हम अकाल के समय में सरकार के कार्यों पर टिप्पणी करेंगे। एक विस्तृत अध्ययन से

हम पाते हैं कि अकाल का सामना करने में सरकारी दायित्व के दृष्टिकोण में सदी के आरम्भ से लेकर अंत तक में भारी परिवर्तन हुए।

जैसा कि हम जानते हैं, अकाल के दुःख और सरकारी हस्तक्षेप द्वारा इसे कम करने की संभावना, भारत में कम्पनी शासन के प्रारंभिक काल में सरकारी विचार-विमर्श के विषय थे। 1770 के महा अकाल ने विशेष जाँच और इस प्रकार के भावी संकटों को कम करने के लिए योजनाएँ बनाने के लिए रास्ता खोल दिया। मद्रास में 1782, 1792 और 1807, बंगाल में 1784 और बम्बई में 1803 के अकालों को देखते हुए सरकार ने इस विश्वास पर कार्य किया कि इसका सही निदान अनाजों का निर्यात रोकना, संचय करने के लिए जुर्माना और व्यापार के रास्ते में अन्य बाधाएँ डालना है।

लेकिन लोगों के दुःखों को कम करने और मृत्यु को रोकने के लिए व्यवस्थित तथा प्रभादी कार्य करने का विचार आवश्यक रूप से बाद में आया। सार्वजनिक निर्माण कार्य द्वारा रोज़गार प्रदान करके दुःख को कम करने का पहला प्रयास 1792 में मद्रास सरकार ने किया। 1837 के अकाल के दौरान यह स्वीकार किया गया कि सहायता के संबंध में सरकार और जनता की ज़िम्मेदारियों का विभाजन करना चाहिए। योग्य लोगों को रोज़गार देना सरकार का और निःसहाय लोगों को सहायता देना जनता का कर्त्तव्य है। यह सिद्धांत सुधारों सहित, कई बार दिखाई दिया और उड़ीसा के अकाल आयुक्तों ने भी इसकी पुष्टि की। 1860-61 के दौरान, अधिक विस्तृत और सावधानीपूर्वक जाँच-पड़ताल की गई। योग्य लोगों के लिए सार्वजनिक कार्य, घरों के नज़दीक रोज़गार और निशुल्क सहायता आदि मुख्य उपाय किए गए।

3.4.1 अकाल संहिता : सिद्धांत

लार्ड लिटन (Lord Lytton) के गवर्नर जनरल होने के दौरान भारत सरकार द्वारा गठित भारतीय अकाल कमीशन 1880 ने पहली बार एकीकृत अकाल नीति की संहिता बनाई। इसमें यह कहा गया कि भारतीय अकाल के घोर परिणामों का एक मुख्य कारण इस तथ्य में है कि जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर है। सामान्य वर्षा की कमी, मज़दूर वर्ग को न केवल उचित कीमतों पर भोजन की सामान्य पूर्ति से वंचित करती है बल्कि एकमात्र रोज़गार से भी, जिसके द्वारा वे इसे प्राप्त करने के लिए साधन जुटा सकें। इस प्रकार की स्थिति का पूरा निदान कृषि के अतिरिक्त उद्योगों के विकास में भी पाया जाएगा।

इसमें अकाल सहायता नीति के प्रमुख नियम बताए गए हैं जो निम्न थे : प्रक्रिया की एक निश्चित प्रणाली निर्धारित करना, एक अकाल संहिता तैयार करना, जो स्थानीय सरकारें भारत सरकार के वित्तीय नियंत्रण के अधीन पूरा करेंगी। इसके साथ-साथ सरकार के एक विशेष विभाग की सहायता द्वारा, मौसम और अकाल से संबंधित विषय, कृषि, स्वास्थ्य और लोगों के कल्याण संबंधी सूचना को रिकार्ड करने की एक बेहतर प्रणाली प्रदान करना तथा किसी भी प्रकार की असफलता के परिणाम जानना इस नीति के अंग थे। इसके अतिरिक्त, कुछ मुख्य नियम—अकाल सहायता से संबंधित प्रशासन की विभिन्न शाखाओं के नियंत्रण पर ध्यान देना और उनके कार्यों को अधिक कुशलतापूर्वक करना, भी बनाए गए। अकाल कमीशन द्वारा बताई गई अकाल संहिता के मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित थे :

i) सूखे के कारण अपनी जीविका के साधनों से वंचित और **कार्य करने योग्य लोगों को रोज़गार प्रदान करना**, समय पर ऐसा रोज़गार देना जिससे उन्हें कमी के कारण हुई दुर्बल स्थिति में पड़ने के खतरे से सुरक्षा मिले और श्रमिक अपनी क्षमता को कायम रख सकें।

ii) इसके साथ-साथ उन लोगों को **निशुल्क सहायता** देना जो जीविका के साधन से वंचित रह जाते हैं और किसी भी कारण से अपने लिए साधन जुटाने में असमर्थ हैं; ऐसी किसी भी बात को दूर करने की महत्ता पर ध्यान दिया जाएगा जिससे गाँव व्यवस्था का ढाँचा कमज़ोर बने और सहायता गतिविधियों की देखभाल करने के लिए प्राप्त स्थानीय सहायता का उपयोग किया जा सके।

iii) **गाँव निरीक्षण** और नियंत्रण की एक उचित प्रणाली संगठित करना जिसके द्वारा देश की स्थिति और सहायता कार्य की कुशलता की जाँच की जा सके और उनकी त्रुटियों को सामने लाया जा सके और उनका सुधार किया जा सके तथा लोगों को दिए जाने वाले उपायों का लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

iv) **स्वतंत्र व्यापार की साधारण गतिविधियों के साथ अहस्तक्षेप की नीति को तब तक बनाए रखना** जब तक कि कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसा लगे कि ऐसे हस्तक्षेप के बिना भोजन की पूर्ति को स्थिर नहीं रखा जा सकता; लेकिन वास्तविक कमी अथवा उसकी आशंका के समय में लोगों के भोजन की पूर्ति पर नज़र रखना, और व्यापार के स्वतंत्र चलन के रास्ते में रुकावटों को दूर करना, तथा देश के सभी भागों में यातायात के साधनों का सुधार करना—जिनपर भोजन का वितरण प्रत्यक्ष रूप से निर्भर करता है, और सिंचाई के उन साधनों का विकास करना जिनसे उत्पादन बढ़ाया जा सके।

v) **भूस्वामी वर्ग को दो प्रकार से सहायता प्रदान करना:** पहले, फसल की विस्तृत हानि के समय पर भू-राजस्व की माँग को कम करना; और दूसरे, छोटे भूस्वामियों, जिन्हें ऐसी सहायता की आवश्यकता है, और बड़े भूस्वामियों—जिनपर इस मुद्रा का सही उपयोग करने का विश्वास किया जा सकता है, को ऋण देना।

vi) **स्थानीय दायित्व के सिद्धांत की सीमा** निर्धारित करना जिसे सहायता पर खर्च को पूरा करने के लिए प्रांतीय सरकारों पर लागू किया जाएगा और शहरों में नगर पालिका अधिकारी तथा ज़िलों में स्थानीय समितियों से अपेक्षा करना कि वे स्थानीय जनसंख्या के लिए सहायता कार्य लागू करने में सहयोग दें।

3.4.2 अकाल संहिता का प्रारूप और संशोधन

अकाल कमीशन के सुझावों को ध्यान में रखते हुए, अकाल संहिता का मसौदा नवम्बर, 1880 में सी.ए. इलियट (C.A. Elliot), कमीशन के सचिव ने तैयार किया। संहिता का उद्देश्य अकाल की विभिन्न अवस्थाओं पर लिए जाने वाले कदमों के संबंध में सरकारी अधिकारियों को दिए जाने वाले निर्देशों की एक पुस्तक देना था। प्रांतीय सरकारों को स्थानीय संशोधनों के साथ संचालित मसौदे के आधार पर अपनी संहिता बनाने का अनुरोध किया गया। प्रांतीय सरकारों की आलोचना ने भारत सरकार को एक संशोधित संहिता बनाने में मदद की, जिसे 1883 की अकाल संहिता के तौर पर जाना जाता है और प्रांतीय सरकारों को 1883 की अकाल संहिता के मॉडल पर अपनी अकाल संहिताएँ बनाने का अधिकार दिया गया लेकिन मुख्य सिद्धांतों से विचलित होने की इज़ाजत नहीं दी गई। दो प्रकार के कार्य थे: **नागरिक अभिकर्त्ता कार्य** (Civil Agency Works) जो कमज़ोर और अकुशल श्रमिकों के लिए ज़िला अधिकारी के नियंत्रण में थे और व्यावसायिक अभिकर्त्ता कार्य (Professional Agency Works) जो योग्य और कुशल श्रमिकों के लिए सार्वजनिक कार्य विभाग के नियंत्रण में थे। संहिता में सरकार द्वारा कमी के समय में खाद्यान्न के आयात का अनुमोदन नहीं किया गया लेकिन चुने हुए ठेकेदारों द्वारा उन स्थानों पर अनाज की पूर्ति की नीति को चुना गया, जहाँ सामान्य व्यापारी स्रोत कार्य नहीं कर रहे थे।

भारतीय अकाल समिति ने 1901 में अपनी रिपोर्ट में निजी संगठनों के दान और धर्मार्थ धन का प्रयोग न केवल गरीब घरों को सहायता तथा निशुल्क सहायता के लिए सुझाया बल्कि अकाल सहायता कार्यों में श्रमिकों को राशन और कपड़े की पूर्ति बढ़ाने के लिए भी इसके प्रयोग का सुझाव दिया। यह पाया गया कि अकाल एक ऐसा समय था, जब श्रम सामान्य बाजार कीमत से कम कीमत पर उपलब्ध था और इसलिए इन समयों को कम से कम कीमत पर आधारिक संरचना बनाने के लिए सबसे अच्छे मौके के तौर पर प्रयोग किया जा सकता था।

1901 में भारतीय अकाल समिति की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद अकाल संहिता के विभिन्न सिद्धांतों का संशोधन किया गया। इसमें सरकार के अकाल सहायता कोष से पूरा किए जाने वाले विभिन्न "सुरक्षात्मक" और "उत्पादक" सहायता कार्यों का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त, विभिन्न अकाल संहिताओं और अकाल कमीशनों ने अकाल की स्थिति की जाँच करने के लिए 'जाँच सहायता कार्यों' (Test relief work) को शुरू करने के महत्व पर ज़ोर दिया। संहिताएँ 1941 तक अछूती रहीं, यानी इन पर कोई अमल नहीं हुआ।

बोध प्रश्न 2

1) अकाल संहिता से आप क्या समझते हैं? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

2) अकाल कमीशन द्वारा प्रस्तावित अकाल संहिता के मुख्य सिद्धांत क्या थे? (5 वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1883 की अकाल संहिता द्वारा प्रस्तावित विभिन्न सहायता कार्यों के नाम बताइए। (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

3.5 अकाल की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

जैसा कि पिछले भाग में बताया गया है, विभिन्न अकाल संहिताओं ने सामयिक अकाल और स्वाभाविक भुखमरी की स्थिति की ओर संकेत किया तथा इसे एक प्राकृतिक घटना के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन, वास्तव में, असमान विनिमय की सुनियोजित और सुव्यवस्थित प्रणाली के अंतर्गत निकासी और अकाल की शक्तियों के बीच संबंध 1770 से 1943 तक स्पष्ट है। आर्थिक अपवाह के सिद्धांत का विकास (ई.ई.सी.-02, खंड 1) इन समयों का परिणाम है और यह उपनिवेशवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को भारत का एक महत्वपूर्ण योगदान है।

3.5.1 आर्थिक अपवाह और अकाल

जैसा कि ई.ई.सी.-02, खंड 1 में बताया गया था कि 1757 में प्लासी के युद्ध के पश्चात्, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अनेक तरीकों से धन एकत्रित करना शुरू किया। प्रत्यक्ष लूट की नीति के कारण 1770 में बिल्कुल उजाड़ की स्थिति पैदा हो गई और उसके बाद बंगाल में अकाल पड़ा। भारत की प्रत्यक्ष लूट के बारे में विलियम फुलारटन (William Fullarton), एम.पी. ने कहा कि 20 वर्ष के छोटे समय में इन देशों (बंगाल) के बहुत से भाग मरुस्थल की तरह दिखाई देने लगे। खेतों पर अब कोई खेती नहीं हो रही थी, विस्तृत क्षेत्रों में पहले ही झाड़ियाँ उग आई थीं, खेतिहरों ने लूटमार की, निर्माता सताए गए, अकाल बार-बार आए और जनसंख्या में गिरावट आई।

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के साथ, ब्रिटिश नीति भारत को ब्रिटिश पूँजीवाद का पूरक बनाने में परिवर्तित हो गई, जो ब्रिटिश उद्योगों को कच्चे माल की पूर्ति करता और निर्मित माल खरीदता था। परिणामस्वरूप, उपनिवेश प्रणाली का विकास हुआ; चाय, रबड़ और काफी के निर्यात में वृद्धि हुई। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था—खाद्यान्नों, विशेषकर भूखे भारत से गेहूँ और चावल का बढ़ता निर्यात। इस प्रक्रिया का परिणाम था: 19वीं सदी के द्वितीय भाग में अकालों की बढ़ती आवृत्ति और जान-माल का नुकसान। भारतीय पारम्परिक दस्तकार कारखानों की निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता न कर सके और लुप्त हो

3.5.2 ज़मींदारी का उद्भव और दरिद्रीकरण की प्रक्रिया

जैसा कि पहले कहा गया था, कृषि में भी लोगों को स्वतंत्र नहीं छोड़ा गया। भारत से अधिक साधन एकत्रित करने के लिए ज़मींदारी प्रथा का आरंभ पहले स्थायी और फिर अस्थायी भूमि बंदोबस्तों द्वारा किया गया। समय के साथ, यह राजस्व ज़मींदारी प्रणाली भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की जड़ों तक पहुँच गई और पट्टेदारी (Subletting) तथा महाजनों और अन्य लोगों द्वारा ज़मीन का अधिकार लेकर वास्तविक खेतिहरों को बेदखल करने की प्रक्रिया द्वारा ज़मींदारी प्रथा और अत्यधिक भाड़ा (Rack-renting) काफी व्यापक हो गए। इससे गैर-खेतिहर भू-स्वामियों की संख्या में वृद्धि हुई, जबकि अधिकांश वास्तविक खेतिहर असुरक्षित किसान और भूमिहीन मज़दूरों की स्थिति में आ गए।

1842 में, सर टामस मुनरो ने बताया कि भारत में कोई भूमिहीन किसान नहीं थे—स्पष्ट है यह बात बढ़ा-चढ़ाकर कही गई है, लेकिन वास्तव में संकेत यह है कि इनकी संख्या इतनी कम थी कि उन्हें अलग सांख्यिकीय वर्ग में दर्ज नहीं किया जा सकता। एस.जे. पटेल(S.J. Patel) ने अनुमान लगाया कि कुल कृषक जनसंख्या में उनका अनुपात 19वीं सदी के अंत में 13 प्रतिशत से बढ़कर 1931 की जनगणना में लगभग 38 प्रतिशत, अर्थात् 3 गुना बढ़ गया। 1898 के अकाल कमीशन ने बताया कि इस वर्ग की संख्या, विशेषकर अधिक आबादी वाले ज़िलों में बढ़ रही थी।

परिणामस्वरूप भारत में कृषि संबंधों में गैर-खेतिहर मालिक, खेतिहर मालिक, काश्तकार और कृषक मज़दूरों जैसे वर्गों में भेद बढ़ने लगे। इसके अतिरिक्त, यदि हम गहराई से देखें तो हम दासवृत्ति, जबरन श्रम और मज़दूरी बिना भूमिहीन श्रमिकों की ऋण दासता तक पहुँचते हैं, जो पूरे भारत में विद्यमान है, लेकिन जिसके बारे में हमारे पास आँकड़ों की कमी है। इन कृषि मज़दूरों को दी जाने वाली मज़दूरी निम्न तालिका से स्पष्ट है:

तालिका 3.1

वर्ष	बिना भोजन खेत मज़दूर (आनों में मज़दूरी)	चावल की कीमत (सेर प्रति रुपया)
1842	1	40
1852	1½	30
1862	2	27
1872	3	23
1911	4	15
1922	4 से 6	5

स्रोत : (आर. मुखर्जी "लैंड प्राब्लम्स ऑफ इंडिया," पृष्ठ 222)

इस प्रकार, जबकि नकद मज़दूरी इस काल में 4 से 6 गुना बढ़ी, चावल की कीमत 8 गुना बढ़ गई जिससे श्रम की घटती वास्तविक मज़दूरी और भोजन तक उनकी पहुँच प्रकट होती है।

किसानों के इस दरिद्रीकरण के अतिरिक्त, पट्टे के कृषकों की अनार्थिक ज़मीन पर अधिकांश छोटे खेतिहरों की स्थिति कृषक मज़दूरों से बेहतर नहीं थी और दोनों के बीच अंतर बहुत कम था। भूमि इन वर्गों में अधिकांश जो लगभग 1/5 हिस्सा थे, गंभीर रूप से ऋणग्रस्त थे और इतना ही अनुपात ऋण में था लेकिन इतनी जोतों हद तक नहीं कि उसे वसूल न किया जा सके।

3.5.3 कृषि का वाणिज्यीकरण

जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शासन अपने हाथ में लिया, तब भारत में मुगल साम्राज्य का ह्रास हो रहा था और अव्यवस्थित था। कृषकों का शोषण हो रहा था। लेकिन ग्रामीण समाज प्रणाली और उसका भूमि से पारम्परिक संबंध अभी भी अटूट था। भेंट (tribute) अभी भी उत्पादित अनाज का एक अनुपात था न कि उत्पादन में उतार-चढ़ाव से अप्रभावित भूमि के आधार पर एक निश्चित राशि के रूप में।

गाल में, मुगल शासन व्यवस्था के अंतिम वर्ष अर्थात् 1764-65 में भू-राजस्व £ 818,000 ।। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा वित्तीय शासन लेने के बाद पहले वर्ष में यह बढ़ाकर 1,470,000 कर दिया गया और 1793 में जब बंगाल में स्थायी बंदोबस्त शुरू किया ग यह संख्या £ 3,091,000 तक थी। कम्पनी द्वारा एकत्रित कुल भू-राजस्व 1800-01 में ? लाख था और 1857-58 में बढ़कर एक करोड़ 30 **लाख पौण्ड** हो गया (प्रदेशों की द्धि और अधिक मालगुजारी, दोनों) राजा के मातहत कुल मात्रा 1900-01 तक एक करोड़ ; लाख पौण्ड हो गई और 1936-37 में 2 करोड़ 39 लाख पौण्ड थी।

मे के स्वामित्व की रजिस्ट्री और मूल्यांकन की प्रणाली के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा ए गए भू-प्रणाली में परिवर्तन के साथ प्रचलित "राजा के भाग" (एक वर्ष के उत्पादन एक अनुपात, जो वर्ष के उत्पादन के साथ बदलता है और कृषक संयुक्त मालिकों द्वारा हार के रूप में अथवा शासक को स्वयं शासित ग्रामीण समुदाय द्वारा समर्पित) का स्थान ब एक निश्चित मौद्रिक अदायगी की प्रणाली ने ले लिया जो उत्पादन का ध्यान दिए ना नियमित रूप से नकद में भूमि पर आंकी जाती थी, फसल चाहे अच्छी हो या बुरी। ा अदायगी को कम्पनी अधिकारियों द्वारा लगान कहा जाता था, जो प्रकट करता है कि स्तव में, कृषक या तो प्रत्यक्ष रूप से सरकार के या सरकार द्वारा नियुक्त भूस्वामियों के शतकार बन गए जो अदायगी न होने पर बेदखल किए जा सकते थे। पारम्परिक रूप से यं-शासित ग्रामीण अर्थव्यवस्था बिखर गई और सामान्य भूमि का मुख्य भाग व्यक्तिगत ामियों को सौंप दिया गया। इस पूरी **प्रक्रिया** के कारण भूमि या तो बंधक हो गई या फिर क गई। इसके अतिरिक्त, नकदी में लगान देने के लिए खेतिहरों ने पारम्परिक खाद्य सलों के स्थान पर नकद फसल (Cash Crop) उत्पादित करना शुरू कर दिया जिससे कृषि वाणिज्यीकरण हो गया और खाद्य फसलों की कमी पैदा हो गई। हम पहली दो इकाइयों इन पहलुओं के बारे में पढ़ चुके हैं। भोजन की कमी के साथ क्रय शक्ति की कमी होने कारण देश के अनेक भागों में, विशेषतया अकालों के दौरान, कृषक विद्रोह हुए।

5.4 रेलवे और सिंचाई

वे और सिंचाई कार्यों के विकास के बारे में विचार यह था कि सिंचाई फसल की रक्षा ती है, उत्पादन में वृद्धि करती है और सूखे के वर्षों में अकालों को टालती है; अकाल के य में रेलवे पीड़ित प्रदेशों को खाद्यान्न पहुँचाने में सहायता करती है लेकिन इससे भूमि उत्पादन में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होती। इन परिस्थितियों में, यह आशा की जाती थी कि त जैसे कृषि प्रधान देश की सरकार रेलवे के स्थान पर सिंचाई कार्यों को प्राथमिकता ।। लेकिन ब्रिटिश शासकों ने जान-बूझकर रेलवे का विकास करने की नीति अपनाई। ोंने सोचा कि नहरों की अपेक्षा रेलवे उनकी वस्तुओं के लिए भारत के द्वार अधिक घता से खोल सकेंगी। परिणामस्वरूप, यहाँ तक कि राजस्व की हानि होते हुए भी रेलवे नों का विस्तार करने के लिए अधिक दबाव डाला गया और सिंचाई कार्यों की उपेक्षा ।

ने इन बातों के बारे में पहले पढ़ा है। यहाँ हम केवल दुबारा गौर करेंगे कि सर आर्थर न (Sir Arthur Cotton) जो गोदावरी और कावेरी कार्यों के वास्तुविद (Architect) थे, ने कहा, "मेरा विचार यह है कि भारत की आवश्यकता जल परिवहन है; रेलवे पूर्ण रूप असफल रही है; अपेक्षित कीमत पर माल नहीं ढो सकती, वे अधिक मात्रा नहीं ढो ती, और उन पर देश को एक वर्ष में 30 लाख की लागत आती है और उनका -रखाव पर भारी खर्च आता है। नहर-परिवहन की लागत रेलवे का आठवाँ हिस्सा भी होगी; सामान्य कीमतों और किसी भी गति पर कितनी भी मात्राएँ ढो सकेंगी, खजाने ोई सहायता की आवश्यकता नहीं होगी और सिंचाई के साथ भी जारी रहेगी।"

विचार किया गया कि जबकि राज्य द्वारा रेलवे पर कुल खर्च मार्च, 1880 तक 12 ड़ 50 लाख पौंड था, सिंचाई कार्यों पर कुल व्यय केवल एक करोड़ 20 लाख पौंड था। काल के दौरान 1877 में मद्रास का भयानक अकाल पड़ा और सर आर्थर कॉटन को ने विचार की पुष्टि करने का मौका मिला। यहाँ तक कि 1897 के अकाल कमीशन ने ार प्रकट किया कि अकाल सुरक्षा उद्देश्यों के लिए रेलवे की कोई आवश्यकता नहीं और सिंचाई कार्यों द्वारा अधिक सुरक्षा मिल सकेगी और 1897 तथा 1900 के अकालों क बार फिर सरकार का ध्यान उस कर्त्तव्य की ओर दिलाया जो अबतक पूरा नहीं ा जा सका था।

बोध प्रश्न 3

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

   क) भारत में राजस्व ज़मींदारी के परिणामस्वरूप ..... (खेतिहर/गैर-खेतिहर) भूस्वामियों की संख्या में वृद्धि हुई।

   ख) भू-राजस्व प्रणाली में परिवर्तन के साथ, जमींदार को दिया जाने वाला राजस्व ..... (निश्चित नकद अदायगी/वर्ष के उत्पादन का अनुपात) था।

2) ब्रिटिश काल के दौरान कृषि का वाणिज्यीकरण किस प्रकार अकाल का कारण बना ?. (4 वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) वर्णन कीजिए कि अंग्रेज सिंचाई कार्यों की बजाय रेलवे का विकास करने के पक्ष में क्यों थे? (2 वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.5.5 बंगाल का अकाल : युद्ध वित्त

1938-39 और 1945-46 के बीच स्फीतिकारी युद्ध अर्थव्यवस्था देखी गई, जब मुद्रा की पूर्ति 6 गुना बढ़ गई और बजट व्यय लगभग 5 गुना बढ़ गया। कुल रक्षा बजट 20 गुना बढ़ गया, जो उस समय 3 अरब 50 करोड़ रुपए था जिसमें से एक अरब 70 करोड़ रुपए इंग्लैंड से "वसूली योग्य व्यय" था। लेकिन फिलहाल भारत को ही इस कमी को सहन करना था। वास्तव में, यह बिना वास्तविक साधनों के अंतर्वाह का केवल एक बनावटी किताबी हस्तांतरण था और इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था से साधनों की शुद्ध निकासी, एक नए प्रकार के पारम्परिक निकास का वर्णन करता है।

स्फीतिकारी युद्ध वित्त के साथ 1939 के आधार पर थोक कीमतों का अखिल भारत सूचकांक 1943 तक 263.7 हो गया, खाद्यान्न और अन्य कृषि वस्तुओं का सूचकांक 259.6 हो गया, सभी निर्मित वस्तुओं का सूचकांक 246.2 हो गया। सभी उद्योगों के लिए औद्योगिक लाभों का सूचकांक उछल कर 1939 में 72.4 से 1943 में 170.9 तक हो गया, रुई निर्माताओं के लिए 989, कागज़ के लिए 536 तथा चीनी के लिए यह सूचकांक 283.2 हो गया। लेकिन इससे भारत की औद्योगिक प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण विस्तार नहीं हुआ। 1935 को आधार वर्ष लेते हुए 1938-39 और जुलाई, 1942 के दौरान यह 116 और 109 के बीच ही रहा। लेकिन सरकारी ठेकों का मूल्य 1939-40 में 2 करोड़ 90 लाख से बढ़कर 1942 में एक अरब 37 करोड़ रुपए होकर आकाश छूने लगा। इसका अर्थ, औद्योगिक क्षमता का कोई महत्वपूर्ण विस्तार किए बिना वस्तुओं को बड़े पैमाने पर नागरिक से सैनिक उद्देश्यों की ओर हटाना था, जिसके परिणामस्वरूप पूरी नागरिक उपभोग वस्तुओं की बाज़ार कीमतें बढ़ गईं। यह बात नहीं है कि अंग्रेज़, जो भारत में देश का प्रशासन करने के अधिकारी (In charge) थे, 1943 की भावी आपत्ति के बारे में सचेत नहीं थे। भारत सरकार के वित्त सदस्य द्वारा युद्ध से पूर्व अगस्त 16, 1942 की 'वार कैबिनेट' की बैठक में दिया गया विवरण स्पष्ट बताता है :

"लेकिन यह मानना चाहिए कि भारत के बढ़ते हुए युद्ध व्यय ने एक बहुत कठिन समस्या पैदा कर दी है, जो बहुत बड़े पैमाने पर करारोपण और उधार द्वारा परा किया जाएगा। इसके अतिरिक्त यदि व्यवसायी वर्गों को अलग करने के लिए कछ किया जाता है तो उधार द्वारा आवश्यक धनराशि एकत्रित करना असंभव हो जाएगा और एक स्फीतिकारी स्थिति पैदा हो जाएगी। इससे मुद्रा से वस्तुओं की ओर पलायन का खतरा पैदा हो जाएगा जो जमाखोरी की प्रवृत्ति को जन्म देगा। इससे अकाल और विद्रोह पैदा हो सकता है।"

स प्रकार 1943 में बंगाल में अकाल जो युद्ध वित्त के कारण और भी गहन हुआ शायद केवल सरकार की असफलता और अयोग्यता का प्रतीक नहीं था। यह ब्रिटिश सरकार द्वारा द्ध के दौरान साधनों को मोड़ने और लोगों को खाद्यान्न देने से इंकार करके ग्रामीण बंगाल में नरसंहार की नीति का प्रत्यक्ष परिणाम था।

3.5.6 अकाल संहिताएँ

ह सच है कि सरकार ने अकाल पीड़ित क्षेत्रों में लोगों को सहायता देने के लिए अनेक काल संहिताएँ बनाईं। लेकिन इन राहत कार्यक्रमों के पीछे निहित युक्ति को, काम के दले की गई अदायगी की रीति तथा उसकी मात्रा के संदर्भ बिना नहीं समझा जा सकता।

ह निर्णय किया गया कि मज़दूर को सामान्य मज़दूरी न देकर केवल निर्वाह मज़दूरी दी ानी चाहिए। अकाल कमीशन का विचार था कि जान की रक्षा करना सरकार का कर्त्तव्य लेकिन श्रमिक जन समुदाय को सामान्य आराम के स्तर पर रखना उसके लिए ज़रूरी हीं है। रिचर्ड स्ट्रेची (Richard Starchey) ने अकाल कमीशन के अध्यक्ष के रूप में हा, "यद्यपि यह कहना कठिन है, यह बेहतर है कि हमें बहुत अधिक की बजाय कछ कम ना चाहिए जिससे सहायता प्राप्त करने वाला जैसे ही उसे फिर काम मिले' अपने सामान्य ाम की ओर वापस जाने को प्रेरित हो।"

ह कहा गया है कि एक योग्य व्यक्ति को एक दिन की पूरी नकद मज़दरी दी जानी चाहिए ससे वह "पूरा राशन" खरीदने के योग्य हो सके। 1883 के अस्थायी अकाल संहिता ने रे राशन को उस मात्रा के रूप में परिभाषित किया जो एक योग्य मज़दर को अपना काम रने के लिए आवश्यक स्वास्थ्य और शक्ति को स्थिर रखने के लिए पर्याप्त है। जहाँ कदी द्वारा राशन प्राप्त करना असंभव है, वहाँ काम के प्रबंधकों को इसके राबर–सहायता के रूप में न्यूनतम राशन–प्रदान करना चाहिए। इस न्यूनतम राशन में म्न शामिल हैं :

तालिका 3.2

(ग्राम में)

	पुरुषों के लिए	औरतों के लिए
टा अथवा चावल	454.00	396.90
ें	56.70	56.70
क	9.36	9.36
अथवा तेल	9.36	9.36
ाले और सब्जी	14.18	14.18

राशन की तुलना हम बंगाल जेल कोड (1910) में कैदियों को प्रतिदिन दी जाने वाली ाक से करते हैं, जो निम्न तालिका में दी गई है :

तालिका 3.3

	वर्ग-1 के कैदी
ह के भोजन के लिए	ग्राम
वल अथवा आटा	116.64 अथवा 87.48
क	3.65
य दो भोजनों के लिए	
वल अथवा आटा	641.52 अथवा 291.60
	174.96
ज़ी	174.96
	18.23
क	18.23
ाले	7.20

निर्धारित राशन के ये आँकड़े स्वीकृत मज़दूरी के बारे में अपनी कहानी स्वयं ही कहते हैं। इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि अकाल और कमी के दौरान अपराध बढ़े, क्योंकि वे जेल में प्रवेश करने का पारपत्र (Passport) थे, जहाँ सहायता कार्यों से कुछ अधिक भोजन प्राप्त होता था। सरकार के लिए यह सड़क और रेल निर्माण के लिए सबसे सस्ता श्रम प्राप्त करने का समय था। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि पूर्वी भारत में, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश अभिकर्त्ता घरानों द्वारा एक के बाद एक चाय बागान स्थापित किए जा रहे थे जिससे सस्ते श्रम की माँग बढ़ रही थी।

अकाल के दौरान कृषि श्रमिकों, फसल सहभाजकों और छोटे खेतिहरों को निर्वाह आहार पर जीवित रखने के पीछे एक अन्य संभव उद्देश्य शायद अकाल के बाद के समय में कृषि प्रणाली को कायम रखना था। क्योंकि अपनी ज़मीन जोतने के लिए ज़मींदारों को हमेशा कृषि मज़दूरों, फसल सहभाजकों और छोटे खेतिहरों की आवश्यकता थी जो वस्तुतः भू-राजस्व से स्वयं सरकारी आय का स्त्रोत भी था।

इस प्रकार अकाल संहिताएँ बनाने की प्रक्रिया यह बताती है कि बार-बार आने वाले अकाल और भयंकर भुखमरी की स्थिति, जिसके लिए सहायता कार्यों की आवश्यकता होती है, को एक अनिवार्य प्राकृतिक घटना के रूप में स्वीकार किया गया। लेकिन, यह शायद भुला दिया गया कि यह 'प्रकृति' मानव ने बनाई थी, जो स्वतंत्र और निर्भर अर्थव्यवस्थाओं के अंतर्संबंधों में असमान विनिमय की प्रणाली—उपनिवेशी शासन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था—द्वारा विकसित की गई।

बोध प्रश्न 4

1) वर्णन कीजिए कि किस प्रकार 1943 का बंगाल का अकाल अंग्रेज़ों द्वारा अपनाई गई जान-बूझकर निषेधक नीति का परिणाम था? (3 वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

2) सही उत्तर के सामने "स" और गलत के सामने "ग" लिखिए:

   क) अकाल सहायता कार्यक्रमों के अंतर्गत श्रमिकों को सामान्य मज़दूरी दी जाती थी।

   ख) अकाल और कमियों का परिणाम ब्रिटिश भारत में बढ़ी हुई अपराध संख्या थी।

   ग) अकाल के दौरान रेलवे निर्माण और अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए सस्ता श्रम प्राप्त करना संभव नहीं था।

3) ब्रिटिश भारत में अकालों के दौरान श्रमिकों को न्यूनतम निर्वाह मज़दूरी से कम मज़दूरी देने के पीछे क्या उद्देश्य थे?

3.6 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् हमें पता चलता है कि, 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अनेक तरीकों द्वारा लोगों से साधन जुटाने शुरू कर दिए। इसके परिणामस्वरूप पहले बंगाल, बिहार और उड़ीसा में 1770 का अकाल और फिर 1833, 1837-38, 1860-61, 1866-67, 1868-69, 1873-74, 1876-78, 1896-99 और 1943 में भयंकर अकाल पड़े। इन अकालों की सामान्य विशेषताएँ यह थीं कि कीमतें बहुत बढ़ गईं, अकालग्रस्त क्षेत्रों में लोगों को दी जाने वाली सहायता अपर्याप्त थी और भुखमरी के कारण मृत्यु दर बहुत ऊँची थी। लेकिन उसे प्रायः महामारी जैसे हैजा, चेचक, बुखार आदि से सम्बद्ध माना गया। ब्रिटिश सरकार इन अकालों को मानसून की कमी और सूखे के परिणाम मानती थी। लेकिन यह घटना इतनी साधारण नहीं थी और प्रकृति इसकी मुख्य दोषी नहीं थी। अनेक भारतीय और यहाँ तक कि ब्रिटिश आर्थिक इतिहासकारों ने इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की माँग को पूरा करने के लिए आर्थिक निकास की व्यवस्था

खाद्यान्नों की कमी और अकालों की पुनरावृत्ति से जोड़ा। इसी कारण युद्ध को वित्त प्रदान करने की नीति से 1943 का बंगाल का महा अकाल पड़ा।

यह सही है कि सहायता कार्यों के संबंध में पहल ब्रिटिश सरकार ने भी की, जैसे सार्वजनिक कार्यों पर रोज़गार, व्यापार में अहस्तक्षेप और संग्रहकर्त्ताओं पर जुर्माना आदि। इसके अतिरिक्त 1883 में, अकाल कमीशन ने एक अकाल संहिता का सुझाव दिया। इनके अतिरिक्त मुख्य सिद्धांत योग्य लोगों को रोज़गार दिलाना और उन लोगों को निशुल्क सहायता दिलवाना था जो स्वयं अपना निर्वाह करने में असमर्थ थे। लेकिन, जब हम इन सहायता कार्यों को अदायगी की प्रणाली, उसकी रीति और मात्रा के संदर्भ में देखते हैं तो हम पाते हैं कि सहायता प्रदान करने की नीति के पीछे विचार श्रमिकों को न्यूनतम राशन देकर निर्माण कार्यों से अधिकतम लाभ प्राप्त करना था। यह राशन प्रायः जेल में कैदी को दिए जाने वाले राशन से भी कम था। इसीलिए, ब्रिटिश भारत में अकालों का बार-बार घटित होना केवल प्राकृतिक घटना नहीं थी, बल्कि एक उपनिवेशी अर्थव्यवस्था में असमान विनिमय की प्रक्रिया का परिणाम थी।

3.7 शब्दावली

सुरक्षात्मक सहायता कार्य : ये कार्य मुख्य रूप से सिंचाई में थे। ब्रिटिश काल के दौरान बाढ़ से भूमि को बचाने के उद्देश्य से सिंचाई कार्यों का निर्माण किया गया, जिनका उद्देश्य केवल राजस्व के रूप में आर्थिक लाभ प्राप्त करना नहीं था।

उत्पादक सहायता कार्य : ये राहत कार्य भी सिंचाई के क्षेत्र में ही थे, जब सरकार ने बढ़े हुए राजस्व के रूप में सार्वजनिक कार्यों में निवेश की गई मात्रा के बदले आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए सहायता कार्य प्रारम्भ किए।

3.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhatia, B.M. 1967. *Famines in India*, Asia Publishing House: New Delhi.

Dutt, R.C. 1976. *The Economic History of India*, Vol. I and Vol. II, Publication Division, Government of India: New Delhi.

Famine Inquiry Commission, Report on Bengal, 1984. Usha Publications: New Delhi.

Report of the Indian Famine Commission (1880-85), 1989. Agricole Publishing Academy: New Delhi.

Sen, Amartya. 1984. *Poverty and Famines—An Essay on Entitlement and Deprivation*, Oxford, Delhi.

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

बोध प्रश्न 1

) क) स ख) ग ग) ग घ) स च) ग

) क

) उपभाग 3.2.10 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

) भाग 3.2, विशेषकर उपभाग 3.2.1 और 3.2.10 पढ़िए।

बोध प्रश्न 2

) उपभाग 3.4.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

2) उपभाग 3.4.1 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) उपभाग 3.4.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) क) गैर-खेतिहर ख) स्थिर नकद अदायगी

2) उपभाग 3.5.3 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) उपभाग 3.5.4 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) उपभाग 3.5.5 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

2) क) ग ख) स ग) ग

3) उपभाग 3.5.6 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-04
अर्थशास्त्र में चौथा ऐच्छिक पाठ्यक्रम

खंड

2

भू-संपत्ति, कृषि ढाँचा और ग्रामीण ऋण

इकाई 4

भारत में भू-संपत्ति का विकास 5

इकाई 5

स्वतंत्रता के समय और बाद में कृषिक संरचना 27

इकाई 6

स्वतंत्र भारत में ग्रामीण ऋण 47

खंड 2 भू-संपत्ति, कृषि ढाँचा और ग्रामीण ऋण

इस खंड में उपनिवेशी शासन के अंत तक भारत में भू-संपत्ति के विकास की व्याख्या की गई है तथा ब्रिटिश कांल के पूर्व विद्यमान प्रणाली का संक्षिप्त विवरण देते हुए ब्रिटिश काल के दौरान इसके विकास का चित्र खींचा गया है। इसमें स्वतंत्रता के पश्चात् कृषि ढाँचे और इस ढाँचे को बदलने के लिए अपनाए गए भूमि सुधार उपायों का विवेचन किया गया है। अंत में, ग्रामीण क्षेत्र में ऋण के संबंध में विद्यमान स्थिति का सर्वेक्षण किया गया है। इस खंड की तीन इकाइयाँ हैं।

इकाई **4** में मुगल काल से भू-स्वामित्व के अधिकार के विकास का चित्र खींचा गया है तथा भारत के विभिन्न राज्यों में भू-धारण प्रणाली में व्याप्त भिन्नताओं पर ध्यान केंद्रित करते हुए, उपनिवेशी शासन के दौरान इसके विकास कर विशेष जोर दिया गया है।

इकाई **5** में स्वतंत्रता के पश्चात् कृषि ढाँचे, विशेषतया भू-धारण के ढाँचे और उससे पैदा होने वाली समस्याओं, जिन्हें स्वतंत्रता के पश्चात् अपनाए गए भूमि-सुधार कार्यक्रमों से सुलझाया गया, का ब्योरा दिया गया है।

इकाई **6** में स्वतंत्रता के बाद प्रथम ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण में दी गई ग्रामीण ऋण की स्थिति का ब्योरा दिया गया है और ग्रामीण क्षेत्र में संस्थागत साख प्रणाली के विकास में होने वाले परिवर्तनों का चित्र खींचा गया है।

इकाई 4 भारत में भू-संपत्ति का विकास

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मुगल काल के पूर्व भू-धारण प्रणाली
4.3 मुगल काल के दौरान भू-धारण प्रणाली
  4.3.1 भू-राजस्व प्रणाली
  4.3.2 मध्यस्थ और भूमि अधिकार
  4.3.3 जागीरदार
  4.3.4 जमींदार
  4.3.5 ग्रामीण समुदाय
  4.3.6 कृषक और भूमि का स्वामित्व
4.4 पूर्वी भारत : भू-राजस्व, मध्यस्थ और कृषक
4.5 पश्चिमी भारत : भू-राजस्व और अधिकार
  4.5.1 भू-राजस्व
  4.5.2 भू-अधिकार
4.6 दक्षिणी भारत : भू-राजस्व और भूमि अधिकार
  4.6.1 भू-राजस्व
  4.6.2 भू-धारण ढाँचा
  4.6.3 काश्तकारी
4.7 ब्रिटिश शासन और उसका प्रभाव : पूर्वी भारत
  4.7.1 स्थायी बंदोबस्त
  4.7.2 जमींदारी अधिकारों का हस्तांतरण
  4.7.3 ऋणग्रस्तता और भूमि का हस्तांतरण
  4.7.4 काश्तकारी
  4.7.5 काश्तकारी अधिनियम
4.8 ब्रिटिश शासन का प्रभाव : उत्तरी और मध्य भारत
  4.8.1 भू-राजस्व प्रणाली का प्रभाव
  4.8.2 भूमि हस्तांतरण
  4.8.3 भू-जोतों का ढाँचा और भू-अधिकार
4.9 ब्रिटिश शासन का प्रभाव : पश्चिमी भारत
  4.9.1 कृषि समाज में परिवर्तन
  4.9.2 वर्गीकरण
  4.9.3 काश्तकारी
4.10 ब्रिटिश शासन का प्रभाव : दक्षिणी भारत
  4.10.1 कृषि ढाँचे में परिवर्तन
  4.10.2 काश्तकारी
4.11 कृषि मजदूर
4.12 भू-धारण ढाँचा और कृषि विकास
4.13 सारांश
4.14 शब्दावली
4.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.16 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न का विश्लेषण और वर्णन कर सकेंगे—

- ब्रिटिश शासन के समय भू-संपत्ति संबंधों में क्षेत्रीय अंतर,
- उपनिवेशी भू-धारण प्रणाली में क्षेत्रीय अंतर और उनके परिणाम।

4.1 प्रस्तावना

यह सत्य है कि उर्वरक, उन्नत किस्म के बीज, नियन्त्रित सिंचाई और वैज्ञानिक उपकरण जैसे तकनीकी कारक कृषि विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। लेकिन संस्थानात्मक कारक जैसे स्वामित्व या काश्तकार खेती, दूरवासी भूस्वामित्व, कृषकों की ऋणग्रस्तता जैसे संस्थागत कारक भी कृषि विकास को प्रोत्साहित करने या उसमें रुकावट डालने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वास्तव में स्वयं-कृषि में तकनीक को लागू करना काफी हद तक एक विशेष क्षेत्र में विद्यमान संस्थाओं के स्वरूप पर निर्भर करता है। जहाँ स्वामित्व खेती अधिक प्रचलित थी वहाँ कृषक खेती का अधिक सफल रूप उभर कर सामने आया। यह पाया गया है कि हरित क्रांति की तकनीक कृषक स्वामियों द्वारा शासित रैयतवारी और महलवारी के क्षेत्रों में अधिक सफल हुई। विद्यमान भू-धारण ढाँचा विकास की धीमी प्रक्रिया का परिणाम है, जो भारत में इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कारकों द्वारा प्रभावित होता है, इसलिए विकास की इस प्रक्रिया को संक्षेप में देखना आवश्यक हो जाता है।

4.2 मुगल काल के पूर्व भू-धारण प्रणाली

मुगल काल से पहले की भू-धारण प्रणाली का विस्तारपूर्वक वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे। लेकिन मुगलकाल की भू-धारण प्रणाली का ब्योरा देने से पूर्व प्राचीन काल में भू-संपत्ति के स्वरूप के बारे में संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

भूमि के स्वामित्व के प्रश्न पर आर्थिक इतिहासकारों द्वारा काफी विवाद किया गया है और उनके निष्कर्ष अधिकतर दो विकल्पों तक सीमित हैं, अर्थात् राज्य या कृषक स्वामित्व। राज्य और कृषकों के अधिकारों के विभिन्न मिश्रण का भी सुझाव दिया गया है। यह तर्क दिया जाता है कि भूमि में स्वामित्व पुनर्ग्रहण के नियम के साथ प्रारंभ हुआ और कृषक, जिसने भूमि को पुनः प्राप्त किया और जंगल को खेती योग्य जमीन में बदल दिया, भूमि का स्वामी बन गया। उत्पादन के एक अंश पर अधिकार के सिवाय राजा का संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं था क्योंकि वह अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता था। लेकिन डी.एन.झा ने तर्क दिया कि एक व्यक्तिगत स्वामी का अपनी भूमि पर केवल नियंत्रित (qualified) स्वामित्व था और राजा ही उसका अंतिम स्वामी था। दूसरी ओर, इरफान हबीब ने भूमि में निजी संपत्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा कि कृषकों को स्वतंत्र हस्तांतरण का अधिकार नहीं था। लेकिन अधिकतर विद्वान मानते हैं कि कृषकों का भूमि पर स्थायी व उत्तराधिकार योग्य अधिकार था और राजा उन्हें बेदखल नहीं कर सकता था। उन दिनों भूमि पर खेती पर काफी जोर दिया जाता था। व्यक्तिगत कृषक जब तक भूमि को जोतता था, उसके प्रयोग का अधिकार उसे प्राप्त रहता था। सर हेनरी मेन ने दिखाया कि प्रत्येक परिवार को चरागाह और खेती करने के सामान्य नियमों का पालन करता होता था। गाँवों के समीप की चरागाह भूमि और जंगल पूरे ग्राम समुदाय के सामूहिक स्वामित्व में थे।

कृषकों द्वारा दिया जाने वाला कर सामान्यतया उत्पादन का एक अंश था। इसके लिए या तो कृषक उत्पादन के वास्तविक भाग का तरीका अपनाया जाता था या राज्य का भाग उगती हुई फसल के निरीक्षण द्वारा अनुमानित किया जाता था। कभी-कभी तो प्रत्येक फसल के क्षेत्रफल से राज्य के हिस्से के लिए एक औसत या मानक संख्या निर्धारित की जाती थी। राजस्व की प्राप्ति, सामान्यतया अनेक अधिकारियों द्वारा की जाती थी। उन्हें राजा की ओर से राजस्व में राज्य का अंश एकत्रित करने और इसका एक अंश अपनी सेवाओं के बदले स्वयं रखने का अधिकार प्राप्त था। धीरे-धीरे यह पद पैतृक बन गए और राज्य और खेतिहरों के बीच बिचौलियों की श्रृंखला विकसित हो गई।

4.3 मुगल काल के दौरान भू-धारण प्रणाली

इस अनुभाग में की गई चर्चा सामान्यतया पूरे मुगल भारत के लिए उपयुक्त है। लेकिन उत्तरी और मध्य भाग के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त है, इन इलाकों में मुगल शासन अधिक व्याप्त था। पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भारत के दूसरे क्षेत्रों में भू-धारण प्रणालियों की मुख्य विशेषताओं का विवरण बाद के अनुभागों में किया जाएगा। भू-धारण तथा कर एकत्रित करने के ढाँचे के परस्पर मिलाप ने भारत में भू-अधिकारों के विभिन्न स्तरों की पहचान को जटिल बना दिया है। इसलिए भू-धारण प्रणाली के ढाँचे को समझने के लिए हम भू-राजस्व प्रणाली से अपना विवरण प्रारंभ करेंगे।

4.3.1 भू-राजस्व प्रणाली

भू-राजस्व का सबसे सरल रूप फसल सहभाजन था। इस साधारण सहभाजन से, हम कर निर्धारण की अन्य प्रणालियों, जो मुगल प्रशासन के लिए व्यय और कार्य का भार कम करने के लिए बनाई गई थी, के विकास का चित्र खींच सकते हैं। कर निर्धारण का एक ऐसा तरीका कनकुट (कन = अनाज, कुट = अनुमान) था। प्रारंभ में इस तरीके के अंतर्गत, प्रत्येक फ़सल का उत्पादन वर्तमान फसल पर प्रति इकाई क्षेत्रफल पर उपज के औसत का फसल के अंतर्गत क्षेत्रफल से गुणा करके लगाया जाता था। कर का अनुमान उत्पादन के अनुपात के आधार पर लगाया जाता था। बाद में, अधिकारियों के स्वनिर्णय को दूर करने के लिए, कनकुट को जब्त (Zabt) में बदल दिया गया जहाँ प्रत्येक फसल पर उपज को निश्चित करने की बजाय, विभिन्न फसलों के लिए एक मानक सूची प्रकाशित की गई। अकबर के राज्यकाल में उपज, कीमतों और प्रत्येक स्थान के लिए जोते गए क्षेत्र के, दस वर्षों के लिए एकत्रित विस्तृत सूचना के आधार पर, प्रत्येक फसल के लिए राजस्व की दरें, प्रत्यक्ष रूप से नकद में निश्चित की जाती थी। लेकिन, नकद राजस्व की इस मानक प्रणाली के अतिरिक्त कर निर्धारण के अन्य तरीके जैसे फसल-भाजन (बटाई) और कनकुट कुछ गाँवों या विशेष फसलों के लिए जारी रहे। इसके अतिरिक्त फसल फेल होने के दौरान, अनुकूल मंजूरी दी जाती थी और फसल-रहित क्षेत्रों को कर की छूट दी जाती थी।

कर निर्धारण और एकत्रण के कोई भी तरीके रहे हों, लेकिन इरफान हबीब के अनुसार, मुगल प्रशासन का मुख्य उद्देश्य कृषक के आधिक्य का अधिग्रहण करना था। बटाई या "कनकुट" के अंतर्गत लिया जाने वाला फसल का भाग, फसल तथा स्थानों के साथ बदलता था। लेकिन कम उपजाऊ क्षेत्रों में यह मात्रा आधी और अधिक उपजाऊ क्षेत्रों में यह आधे से काफी अधिक था। ऐसा लगभग नियम स्वरूप होता था।

उत्तरी भारत में, कर निर्धारण की इकाई गाँव था और उससे प्राप्य राजस्व, प्रायः एक वर्ष में आँका जाता था। इसके लिए एक रकम निश्चित की जाती थी जो उत्पादक क्षमता पर आधारित होती थी, लेकिन यह कर निर्धारकों द्वारा व्यक्तिगत कृषकों में वितरित नहीं की जाती थी। गाँव के भीतर कृषक एक या अन्य परिचित प्रणालियों—या तो एकत्रित उत्पाद के अनुमान पर या बोए गए क्षेत्र की दरों द्वारा या जोतों के लिए दी जाने वाली निश्चित राशि—के द्वारा इस राजस्व में योगदान देते थे। राजस्व की प्राप्ति कड़े तरीकों से लागू की जाती थी। राजस्व की गैर-अदायगी को विद्रोह के बराबर समझा जाता था। उस समय जब बेदखली एक दंड के रूप में नहीं जानी जाती थी, सामान्य तरीका गाँव के मुखिया को कष्ट तथा कारावास देना था। इसके बाद बालिग पुरुष जनसंख्या की निर्दयता से हत्या होती थी और औरतों तथा बच्चों को गुलाम बनाया जाता था।

4.3.2 मध्यस्थ और भूमि-अधिकार

सैद्धांतिक रूप से तो राजा भू-राजस्व का अकेला दावेदार था लेकिन वास्तव में दावों के हस्तांतरण प्रणाली द्वारा एक लघु शासक वर्ग राजस्व की आय को अपने सदस्यों में बाँट लेता था। राजस्व का निर्धारण और संग्रह अधिकतर मध्यस्थों द्वारा किया जाता था और निर्धारण की आधारभूत इकाई गाँव था। मध्यस्थों को दिया गया बड़ा भू-भाग प्रायः कर मुक्त होता था। और जहाँ, उनकी भूमि पर कर लगाया भी जाता था वह प्रायः काफी नीची दरों पर होता था।

4.3.3 जागीरदार

जागीरदार राजा के अफसर थे जिन्हें भूमि उपहार में प्राप्त थी। ये वे लोग थे जिनके पास राजा द्वारा प्रदान किए गए पद (मनसब) थे। प्रत्येक पदाधिकारी (मनसबदार) को एक निश्चित वेतन की मात्रा पाने का अधिकार था। यह वेतन उनको प्रायः एक ऐसी जागीर देकर पूरा किया जाता था जिसका राजस्व उनके निर्धारित वेतन के बराबर होता था। ये पद (मनसब) पैतृक नहीं थे, यद्यपि सामान्य व्यवहार में ऊँचे मनसबधारियों के संबंधियों को अपने **मनसब** जारी रखने की अनुमति थी। जागीर की अस्थायी प्रकृति ने जागीरदारों पर राजा का नियंत्रण मजबूत कर दिया। अबुल फजल के अनुसार, मनसबधारी को **जागीर** प्राप्त करने का अधिकार था लेकिन **जागीर** में भूमि का एक विशेष टुकड़ा नहीं और न ही प्रत्येक वर्ष वही भूमि। मनसब (और इस प्रकार **जागीर**) समय-समय पर पदोन्नति व अवनति के लिए संशोधित किए जाते थे।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि **जागीरदारों** को अपने निर्दिष्ट क्षेत्र पर कोई स्थायी अधिकार नहीं था। सैद्धांतिक रूप से, उनके दावे अधिकृत भू-राजस्व और करों तक ही सीमित थे। लेकिन व्यवहार में, **जागीरदार** काफी शक्तिशाली व्यक्ति थे, विशेषतया वह एक बड़ा प्रतिनिधि (Assignee) था जिसे पुलिस अधिक्षेत्र भी प्राप्त थे। वास्तव में, भूमि का एक बड़ा भाग इन **जागीरों** के अंतर्गत था। यह अनुमान लगाया

गया है कि, 1646 में, केवल 68 सामंतों ने शासन के कुल राजस्व के 36.6% मांग पर दावा किया और अगले 587 अधिकारियों ने लगभग 25% पर दावा किया। बाकी 7,555 मनसबधारियों ने एक चौथाई और एक तिहाई राजस्व का दावा किया। इस प्रकार भूमि का अधिक भाग **जागीरों** के अंतर्गत था।

इरफान हबीब के विचार में, जागीरदार के हाथ में जमींदार को हटाने की शक्ति थी। जहाँ तक कृषकों का प्रश्न है, जागीरदारों के पास उन्हें, गुलामों की तरह, जमीन पर रखने और उनके भाग जाने की स्थिति में उन्हें वापिस लाने की शक्ति थी। यह विश्वास किया जाता है कि मुगल शासन के बाद के काल में जागीरदार कृषकों को दबाने का अत्यधिक प्रयास करने लगे। ऐसा वे इसलिए करते थे कि जागीर पर उनका स्थायी अधिकार नहीं था। दीर्घकालीन राजस्व से उनका कोई सरोकार नहीं था। वे अपने वर्तमान को ध्यान में रखकर जबरन वसूली करते थे।

जैसा कि पहले कहा गया है मुगल काल के दौरान, राजस्व माँग बहुत अधिक थी और कुल उत्पादन का आधे से अधिक भाग कृषकों से ले लिया जाता था। यद्यपि कृषकों को भूमि में स्थायी और पैतृक स्वामित्व अधिकार प्राप्त था, लेकिन राज्य के कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग **जागीरदारों** के एक छोटे वर्ग के हाथों में था।

4.3.4 जमींदार

जमींदार एक पारसी शब्द है जिसका अर्थ है भूमि (जमीन) का स्वामी। इस शब्द का अधिक प्रयोग अकबर के समय से एक ऐसे व्यक्ति के लिए किया गया जिसको कृषक के उत्पादन में प्रत्यक्ष भाग का पैतृक अधिकार प्राप्त हो। **जमींदार** अधिकार की मुख्य विशेषता भू-राजस्व निर्धारण के अतिरिक्त कृषकों पर कुछ विशेष कर (levies) लगाने का दावा था। इरफान हबीब ने जमींदारों की चुंगी और अन्य अतिरिक्त प्राप्तियों जैसे प्रति व्यक्ति कर (Poll Tax), मकान कर और जंगल तथा जल उत्पादन पर शुल्क का भी संकेत किया है। ये सब जमींदारी बयनामा (Sale deeds) अधिकारों के अंतर्गत निर्दिष्ट किए गए हैं।

यद्यपि प्रारंभ में जमींदारों के दावे भू-राजस्व से भिन्न थे, मुगल राजस्व प्रणाली में इन्हें दी गई भूमिका ने इन भिन्नताओं को मलिन कर दिया। मुगल शासन के अधिकांश काल में जमींदार को एकत्र की गई राशि का 1/10वां भाग भत्ते के रूप में नकद या राजस्व-मुक्त भूमि के रूप में दिया जाता था। इसके बदले उसे प्राथमिक खेतिहरों से कर वसूल करना पड़ता था। प्रायः जमींदारों को यह अधिकार एक गाँव को बसाने और उसकी भूमि कृषकों के बीच बाँटने के कारण प्राप्त होता था। सैद्धांतिक रूप से, उन्हें कृषकों को बेदखल करने का अधिकार भी प्राप्त था, लेकिन व्यवहार में श्रम की अपेक्षा भूमि की अधिकता के कारण कृषक को बेदखल करने के अधिकार का महत्व बहुत कम था।

इरफान हबीब के विचार में जमींदारी अधिकार स्वयं ही एक संपत्ति की वस्तु था। यह भी अन्य संपत्ति के उत्तराधिकार की तरह उन्हीं कानून और नियमों के अनुसार पैतृक रूप से प्राप्त होता है। जमींदारी अधिकार स्वतंत्र रूप से बेचा भी जाता था। कुछ जमींदारी वास्तव में व्यावसायिक साहूकारों के पास गिरवी रखी जाती थी। जमींदारी अधिकार के विक्रय के कारण छोटे अधिकारी तथा राजस्व जागीरदार जैसे कुछ व्यक्ति जिन्होंने भू-राजस्व की प्राप्ति में से धन एकत्रित कर लिया था स्वयं को जमींदारों के रूप में बदलने के योग्य बन गए। लेकिन व्यापारियों को जमींदारी खरीदते हुए कम ही देखा गया था।

मुगल शासन में जमींदार और कृषक के स्वामित्व वाले गाँव एक ही जिले में इकट्ठे पाए जाते थे। कभी-कभी तो एक कृषक गाँव में मुगल प्रशासन ने नई जमींदारियाँ पैदा कर दीं। मुगल शासन के पतन के दौरान, बल प्रयोग से भी वहाँ जमींदारी पैदा की गई जहाँ पहले कोई जमींदारी नहीं थी। कभी-कभी एक गाँव के कृषक भी अपना अधिकार एक व्यक्ति को बेच देते थे जो उस गाँव का जमींदार बन जाता था। इसी प्रकार, जमींदारों की मध्यस्थता के बिना भी नए गाँव बसाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार मुगल काल के दौरान राजस्व खींचने वाले दो समूह, जिनका कृषि उत्पादन में योगदान लगभग शून्य था, बहुत महत्वपूर्ण थे। उत्पादकों से लिया जा सकने वाला राजस्व साम्राज्यवादी नियमों द्वारा कानूनी रूप से निश्चित था। मुगल शासन के पतन के दिनों में वास्तव में क्या लिया जाता था यह जागीरदारों और जमींदारों की शक्ति और रुचि पर निर्भर करता था।

4.3.5 ग्रामीण समुदाय

हमने ई.ई.सी.जी.-04, खंड 1 में बताया था कि ब्रिटिश शासन के पूर्व ग्रामीण जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी—अपरिवर्तनीय श्रम विभाजन के साथ कृषि कार्य और निर्माण प्रक्रियाओं का मिश्रण। उत्पादन

मुख्यतया प्रत्यक्ष उपयोग के लिए होता था और केवल आधिक्य (राज्य का राजस्व) की ही बिक्री की जाती थी। गाँवों का शहरों के साथ संबंध एक तरफा था और इसे बदले में शायद ही कुछ प्राप्त होता था जबकि गाँवों से ही इसकी अधिकतर आवश्यकताओं को पूरा किया जाता था। प्रायः गाँव के कृषक उसी वंश के माने जाते थे और इसलिए उसी भाईचारे (brotherhood) से संबंध रखते थे। यह भाईचारा खून के संबंधों को प्रेरित करके कृषकों को एकता के एक मजबूत बंधन में बाँधता था जिसकी केवल पड़ोसियों के बीच आशा नहीं की जा सकती थी। गाँव में सत्ता बुजुर्गों के एक समूह, पारंपरिक रूप से पाँच व्यक्ति, अर्थात् पंचायत, के द्वारा प्रचालित होती थी।

लेकिन यह धारणा कि कृषकों का भूमि पर समान अधिकार था, अनेक विद्वानों द्वारा नकारी गयी है। यह सुझाव दिया गया है कि व्यक्तिगत परिवारों के पास अपनी अलग संपत्ति होती थी और केवल जंगल तथा चरागाह भूमि सामूहिक संपत्ति थी। वास्तव में उत्पादन के अलावा कुछ अन्य क्षेत्रों में कृषक सामूहिक रूप से कार्य करते थे। गाँव के लेखे में प्रत्येक कृषक, सामान्य वित्तीय कोष में अपना अंश देता था जिसमें से भू-राजस्व, अधिकारियों की माँग, कोई सामान्य उधार (विशेषकर गाँव के भू-राजस्व का एक भाग या पूरी अदायगी करने के लिए प्राकृतिक प्रकोपों के समय विशेषतया उठाया गया) और गाँव के आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक लाभ के लिए किए गए व्यय पूरे किए जाते थे। यहाँ तक कि गाँव छोड़ने या दूसरे क्षेत्रों में प्रवसन करने के लिए भी ग्रामीण लोग प्रायः सामूहिक निर्णय लेते थे। कृषक वर्ग की एक समान प्रकृति के बारे में भी विचारों में भिन्नता है। यद्यपि ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा ब्रिटिश शासन की विनाशकारी भूमिका कहीं अधिक थी लेकिन फिर भी कृषकों के बीच आर्थिक भिन्नता में मुगल काल के दौरान बहुत वृद्धि हुई। इरफान हबीब ने बताया है कि उत्तरी भारत में तथा मुगल साम्राज्य के अन्य भागों में भी बहुत से बड़े खेतिहर बाजार के लिए फसल उगाते थे, और कुछ छोटे खेतिहर केवल अपने निर्वाह के लिए ही अनाज उत्पादित कर पाते थे। कृषकों के बीच इस भिन्नता के अतिरिक्त "जाति कृषक वर्ग" और "दास" (Menial) जनसंख्या तथा मूल शारीरिक श्रम के बीच अभी भी स्पष्ट विभाजन था। बीज, पशु और मुद्रा आदि साधनों के अनुसार कृषक बड़े या छोटे खेतों की जोत कर सकते थे। लेकिन बड़ी भू-जोतें छोटे कृषकों (रिजरैया) की बजाय गाँव के प्रभावशाली तत्वों के सदस्यों (कलान्तरन) या प्रधान व्यक्तियों (मुकद्दम) के अधिकार में होती थी। ये उनकी स्थिति से संबंधित थी या प्रायः उनका परिणाम होती थी। गाँव के मुखिया के पास प्रायः कुल का 2-1/2 प्रतिशत तक भाग होता था और यह कर-मुक्त था। सामान्य कृषकों की अपेक्षा विशिष्ट तत्वों के लिए प्रायः कर की नीची दर निर्धारित की जाती थी।

धनी कृषक वर्ग की शक्ति का एक अन्य स्रोत भू-राजस्व प्रणाली के साथ भी संबंधित था। राजस्व निर्धारण और एकत्रित करने की आधारभूत इकाई एक गाँव होने के कारण राजस्व अधिकारियों के लिए मुखिया या धनी कृषकों के छोटे समूह (Stratum) पर निर्भरता स्वाभाविक ही थी। फिर, यह प्रभावशाली समूह प्रत्येक कृषक से स्वयं निर्धारित दरों पर कर एकत्रित करता था और एकत्रित धन को एक कोष में डाल देता था। इस कोष में से भू-राजस्व तथा शुल्क और विशेष अधिकारियों के पुरस्कार सहित अन्य सामान्य व्ययों की अदायगी की जाती थी। प्रायः कोष जिन लोगों के नियंत्रण में था, वे राजस्व में अपना उचित योगदान नहीं देते थे। कुछ लोगों से कर की नीची दर भी वसूल की जाती थी।

इस प्रकार कृषकों के एक बड़े भाग को जो प्रायः छोटे किसान होते थे, इस हानि को पूरा करने के लिए राजस्व में अपने उचित भाग से कहीं अधिक देना पड़ता था। इस प्रकार कृषक समुदाय के अंतर्गत आंतरिक अंतर्विरोध पैदा होनें शुरू हो गए।

4.3.6 कृषक और भूमि का स्वामित्व

अब एक निर्णायक प्रश्न उठता है–भू-स्वामी कौन था? भारत की विजय के पश्चात् ब्रिटिश प्रशासकों ने इसी प्रश्न पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। वास्तव में बंगाल में स्थायी बंदोबस्त से पूर्व के वर्षों में अनेक भू-अधिकारों के संबंध में "देशीय" अधिकारियों की राय जानने के दृष्टिकोण से अंग्रेजों ने कुछ प्रश्नावलियाँ घुमाई। प्रायः सबसे अधिक पूछा जाने वाला प्रश्न था "भूमि का मालिक कौन है–शासक (हाक़िम) या ज़मींदार?" यह देखा गया कि प्रश्न में कृषकों को बिल्कुल शामिल नहीं किया गया।

लेकिन, अधिकतर विद्वान आज इस विचार से सहमत हैं कि राजा मालिक नहीं था। मुगल सरकार के अनेक दस्तावेज़ निजी व्यक्तियों को स्वामी (मालिक) के तौर पर संकेत करते हैं, जिनके पास मल्कियत या भूमि का स्वामित्व था। मोहम्मद हाशिम को औरंगजेब के फरमान में मालिक और अरबाब-ए-ज़मीन (भू-स्वामी) शब्दों का साधारण खेतिहरों या कृषकों के लिए किया गया है। लेकिन असल बात यह है कि क्या कृषक के

अधिकार का न केवल नाम बल्कि तात्पर्य भी ऐसा था कि इसके लिए वैधानिक रूप से स्वामित्व शब्द का प्रयोग किया जा सके।

एक ओर तो कृषक की उस भूमि, जिसे वह जोतता था, पर स्थायी और पैतृक दखल को सामान्य मान्यता प्राप्त थी। यदि वह भूमि को जोतने में असमर्थ होता था या उसे बिल्कुल छोड़ देता था, तो भूमि जोतने के लिए दूसरे को दे दी जाती थी। लेकिन यदि किसी समय मालिक को जोतने की योग्यता पुनः प्राप्त हो जाती थी या वह वापस आ जाता था तो भूमि उसे वापस दे दी जाती थी। दूसरी ओर, वास्तविक हस्तांतरण का प्रश्न ही नहीं उठता था, जो आजकल के स्वामित्व अधिकार की विशेषता है। जिस तत्परता से अधिकारियों ने कृषकों के स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार किया और जो आकुलता उसे भूमि छोड़ने से रोकने के लिए दिखाई, एक ऐसे समय में स्वाभाविक थी, जब भूमि का बाहुल्य था और कृषक दुर्लभ। भूमि की बिक्री भी शायद संभव नहीं थी, क्योंकि भूमि की कोई दुर्लभता नहीं थी और राजस्व भार काफी अधिक था। इस स्थिति में कृषक प्रायः खरीदार ढूंढ़ने में सफल नहीं हो सकते थे। इस प्रकार, मुगल समय के कृषक के पास स्वामित्व का स्थायी और पैतृक अधिकार था, लेकिन स्वतंत्र हस्तांतरण का अधिकार प्राप्त नहीं था।

वास्तव में, अधिकार जो सही अर्थ में स्वामित्व स्थापित करते हैं नियमानुसार एक व्यक्ति में केन्द्रित न होकर भूमि से संबंधित पक्षों के बीच अनियमित रूप से वितरित होते थे। इसके अतिरिक्त, मुगल प्रशासन के पतन ने एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया जिसमें अधिकार की अपेक्षा शक्ति का महत्व अधिक हो गया। पारंपरिक रूप से भूमि में अनेक लोगों के हित होते थे और संपूर्ण तथा पृथक परिवार के स्वामित्व की धारणा भारत के लिए अनजानी थी।

बोध प्रश्न 1

1) भूमि पर कृषकों के स्वामित्व का विषय इतना विवादास्पद क्यों है? 50 शब्दों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) तीन वाक्यों में ब्रिटिश काल के पूर्व भारतीय ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) सही या गलत बताइए :
   i) मुगल काल के दौरान कुल उत्पाद का आधे से अधिक राजस्व के रूप में ले लिया जाता था।
   ii) ज़मींदार के पास जागीरदार को हटाने की शक्ति थी।
   iii) मुगल शासन में ज़मींदारी और कृषक स्वामित्व, दोनों प्रचलित थे।
   iv) मुगल काल के दौरान मध्यस्थों की शक्ति पर आधारित लिया जाने वाला राजस्व साम्राज्यवादी नियम द्वारा निश्चित राजस्व से अधिक था।

4.4 पूर्वी भारत : भू-राजस्व, मध्यस्थ और कृषक

बंगाल में मुगल काल के दौरान भूमि संबंधों का अध्ययन विशेषतया रुचिकर है क्योंकि ब्रिटिश प्रशासकों ने यहीं से यह शब्दावली प्राप्त की जिसे वे अपने साथ उत्तर में भी ले गए। बंगाल अन्य प्रांतों से अलग पड़ा था

क्योंकि वहाँ 'मुक्तई' अर्थात् एक निश्चित माँग नामक राजस्व प्रणाली प्रचलन में थी। राजस्व या तो भूमि की प्रति इकाई की दर से नकदी के रूप में या सम्पूर्ण गाँव के लिए एक इकट्ठी राशि, जो प्रति वर्ष समान रहती थी, के रूप में एकत्रित किया जाता था, जब तक कि इसमें एक विशेष उपाय के तौर पर संशोधन या बढ़ोत्तरी न की जाए। जेम्स ग्रांट के अनुसार, प्रारंभ में 1582 में टोडरमल द्वारा राजस्व माँग औसत उत्पादन के एक-चौथाई भाग के लगभग निश्चित की गई थी। 1658 में राजस्व माँग में साढ़े 15 प्रतिशत की वृद्धि की गई। 1722 में, मुरशिद कुली खान द्वारा इसमें साढ़े 13 प्रतिशत की वृद्धि की गई। इसके पश्चात् उपकर के रूप में, ज़मींदारों पर लगातार शुल्क लगाए गए जबकि आधारभूत माँग अपरिवर्तित रही। लेकिन मोरलैंड, जेम्स ग्रांट के विवरण से सहमत नहीं है, विशेषतया, उनके इस वक्तव्य से कि कर निर्धारण का आधार उत्पादन का एक चौथाई भाग था। मोरलैंड का विचार है कि टोडरमल के समय में राज्य का दावा समान रूप से एक-तिहाई था।

उत्तरी भारत के विपरीत बंगाल में राजस्व माँग का आरोपण कृषकों पर न होकर ज़मींदारों पर था। बंगाल के ज़मींदार मुगल शासन के अन्य भागों के ज़मींदारों से भिन्न थे। यहाँ ज़मींदार अपनी ज़मींदारी के क्षेत्र में भू-राजस्व की अदायगी के लिए जवाबदेय थे। वह स्वयं या नियम द्वारा निर्धारित दर पर कृषकों से भूमिकर (या लगान) वसूल करता था और प्रशासन द्वारा उस पर लगाए गए कर की मात्रा का भुगतान करता था। उसके पास बची शेष राशि उसकी अपनी आय थी। दूसरी ओर मुगल साम्राज्य के अन्य भागों में ज़मींदार खेतिहरों से कर एकत्रित करता था जिसके बदले उसे 1/10 वें भाग के बराबर भत्ता नकद या राजस्व मुक्त भूमि के रूप में दिया जाता था।

आसाम में भू-राजस्व प्रणाली, जो अहोम शासन (1228-1818) के लंबे काल में उन्नत हुई, बिल्कुल भिन्न थी। बी. चौधरी के अनुसार अहोम शासन के अंतर्गत नकद या उत्पादन के रूप में राजस्व की अदायगी सीमित रूप में ही थी और इसकी राजकोषीय प्रणाली का आधार पूरे समाज की श्रम सेवाओं पर आधारित था, जो अधिकतर राज्य की प्रतिरक्षा के संबंध में था क्योंकि अहोम के पास कोई तैयार सेना नहीं थी और कभी-कभी सार्वजनिक निर्माण कार्यों के रख रखाव के लिए था। इस उद्देश्य से, संपूर्ण खाली पुरुष जनसंख्या को 'खेल' नामक समूहों में बाँट दिया गया और प्रत्येक खेल को दुबारा छोटी इकाइयों (कोट), जिसमें तीन या चार पुरुष (पायक) होते थे, में बाँट दिया गया। शांति के समय में प्रत्येक कोट का एक पायक प्रायः एक वर्ष के तीन या चार महीने राज्य की सेवा करता था, तथा अन्य सदस्य उसकी भूमि की खेती की देखभाल करते थे। युद्ध के समय सभी पुरुष सदस्यों को बुला लिया जाता था और औरतें तथा बच्चे सारी खेती की देखभाल करते थे। प्रत्येक पायक परिवार को उसकी सेवाओं के बदले गीली भूमि के दो पुरा (लगभग 2.66 एकड़) तथा बागान या इमारत उपयुक्त भूमि का टुकड़ा भी लगान मुक्त प्राप्त हुए। इसके अलावा वे बंजर भूमि को सुधार कर अपनी खेती-बाड़ी बढ़ा सकते थे। अहोम राजा ने राज्य का प्रशासन और सुरक्षा आसाम के शिष्टजनों को सौंप दी। इस समूह की आर्थिक शक्ति अधिकतर उनकी लगान-मुफ्त रियासतों से होने वाली आय से प्राप्त होती थी। इन पर काम अधिकतर नौकरों तथा आंशिक रूप से मुफ्त पायकों द्वारा किया जाता था।

5 पश्चिमी भारत : भू-राजस्व और अधिकार

पश्चिमी भारत में मोटे तौर पर कच्छ के रन से लेकर उत्तरी कन्नड़ का संकुचित समुद्री क्षेत्र, विस्तृत गुजरात मैदान और दक्षिण का पठार शामिल हैं। इस क्षेत्र का अधिकांश भाग मुगल साम्राज्य के अंतर्गत रहा, गुजरात सबसे लंबे काल के लिए। लेकिन 18वीं शताब्दी के मध्य तक पूना में पेशवा के नीचे राज्यों की सतारा संधि ने मुसलमानों से सत्ता ले ली।

5.1 भू-राजस्व

जैसा कि एच. फुकाजावा ने वर्णन किया है, इस क्षेत्र में, गाँव की कृषि भूमि प्रायः निम्न में विभाजित थी:

साधारण स्वामित्व वाली भूमि (मिरास ज़मीन)
उपहार दी गई या मुक्त भूमि (इनाम ज़मीन)
राज्य की भूमि (खालसा ज़मीन) और
निर्वापित (extinct) परिवारों की भूमि (गटकुल ज़मीन) या बंजर भूमि।

सरकारी दस्तावेजों में राज्य को दिए जाने वाले मिरास भूमि पर कर और काश्तकारों द्वारा 'इनाम-स्वामियों' को दिए जाने वाली भूमि पर कर के बीच अंतर किया जाता है। पहले कर को भूमि कर (सेरा) जबकि बाद

वाले को लगान (धारा) कहा जाता था। इसी प्रकार राज्य भूमि पर कर तथा नई बोई गई बंजर भूमि पर कर को भी धारा कहा जाता था। लेकिन व्यवहार में यह अंतर अधिक महत्वपूर्ण नहीं था क्योंकि भू-राजस्व, चाहे कर हो या लगान, एक नियम के तौर पर बहुत जटिल तरीकों द्वारा विभिन्न मिट्टी और विभिन्न फसलों पर नकदी के रूप में निर्धारित किया व लगाया जाता था। यह जानना बहुत कठिन है कि दोनों प्रकार के करों के बीच भूमि के उत्पादन में राजस्व के अनुपात में कोई स्पष्ट अंतर था। राजस्व कई बार फसल विभाजन के आधार पर भी निर्धारित किया जाता था। शिवाजी ने राजस्व-भार उत्पादन का एक तिहाई से 2/5 भाग के बीच निश्चित किया। सामान्य रूप में पेशवा सरकार की वित्तीय कठिनाइयों के कारण 18वीं शताब्दी के दौरान राजस्व दर धीरे-धीरे बढ़ायी गई। वास्तव में पेशवा के अंतर्गत राजस्व के मामलों में न केवल सरकारी अधिकारी बल्कि ब्राह्मणों को भी प्रायः विशेष व्यवहार प्राप्त होता था। दूसरी ओर, मराठा सरकार ने कृषकों, विशेषकर दूसरे क्षेत्रों के 'उपरिस' (अस्थायी कृषकों) को अनेक सुविधाएँ देकर बंजर भूमि में खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया।

राजस्व का अधिकांश भाग राज्य अधिकारियों और शिष्टजनों को वेतन के तौर पर अस्थायी रूप से दिया जाता था। गाँव के मुखिया की ओर से उनके निर्दिष्ट क्षेत्रों में राजस्व एकत्रित करने के उत्तरदायी अधिकारी पैतृक मुखिया जिन्हें देसमुख (गुजरात में देसाई) और पैतृक मुनीम जिन्हें देशपाण्डे कहा जाता था। उन्हें प्रायः सरकारी दस्तावेजों में ज़मींदार कहा जाता था। दक्षिण के मुस्लिम राज्यों में अभिहस्तांकिती (Assignees) अपने निर्दिष्ट क्षेत्रों में विस्तृत प्रशासनिक सत्ता का प्रयोग करते थे। लेकिन, जब मुगलों ने दक्षिण को जीता, उन्होंने सफलतापूर्वक इस सत्ता को दबाया और 17वीं शताब्दी के दौरान एकत्रित की जाने वाली मात्रा को निर्दिष्ट कर दिया।

4.5.2 भू-अधिकार

'मिरास' भूमि तथा 'इनाम' भूमि दोनों पर लगभग पूर्ण निजी स्वामित्व माना जाता था। मराठा सरकार ने भू-राजस्व अदा न करने के लिए मिरास भूमि को जब्त कभी नहीं किया बल्कि भूमि से अस्थायी पृथक्करण, मिरासदार को कारावास या अन्य मिरासदारों से एकत्रण करने का सहारा लेना पड़ा। कुछ अधिकारियों का कहना है कि सरकार मिरास भूमि पर भू-राजस्व में वृद्धि न कर सकी, लेकिन चूँकि यह हमेशा अतिरिक्त कर लगा सकती थी और प्रायः लगाती थी, इसलिए अतिरिक्त उगाही कोई मुश्किल नहीं थी। इनाम भूमि, जिन पर भू-राजस्व बहुत कम था, मंदिरों, गाँव अधिकारी, दस्तकार और नौकरों के हाथ में थी। जब भू-स्वामित्व वाले परिवारों की मृत्यु हो जाती थी, उनकी भूमि गाँव की हो जाती थी और गाँव की बंजर भूमि के समान मानी जाती थी। गाँव का मुखिया (पाटिल) इसे अपने लिए मिरास भूमि में बदल सकता था या गाँव सभा इसे इच्छुक कृषकों को उपहार में दे सकती थी या इसे मिरास भूमि की तरह बेचा जा सकता था। इसके अतिरिक्त पूरे महाराष्ट्र में राज्य की भूमि भी काफी मात्रा में थी।

प्रत्येक गाँव में जैसे मुखिया (पाटिल), लेखपाल (कुल कुरनी) और सहायक मुखिया (चौगुला) पैतृक अधिकारी होते थे। इन अधिकारियों के पास काफी मात्रा में मिरास भूमि होती थी और इन्हें सरकार द्वारा कुछ इनाम भूमि रखने की भी अनुमति थी। इसके अतिरिक्त इन्हें कृषकों और गाँव के दस्तकारों के उत्पादन का कुछ भाग प्राप्त करने का अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त था। उनका पद और उसके साथ जुड़ी इनाम भूमि तथा विशेषाधिकार को वेतन कहा जाता था जो न केवल पैतृक होता था बल्कि राज्य अधिकारियों और ग्रामीण समुदाय की स्वीकृति से बिक्री योग्य तथा हस्तांतरणीय भी होता था। गाँव में लोगों का दूसरा समूह कृषक स्वामी जिन्हें मीरासदार कहा जाता था, होता था। मीरासदार कृषक जो अधिकतया जाति से कुनबी होती थे, गाँव के स्थायी निवासी थे और अपनी मिरास भूमि पर राज्य के लिए नियमित राजस्व और मिश्रित कर वहन करते थे।

गाँव में तीसरा समूह "उपारी" (शाब्दिक रूप से अनजान) कृषक या काश्तकारों का था। वे गाँव के अस्थायी निवासी थे, जिन्होंने युद्ध या अकाल के कारण अपने गाँव छोड़ दिए और प्रवासी हो गए। उपारियों का कर वर्ष प्रतिवर्ष बढ़ाया जा सकता था और उसकी किरायेदारी वार्षिक पट्टे के अंत में समाप्त हो जाती थी। लेकिन जब तक वे या उनके परिवार खेती में थे उनका भूमि पर कोई पैतृक अधिकार नहीं था और न ही वे गाँव के शासन कार्यों में भाग ले सकते थे। लेकिन, कुछ विद्वानों के अनुसार, 17वीं शताब्दी में ऐसे कृषक अल्पसंख्या में थे।

अंत में, गाँव के नौकर और दस्तकार जिन्हें बलूतेदार कहा जाता था, भी गाँव की जनसंख्या का अंग थे। उनकी संरचना लगभग समान थी यद्यपि उनकी संख्या गाँव के आकार के अनुसार भिन्न होती थी। उनसे आवश्यकता पड़ने पर अपनी जाति के द्वारा निश्चित क्षमता के अनुसार सेवा करने की आशा की जाती थी

और उन्हें पारिश्रमिक प्रायः वस्तुओं के रूप में, वर्ष की दो फसलों के समय अदा किया जाता था। इसके अतिरिक्त उनमें से बहुतों को गाँव द्वारा इनाम भूमि का एक छोटा टुकड़ा दिया जाता था जो नियम स्वरूप द्वारा ही जोता जाता था।

4.6 दक्षिण भारत : भू-राजस्व और भूमि-अधिकार

दक्षिणी भारत में आंध्र प्रदेश का वर्तमान राज्य, कर्नाटक (लेकिन उत्तरी कन्नड़, बेलगाँव और बीजापुर, पहले बंबई महाप्रांत का भाग, इसमें शामिल नहीं है) केरल, तमिलनाडु और महाराष्ट्र का मराठवाड़ा जिला शामिल है। 18वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में राजनैतिक सीमाएँ तेजी से बदलीं। 1772 तक लगभग संपूर्ण दक्षिणी भारत तीन मुस्लिम शासकों के अंतर्गत था : उत्तर में निजाम (हैदराबाद राज्य), दक्षिण-पूर्व में कर्नाटक का नवाब और मैसूर तथा केरल के कुछ भागों में हैदरअली। केवल ट्रैवनकोर और तन्जावूर हिन्दू शासकों के अंतर्गत थे। अंग्रेजों का पहले ही मद्रास और उत्तरी सरकारों (विशाखापटनम गन्जम, कृष्णा और गोदावरी) के इर्द-गिर्द बड़ा बन्दोबस्त था।

4.6.1 भू-राजस्व

भारत में कृषकों पर कर लगाने की अंग्रेजों से पूर्व की प्रणाली के बारे में अधिक सूचना प्राप्त नहीं है। ग्राम स्तर पर, राजस्व गाँव के मुखिया या लेखपाल द्वारा एकत्रित किया जाता था। बहुत से **मीरासदारी** क्षेत्रों में, गाँव का कोई पैतृक मुखिया नहीं था और **मीरासदार** एक समूह के तौर पर राजस्व एकत्रण का कार्य करते थे। बड़े मीरासदार कभी-कभी भू-राजस्व की अदायगी के लिए जमानत देते थे। एक विवाद यह है कि ये कर राजा, स्थानीय मुखिया या स्थानीय सभा, किसे अदा किए जाते थे? 18वीं शताब्दी के राजनीतिक उपद्रव ने इस विवाद को और बढ़ा दिया। भूतपूर्व कर-किसानों और पुराने कुलीन लोगों (nobility) ने अपने हिस्से/भाग पर अधिकार जताने लगे। विजय नगर के शासको ने छोटे मुखिया (पालीगार), जमींदार और अन्य के साथ गाँव के स्तर राजस्व के लिए ठेके दिए। लेकिन विजय नगर राज्य के अलग होने पर इन पालीगारों ने स्वतंत्र शासकों की तरह व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया। 18वीं शताब्दी के अंत तक कभी-कभी यूरोपीय भी उनके साथ मिल गए। तिरूनेलवेली पर कम्पनी द्वारा अधिकार करने से पूर्व 1800 के वर्ष में नवाब ने अनेक गाँव यूरोपियों को गिरवी रख दिए, जो भू-राजस्व एकत्रित करते थे और दोषी लोगों को कारावास में डाल दिया।

4.6.2 भू-धारण ढाँचा

अंग्रेजों से पूर्व दक्षिणी भारत में कृषि ढाँचा बहुत जटिल था और इसमें अनेक भिन्नताएँ थीं। भिन्नताओं का एक महत्वपूर्ण कारण जल की प्राप्ति या अप्राप्ति थी। समुद्री क्षेत्रों में कृषि ढाँचा बहुत विभेदीकृत (Stratified) था, जहाँ उपज अधिक थी और जोखिम अपेक्षाकृत कम थी। ये वे क्षेत्र थे, जो बड़े मंदिरों, ब्राह्मणों की बस्तियों और अनेक दस्तकारों को सहारा देते थे। इन लोगों को इनाम भूमि दी गई थी, जो या तो कर मुक्त थी या कम कर वाली थी। इनाम भूमि गाँव के अधिकारियों को दी जाती थी, जो सामान्यतया सूखा क्षेत्रों में अधिक शक्तिशाली थे।

प्रो. धर्मा कुमार के अनुसार, दक्षिणी भारत की एक विशेषता, खासकर सिंचाई युक्त तमिल मैदानों में और कुछ तेलुगु क्षेत्रों में, भू-अधिकारों की सांप्रदायिक व्यवस्था थी। ऐसा विशेषतया ब्राह्मण बस्तियों में प्रचलित था। इन गाँवों में, जोतों को कुल के अंश के तौर पर व्यक्त किया जाता था। अंशधारियों को अपना भाग जोतने और पट्टे पर दी गई गाँव की भूमि के प्रशासन में हिस्सा लेने का अधिकार था। वे अपने भाग के अनुपात में बागान, जंगल, तालाब और अन्य सांझी सम्पत्ति के लाभ में भाग लेने का अधिकार रखते थे। यह भाग आवश्यक रूप से भूमि का कोई विशेष टुकड़ा नहीं होता था, विशेषतया उन गाँवों में जहाँ प्रत्येक अंशधारी को खेती के लिए दी जाने वाली भूमि समय/समय पर पुनः वितरित की जाती थी। यद्यपि ये अंशधारी कुछ विषयों में सामूहिक रूप से कार्य करते थे, लेकिन उनकी खेती लगभग हमेशा वैयक्तिक रूप से संगठित की जाती थी। इन अंशधारियों को राजस्व लेखों में, मीरासदार (भूमि में पैतृक अधिकार) कहा जाता था। 18वीं शताब्दी के दौरान वे आकार में बहुत असमान थे, चाहे उनका प्रारंभिक वितरण कैसा भी हो। लगभग प्रत्येक गाँव में कुछ बड़े भूधारी "प्रभावशाली भूधारियों" की तरह थे।

4.6.3 काश्तकारी

ब्राह्मणों को हल जोतने की अनुमति नहीं थी इसलिए ब्राह्मण भूधारियों की भूमि अन्य लोग जोतते थे। यहाँ

तक कि कुछ बड़े गैर-ब्राह्मण भूधारियों की भूमि भी पट्टे पर दे दी जाती थी। बहुत से भूधारी जिनके पास भूमि कम थी, और अनेक भूमिहीन जिनके पास बैलों की एक जोड़ी और एक हल था, इन भूमियों पर पट्टेदार के तौर पर कार्य करते थे। भू-अधिकार की शर्तें अलग-अलग स्थिति में भिन्न थीं। मुख्य भिन्नता गाँव के निवासी (उलकुडी) और परदेसी (पराकुडी) के बीच थी। उलकुडी के पास भू-धारण की सुरक्षा और कभी-कभी तो दखल का पैतृक अधिकार भी होता था। पराकुडियों के पास सामान्यतया वार्षिक पट्टे थे। सामान्यतया लगान कुल उत्पादन का एक भाग होता था, यद्यपि कभी-कभी प्रति एकड़, उपज या नकदी की स्थिर मात्रा भी अदा की जाती थी। गीली जमीन पर लगान प्रायः भू-राजस्व घटाने के बाद कुल उत्पादन का 50% से 82% तक होता था। तन्जौर में अधिकतर यह कुल फसल का 2/3 से 3/4 के बीच होता था। लगान का भाग भू-अधिकार की सुरक्षा, जोखिम की मात्रा और भूस्वामी तथा किरायेदार के बीच लागत को बाँटने की व्यवस्था के साथ बदलता था। वास्तव में कभी-कभी तो श्रमिक और बटाईदार में फर्क करना मुश्किल था। पूँजीविहीन बटाईदार फसल का 1/5वाँ या उससे भी कम अंश प्राप्त करता था।

बोध प्रश्न 2

1) पश्चिमी भारत में भू-राजस्व का निर्धारण किस प्रकार होता था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) पूर्वी भारत में भू-धारण प्रणाली में मध्यस्थ कौन थे?

.....

3) सही या गलत बताइए।
   i) बंगाल में, ज़मींदार भूमि पर "कर" एकत्रित करते थे।
   ii) पायक ज़मींदारी प्रणाली का अंग थे।
   iii) दक्षिणी भारत में ब्राह्मण स्वयं भूमि जोतते थे।

4.7 ब्रिटिश शासन और उसका प्रभाव : पूर्वी भारत

खंड 1 में हमने पहले ही ग्रामीण समुदायों के विनाश, भूमि के बाँजार की रचना, बढ़ते लगान, ऋणग्रस्तता, मध्यस्थों की शृंखला की रचना, अनेक विनाशकारी अकाल और ब्रिटिश शासन के कुछ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभावों के परिणामस्वरूप जनसंख्या की गरीबी के बारे में विवेचन किया था। अगले पृष्ठों में हम क्षेत्रीय भिन्नताओं के रूप में इस विवेचन को आगे बढ़ाएंगे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के कुछ भागों की दीवानी (वित्तीय अधिकार) ले ली। कम्पनी की प्रमुख रुचि कम से कम समय में आय की अधिकतम मात्रा एकत्रित करना था। भू-राजस्व में वृद्धि करने के उपायों की आवश्यकता मुख्यतया (अ) व्यापार और व्यवसाय, एवं (ब) शासन के विस्तार और उसे मजबूत बनाने के लिए सेना रखने के लिए हुई। अधिक भू-राजस्व प्राप्त करने के लिए ज़मींदारी अधिक बोली देने वाले को नीलाम की जाती थी। भू-राजस्व को अधिकतम करने की नीति ने भूमि संपन्न समाज की बनावट को बदल दिया। सरकार ने बहुत से पुराने ज़मींदारों का अधिग्रहण किया और सार्वजनिक नीलामी पर सबसे अधिक बोली देने वाले को उनकी रियासत दे दी। इनमें बहुत से "नए व्यक्ति" शामिल थे। ये वे व्यक्ति थे जिन्होंने नए प्रशासन के साथ संबंधों और नए व्यापार और व्यवसाय में भाग लेकर धन सम्पत्ति बनाई। जैसा कि खंड 1 में बताया गया, ज़मींदार कृषकों को कम्पनी के कर की अदायगी के लिए लूटते थे। कृषक प्रायः चुपके से भागने के लिए मजबूर हो जाते थे। ऐसी अदूरदर्शी
प्रक्रिया, जो स्थायी बंदोबस्त तक जारी रही, से बार-बार अकाल पड़े तथा मानवीय जीवन की हानि हुई तथा भूमि का बड़ा क्षेत्र बंजर हो गया। 1765 से 1793 के बीच कंपनी की राजस्व माँग दुगुनी हो गई।

4.7.1 स्थायी बंदोबस्त

बंगाल और बिहार में 1793 के स्थायी बंदोबस्त ने ज़मींदारों को "ज़मीन का मालिक" घोषित करने के

अतिरिक्त, राज्य को दी जाने वाली कर की मात्रा हमेशा के लिए निश्चित कर दी। यह तर्क दिया गया कि इससे न केवल राजस्व की सुरक्षा होगी बल्कि कंपनी के व्यवसाय की समृद्धि भी पक्की हो जाएगी। एक उन्नत व्यवसाय अंग्रेजों के लिए आवश्यक था और कृषि से निर्यात के लिए विविध वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। यह इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि यह ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के प्रारंभ का समय था। यह सोचा गया कि भूमि में निजी सम्पत्ति का सृजन कृषि में निवेश के लिए सही वातावरण पैदा करेगा। भूमि संबंधी सम्पत्ति का मूल्य बढ़ जाएगा और कलकत्ता में अनेक देशी लोगों की विशाल पूँजी, जो सूदखोरी या नमक का एकाधिकार करने या जीवन की अन्य आवश्यकताओं में लगी हुई थी, अब जमीन खरीदने और उसे सुधारने के अधिक लाभदायक उद्देश्यों के लिए लगाई जाएगी। इसके अतिरिक्त, ब्रिटिश शासन की स्थिरता के लिए स्वामिभक्त समर्थकों का एक वर्ग पैदा करना भी एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था।

लेकिन उनकी आशाएँ केवल आंशिक रूप से ही पूरी हुई। जहाँ तक स्वामिभक्त समर्थकों के वर्ग के सृजन का प्रश्न है, अंग्रेजों को इसमें काफी सफलता मिली! लेकिन जमींदार, पुराने व नए, दोनों, कृषि पूँजीपति बनने में असफल रहे और उन्होंने सामन्ती भू-स्वामी रहना बेहतर समझा। पूँजी, कृषि के विकास में निवेश करने की अपेक्षा भूमि को खरीदने में लगाई गई। लेकिन, समय के साथ, राज्य और कृषक के बीच बिचौलियों की एक लंबी शृंखला बन गई। यद्यपि प्रारंभ में भू-राजस्व का भार काफी अधिक था और स्थायी बंदोबस्त के पहले कुछ दशकों में बहुत से ज़मींदार राजस्व की अदायगी के लिए पर्याप्त लगान एकत्रित करने में असमर्थ थे, लेकिन फिर भी कीमतें बढ़ने के साथ कुल कृषि उत्पादन में सरकार का भाग वर्ष प्रतिवर्ष घटने लगा। भू-राजस्व की माँग जो 1793 में लगान का 90% निश्चित की गई थी, 19वीं शताब्दी के अंत तक घटकर 28% हो गई। बंगाल में यह अनुपात 1940 तक घटकर 18.5% रह गया। इसके परिणामस्वरूप, ज़मींदार और अन्य मध्यस्थों को राज्य और खेतिहरों की अपेक्षा लाभ हुआ। राज्य को हानि इसलिए हुई क्योंकि मुद्रा के रूप में इसका राजस्व स्थायी रूप से निश्चित था जबकि मुद्रा का मूल्य गिर गया था। कृषक को हानि इसलिए हुई क्योंकि लगान अव्यवस्थित थे और कृषि उपज का बढ़ा हुआ मूल्य ज़मींदारों और मध्यस्थों के हाथ में हस्तांतरित हो गया।

लेकिन बंगाल का मॉडल आसाम और उड़ीसा के कुछ भागों में अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि यह अनुभव किया गया कि भू-राजस्व, जो उस समय सरकारी आय का एक सबसे महत्वपूर्ण स्रोत था, को स्थिर करना केवल मूर्खता ही होगी। उड़ीसा और आसाम, दोनों बंदोबस्त अस्थायी थे और राजस्व माँग समय-समय पर बढ़ायी जाती रही।

उड़ीसा में 1805 और 1897 के बीच, सरकार की भू-राजस्व आय में 93% की वृद्धि हुई। लेकिन आसाम में कृषकों ने पूर्वी भारत के अन्य भागों के कृषकों की अपेक्षा अपनी कुल कृषि उपज का एक बड़ा भाग राज्य को समर्पित कर दिया। अंग्रेजों के पास अपनी एक विशिष्ट पेशेवर सेना और एक विस्तृत प्रशासनिक नौकरशाही थी, इसलिए पायकों की श्रम सेवाएँ अनावश्यक हो गई और एक नकद उपहार, जो अहोम शासन के दौरान पायकों की भूमि पर नाममात्र के कर से काफी अधिक था, में बदल दी गई। इसके अतिरिक्त, पुराना आसामी अभिजात वर्ग, जिस पर अहोम राजा अपने शासन की सुरक्षा और प्रशासन के लिए निर्भर था, भी नई प्रणाली के अंतर्गत व्यर्थ हो गया। उनकी कर-मुक्त रियासतें धीरे-धीरे जब्त कर ली गईं।

कृषकों से संबंधित ज़मींदारों की स्थिति और शक्ति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। जहाँ-जहाँ यूरोपीय, नील के खेतों के मालिक थे, वहाँ रियासतों के प्रशासन के तरीके बहुत संशोधित किए गए। नए ज़मींदार अपनी लगान आय बढ़ाने के बारे में अधिक सावधान थे। ज़मींदारों को स्वामित्व अधिकार देने और कृषकों के बीच भूमि के लिए बढ़ती हुई माँग से ऐसी स्थिति पैदा हो गई जहाँ लगान वृद्धि आसान हो गई।

4.7.2 ज़मींदारी अधिकारों का हस्तांतरण

जैसा कि हम जानते हैं, ऊँची भू-राजस्व माँग, विशेषतया ब्रिटिश काल के दौरान और उसकी वसूली में सख्ती के कारण बहुत से ज़मींदारों के लिए गंभीर कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं, जिससे उनकी रियासतें बरबाद हो गईं। अमीर लोग इन रियासतों को खरीदने के इच्छुक थे और इस तरह धीरे-धीरे भूमि के लिए एक बाज़ार विकसित हो गया। इसके अतिरिक्त ज़मींदारों ने अपनी ज़मींदारी के भाग पट्टे पर भी दे दिए, इस प्रकार राज्य और वास्तविक खेतिहरों के बीच बिचौलियों की एक और कड़ी बन गई।

4.7.3 ऋणग्रस्तता और भूमि का हस्तांतरण

ब्रिटिश शासन से पूर्व स्थिति चाहे जैसी रही हो, ब्रिटिश शासन के दौरान ग्रामीण ऋणग्रस्तता की व्यापकता

एक निर्विवाद सत्य है। ग्रामीण साख के जरिए किसानों पर नियंत्रण दोतरफा हो गया। अधिकांश कृषकों की ऋण पर नियमित निर्भरता जिसे चुकाने में उन्हें अपने उत्पादन का एक बड़ा भाग ऋणदाताओं को समर्पित करना पड़ता था और दोषी कृषकों की भूमि का ऋणदाताओं द्वारा अधिग्रहण।

कृषकों के दुःखों का एक महत्वपूर्ण स्रोत उनके ज़मींदारों के साथ अपरिमाणित लगान संबंध थे जो अपनी लगान आय में वृद्धि करने के लिए अपनी कानूनी शक्ति का अनुचित उपयोग करते थे। नकद फसलें (Cash crops) जैसे—नील, अफीम और जूट की बढ़ती हुई खेती, जो ब्रिटिश शासन की एक महत्वपूर्ण देन थी, ने भी ग्रमीण ऋणग्रस्तता को बढ़ावा दिया। नील की अलाभकर खेती अनेक तरीकों द्वारा यूरोपीय बागानों के मालिकों द्वारा खेतिहरों पर जबर्दस्ती लादी गई। अफीम की खेती, यद्यपि जबरदस्ती नहीं थी तथापि मौसम परिवर्तनों से प्रभावित थी जिसके परिणामस्वरूप कृषकों को बारम्बार हानि और ऋणग्रस्तता का सामना करना पड़ता था। जूट के खेतिहर सामान्यतया उधार लेते थे और बदले में अपनी पूरी फसल या उसका एक भाग जूट के व्यापारियों समेत ऋणदाताओं को प्रायः बाजार कीमत से कम कीमतों पर समर्पित कर देते थे। इससे उनकी ऋणग्रस्तता में वृद्धि होती थी। जूट के मूल्यों में अचानक गिरावट से भी उन पर बुरा प्रभाव पड़ा और इस प्रकार साहूकारों पर उनकी निर्भरता में वृद्धि हुई। कृषकों की ऋणग्रस्तता के कारण कृषक विवश होकर अपने खेत बेचने लगे और ऐसी बिक्री वर्ष प्रतिवर्ष संख्या में बढ़ती गई। ऋणग्रस्तता और कुछ अन्य कारकों से गैर-कृषकीकरण (depeasantisation) की प्रक्रिया शुरू हुई और कृषि मज़दूरों के एक नये वर्ग का निर्माण हुआ।

4.7.4 काश्तकारी

जिन किसानों ने अपनी भूमि यों खो दी साधारणतया, उन्हें वहाँ से निकाला नहीं गया। लेकिन जहाँ मालिकों ने खेतों को स्वयं जोता, वहाँ उन्हें खेत खाली करने पड़े। पुराने कृषकों ने बहुत बार फसल-सहभाजन के आधार पर अपनी बेची गई भूमि को जोता। फसल सहभाजन (बरगा) प्रणाली केवल ग्रामीण साख संबंधों का ही परिणाम नहीं थी, यद्यपि इसका विस्तार काफी हद तक इन्हीं कारणों से हुआ। बरगा प्रणाली वहाँ भी प्रचलित थी जहाँ अनेक कारणों से मालिक अपनी भूमि पर खेती को संगठित करने में असमर्थ थे। कुछ मालिक बरगा प्रणाली को बेहतर समझते थे जहाँ इसके फलस्वरूप कृषकों के लिए भूमि की अधिक माँग के संदर्भ में अधिक लगान आय संभव हुई।

4.7.5 काश्तकारी अधिनियम

स्थायी बंदोबस्त के साथ ज़मींदारों को भूमि में स्पष्ट स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो गये। लेकिन, नए ज़मींदारों के प्रवेश ने कृषकों के सभी पारम्परिक अधिकार समाप्त कर दिए। ज़मींदार, जिन्होंने ज़मींदारियाँ खरीदी थीं अपने निवेश से अधिकतम लाभ प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। कृषकों से अधिकतम प्राप्त करने के लिए उन्होंने इतने जुल्म किए कि सरकार को सम्भावित विद्रोहों को रोकने के लिए कई बार हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य होना पड़ा। स्थायी बंदोबस्त के बाद बंगाल में दो मुख्य भूमि अधिकार कानून पास किए गए : 1859 का लगान अधिनियम और 1885 का बंगाल भूमि अधिकार अधिनियम, जिन्हें इस सदी के 20वें तथा 30वें दशक में कई बार संशोधित किया गया। भूमि-अधिकार कानूनों ने ज़मींदार द्वारा किए जाने वाले जुल्मों के अधिकार पर कुछ प्रतिबंध लगाए।

इन कानूनों के अंतर्गत उन किसानों या सह-किसानों को दखलकारी अधिकार दिए गए जिनके पास लगातार 12 वर्षों तक किसी जमीन का स्वामित्व था। एक किसान या सह-किसानों के दखलकारी अधिकारों में उत्तराधिकार, हस्तांतरण और गिरवी रखने का अधिकार भी शामिल है। दखलकारी किसान को ज़मींदार द्वारा लगान की गैर-अदायगी की स्थिति में भी एकदम नहीं निकाला जा सकता था। लेकिन, अदालत लगान को अदा न करने की स्थिति में उसकी भूमि को बेच सकती थी। इन किसानों के लगान केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही बढ़ाए जा सकते थे। ये दखलकारी रैयत आवश्यक रूप से अपनी जमीन पर स्वयं खेती नहीं करते थे और उनमें से बहुत, विशेषतया कुछ बड़े किसान, अपनी भूमि उन अन्य काश्तकारों और फसल सह-भाजकों को पट्टे पर देते थे जिनके पास कोई भूमि अधिकार नहीं थे। अपनी जोतों को पुनः किराये पर देने के पीछे बड़े किसानों का एक मुख्य कारण काश्तकारों तथा उनके द्वारा स्वयं अदा किए जाने वाले लगान तथा उनके पट्टेदारों द्वारा दिए जाने वाले लगान के बीच काफी अंतर था। इन गैर दखलकारी काश्तकारों और फसल सहभाजकों के लगान में वृद्धि के खिलाफ कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। 30वें दशक के अंत तक कृषक गृहस्थों का एक-तिहाई, इन छोटे किसानों का था जो समस्त भूमि का 1/5 से लेकर 1/4 भाग तक जोतते थे।

बोध प्रश्न 3

1) ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार लेने का तात्कालिक प्रभाव क्या हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) स्थायी बंदोबस्त के पीछे क्या उद्देश्य थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) स्थायी बंदोबस्त के परिणामस्वरूप सरकार को किस प्रकार हानि हुई?

.....

.....

.....

.....

4) भूमि अधिकार अधिनियमों के बाद पूर्वी भारत में कृषकों की क्या स्थिति थी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.8 ब्रिटिश शासन का प्रभाव : उत्तरी और मध्य भारत

उत्तरी भारत में विभिन्न प्रकार की राजस्व प्रणालियों का एक मिश्रण था। इस क्षेत्र में जमींदारी और महलवारी, दोनों ही प्रणालियाँ प्रारंभ की गई (ई.ई.सी.-02 खण्ड-1 देखिए)। प्रारंभ में बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त का समर्थन किया गया लेकिन बाद में 1811 के बाद राजस्व में वृद्धि का ध्यान रखते हुए स्थिर राजस्व को समाप्त कर दिया गया। जमींदारी क्षेत्रों में भी केवल एक छोटा ही अनुपात स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत था, बाकी अस्थायी रूप से व्यवस्थित था। पंजाब और संयुक्त प्रान्तों के भागों में, महलवारी प्रणाली लागू थी जहाँ कर निर्धारण की इकाई गाँव था और राजस्व की अदायगी गाँव के ज़मींदार वर्ग की संयुक्त जिम्मेदारी बन गई। प्रत्येक व्यक्तिगत खेतिहर राजस्व में अपना योगदान देता था। प्रारंभ में राजस्व का भार बहुत अधिक था। अंग्रेजों ने लगान संपत्ति के लगभग 85% पर अपना दावा किया। सैद्धांतिक रूप से, 1833 के बाद इसे घटाकर 2/3 और 1855 के बाद 1/2 कर दिया। लेकिन वास्तव में, इस सिद्धांत का पालन नहीं किया गया और अन्तिम सरकारी माँग में पिछली वसूली भी ध्यान रखी गयी।

भारत के मध्य भाग में, ब्रिटिश शासन के पहले दशकों में नियमस्वरूप भारी कर निर्धारण होता था। उन्होंने भूमि पर अत्यधिक कर लगाए, अत्यधिक राजस्व की माँग की और लोगों को दरिद्र बना दिया। बाद में गलती महसूस की गई और इसकी कड़े शब्दों में निन्दा की गई। 1834 में इन क्षेत्रों में 20 वर्ष का एक लम्बा बन्दोबस्त पूरा किया गया जिसे 1860 के प्रारंभिक वर्षों तक जारी रखने की अनुमति थी। 1864 के नए बन्दोबस्त के अन्तर्गत, केन्द्रीय प्रान्तों में मालगुजारी प्रणाली लागू की गई। इस प्रणाली के अन्तर्गत मालगुजार या राजस्व अदाकर्ता भूमि के मालिक माने जाते थे जिन्हें अपनी सम्पत्ति बेचने या गिरवी रखने का अधिकार था। कृषकों को भू-अधिकार दिए गए। सिद्धांत में, यह निर्णय किया गया था कि भू-राजस्व रियासतों के लगान के आधे भाग तक सीमित होगा। लेकिन कर निर्धारित करते समय इस सिद्धांत का पालन नहीं किया गया। बन्दोबस्त अधिकारियों ने रियासतों के वास्तविक लगान को स्वीकर नहीं किया। उन्होंने अपनी गणना के आधार पर लगान का अनुमान लगाया और भू-राजस्व माँग को इन अनुमानित लगानों पर आधारित किया। इस प्रकार, कर निर्धारण के तौर पर स्वीकृत लगान ज़मींदारों द्वारा प्राप्त वारतविक लगान से अधिक था। इसके अतिरिक्त, लगान का वास्तविक अनुपात, जो इस प्रकार अनुमानित किया गया और जो भू-राजस्व के तौर पर मांगा गया, अधिकतर जिलों में 50% से अधिक था और नागपुर में 78% निश्चित किया गया।

4.8.1 भू-राजस्व प्रणाली का प्रभाव

20 या 30 वर्षों के समय के लिए निश्चित अपरिवर्तित नकद माँग को लगाकर अंग्रेजों से पहले के बन्दोबस्त के लोचशील कर-निर्धारण को त्याग दिया गया। इससे नील, गन्ना और गेहूँ जैसी नकद फसलों के उत्पादन के लिए दबाव भी पैदा हुआ। हर जगह स्थानीय अनाज व्यापारी बनाम साहूकार जो कुछ अवस्थाओं में पटवारी अर्थात् गाँव के लेखाकार भी थे, की स्थिति को मजबूत किया। फसलें उगाने का निर्णय लेने में, विशेषतया नील और गन्ना जैसी फसलें जिनमें काफी व्यय की आवश्यकता होती है, मौद्रिक आय या साख पेशगी जैसे तत्वों ने किसानों को प्रोत्साहित किया। वह केवल मूल्यवान फसलों से होने वाले अतिरिक्त लाभ की आशा से प्रेरित होने की अपेक्षा, राजस्व और लगान की किश्त तथा विवाह के खर्चों की अदायगी को पूरा करने के लिए तात्कालिक नकदी की आवश्यकताओं से अधिक प्रेरित हुआ। वास्तव में, लाभ मध्यस्थों की जेब में जाने लगा। शाहजहाँपुर जिले में शहरी खण्डसारी के या चीनी के मिलों की प्रेरणा स्वीकृत करने के बुरे प्रभाव इतने कुख्यात हो गए कि खुन्दूर परगने में रामगंगा प्रदेश के बसने वाले चंदेल राजपूतों ने विदेशी ऋणदाताओं को अपनी स्वतंत्रता और स्वामित्व अधिकार खो देने के खतरे की बजाय गन्ना उगाने से इन्कार कर दिया।

4.8.2 भू-हस्तान्तरण

भूमि में हस्तान्तरणीय स्वामित्व अधिकार के आरम्भ होने के साथ, भूमि की बिक्री में वृद्धि हुई। 1854 में उत्तर-पश्चिम प्रान्त के राजस्व प्रशासन पर राजस्व बोर्ड ने यह टिप्पणी की "शायद विश्व के किसी भी देश में भू-धारण इतनी निश्चयता, स्थिरता और विस्तृतता से हस्तान्तरित नहीं होता। ये परिवर्तन 'भूमि के पुराने स्वामियों' की स्थिति में एक तीव्र और पूर्ण क्रान्ति को प्रभावित कर रहे हैं।" भूमि के इस हस्तान्तरण और गिरवी रखने के पीछे ऋणग्रस्तता की बहुत बड़ी समस्या है। यह अनुमान किया गया है कि कृषि भूमि का 10% पहले ही 'कपटी महाजन' और 'भावना शून्य, चिक्कण बनिये' के हाथों में चला गया था। फिर भी सरकारी विचार भूमि के स्वतंत्र व्यापार में कोई अड़चन डालने के विरुद्ध था। यह इस कारण था कि कानूनी हस्तक्षेप, ग्रामीण ऋण के प्रावधान को गम्भीर रूप से प्रभावित करेगा और भू-राजस्व की सुरक्षा को संशय में डाल देगा। इसी प्रकार केन्द्रीय प्रान्तों के जिलों में 1864 के बन्दोबस्त के समय तक लगभग सम्पूर्ण लाभ मारवाड़ियों के द्वारा हथिया लिया गया था। जबकि गिरवी प्रथा तेजी से बढ़ रही थी, 1870 के अन्तिम वर्षों में दीवानी अदालतों द्वारा प्राप्त की गई डिग्रियों की संख्या भी बढ़ रही थी। कृषकों से साहूकारों को भूमि के लगातार हस्तान्तरण के कारण बुन्देलखन्ड हस्तान्तरण नियम 1903 का अभ्युदय हुआ। लेकिन हस्तान्तरण अधिनियम के बावजूद बुन्देलखण्ड में व्यावसायिक साहूकार ग्रामीण दृश्य का एक स्थायी अंश रहे और कृषकों पर उनका प्रभुत्व रहा। ये साहूकार बनाम व्यापारी कृषि में प्रत्यक्ष रुचि रखने की बजाय लगान प्राप्त करने और कृषकों द्वारा उगाई गई नकद फसलों की बिक्री का नियंत्रण करने में अधिक रुचि रखते थे। इस प्रकार भूमि में कानूनी निजी सम्पत्ति के अधिकारों के आने से वास्तविक कृषक के ऊपर बिचौलियों की शृंखला में कड़ियाँ जुड़ती गईं और कृषक की छोटे पैमाने की पारम्परिक खेती को यथावत् छोड़ दिया। पूँजीवादी खेती में पैमाने की बचत के प्रादुर्भाव की आशा, चाहे कृषक स्तर परहो या ऊँचे स्तर पर, गलत थी।

4.8.3 भू-जोतों का ढाँचा और भू-अधिकार

ज़मींदारी उन्मूलन कमेटी की 1948 की रिपोर्ट द्वारा प्रस्तुत की गई स्थिति चौंकने वाली थी। उत्तर-पश्चिमी

प्रान्तों में, भू-जोतों का ढाँचा ऐसा था कि भूमि का अधिक भाग बड़े भू-धारियों के एक अपेक्षाकृत छोटे वर्ग के हाथ में था। कुल मिलाकर कुछ थोड़े से ज़मींदारों, कुल का केवल 1.3% के पास आधे से अधिक ज़मीन थी। फिर भी यह याद रहे कि इनमें से अधिकांश रियासतों की कोई बड़ी स्थानीय भू-जोतों के तौर पर भौतिक उपस्थिति नहीं थी। ये सब भूमि के बिखरे टुकड़ों पर लगान एकत्रित करने के अधिकारों की गठरी मात्र थी। इस प्रकार इस क्षेत्र में भूमि का एक बड़ा भाग किसी न किसी प्रकार के कृषकों द्वारा जोता था। इसी प्रकार पंजाब में, कुल भू-स्वामियों के केवल 3.5% के पास 1924 में कुल क्षेत्र का एक-चौथाई से भी अधिक था। इनके पास औसतन 50 एकड़ से ऊपर ज़मीन थी। 1939 तक कुल भू-स्वामियों में उनका अनुपात घटकर 2.4% रह गया लेकिन स्वामित्व क्षेत्र 38% तक बढ़ गया। निश्चय ही पंजाब में ये बड़े मालिक अपनी ज़मीनें कृषकों को पट्टे पर दे रहे थे। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि जबकि 1924 में लगभग 120,900 मालिकों के पास 50 एकड़ से अधिक भूमि थी, केवल 20,000 ही 50 एकड़ से अधिक जोतते थे। पंजाब में, जो सामान्यतया कृषक स्वामियों की ज़मीन मानी जाती थी, 1891-92 और 1939-40 के बीच, काश्तकारों द्वारा जोता गया क्षेत्र 1.06 करोड़ एकड़ से बढ़कर 1.78 करोड़ एकड़ हो गया जबकि कुल जोते गए क्षेत्र में इसका अनुपात 46% से बढ़कर 57% (कुल जोता गया क्षेत्र इस काल के दौरान 2.31 करोड़ एकड़ से बढ़कर 3.12 करोड़ एकड़ हो गया)। काश्तकारी क्षेत्र लगभग 85% कच्चे काश्तकारों के पास था. जिनके पास भू-धारण की कोई सुरक्षा नहीं थी और वे प्रायः बहुत ऊँचे लगान अदा कर रहे थे।

4.9 ब्रिटिश शासन का प्रभाव : पश्चिमी भारत

हमने खण्ड 1 में पहले ही देखा है कि इस भाग में अपनायी गई राजस्व एकत्रण की प्रणाली मूल रूप से रैयतवारी प्रणाली थी। बन्दोबस्त सामान्यतया 30 वर्ष के निश्चित काल के लिए था जिसका अर्थ यह था कि राजस्व की माँग इस अवधि के बाद बढ़ाई जा सकती थी। रैयतवारी बन्दोबस्त के अन्तर्गत, रैयत (किसान) प्रत्यक्ष रूप से राज्य के नीचे होता है। वह मालिक माना जाता है और अपनी भूमि के टुकड़े का किराये, गिरवी या उपहार या बिक्री द्वारा हस्तान्तरण कर सकता है। जब तक वह निश्चित कर अदा करता है उसे बेदखल नहीं किया जा सकता। यह भी देखा गया है कि कर निर्धारण की प्रणाली (खेतिहर की योग्यता के अनुसार अदायगी) मद्रास में अपनायी गई प्रणाली से भिन्न थी और कर बहुत अधिक था, जिसके परिणामस्वरूप ऋणग्रस्तता और भूमि हस्तान्तरण हुए।

पश्चिमी भारत में नई भू-राजस्व प्रणाली के प्रारम्भ के साथ मीरासी और उपारी भू-धारण मिला दिए गए और भूमि के दखलकार के पास अपने पहली स्थिति का लिहाज़ किए बिना, वही अधिकार थे। गाँव के पैतृक और ऊँचे अधिकारियों (पाटिल, देसाई और देशमुख) को लोगों से प्रथागत पुरस्कार एकत्रित करने की मनाही थी। इसके अतिरिक्त, इन पैतृक अधिकारियों के राजस्व प्रशासन से हटाने से उनकी सामाजिक स्थिति को गिराया, यद्यपि उन्हें राजस्व-मुक्त भूमि रखने की अनुमति थी। स्वतंत्रता तक, महाराष्ट्र के अधिकृत क्षेत्रों का 12% और गुजरात के जिलों का 19% इस प्रकार की इनाम भूमि के अन्तर्गत था।

4.9.1 कृषि समाज में परिवर्तन

1860 के वर्षों में अमरीका में गृह युद्ध ने भारतीय कपास के लिए माँग को प्रोत्साहित किया (जो पहले उत्तरी अमरीका द्वारा पूरी की जाती थी) और रेलवे तथा सिंचाई में भारी निवेश ने निर्यात को सुविधाजनक बना दिया। इस काल के दौरान, कृषि वस्तुओं विशेषकर कपास के मूल्यों में भारी वृद्धि हुई। इस समृद्धि से सबसे पहला लाभ व्यापारियों और साहूकारों को हुआ लेकिन कृषकों को भी कुछ लाभ प्राप्त हुए। लेकिन 1860 के दशक के अन्तिम वर्षों में बहुत से जिलों में नए बन्दोबस्त उचित थे। प्रचलित ऊँची कीमतों के आधार पर भू-राजस्व के नए बन्दोबस्त में अधिक मालगुजारी दी गई। 1856-57 से 1870-71 के बीच बम्बई प्रान्त में कुल राजस्व 37% बढ़ गया (और 1890 तक 18% और बढ़ गया)। 1870 के बाद मूल्यों में गिरावट शुरू हुई और 1876 तक बहुत-सी कृषि कीमतें 1860 के स्तर तक गिर गईं। इस प्रकार रैयतों के लिए बढ़े हुए कर की अदायगी करना कठिन हो गया और वे उधार के लिए साहूकारों के पास गए। कृषकों की बढ़ती ऋणग्रस्तता, साहूकारों के विरुद्ध 1875 में डेक्कन विद्रोह के रूप में परिणत हुई।

भारी भू-राजस्व की माँग के अतिरिक्त, नई कानूनी प्रणाली ने ग्रामीण साहूकार को छल-कपट की अधिक स्वतन्त्रता दे दी थी। मराठों के अन्तर्गत, साहूकारों (वानी) को मालूम था कि यदि वे ऋण की वसूली के लिए कृषकों की जमीन को जब्त करने की कोशिश करेंगे तो सरकार उनका पक्ष नहीं लेगी। लेकिन ब्रिटिश अदालतें भू-हस्तान्तरण को लागू करने में ज्यादा कड़ी थीं और कृषक प्रायः नए कानूनों से परिचित नहीं थे।

लेकिन यानी लोग फसलों और व्यापार के नियन्त्रण में रुचि रखते थे। 19वीं शताब्दी के मध्य तक दक्षिण में अनाज और कपास का लगभग सारा आन्तरिक व्यापार साहूकारों के नियन्त्रण में था और उनका मुख्य उद्देश्य कृषकों को ऋण देकर इस नियन्त्रण को बनाए रखना था जिससे किसान अपनी फसल प्रचलित बाज़ार कीमतों से काफी कम कीमतों पर बेचने के लिए मज़बूर हो जाएँ। लेकिन न केवल वानियों ने बल्कि प्राचीन खेतिहर जाति कुनवी के समृद्ध सदस्यों ने भी साहूकारी शुरू कर दी। वास्तव में इन कृषक साहूकारों की ज़मीन की भूख व्यापारी जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक थी और शायद कुनबियों के पक्ष में भू-हस्तान्तरण प्राचीन साहूकारों को हस्तान्तरण की अपेक्षा अधिक महत्व रख सकता है। 1930 में, यह सूचित किया गया कि कोंकण में कृषकों का केवल 29% ऋण से मुक्त था और उत्तरी कोंकण में कृषकों की अधिकतर भूमि ऋणदाताओं, चाहे वे व्यावसायिक साहूकार हों या बड़े कृषक के हाथों में जा चुकी थी।

4.9.2 वर्गीकरण

19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं सदी के शुरू के दौरान समृद्ध कृषकों के बढ़ते हुए पृथकीकरण का उदय हुआ। तम्बाकू, मूँगफली और कपास जैसी नकद फसलों की खेती का विस्तार हुआ। कृषकों का एक छोटा वर्ग, जिसके पास बेचने के लिए अधिशेष था, ने काफी लाभ कमाए और उन लाभों का कृषि मुख्यतया ऋणों में पुनः निवेश किया। उन्होंने गाड़ियाँ भी खरीदीं और स्थानीय साहूकार को अपना अनाज बेचने की बजाय वे अच्छे बाजार की खोज कर सकते थे। इन अमीर किसानों ने, जो नए बाजार अवसरों पर कब्जा करने में असमर्थ रहे, प्रायः गाँव में ऋण के स्रोत के रूप में प्राचीन साहूकारों का स्थान ले लिया। व्यावसायिक कृषकों ने प्रायः छोटे कृषकों की भूमि को खरीद लिया, जो प्रायः ऋण में डूबे हुए थे। कृषि के रायल कमीशन के लिए एकत्रित आँकड़े दिखाते हैं कि 1924-25 में कुल जोते गए क्षेत्र का 86% बड़े स्वामियों के पास था और वे कुल भू-स्वामियों का केवल 12% थे। इनमें से प्रत्येक के पास 25 एकड़ से अधिक भूमि थी।

4.9.3 काश्तकारी

ब्रिटिश काल से पूर्व भी डेक्कन में दक्षिण कोंकन, उत्तरी कन्नड़ और इनाम भूमियों में जमींदार और काश्तकार होते थे। लेकिन विशेषतया 1880 के बाद से काश्तकारों की संख्या में काफी वृद्धि हुई प्रतीत होती है। बहुत से भूतपूर्व राजस्व अधिकारी और साहूकार अपनी भूमि किसानों को पट्टे पर दे रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्ध मालिक किसानों ने खेती करना बन्द कर दिया और 20वीं सदी के पहले भाग के दौरान अपनी भूमि किराये पर दे दी। ब्रिटिश गुजरात में गैर-खेतिहर मालिकों की भूमि 1916-17 और 1942-43 के बीच कृषि क्षेत्र का 24% से बढ़कर 30% हो गई जबकि उनकी संख्या 65,000 से बढ़कर 101,000 हो गई।

इनमें से अधिकतर काश्तकार कच्चे किसान थे। महाराष्ट्र में अधिकतर किसानों को अदायगी वस्तुओं के रूप में की जाती थी, सामान्य दर फसल का आधा थी, यद्यपि ऊँचे लगान प्रचालित थे तथा भू-राजस्व जमींदार देते थे। यह प्रणाली विशेषतया जमींदारों को तब लाभकर थी जब कीमतें बढ़ रही थीं।

4.10 ब्रिटिश शासन का प्रभाव : दक्षिणी भारत

19वीं सदी का पहला भाग भू-राजस्व एकत्र करने के तरीकों के साथ तजुर्बे का काल था। जैसे-जैसे अंग्रेजों ने दक्षिणी भारत पर अपने शासन का विस्तार किया उन्हें इस प्रश्न का सामना करना पड़ा कि भू-राजस्व के लिए किसके साथ बन्दोबस्त किया जाए? क्या कर प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत खेतिहरों से लिया जाय या बिचौलियों को इसका ठेका दिया जाय? सामान्यतया, नीति यह अपनाई गई कि राजनैतिक स्थिरता के लिए, पारम्परिक अधिकारों में कम से कम विघ्न टाला जाए। लेकिन, ब्रिटिश ने इस सिद्धांत का हमेशा पालन नहीं किया।

प्रारम्भ में, कुछ जिलों में रैयतवारी बन्दोबस्त अपनाया गया। लेकिन बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त के एकदम बाद, मद्रास महाप्रान्त के कुछ जिलों में ऐसी ही व्यवस्था की गई। भू-राजस्व स्थायी आधार पर निश्चित किया गया, ज़मींदार को पैतृक और हस्तान्तरणीय बनाया गया और बिना जोती गई जोतने योग्य भूमि और बंजर भूमि ज़मींदारों को कर मुक्त दे दी गई। ज़मींदार एक विचित्र समूह था। कुछ की उत्पत्ति राजाओं या सेना के सेनापति, और अन्य की कर अधिकारियों से हुई। इनमें अन्य नए व्यक्ति भी थे जिन्होंने रियासतें खरीदीं। ज़मींदारी भी उतनी ही भिन्न थी। कुछ काफी बड़ी थी, कभी-कभी लगभग पूरे जिले के बराबर; अन्य

में केवल कुछ गाँव ही शामिल थे। यद्यपि इस भाग में भू-राजस्व और भू-धारण प्रणाली आधारभूत रूप से रैयतवारी थी लेकिन 1830 तक, प्रेसीडेन्सी का एक-तिहाई ज़मींदारी के अन्तर्गत आ गया। इसके बाद, ज़मींदारी के अन्तर्गत क्षेत्र में गिरावट आयी। जहाँ भी ज़मींदार अपनी राजस्व माँग को पूरा करने में असमर्थ थे, सरकार ने उनकी रियासतें खरीद लीं और उन्हें रैयतवारी में बदल दिया। लेकिन फिर भी क्षेत्र का एक चौथाई 1940 तक ज़मींदारी के अन्तर्गत बना रहा।

कृषकों और ज़मींदारों के बीच अधिकारों का विभाजन अस्पष्ट रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण के जमींदारों के कृषक सामान्यतया उत्तर के ज़मींदारों से अधिक सुरक्षित थे। जब स्थायी बन्दोबस्त शुरू किया गया, यह माना गया था कि ज़मींदार कुल उत्पादन का आधा भाग एकत्रित करेंगे और उसका 2/3 भाग सरकार को नकद के रूप में अदा करेंगे और बाकी 1/3 यानी कुल उत्पादन का 1/6 भाग, उसकी राजस्व व्यवस्था के खर्चों और उसकी व्यक्तिगत आय को पूरा करेगा।

कुछ समय के लिए अधिकार क्षेत्रों में भू-राजस्व एकत्रण के ये लोग लगान एकत्र करने वाले होते थे या गाँव के अग्रणीय कृषक या कुछ स्थिति में सट्टाखोर होते थे। इन लोगों को राजस्व प्रणाली का बहुत कम अनुभव था। ये पट्टे पहले उसे 5 साल के लिए और बाद में 10 वर्षों के लिए दिए जाते थे। लेकिन 1822 तक, यह निर्णय किया गया कि सभी गैर ज़मींदारी क्षेत्रों में, जैसे ही गाँव के पट्टे समाप्त हों, रैयतवारी प्रणाली प्रारम्भ कर दी जानी चाहिए। इस प्रणाली के अन्तर्गत, सिद्धांत रूप में, भू-राजस्व सामान्यतया असिंचित भूमि पर कुल उत्पादन का आधा और सिंचित भूमि पर 3/5 भाग निश्चित किया गया। भू-राजस्व और सामाजिक उद्देश्यों और गाँव के अधिकारियों के लिए रखी गई राशि के अतिरिक्त राजस्व अधिकारियों द्वारा अलिखित लूट भी की गई। इस प्रकार, कृषक के पास बहुत ही कम रह गया।

4.10.1 कृषि ढाँचे में परिवर्तन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खेती के अंतर्गत क्षेत्र जनसंख्या की अपेक्षा तेजी से बढ़ा। गोदावरी और कृष्णा पर बड़े सिंचाई कार्य पूरे किए गए। कपास, मूँगफली और तिलहन की खेती में वृद्धि हुई। सड़क और रेलवे के निर्माण ने व्यापार को सुविधाजनक बनाया। 1881-82 और 1915-16 के बीच अनाज की कीमत दुगुनी या उससे अधिक हो गई। व्यापार की शर्तें कृषि के पक्ष में बदलीं। भू-राजस्व का भार गिरा। कृषक भूमि में निवेश करने में समर्थ था। कुछ क्षेत्रों, विशेषकर कृष्णा-गोदावरी डेल्टा में उन्नति बहुत तेज थी। इसके परिणामस्वरूप भूमि की कीमतों में काफी वृद्धि हुई। पूर्व गोदावरी में पेड्डापडू (Peddapadu) नामक एक गाँव में, एन.जी. रंगा ने 1926 में अनुमान लगाया कि 60 वर्षों में उपजाऊ भूमि की कीमत 40 रुपए से बढ़कर 1500 रुपए प्रति एकड़ हो गई। इसी काल के दौरान गाँव की वास्तविक आय 250 प्रतिशत बढ़ गई। अमीर किसानों ने अपनी क्रियाओं का दायरा बढ़ा दिया और चावल की मिलों, अभ्रक और अन्य उद्योगों में निवेश किया। उन्होंने अपने साहूकारी व्यवसाय का विस्तार किया और बैंकिंग में लग गए।

लेकिन 1930 की मन्दी ने अमीर और गरीब, दोनों पर प्रहार किया। कृषि कीमतें और रोज़गार तेजी से गिरे। निश्चित राजस्व की अदायगी कठिन हो गई। कृषकों के लिए अपने ऋणों की अदायगी करना कठिन था। अनाज की लूट और अमीर साहूकार ज़मींदारों पर आक्रमण कृषि संकट के लक्षण थे। कुल मिलाकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था 1930 में काफी गरीब हो गई। इसके अतिरिक्त, 20वीं शताब्दी के दौरान, जनसंख्या कृषि उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रही थी। 1916 तक कृषि उत्पादन में वृद्धि शायद जनसंख्या में वृद्धि के बराबर रही, लेकिन उसके बाद से दोनों अलग-अलग हो गई। प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का उत्पादन 1916 की अपेक्षा 1946 में 30 प्रतिशत कम था।

19वीं सदी के दौरान, ग्रामीण जनसंख्या की ऋणग्रस्तता में वृद्धि हुई। 20वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में और बड़ी मंदी के दौरान यह प्रवृत्ति जारी रही, ऋण का भार इतना अधिक हो गया कि सरकार को कार्यवाही करने के लिए मजबूर होना पड़ा। मंदी के दौरान सरकार द्वारा स्थापित ऋण समझौता बोर्डों ने कुछ स्थिति में ऋणों को कम कर दिया, लेकिन 1930 के वर्षों में ऋण की मात्रा फिर बढ़ गई। द्वितीय महायुद्ध के बाद, जब कृषि कीमतें तेजी से बढ़ीं तब शायद ऋण का वास्तविक भार कम हुआ।

4.10.2 काश्तकारी

प्रो. धर्मा कुमार के अनुसार, ब्रिटिश शासन के दौरान काश्तकारी के विकास के बारे में बहुत कम प्रमाण हैं। सबसे अधिक प्रचलित व्यवस्था फसल सहभाजन थी और प्रायः कृषक को सूखी भूमि पर फसल का आधा भाग मिलता था लेकिन सिंचित, उपजाऊ भूमि पर उसका भाग फसल के एक-तिहाई से एक-चौथाई तक हो

सकता था। कृषक का भाग आगत के विभाजन की व्यवस्था पर निर्भर था। सामान्यतया, ज़मींदार भू-राजस्व अदा करता था और कुओं तथा जल माध्यमों की मरम्मत करवाता था। कृषक खाद देता था। प्रति एकड़ खाद की मात्रा और खाद की संख्या प्रायः निश्चित कर दी जाती थी। प्रायः पट्टे जबानी थे लेकिन लम्बे काल के लिए जारी रहते थे। रैयतवारी क्षेत्रों में कृषकों की कोई कानूनी स्थिति नहीं थी और उनके कमज़ोर होने के कारण झगड़े बहुत कम होते थे। कृषकों के अपेक्षाकृत कम झगड़ों के कारण या इस मान्यता के कारण कि "कृषक स्वामित्व" वाली रैयतवारी प्रणाली के अंतर्गत भू-अधिकार की कोई समस्या नहीं हो सकती, मद्रास महाप्रान्त में रैयतवारी भूस्वामियों के कृषकों की सुरक्षा के लिए कोई उपाय नहीं किए गए।

4.11 कृषि मजदूर

ब्रिटिश-पूर्व भारत की पारम्परिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ध्यान छोटे कृषक पर केन्द्रित था और दूसरों की भूमि पर केवल कृषि-श्रमिकों की तरह काम करने वाले लोगों के एक भिन्न वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं था। कृषि श्रमिकों के एक ऐसे अलग वर्ग की अनुपस्थिति की पुष्टि इस बात से होती है कि किसी भी लेखे, जिनमें भारतीय ग्रामीण समुदायों के सदस्यों के पारम्परिक व्यवसायों की एक विस्तृत सूची है, में जनसंख्या के एक बड़े भाग के एक मात्र व्यवसाय के तौर पर कृषि श्रमिक का कोई संकेत नहीं है। इसके विपरीत 1931 की जनगणना दिखाती है कि पूरी कृषि जनसंख्या का लगभग 38% भूमिहीन कृषि श्रमिकों का था। इससे यह पता चलता है कि परम्परागत भारतीय कृषि समाज के ढाँचे में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक बड़ा बदलाव आया।

कृषि श्रमिकों की संख्या और अनुपात में यह वृद्धि पूरे देश में समान रूप से नहीं फैली हुई थी। बम्बई, मद्रास और केन्द्रीय प्रान्तों में 1931 में उनका अनुपात कुल कृषि जनसंख्या का आधे से अधिक था। बम्बई में यह 58%, मद्रास में 53% तथा केन्द्रीय प्रान्तों में 52% था। एस.जे. पटेल ने भारत के इस दक्षिणी त्रिकोण को भूमिहीन श्रमिकों की भूमि कहा है। पूर्वी भारत बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में कुल कृषि में लगी जनसंख्या में कृषि श्रमिकों का अनुपात 22 से 35% था। अलग-अलग, उनका अनुपात बिहार और उड़ीसा में 35%, बंगाल में 33% और आसाम (बागान श्रमिकों को शामिल करके) में 22% था। तीसरे प्रदेश में वे क्षेत्र आते हैं जहाँ कुल कृषि जनसंख्या में कृषि श्रमिकों का अनुपात सबसे कम था. अर्थात् 1931 में 1/5 से भी कम। संयुक्त प्रान्त (22%), पंजाब (14%), उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त (18%), इस क्षेत्र में थे।

कृषि श्रमिकों के अनुपात में भारी वृद्धि 19वीं और 20वीं शताब्दी के दौरान भारत में होने वाले बड़े सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का परिणाम थी। 19वीं सदी के दौरान ग्रामीण समुदायों के संगठन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। ब्रिटिश शासन से पूर्व, भारत का कृषि समाज खेती और हथकरघा की समन्वित इकाइयों पर स्थापित था। कृषक और दस्तकारों के समूह एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए काफी हद तक आत्म-निर्भर ग्रामीण समुदायों में इकट्ठे रहते थे। कृषकों के उत्पादन और दस्तकारों की सेवाओं के विनिमय को नियंत्रित करती हुई पारम्परिक व्यवस्था पर आधारित कृषक और दस्तकार सदियों तक इकट्ठे रहे। प्रत्येक कृषक अपने परिवार की सहायता से अपने खेत पर खेती करता था। इस प्रकार के समाज में, एक स्वतंत्र और भिन्न कृषि श्रमिकों के वर्ग के लिए स्थान नहीं था, जिनकी जीविका का मुख्य स्रोत दूसरों की भूमि पर काम करना हो जिसके लिए उन्हें नकद या वस्तु के रूप में मज़दूरी मिले। 19वीं शताब्दी के दौरान, ग्रामीण समुदायों को बड़े आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा जिसके अन्त में उनका विच्छेदीकरण हो गया। उनके विच्छेदीकरण का एक कारण घरेलू उद्योगों का पतन था। इंग्लैंड में, औद्योगिक क्रांति के साथ भारत को ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं का निर्यात बड़ी तेजी से बढ़ा। 19वीं सदी के पिछले भाग के दौरान रेलवे की शृंखला के निर्माण ने इसे और भी बढ़ावा दिया। भारत में हथकरघा उद्योग का पतन हुआ तथा इस हानि की भरपाई आधुनिक औद्योगीकरण द्वारा नहीं हो पायी। बहुत से दस्तकार जिन्होंने अपना व्यवसाय छोड़ा कृषि श्रमिक बन गए।

जैसा कि हमने पहले देखा कि नई भू-राजस्व प्रणाली के शुरू होने के साथ भूमि में निजी स्वामित्व मजबूत हो गया और भूमि का स्वतन्त्र हस्तान्तरण भी दे दिया गया। इसके अलावा, नई भू-राजस्व प्रणाली के अन्तर्गत सरकारी राजस्व, एक निश्चित राशि थी और इसे नकद में अदा किया जाता था। फसल की उत्पादकता के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार बुरी फसल या मन्दी के काल में, भू-राजस्व अदा करने के लिए मज़बूर होना पड़ा। एक बार साहूकारों के जाल में फँसकर वे ऋण से मुक्त नहीं हो पाये। और परिणाम निश्चय ही भूमि को बन्धक रखना या उसकी बिक्री करना था। व्यवसायीकरण के अतिरिक्त, इससे कुछ गरीब कृषकों का दरिद्रीकरण हुआ और कुछ शायद सम्पन्न अमीर कृषकों के हाथ में भूमि का केंद्रीकरण

T, जिन्होंने बाद में भूमिहीनों को अपने खेतों पर लगा लिया। इस प्रकार घरेलू उद्योगों के पतन और
ाकों के अलगीकरण में भारत में कृषि समाज के सामाजिक आधार में परिवर्तन आया।

ओर तो, नए वर्ग— साहूकार और अमीर कृषक का जन्म हुआ और दूसरी ओर दरिद्र किसान और
ये श्रमिकों की एक सेना तैयार हो गयी।

12 भू-धारण ढाँचा और कृषि विकास

टेश काल के दौरान भारत में कृषि ढाँचे में इन परिवर्तनों का शुद्ध परिणाम यह हुआ कि कृषि क्षेत्र में
रता आ गयी। 1891 से 1947 के दौरान पूरे ब्रिटिश भारत में, उत्पादन केवल 0.37% प्रति वर्ष की दर
बढ़ा (तालिका 4.1)। इसके अतिरिक्त खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि दर 0.11% थी जो 0.67% प्रति
की जनसंख्या की वृद्धि दर से काफी कम थी। इसी दौरान कृषि उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ा लगता है, किन्तु
21 के बाद कृषि वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से कम रही। खाद्यान्नों का उत्पादन घटा (1921 के
) जिससे प्रति व्यक्ति उत्पादन और भी गिरा। व्यावसायिक फसल का उत्पादन इस समय के दौरान
कर लगभग दुगुना हो गया।

तालिका 4.1

ब्रिटिश भारत में प्रदेशवार कृषि उत्पादन और जनसंख्या वृद्धि दरें : 1891-1947

ा	संवृद्धि दरें			
	खाद्यान्न	जनसंख्या	गैर-खाद्यान्न	सभी फसलें
श भारत	0.11	0.67	1.31	0.37
बंगाल	0.73	0.65	0.23	0.45
स्त प्रान्त	0.35	0.40	0.92	0.42
स	1.42	0.80	2.37	0.98
ब	1.10	0.93	2.40	1.57
ई और सिन्ध	0.27	0.71	1.44	0.66
य प्रान्त	0.29	0.58	0.07	0.48
प्रदेश (बंगाल को छोड़कर)	0.47	0.64	—	0.80

: George Blyn—Trends in Agriculture in India 1891-1947, 1966

हम प्रादेशिक प्रवृत्तियों पर नजर डालें, तो वृहद् बंगाल की भारी गिरावट की दर अन्य प्रदेशों की अपेक्षा
धेक है। यद्यपि इस दिशा में गैर-खाद्यान्न अनाजों के उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई है लेकिन यह खाद्यान्नों के
ादन में भारी गिरावट से निष्प्रभावित हो जाती है। शेष सभी प्रदेशों की दर ब्रिटिश भारत की औसत से
धेक थी। केवल पंजाब की खाद्यान्न उत्पादन की औसत वृद्धि दर उसका जनसंख्या वृद्धि दर से अधिक
वास्तव में, इसकी कुल संवृद्धि दर भी अन्य राज्यों से काफी अधिक है। संयुक्त प्रान्त में खाद्यान्न की
सत संवृद्धि दर लगभग जनसंख्या वृद्धि दर के बराबर है, लेकिन शेष तीन प्रदेशों में खाद्यान्नों की संवृद्धि
जनसंख्या वृद्धि से काफी कम थी।

ादन केवल एकड़ के विस्तार या प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ाने से ही बढ़ाया जा सकता था। प्रति एकड़
ज बढ़ाने की क्षमता काफी थी (इसके प्रारम्भिक निम्न स्तर को देखते हुए), लेकिन ऐसा प्रतीत होता है
संवृद्धि के लिए संस्थानात्मक तथा भौतिक आवश्यकताएँ अनुकूल नहीं थी। भू-धारण ढाँचा इस प्रकार का
कि अन्तिम मालिक और वास्तविक कृषकों के बीच बिचौलियों की शृंखला थी। अधिकतर स्थिति में भूमि
मालिक गैर मौजूदा भूमिपति थे जिनका भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं था। सरकारी करों के भार से, भारी
ाग्रस्तता अपेक्षाकृत ऊँचे लगान और मध्यस्थों द्वारा शोषित छोटे कृषकों के पास भूमि में निवेश करने के
ए कोई अधिशेष नहीं था। ब्याज की ऊँची दर और बदलती कीमतों और उपज के कारण उधार लेकर
ेश करना सम्भव नहीं था। भूस्वामियों को लगान के रूप में मिलने वाले आर्थिक अधिशेष का काफी बड़ा
ा व्यर्थ खर्च किया जा रहा था। अपने जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए, उनमें से बहुत काफी
ाग्रस्त हो गए। बड़े मालिकों में अधिक कंजूस अपनी मुद्रा कृषि के सुधार की बजाय भूमि की खरीद में
ेश कर रहे थे। साहूकारों के लिए उधार देना भूमि में उत्पादक निवेश करने की बजाय अधिक लाभदायक
इसके परिणामस्वरूप, कृषि में शुद्ध निवेश लगभग शून्य था और विभिन्न प्रदेशों में अधिकतर फसलों
उपज दर या तो स्थिर थी या गिर रही थी। नकदी फसलों का बढ़ता उत्पादन मुख्यतया नकदी फसलों के

क्षेत्र में वृद्धि तथा खाद्यान्न के अन्तर्गत क्षेत्र में कमी के कारण था (तालिका 2.5, खण्ड 1 इकाई 2 देखिए)।

यद्यपि पंजाब में भी काश्तकारी के अन्तर्गत भू-क्षेत्र काफी अधिक था, लेकिन यहाँ सामान्यतया कृषक (स्वयं अधिकतर छोटे मालिक थे) भू-स्वामियों से पट्टे पर भूमि ले रहे थे जो सामान्यतया गाँव में रहते थे और उनकी खेती की देखभाल करते थे। पंजाब में काश्तकारी, मूल रूप से उन मालिकों द्वारा श्रम को प्राप्त करने का एक तरीका था जिनकी जोत बड़ी थीं (उतनी बड़ी नहीं जितनी ज़मींदारी क्षेत्रों में) जिसे सिर्फ पारिवारिक श्रम से जोत सकना संभव नहीं था। इसके अतिरिक्त, पंजाब में कृषि संवृद्धि का एक महत्वपूर्ण स्रोत क्षेत्र का विस्तार था जो इस समय के दौरान 2.3 करोड़ एकड़ से बढ़कर 3.1 करोड़ हो गया। यद्यपि पूरे भारत में ब्रिटिश ने सिंचाई कार्यों की उपेक्षा की, लेकिन पंजाब में इस समय के दौरान सिंचाई में काफी निवेश हुआ। 1901-1902 से 1939-1940 के दौरान पंजाब में सरकारी नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र 0.45 करोड़ एकड़ से बढ़कर 1.25 करोड़ एकड़ हो गया। वास्तव में पंजाब के उन क्षेत्रों में सिंचाई की गई जो कम वर्षा के कारण खाली पड़े थे और सिंचाई के कारण खेती के अन्तर्गत क्षेत्र बढ़ गया।

सामान्यतया, रैयतवारी और महलवारी क्षेत्रों में उत्पादन की वृद्धि अधिक थी। बंगाल ऐसा क्षेत्र था जहाँ भू-धारण ढाँचा सबसे अधिक प्रतिगामी था। पराश्रयी भूस्वामी की शृंखला लगान की आय पर जीवन निर्वाह कर रही थी। परम्परागत सिंचाई प्रणाली का पतन हो रहा था। शायद वहाँ कृषि के पतन के भी यही कारण थे। उसके अतिरिक्त बंगाल ऐसा प्रदेश था जहाँ उपनिवेशी शोषण सबसे अधिक और सबसे लम्बे समय के लिए था। इसकी तुलना में पंजाब बहुत बाद ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत आया जहाँ भू-राजस्व का भार अपेक्षाकृत कम था। दस्तकारी का पतन भी बंगाल की अपेक्षा पंजाब में कम स्तर पर था।

बोध प्रश्न 4

1) ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि श्रमिकों में भारी वृद्धि के पीछे क्या कारण हैं?

.....

.....

.....

2) वर्तमान शताब्दी के पहले भाग में अधिक क्षमता होने के बावजूद कृषि उत्पादन में कम वृद्धि के क्या कारण हैं?

.....

.....

.....

3) अन्य भागों की अपेक्षा पंजाब में कृषि की उन्नति अपेक्षाकृत अधिक क्यों हुई?

.....

.....

.....

4.13 सारांश

इस इकाई में हमने ब्रिटिश पूर्व और ब्रिटिश काल के दौरान प्रचलित संस्थागत ढाँचा और कृषि की उन्नति मे अवरोध पैदा करने में इसकी भूमिका का विवेचन किया। भू-धारण प्रणाली पूरे भारत और पूरे समय समान नहीं रही। स्वामित्व अधिकार और हस्तान्तरण का अधिकार विवादपूर्ण विषय रहे। लेकिन अधिकतर विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि कृषकों के पास भूमि का स्थायी और पैतृक अधिकार था और राजा उन्हें बेदखल नहीं कर सकता था। कृषक को अपनी उपज का एक भाग कर के रूप में देना पड़ता था। कृषक से यह वसूली, यद्यपि हमेशा ही अधिक थी, बिचौलियों की विभिन्न शृंखलाओं के पैदा होने से बहुत अधिक हो गई

ब्रिटिश शासन के दौरान पुरानी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में, मुख्यतया आधुनिक उद्योगों द्वारा क्षतिपूर्ति हुए बिना दस्तकारी और घरेलू उद्योगों के पतन और कृषि श्रमिकों की उत्पत्ति द्वारा, सामाजिक और आर्थिक बदलाव आया, जिससे जीवन स्तर में गिरावट आई। वास्तव में, नई भू-धारण प्रणाली के साथ हस्तान्तरण का

अधिकार दे दिया गया और उत्पादन के स्तर का ध्यान किए बिना भू-राजस्व की मात्रा निश्चित कर दी गई। लेकिन खराब फसल ने कृषकों को साहूकारों से उधार लेने को मजबूर कर दिया।

साहूकारों के जाल में फँसने और ऋण से मुक्त होने के अवसर न होने के कारण, कृषकों के पास जमीन गिरवी रखने या बेचने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। कृषि के व्यवसायीकरण के अतिरिक्त इसका परिणाम हुआ गरीब कृषकों का दरिद्रीकरण और भूमि का थोड़े से अमीर कृषकों के हाथ में केन्द्रीकरण।

4.14 शब्दावली

हस्तान्तरण : इस संदर्भ में इसका अर्थ है एक व्यक्ति या संगठन से दूसरे को सम्पत्ति के अधिकार का हस्तान्तरण (बिक्री या उत्तराधिकार द्वारा)।

भूमि उद्धार : उत्पादक प्रयोग के लिए प्राकृतिक साधनों जैसे भूमि का उद्धार। उदाहरण के लिए सिंचाई द्वारा रेगिस्तानी भूमि का उद्धार। सही खेती और दुबारा पौधे उगाकर, जंगल लगाकर, नष्ट हुए खेतों और पहाड़ी क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करना।

लगान : मोटे तौर पर, लगान किसी साधन के प्रयोग के लिए अदायगी है चाहे वह भूमि, श्रम, साज़-सामान, विचार या मुद्रा ही हो। प्रतीक रूप में श्रम का किराया 'मजदूरी' है; भूमि और साज-सामान के प्रयोग के लिए अदायगी 'लगान' है; किसी विचार के प्रयोग के लिए अदायगी "रायल्टी" है और मुद्रा के प्रयोग के लिए अदायगी को "ब्याज" कहा जाता है। लगान अदा या प्राप्त किए जाने वाला किराये का वह मात्रा है जो किसी सम्पदा के प्रयोग के लिए अदा किए जाने वाले किराए का संकेत करता है।

4.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भट्टाचार्य सब्यसाची (1990) : *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,* राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, अध्याय 3

Dharma Kumar and Meghnad Desai (Eds.), 1982, *The Cambridge Economic History of India* Vol. II, Cambridge University Press. Chs. I and II.

Dutt, R.C., 1976, *The Economic History of India*, Vols. I & II, Publication Division, Government of India, New Delhi.

Dutt, R.P., 1979, *India Today*, Manisha, Chs. IV and VIII.

Ghosh, *Emergence of Capitalism in Indian Agriculture*, P.P.H., New Delhi.

Habib, Irfan, 1963, *The Agrarian System of Mughal India 1556-1707*, Asia Publishing House, Bombay, Chs. IV to IX.

Moreland, W.H., 1968, *The Agrarian System of Moslem India*, Oriental Books Reprint Corporation, Delhi.

Patel, Surendra J., 1952, *Agricultural Labourers in Modern India and Pakistan*, Current Book House, Bombay.

Rayachaudhuri, Tapan and Irfan Habib (Eds.), 1982, *The Cambridge Economic History of India* Vol. 1, Cambridge University Press, Ch. IX.

4.16 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

बोध प्रश्न 1

1) 4.3.6 देखिए और उत्तर दीजिए
2) 4.3.5 देखिए और मुख्य विशेषताएँ बताइए
3) (1) सही (2) गलत (3) सही (4) सही

बोध प्रश्न 2

1) 4.5.1 देखिए और उत्तर दीजिए
2) 4.4 " " "
3) (1) सही (2) गलत (3) गलत

बोध प्रश्न 3

1) तत्कालिक प्रभाव भू-राजस्व में वृद्धि था। कारणों के लिए देखिए 4.7, दूसरा पैरा
2) 4.7.1 देखिए, पहला पैरा
3) 4.7.1 देखिए और उत्तर दीजिए
4) 4.7.4 और 4.7.5 देखिए

बोध प्रश्न 4

1) 4.11.1 देखिए। ग्रामीण समुदायों के विच्छेदीकरण के कारण देखिए।
2) 4.12 देखिए—कारण है सिंचाई में अधिक निवेश, कम प्रतिगामी भू-धारण प्रणाली और बाद में ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल होना।

इकाई 5 स्वतंत्रता के समय और बाद में कृषिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 स्वतंत्रता पूर्व कृषिक ढाँचा
5.3 भू-जोतों का वितरण
  5.3.1 मालिकाना जोतों का वितरण
  5.3.2 प्रचालन जोतों का वितरण
  5.3.3 बिचौलियों की शृंखला
  5.3.4 पट्टेदारी क्षेत्रों में गिरावट
  5.3.5 स्थिर वैषम्य
  5.3.6 जोतों का विखंडन
5.4 स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार
  5.4.1 भूमि सुधारों का अर्थ तथा क्षेत्र
  5.4.2 बिचौलियों का उन्मूलन : भूमि सुधारों में पहला कदम
5.5 काश्तकारी सुधार : असफलता की कहानी
  5.5.1 फसल-बँटाई प्रथा का स्वरूप
  5.5.2 फसल-बँटाई का विस्तार
  5.5.3 काश्तकारी कानूनों का प्रभाव
  5.5.4 काश्तकारी पर प्रौद्योगिकी का न्यूनाधिक प्रभाव
5.6 जोतों की उच्चतम सीमा
  5.6.1 असफलता के कारण
  5.6.2 राजनीतिक इच्छा के बिना हदबंदी कानून
  5.6.3 नया उच्चतम सीमा या हदबंदी कानून तथा वास्तविकता का अहसास
  5.6.4 भूमि अधिकारों के रिकार्ड तैयार करना
5.7 भूमि-सुधार कार्यक्रम के असफल होने के कारण
5.8 सारांश
5.9 शब्दावली
5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप—

- स्वतंत्रता के समय जोतों के वितरण का विवेचन कर सकेंगे,
- बिचौलियों की विभिन्न परतों के प्रभाव तथा कारणों की पहचान कर सकेंगे,
- भूमि सुधारों की ओर उठाए गए कदमों का उल्लेख कर सकेंगे,
- भूमि सुधार संबंधी उपायों के असफल होने के कारणों की जाँच कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

ग्रामीण विकास का प्रतिरूप तथा उसकी गति काफी हद तक इस बात पर निर्भर होती है कि कृषिक समस्या के सभी पहलुओं विशेष रूप से भू-संपत्ति के पीछे स्थित सामाजिक तथा आर्थिक संरचना को हम किस सीमा तक हल कर पाये हैं। भारत में विद्यमान कृषिक संरचना भूमि संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। जैसा कि हम जानते हैं कि भूमि के क्षेत्र में संपत्ति की संरचना हमें औपनिवेशिक धरोहर के रूप में मिली थी जो हमारी बहुसंख्यक ग्रामीण जनसंख्या के शोषण पर आधारित थी। अधिकांश लोग तो भूमि प्राप्त ही नहीं कर सकते थे। निश्चय ही यह स्थिति कृषि के विकास में बाधक रही थी। उत्पादकों के सभी वर्गों को उन्नति के अवसर प्रदान करने हेतु इस तरह की संपत्ति संरचना में परिवर्तन करना बहुत जरूरी था। स्वतंत्रता के समय प्रचलित कृषिक संरचना में परिवर्तन लाने के लिए बड़ी-बड़ी जोतों को तोड़कर उसे भूमिहीन लोगों में वितरित करना

और भूमि को ज़मींदारों के हाथ से निकाल कर उसे खेतिहरों में बाँटने के लिए पट्टेदारी व्यवस्था में सुधार करना जरूरी था।

5.2 स्वतंत्रता-पूर्व कृषिक ढाँचा

स्वतंत्र भारत को जो कृषिक संरचना उत्तराधिकार के रूप मिली, उसकी मुख्य विशेषताएँ ये थीं :

1) भूमि पर अनुपस्थित स्वामित्व,
2) ऊँची लगान दरें तथा काश्त की असुरक्षा के जरिए काश्तकारों का शोषण,
3) भूमि का असमान वितरण,
4) छोटी और विखंडित जोतें, तथा
5) कृषि के लिए उपयुक्त संस्थागत वित्त व्यवस्था का अभाव।

इस प्रकार की कृषिक संरचना के साथ-साथ यह स्थिति भी थी कि अधिकांश खेतिहरों के पास स्थिर तथा कार्यशील पूँजी का सर्वथा अभाव था और परिणामतः वे आधुनिक प्रौद्योगिकी का पूरी तरह इस्तेमाल नहीं कर पाते थे। इन सब का असर यह होता था कि खेती की उपज बहुत कम होती थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि भूमि संबंधी कोई भी नीति तभी उपयुक्त होगी जब उसके द्वारा संपत्ति तथा आय की असमानता कम की जा सके, काश्तकार को सुरक्षा प्रदान की जा सके और ग्रामीण जनसंख्या के सभी वर्गों को समान अवसर प्रदान किए जा सकें।

स्वतंत्रता के बाद से भारत की कृषि-संरचना में आए परिवर्तन पर विचार करते समय यह उपयोगी होगा कि इसकी दो प्रावस्थाओं में भेद किया जाए। प्रारंभिक प्रावस्था में, नीति निर्धारकों का मुख्य रूप से संस्थागत सुधारों पर ध्यान केंद्रित था जिनमें भूमि से संबंधित सुधार महत्वपूर्ण स्थान रखते थे।

5.3 भू-जोतों का वितरण

भूमि सुधारों का पहला चरण चालीस के दशक के अंत में और पचास के दशक के प्रारंभ में शुरू हुआ। मालिकाना जोतों के आकार-वर्गों के अनुसार वितरण की सबसे पहली व्यापक तस्वीर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (आठवाँ चक्र) ने प्रस्तुत की जो वर्ष 1953-54 से संबंधित थी।

जोतों के वितरण संबंधी चर्चा में मालिकाना जोतें और खेती अर्थात् प्रचालन जोतें (फार्म) दोनों ही शामिल कर ली गई हैं। यहाँ मालिकाना जोतों का आशय उस क्षेत्र से है जो एक परिवार के स्वामित्व में होता है और खेती या प्रचालन जोत का आशय उस क्षेत्र से होता है जिस पर एक परिवार खेती करता है। अर्थात् प्रचालन जोत = मालिकाना जोत – पट्टे पर दी गई भूमि + पट्टे पर ली गई भूमि)। मालिकाना जोतें और खेती की गई। जोतें एक भू-खंड वाली भी हो सकती हैं या विभिन्न स्थानों पर बिखरी भी हो सकता है। कई स्थानों पर छितरे भू-खंड वाली जोतों को विखंडित जोत कहा जाता है। इस प्रक्रिया को विखंडन कहा जाता है। यहाँ पर हमने भारत में कृषि जोतों में किस सीमा तक विखंडन हुआ है, उसकी भी एक तस्वीर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

यहाँ हमारा प्रयोजन 1947-48 से लेकर 1961-62 तक की अवधि के बीच भारत में जोतों के वितरण पर ध्यान केंद्रित करना है। यह वितरण न केवल भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था की संरचना का एक महत्वपूर्ण पहलू ही है अपितु इससे अन्य आगतों की संरचना को भी उस सीमा तक स्पष्ट किया जा सकता है, जहाँ तक कि अन्य आगतों का प्रयोग भी जोतों के वितरण द्वारा प्रभावित होता है।

5.3.1 मालिकाना जोतों का वितरण

मालिकाना जोतों के वितरण का अध्ययन करने से हमें पता चलता है कि 1954-55 में अनुमानतः 31 करोड़ एकड़ भूमि पर ग्रामीण परिवारों का स्वामित्व था। यह कुल भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 38.4 प्रतिशत और स्थलीय रूप से उपयोगी भूमि का 61 प्रतिशत बैठता था। निस्संदेह, ग्रामीण क्षेत्र की कुछ भूमि पर शहरी परिवारों का भी स्वामित्व था। इस 31 करोड़ एकड़ क्षेत्र पर 6.6 करोड़ परिवारों का स्वामित्व था।

इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में मालिकाना जोतों का औसत आकार केवल 4.72 करोड़ एकड़ ही था। लेकिन जब हम जोतों के आकार-वितरण पर निगाह डालते हैं तो स्थिति काफी खराब दिखाई देती है।

ग्रामीण क्षेत्रों के 22 प्रतिशत परिवारों के पास कोई भूमि नहीं थी। ये परिवार अधिकतर खेतिहर मज़दूरों के होते थे और कुछ छोटे-छोटे काश्तकारों के होते थे। इसके आगे के 24.9 प्रतिशत परिवारों के पास कुल मिलाकर केवल 1.4 प्रतिशत भूमि ही थी और इनमें से प्रत्येक के पास एक एकड़ से भी कम ज़मीन थी। इस प्रकार 47 प्रतिशत परिवारों के पास या तो जमीन नहीं थी या फिर एक एकड़ से कम थी। दूसरी ओर, एक प्रतिशत से कम परिवारों के पास लगभग 16 प्रतिशत मालिकाना क्षेत्र था और इनमें से प्रत्येक के पास 50 एकड़ या इससे अधिक भूमि थी। यदि इसमें इनसे तत्काल नीचे वाले वर्ग को जोड़ दिया जाए तो लगभग 3.4 प्रतिशत परिवारों के पास कुल क्षेत्र के 34 प्रतिशत हिस्से पर मालिकाना हक प्राप्त थे। निम्नतम आकार समूह (0.01 से 0.99 एकड़) की औसत जोत केवल 0.26 एकड़ थी, जबकि 50 एकड़ से ज्यादा वाले आकार-समूह का औसत लगभग 87.4 एकड़ था। जोतों के स्वामित्व में असमानता का इससे स्पष्ट संकेत और क्या हो सकता है?

मालिकाना जोतों के वितरण में यह असमानता दक्षिणी भारत में सबसे ज्यादा दिखाई देती है जहाँ असमानता सूचक 0.74 था और सबसे कम उत्तर भारत तथा पश्चिमी भारत में थी, जहाँ यह सूचक 0.64 था। जोत का औसत आकार दक्षिणी भारत में सबसे कम (लगभग 3.42 एकड़) और मध्य भारत में सबसे ज्यादा (लगभग 8.20 एकड़) था।

अब प्रश्न यह उठता है कि मालिकाना जोतों के वितरण में इतनी अधिक असमानता का कृषि अर्थव्यवस्था पर कितना असर पड़ता है, हालाँकि यहाँ यह कहा जा सकता है कि खेती की दक्षता को, जो उत्पादन के अन्य साधनों के भूमि के साथ समुचित संयोजन पर निर्भर होती है, स्वामित्व के प्रतिरूप से मुक्त रखा जाना चाहिए। सिद्धांत रूप में तो यह बात कही जा सकती है।

5.3.2 प्रचालन जोतों का वितरण

कृषि कार्य की दक्षता से संबंध रखने वाली एक अधिक उपयुक्त संकल्पना "प्रचालन" या "कृषि" जोतों की संकल्पना होती है अब हम इस पर विचार करेंगे। सिद्धांत रूप में, भूमि स्वामित्व की इस भारी असमानता के बावजूद भूमि को पट्टे पर लेकर और देकर, प्रचालन जोतों के ऐसे प्रतिरूप को पाना संभव है जो प्रौद्योगिकी की आवश्यकताओं के अनुरूप हो या प्रतिफल के नियमों या पैमाने के प्रतिफलों की आवश्यकताओं के अनुरूप हों। वास्तव में तो, यदि बड़े मालिकों द्वारा बहुत कम भूमि पट्टे पर दी जाए और छोटे मालिकों द्वारा बहुत कम भूमि पट्टे पर ली जाए तो प्रचालन जोतों का वही प्रतिरूप लगभग वैसा ही लगेगा जैसा कि मालिकाना जोतों का था। जब प्रचालन जोतों का वही प्रतिरूप होगा तब खेती के लिए बहुत सारे खेत बहुत छोटे हो जाएँगे तथा कुछ फार्म बहुत ही बड़े हो जाएँगे। इन दोनों ही स्थितियों में, खेती दक्षता के साथ नहीं हो पाएगी।

तालिका 5.1

प्रचालन कृषि-जोतों का आकार वितरण, 1953-54 तथा 1960-61

आकार (एकड़ों में)	1953-54 कुल जोतों का प्रतिशत	प्रचालन-क्षेत्र का प्रतिशत	1960-61 कुल जोतों का प्रतिशत	प्रचालन-क्षेत्र का प्रतिशत
बहुत छोटा (0.99 तक)	19.7	1.1	17.1	1.3
छोटा (1.00-4.99)	40.3	14.4	44.6	17.9
मध्यम (5.00-14.99)	27.5	31.2	27.8	34.9
मध्यम (बड़ा) (15.00-24.99)	6.7	16.8	6.0	17.0
बड़ा (25.00-49.99)	4.3	19.6	3.5	17.4
बहुत बड़ा (50.00 और ऊपर)	1.5	17.0	1.0	11.6
योग	100.00	100.00	100.00	100.00

तालिका 5.1 यह दर्शाती है कि भूमि सुधार कानून बनने के बाद भूमि संकेद्रण में यद्यपि थोड़ी सी कमी आई किन्तु भूमि वितरण फिर भी काफी विषम बना रहा है। 1953-54 में नीचे की 60 प्रतिशत जोतों में केवल

15.5 प्रतिशत क्षेत्र ही प्रचालनगत था और 1960-61 में नीचे की 62 प्रतिशत जोता ने केवल 19 प्रतिशत क्षेत्र को ही प्रचालित किया। दूसरी ओर, 1953-54 में सबसे ऊँची 5.8 प्रतिशत जोतों ने 36.6 प्रतिशत क्षेत्र को प्रचालित किया और 1960-61 में सबसे ऊँची 4.5 प्रतिशत जोतों ने 29 प्रतिशत क्षेत्र को प्रचालित किया।

अनुपस्थित ज़मींदारी प्रथा केवल शहरी अमीर लोगों तक ही सीमित नहीं थी। उन समाजों में जहाँ नाना प्रकार की जोखिम की संभावनाएँ रहती हैं और जिनसे बचने के बहुत कम साधन (जैसे बीमा) होते हैं, वहाँ भूमि पर स्वामित्व हासिल करना एक आकर्षक सौदा होता है, चाहे उस निवेश से प्रतिफल कितना ही कम हो। पचास के दशक के प्रारंभ में काश्त की आधी भूमि पर अनिवासी मालिकों का स्वामित्व था। संख्या की दृष्टि से लगान उपजीवी थोड़े से थे, लेकिन क्षेत्र की दृष्टि से बड़े मालिक तथा छोटे काश्तकार अधिकतर क्षेत्र पर व्याप्त थे।

पचास के दशक के प्रारंभ में, भारतीय कृषि क्षेत्र में गरीब किसानों तथा भूमिहीन मजदूरों का बाहुल्य था और कृषि क्षेत्रक में, विशेष रूप से उत्तर भारत, पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत में (तालिका 5.3) इन दोनों का बहुमत था। पूर्वी तथा उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में इनका अनुपात कहीं ज्यादा था। समान जनांकिकीय दबावों के साथ इन तीनों क्षेत्रों में से दक्षिणी भारत के मुख्यतया गैर-ज़मींदारी क्षेत्रों में उत्तरी तथा पूर्वी भारत की अपेक्षा वाणिज्यीकरण की ऊँची दर, ऊँचा असमानता सूचक तथा भूमिहीन खेतिहर मज़दूर का नीचा जीवन स्तर, देखने को मिलता है। इसी तरह, मध्य भारत में वाणिज्यीकरण की ऊँची दर के साथ-साथ भूमि-क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा बड़े-बड़े ज़मींदारों के अधीन था, वहाँ भूमिहीन मज़दूरों का प्रतिशत भी ज्यादा था और पश्चिमी भारत तथा उत्तर-पश्चिम भारत की तुलना में उपभोग का स्तर भी काफी नीचा था जबकि इन क्षेत्रों मे जनांकिकीय दबाव एक ही प्रकार के थे। वाणिज्यिक फसलों के अधीन क्षेत्र के प्रतिशत तथा खेतिहर मज़दूरों के जीवन स्तर के बीच एक घनिष्ट प्रतिलोम सहसंबंध दिखाई देता है। इस प्रकार, उत्पादन के औपनिवेशिक ढंग के अधीन हुए वाणिज्यीकरण ने आम जनता के जीवन स्तर को सुधारने में कोई योगदान नहीं किया।

काफी बड़े क्षेत्र पर थोड़े से अमीर किसानों, ज़मींदारों-व-साहूकारों का स्वामित्व था। उत्पादन के तरीके पुराने थे, अधिकतर ज़मीन काश्तकार जोतते थे और इसमें से एक तिहाई से अधिक बँटाईदारी के अंतर्गत थे। इसमें से अधिकतर अनौपचारिक प्रबंध के अधीन काम करते थे। यह तो साफ है कि यह ढाँचा असमान था और इसमें कृषि विकास की संभावना कम ही रहती थी। इसमें गरीब किसान और भूमिहीन मजदूर ही नुकसान में रहते थे। बजाय खेती में उद्यम करने के लगान की आमदनी तथा निर्धन किसानों को उपभाग हेतु कर्ज़ देना ज्यादा फायदेमंद था। समानता और विकास के लिए जरूरी था कि कृषिक संरचना में परिवर्तन लाया जाए।

5.3.3 बिचौलियों की शृंखला

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत राजस्व जमींदारी प्रथा के बारे में हम पहले ही पढ़ चुके हैं। भू-स्वामी तथा प्रत्यक्ष उत्पादक के बीच अक्सर कई तरह के बिचौलिए मौजूद होते थे। इनके पास कृषि उपज पर विभिन्न प्रकार के अधिकार होते थे। किसानों को भी उनकी जोत के आकार, पट्टेदारी की सुरक्षा, ज़मींदारों के लगान भुगतान के ढंग और भू-स्वामी के मुकाबले स्वतंत्रता की मात्रा के अनुसार विभिन्न प्रकार की श्रेणियों में वर्गीकृत किए जाते थे। लगान का भुगतान या तो नकदी के रूप में या फिर उपज के हिस्से के रूप में किया जाता था। लेकिन विभिन्न क्षेत्रों में, इन भुगतानों में काफी अंतर था, जो स्थानीय प्रथाओं पर आधारित होते थे। काश्तकार भी तरह-तरह के होते थे, कुछ तो कभी भी बेदखल किए जा सकते थे और कुछ का भूमि पर लगभग स्थायी अधिकार होता था। कुछ काश्तकारों के पास तो इतनी बड़ी जोत होती थी कि वे स्वयं उस पर खेती नहीं कर पाते थे और अक्सर उसका एक हिस्सा पट्टे पर दे देते थे। इस श्रेणी में सबसे नीचे खेतिहर मज़दूर आते थे। ये भी दो तरह के होते थे, एक तो स्थायी फार्म मज़दूर (या सम्बद्ध श्रमिक) और दूसरे नैमित्तिक भाड़े के मज़दूर जिन्हें उजरत या दिहाड़ी के आधार पर भुगतान किया जाता था। देश के कुछ क्षेत्रों में "बंधुआ मज़दूर" प्रणाली भी प्रचलित थी, जिसके अधीन मज़दूर को अपने मालिक की नौकरी छोड़ने और दूसरा काम ढूँढने की मनाही थी। यहाँ तक कि, जिन क्षेत्रों में बंधुआ मज़दूर प्रणाली प्रचलित नहीं थी वहाँ भी वैकल्पिक काम के अभाव के कारण खेतिहर मज़दूर को अपना काम छोड़ पाना या अधिक मज़दूरी की माँग कर पाना लगभग असंभव ही था।

स्वतंत्रता के तत्काल पहले की अवधि के बारे में (यद्यपि आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं) डा. धर्मनारायण ने कहा कि "मध्यवर्ती पट्टेदारियों और विशेष रूप से जागीरदारी और ज़मींदारी प्रणालियों के उन्मूलन के कानूनों को सफलतापूर्वक लागू करने के परिणामस्वरूप बड़ी स्वामित्ववाली इकाइयों को छोटी इकाइयों में तोड़ दिया

गया और इसका असर यह हुआ कि कृषि भूमि के स्वामित्व में असमानता के तत्व में कमी आ गई। यद्यपि यह सही है कि काश्तकारों को बेदखल करके इन वर्षों में तथा बाद के वर्षों के दौरान खुद खेती करने के लिए जमीन को फिर से ग्रहण कर लिया गया और इसके माध्यम से मध्यस्तर के ज़मींदार अपनी जमीन पर अधिकार बनाए रखने में कमोवेश सफल भी हो गए, परन्तु सामंती सोपान के शीर्षस्थ लोगों की भूमि का स्वामित्व बहुत से लोगों के हाथों में अंतरित हो गया।''

लेकिन प्रारंभिक वर्षों में आये परिवर्तनों के बावजूद भू-स्वामित्व का वितरण, जैसा कि 1953-54 में उभरकर आया, अत्यधिक विषम ही बना रहा। इससे भी अधिक, मालिकाना जोतों के वितरण से संबंधित असमानता सूचक को देखते हुए, जो 1953-54 में 0.67 और 1961-62 में 0.68 था, यह स्पष्ट हो जाता है कि पचास के दशक के मध्य में भूमि सुधारों के दूसरे दौर में जिसमें निम्न कोटि की, असंरक्षित काश्तकारी को समाप्त करने और भूमि के स्वामित्व की उच्चतम सीमा निर्धारित करने की बात कही गई थी, काश्तकारों की दशा में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ।

हो सकता है कि मालिकाना तथा प्रचालन-जोतों संबंधी आँकड़े पूरी तरह से तुलनीय न हों, फिर भी इनसे होने वाले परिवर्तनों की प्रवृत्ति का पता लगाना मुश्किल नहीं है। प्रचालन जोतों तथा मालिकाना जोतों के वितरण के बीच तुलना करने पर दो तथ्य स्पष्टतः सामने आते हैं, वे हैं : (क) प्रचालन जोतों के वितरण का वैषम्य मालिकाना जोतों की तुलना में मामूली तौर पर कम रहा है तथा (ख) कुल प्रचालित भूमि के वितरण का वैषम्य पचास के दशक के आरंभ में अपरिवर्तित रहा जबकि 1953-54 तथा 1961-62 में यह ह्रासमान हो गया जैसा कि प्रचालन-जोतों के आकार-वितरण संबंधित असमानता सूचक से जाहिर होता है। यह अनुपात 1950-51 में 0.62 तथा 1953-54 में 0.62 था जो 1961-62 में घटकर 0.58 रह गया।

5.3.4 पट्टेदारी क्षेत्रों में गिरावट

प्रचालन जोतों के आकार समूहों के बीच प्रचालित क्षेत्रों के वितरण में असमानता में कमी आने की जो प्रवृत्ति दिखाई दी है उसे एक अन्य घटनाक्रम के साथ जोड़कर भी देखा जा सकता है और वह यह है कि काश्तकारी के भार में भी महत्वपूर्ण गिरावट आई है, जिसे कुल प्रचालित क्षेत्र में पट्टे पर ली गई भूमि के हिस्से के रूप में देखा जा सकता है। पट्टे पर ली गई भूमि का हिस्सा 1950-51 में दो बटे पाँच और फिर 1961-62 में और घटकर एक बटे दस से कुछ अधिक ही रह गया। हालाँकि, पट्टे पर ली गई भूमि के बारे में जानकारी घटाकर दिये जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता, फिर भी आँकड़ों द्वारा दर्शाई गई गिरावट की प्रवृत्ति पर विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं और यह स्थिति वास्तविक दिखाई देती है।

पट्टे पर लिए गए क्षेत्र में आई इस गिरावट के ये कारण हो सकते हैं—(क) काश्तकारों को स्वामित्व के अधिकार प्रदान करना तथा साथ ही (ख) काश्तकारों की बेदखली तथा खुद खेती करने के लिए स्वामित्व द्वारा भूमि का पुनर्ग्रहण। पट्टे पर लिए क्षेत्र में यह गिरावट जो (क) के कारण होती है एक सीमा तक ही तो यह मालिकाना जोतों के आकार-वितरण को बदल सकती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि इस तरह के वितरण का वैषम्य 1953-54 तथा 1961-62 के बीच लगभग अपरिवर्तित ही रहा।

इस बात के अलावा, डा. धर्मनारायण का कहना है कि स्वामित्व का अधिकार प्रदान किए जाने के फलस्वरूप, प्रत्येक प्रचालक के पट्टे पर लिए क्षेत्र में यदि कमी आई तो उसके स्वामित्व वाले क्षेत्र में उतनी ही बढ़ोत्तरी भी होनी चाहिए। लेकिन तथ्य इससे बिल्कुल विपरीत हैं। बड़ी प्रचालन जोतों के पट्टे पर लिए क्षेत्र में आई गिरावट छोटी जोतों की तुलना में बड़ी जोतों में अधिक तेजी का संबंध उनके स्वामित्व वाले क्षेत्र में बढ़ोतरी से नहीं अपितु कमी से होता है। छोटी प्रचालन जोतों के मामले में, यद्यपि पट्टे पर लिए क्षेत्र में गिरावट का संबंध प्रचालित क्षेत्र में बढ़ोतरी से होता है, फिर भी बाद वाली स्थिति पहली स्थिति से कहीं ज्यादा असरदार होती है। यह तालिका 5.2 में दिए आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है :

तालिका 5.2
प्रचालन जोतें
1953-54 की तुलना में 1961-62 में हुई वृद्धि (+) या ह्रास (–)

प्रचालन जोतों का आकार (एकड़ों में)	प्रचालन जोतों की संख्या (हजारों में)	प्रचालन के ऊपर स्वामित्व (हजार एकड़ों में)	पट्टे पर लिया लिया क्षेत्र (हजार एकड़ों में)
0.49 तक	(–) 850	(+) 140	(–) 101
0.50-0.99	(+) 802	(+) 667	(–) 83
1.00-2.49	(+) 2,524	(+) 4,824	(–) 950

2.50-4.99	(+) 2,234	(+) 9,863	(−) 2,686
5.00-7.49	(+) 1,113	(+) 8,225	(−) 2,609
7.50-9.99	(+) 183	(+) 3,049	(−) 2,538
10.00-14.99	(+) 603	(+) 7,751	(−) 2,756
15.00-19.99	(−) 19	(+) 2,255	(−) 3,871
20.00-24.99	(+) 132	(+) 3,593	(−) 2,094
25.00-29.99	(−) 44	(−) 221	(−) 1,679
30.00-49.99	(−) 104	(−) 271	(−) 6,027
50.00 और ऊपर	(−) 164	(−) 11,678	(−) 7,223
सभी वर्ग	(+) 6,413	(+) 28,251	(−) 32,665

स्रोत : डा. धर्मनारायण, योजना, रजत जयंती विशेषांक, 15 अगस्त, 1972, पृ. 600

5.3.5 स्थिर वैषम्य

प्रचालित क्षेत्र के वितरण में असमानता में कमी होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है : मालिकों द्वारा पुनर्ग्रहण के कारण पट्टे पर लिए क्षेत्र में आई कमी के परिणामस्वरूप बड़े आकार-समूहों की बहुत सी प्रचालन जोतें छोटे आकार की श्रेणी में आ गईं। इस प्रकार उनके मालिकाना क्षेत्र में आए परिवर्तन की वजह से बड़े आकार-समूह स्वामित्व वाले कुल क्षेत्र में कमी आ गई और साथ ही साथ उसने छोटे आकार वाली श्रेणी में मालिकाना क्षेत्र में बढ़ोतरी कर दी। इसका आंशिक कारण यह भी हो सकता है कि उत्तराधिकार संबंधी कानूनों के फलस्वरूप परिवार के अंतर्गत विभाजन की वजह से भी ऐसा हुआ हो।

पचास के दशक के प्रारंभ के जोतों संबंधी आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि मालिकाना तथा प्रचालित जोतों का वितरण असमान था। पट्टे पर भूमि लेने और देने के माध्यम से भूमि को बड़े स्वामियों के हाथ से भूमिहीनों तथा छोटे भू-स्वामियों में अंतरित करके जोतों के वितरण को कुछ सीमा तक बदला तो गया परन्तु वह श्रम प्रधान एवम् भूमि दुर्लभ, अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकता से बहुत कम था। पट्टे पर ली गई भूमि की सूचना देने वाला जोतों का आकार-वितरण, मालिकाना भूमि सूचित करने वाले परिवारों के आकार-वितरण के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। इस तरह पट्टे पर लिए कुल क्षेत्र में विभिन्न आकार-समूहों की प्रतिशत हिस्सेदारी भी कुल मालिकाना क्षेत्र में उनकी प्रतिशत हिस्सेदारी के अनुरूप ही थी। हालाँकि, विभिन्न क्षेत्रों के बीच कुछ उल्लेखनीय अंतर दिखाई देते हैं (तालिका 5.3)। उत्तर-पश्चिम, मध्य तथा पश्चिमी भारत में पट्टे पर लिए कुल क्षेत्र में बड़ी जोतों का अंश लगभग उतना ही ज्यादा था जितना उनका कुल मालिकाना क्षेत्र में था। पूर्वोत्तर तथा दक्षिण भारत में यह अंश काफी कम था। प्रचालित भूमि में पट्टे पर ली गई भूमि का प्रतिशत उत्तरी, पूर्वी तथा दक्षिणी भारत में छोटी जोतों में ज्यादा था, जबकि उत्तर-पश्चिम, पश्चिमी तथा मध्य भारत में ऐसा कोई संबंध दिखाई नहीं दिया। विशेष रूप से उत्तर-पश्चिम भारत में तो प्रतिलोम काश्तकारी अर्थात् बड़े जोतधारियों द्वारा छोटे जोतधारियों से पट्टे पर भूमि लेना, एक उल्लेखनीय विशेषता दिखाई देती है।

तालिका 5.3

क्षेत्र	खेतिहर परिवार (ग्रामीण परिवार का प्रतिशत)		वाणिज्यिक फसलों के अंतर्गत क्षेत्र का प्रतिशत	क्षेत्र के कुल के % रूप में किसानों का वितरण				जोत का औसत आकार (एकड़ों में)
	भूमियुक्त	भूमिहीन		जमींदार	धनी	निर्धन	मध्यम वर्ग	
1	2	3	4	5	6	7	8	9
उत्तर भारत	5.7	8.6	2.7	1.9 (16.6)	11.4 (30.6)	41.0 (9.7)	45.7 (43.1)	5.3
पूर्वी भारत	19.0	13.7	7.3	1.4 (15.3)	8.0 (25.1)	45.8 (11.2)	44.8 (48.4)	4.5
दक्षिण भारत	27.3	22.8	22.2	2.1 (25.0)	7.9 (25.4)	55.1 (12.2)	34.9 (37.4)	4.5
पश्चिमी भारत	8.8	11.6	17.0	3.4 (20.2)	10.1 (28.6)	40.7 (6.7)	45.8 (44.5)	12.3
मध्य भारत	14.6	22.1	21.7	3.8 (23.9)	9.6 (24.1)	36.1 (6.3)	50.5 (55.7)	12.2
उत्तर-पश्चिम भारत	2.7	7.1	9.1	1.8 (17.7)	8.0 (22.3)	36.7 (7.3)	53.5 (56.7)	— —

स्रोत : भारत सरकार, कृषि श्रमिक जाँच, कृषि श्रमिकों का गहन सर्वेक्षण रिपोर्ट, खंड-1 अखिल भारत, (श्रम मंत्रालय, 1954)।

यह बात भी दिखाई देती है कि उत्तर-पश्चिम भारत तथा पश्चिमी भारत की अपेक्षा उत्तर भारत, पूर्वी भारत तथा दक्षिणी भारत में प्रचालन जोतों के आकार के साथ औसत परिवार आकार तथा स्थायी फार्म नौकरों की संख्या में अधिक तेजी से वृद्धि हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि उन क्षेत्रों में अधिक जोखिम बढ़ौती के बावजूद भू-स्वामी परिवारों ने अपनी भूमि छोटे काश्तकारों को पट्टे पर देना बेहतर समझा। फसल बँटाई की प्रथा भी मध्य भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत में ज्यादा दिखाई देती है, जिसका आशय है कि फसल बँटाई का फसल की अनिश्चितता के साथ कोई संबंध हो यह आवश्यक नहीं है। स्थायी बंदोबस्त की यह विशेषता हो सकती है कि उसने राजस्व-ज़मींदारों को विशुद्ध लगान उपजीवी बना दिया।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पट्टा-बाजार इस तरह प्रचालित नहीं हुआ कि उसके द्वारा भूमि का अधिक उपयोग संभव हो सके। इसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे भूमि धारण के साथ जुड़ी प्रतिष्ठा, पट्टे पर देने में अनिश्चितता, ऊँची जोखिम बढ़ौती, भूमि पर अधिकार न होने से व्यक्ति तथा मामलों पर नियंत्रण खो देना, भूमिहीनों को भूमि पट्टे पर दे देने में व्याप्त जोखिम आदि। व्यापक मानसूनी वर्षा वाले क्षेत्रों में फसल-बँटाई पर ज्यादा जोर दिया जाता था। भू-स्वामी वर्ग आराम को तरजीह देकर खेती का काम ऐसे छोटे काश्तकारों पर छोड़ देता है जिनके पास निवेश के लिए बहुत कम अधिशेष होता है।

भूमि सुधार कानूनों का मोटे तौर पर असर यह होना था कि भूमि को अनुपस्थित, परजीवी भू-स्वामियों के हाथ से निकाल कर उन लोगों को अंतरित करना जो खेती के काम में अधिक रुचि लेते हैं अर्थात् छोटे ज़मींदारों तथा धनी भू-धारकों को। लेकिन इसके बावजूद भूमि वितरण में अत्यधिक असमानता बनी रही और पहले के काश्तकार भूमिहीन मज़दूरों में तब्दील हो गए।

5.3.6 जोतों का विखंडन

यह स्थिति पिछले कई दशकों से भारत के सभी भागों में व्यापक रूप से विद्यमान है और आज खेती योग्य जोतों का एक बहुत बड़ा हिस्सा छोटे-छोटे तथा अलग-अलग जगहों पर छितरे हुए भू-खंडों में विभाजित पड़ा हुआ है।

छोटी जोतों की तुलना में बड़ी जोतें ज्यादा टुकड़ों में बँटी होती हैं और यह स्थिति उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिम बंगाल तक समान रूप से विद्यमान है। दोनों ही राज्यों में जैसे-जैसे जोत का आकार कम होता है वैसे ही प्रति एकड़ खंडों की संख्या में वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है। अधिकांश जोतें इष्टतम आकार से काफी छोटी होती हैं और खेतों के अत्यधिक विखंडन के कारण यह स्थिति और भी बदतर हो जाती है।

विखंडन की बुराइयों के बारे में ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है। इससे न केवल जनबल तथा पशुबल का अपव्यय होता है अपितु इसकी मेड़बंदी, कुँआ खुदाई आदि पर भी फिजूल खर्ची होती है जिसकी वजह से युक्तिपूर्ण तथा कम-लागत वाली खेती कर पाना लगभग असंभव हो जाता है। भारत में तो इसकी वजह से मुकदमें लड़ते रहने की एक परंपरा सी बन गई है क्योंकि अपने खेत में काम करते समय किसान या उसके पशु अपने पड़ौसी के खेत से होकर गुजरते हैं। इसकी वजह से झगड़े हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, जितने ज्यादा भूखंड होंगे अपने पड़ौसी के खेत से उन्हें अलग करने के लिए उतनी ही ज्यादा मेड़ें बनानी पड़ेंगी।

भारत में आर्थिक विकास के सभी स्तरों पर जोतों का विखंडन विभिन्न क्षेत्रों की विशेषता रही है। इसी के साथ-साथ जोतों के छोटे आकार की समस्या भी गुंथी हुई है, जब तक अपव्यय तथा अदक्षता के इस महत्वपूर्ण कारण का कोई समाधान नहीं किया जाता तब तक कृषि के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण सुधार कर पाना आसानी से संभव नहीं हो पाएगा। भारत में कुछ राज्यों में चकबंदी के जरिए विखंडन की इस बुराई को दूर करने के प्रयत्न किए गए हैं।

1955-56 तक लगभग 32 करोड़ खेती क्षेत्र में से केवल 1.77 करोड़ भूमि को ही चकबंदी के अंतर्गत लाया जा सका था। इससे मालूम पड़ता है कि स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में जोतों की चकबंदी के काम में धीमी गति ही हासिल की जा सकी।

इस प्रकार प्रचालन इकाई के आकार की दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था में भूमि की संरचना की जो स्थिति उभरती है वह खास उत्साहवर्धक नहीं है। मालिकाना जोतों का वितरण भी अत्यधिक असमानता पर आधारित है क्योंकि एक ओर तो कुछ शीर्षस्थ लोगों के हाथ में भूमि का संकेंद्रण हो गया है दूसरी ओर नीचे के स्तर पर अधिसंख्य मालिकों का जमघट है। छोटे तथा बड़े भू-स्वामियों—अधिकतर बड़े भू-स्वामियों द्वारा भूमि को पट्टे पर देकर इस वितरण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन तो किया गया परन्तु कुवितरण की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। जब हम खेती वाली जोतों (फार्मों) पर दृष्टिपात करते हैं तो वहाँ भी

शीर्षस्थ लोगों में भूमि का संकेंद्रण और नीचे जमघट वाली भारतीय फार्म अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण दिखाई देता है। वास्तव में तो पट्टेदारी में आने वाली कठिनाइयों जैसे उच्च लगान, असुरक्षा आदि तथा खेतों के अत्यधिक विखंडन के कारण इस स्थिति पर और भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। छोटे-छोटे और कभी-कभी तो अत्यधिक छोटे खंडों में बँटी तथा बहुत से मामलों में दमनकारी पट्टेदारी के अधीन धारित भूमि वाले भारत में जोतों का यह प्रतिरूप कृषि-अर्थव्यवस्था में उत्पादिता तथा दक्षता के लिए अत्यंत खतरनाक प्रतीत होता है।

इस क्षेत्र में थोड़ा बहुत अनुकूल लक्षण यह है कि अधिकांश फार्म या कहिए सभी फार्म काश्तकारी के आधार पर नहीं चलाए जाते, खेत का मालिक खुद खेती करता है, यही आम चलन है। साथ ही, खेती की सभी जोतें भी बहुत छोटी नहीं हैं, हालाँकि काफी बड़ी तादाद में जोतें छोटी ही होती हैं। वास्तव में तो यदि फार्मों को ही मद्देनजर रखा जाए तो इनमें से अधिकांश फार्म अर्द्ध सीमांत अर्थात् 5 एकड़ से कम आकार के हैं, फिर भी यदि देश की कृषि भूमि पर ध्यान दें तो भूमि का अधिकांश हिस्सा विभिन्न आकारों के फार्मों में बंटा है जो अक्सर 4 एकड़ से अधिक के होते हैं। विखंडन की बुराई केवल छोटी जोतों तक ही सीमित नहीं है अपितु यह बड़ी जोतों में भी घर कर रही है। सामान्यतः देश की फार्म-आकार संरचना में कुछ भूमि सुधारों के जरिये प्रमुख संरचनात्मक परिवर्तन लाने की जरूरत है। इनमें चकबंदी, हदबंदी, न्यूनतम हदबंदी, सहकारिता और भूमि उद्धार जैसे सुधार शामिल किए जा सकते हैं। ये सभी चीजें प्रचालन इकाई के आकार पर अनुकूल असर डालेंगी और बहुत से मामलों में तो यदि आकार को बढ़ा दिया जाए तो खेती में प्रौद्योगिकी तथा निविष्टियों के वैज्ञानिक लाभ प्राप्त किये जा सकेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) स्वतंत्रता-पूर्व कृषिक संरचना की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) मालिकाना जोतों तथा प्रचालन जोतों के बीच अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) 1953-54 की तुलना में 1961-62 में पट्टे पर लिए क्षेत्र में आई कमी के कारण बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) विखंडित जोतों के क्या प्रतिकूल प्रभाव होते हैं? तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार

भूमि सुधारों की जरूरत से तो इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन विवाद इस मुद्दे को लेकर है कि इन्हें किस सीमा तक लागू किया जाए जिससे कि देश की सत्ता के ढाँचे में नाजुक शक्ति संतुलन बिगड़ न जाए।

भारत में भूमि सुधारों का महान उद्देश्य यह था कि अन्य प्रमुख नीतियों को साथ मिलाकर इससे भू-स्वामी तथा खेतिहर के बीच संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया जाए, फार्म के आकार में उसें आर्थिक रूप से सार्थक बनाने के लिए परिवर्तन किया जाए ताकि निवेश, प्रौद्योगिकी तथा उत्पादिता में क्रांतिकारी बदलाव लाया जा सके। शुरुआत भूमि सुधारों के माध्यम से की जानी थी।

5.4.1 भूमि सुधारों का अर्थ तथा क्षेत्र

भूमि सुधार शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है, एक व्यापक अर्थ में और दूसरा संकीर्ण अर्थ में। इस विषय में प्रारंभिक कृतियों में भूमि सुधार की व्यापक अर्थ में परिभाषा दी गई है अर्थात् इसमें उधार, विपणन आदि समेत सम्पूर्ण कृषिक संरचना में सभी प्रकार के परिवर्तन शामिल किए गए। लेकिन आजकल की कृतियों में इसकी संकुचित परिभाषा पर ही ज्यादा जोर दिया जा रहा है और इसके लिए "भूमि सुधार" "कृषिक सुधार" तथा "ग्रामीण विकास" जैसी शब्दावली के बीच अंतर किया जाता है। अधिकतर लेखक अब भूमि सुधार को (क) संपत्ति का भूमिहीनों या छोटे किसानों में पुनः वितरण, तथा (ख) काश्तकारी में सुधार मानते हैं।

एक लोक कार्यक्रम के रूप में भूमि सुधार का उद्देश्य दोषपूर्ण भूमि पट्टेदारी प्रणाली की, समानता के आधार पर तथा युक्तिपूर्ण ढंग से पुनर्रचना करना था। इसके उद्देश्य थे : (क) कृषि-जनसंख्या के बीच न्यायोचित संबंध स्थापित करना, तथा (ख) भूमि के उपयोग में सुधार करना। भूमि सुधार के सारतत्व के रूप में भूमि के पुनर्वितरण पर बल देना उचित है। इससे स्वामित्व जनित लाभों में कमी आयेगी और वे धनी लोगों से निर्धनों की ओर, लगान उपजीवियों से किसानों की ओर, और दूरवासी शहरियों से ग्रामीण निवासियों की ओर हस्तांतरित हो जाएँगे। इस तरह से औपनिवेशिक भूमि पट्टेदारी प्रणाली के दोष समाप्त किए जा सकेंगे। भूमि सुधार से समानता ही नहीं अपितु उत्पादिता का लक्ष्य भी प्राप्त किया जाना चाहिए।

5.4.2 बिचौलियों का उन्मूलन : भूमि सुधारों में पहला कदम

भूमि सुधार देश की आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के आधार को ही बदल देते हैं, इसलिए सत्ता के ढाँचे में विभिन्न वर्गों की साठगाँठ इनकी विषय-वस्तु तथा कार्यान्वयन को अवश्य प्रभावित करती है। भारत में भूमि सुधारों का सबसे पहला कार्यक्रम, जिसे कुछ अंश तक सफलता हासिल हुई, बिचौलियों के उन्मूलन का कार्यक्रम था। इसके सफल होने के कई कारण थे जैसे—

i) बिचौलिये का राष्ट्र विरोधी चरित्र;
ii) राष्ट्रीय आंदोलन के एक हिस्से के रूप में यहाँ के किसान ज़मींदारों के खिलाफ लम्बे समय से संघर्ष कर रहे थे;
iii) ज़मींदारों का ग्रामीण क्षेत्रों से अलगाव; तथा
iv) ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के बड़े लोगों और ज़मींदारों के बीच ग्रामीण क्षेत्र में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए संघर्ष।

इस उपाय के परिणामस्वरूप, पचास के दशक के मध्य तक देश के सभी भागों में राजस्व प्रशासन सीधे राज्य के अधीन हो गया। इसकी वजह से भूमि स्वामित्व के बेहतर रिकार्ड रखे जाने लगे और भूमि को बंधक रखने या उसे बेचने के लिए अंतरित करने का आधार अधिक सुदृढ़ हो गया। इसके कारण कृषि-विकास के लिए प्रशासन का बेहतर आधार उपलब्ध हो गया। लेकिन उचित मुआवजा लिए बिना ज़मींदारी

समाप्त नहीं हुई। ज़मींदारी हितों ने कानून बनने की प्रक्रिया को रोकने, उसमें विलंब कराने या उसे कम असरदार बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी।

ज़मींदारों को मुआवजा दिया गया। इतना ही नहीं, देश के कुछ भागों, जैसे उत्तर प्रदेश में, उन्होंने बहुत बड़े भूमि क्षेत्र को अपनी वैयक्तिक संपदा बताकर उन पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त करने में भी सफलता हासिल कर ली। इस प्रक्रिया में बहुत सारे काश्तकारों को बेदखल कर दिया गया। बिचौलियों के उन्मूलन के बाद भी भूमि स्वामित्व में असमानता बनी रही और फसल बँटाईदारों तथा मज़दूरों की स्थिति भी ज्यों की त्यों बनी रही। हालाँकि इसके द्वारा काबिजों को स्थायी, दाय योग्य तथा अंतरणीय अधिकार अवश्य प्राप्त हो गए। फिर भी, बड़े-बड़े दूरवासी राजस्व ज़मींदारों की शीर्षस्थ परत को हटाकर इसने सुधारों से पहले की स्थिति में अवश्य सुधार ला दिया।

5.5 काश्तकारी सुधार : असफलता की कहानी

स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर कुल क्षेत्र का लगभग एक बटे पाँच हिस्सा काश्तकारी के अंतर्गत था और कुल ग्रामीण परिवारों में से एक तिहाई परिवार काश्तकार परिवार थे। यह स्थिति तब थी जब ज़मींदारी क्षेत्रों में धारक काश्तकारों को मालिक करार कर दिया गया था। काश्तकारी की तादाद के बारे में देश के विभिन्न हिस्सों में समानता नहीं है। उत्तर-पश्चिम, पश्चिमी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में काश्तकारी के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों का प्रतिशत ऊँचा था। पूर्वी क्षेत्र में फसल-बँटाई की प्रथा ज्यादा चलती थी। सामान्यतः काश्तकारी अनौपचारिक करारों द्वारा संचालित होती थी, लेकिन कानून बनने से पहले सामान्यतः काश्तकारों में जल्दी-जल्दी फेरबदल नहीं होता था।

आमतौर पर काश्तकार ऐसे लोग होते थे जो सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के थे और अधिकांश काश्तकारी क्षेत्र पर ऐसे ही लोग काबिज होते थे। काश्तकारी के अंतर्गत आने वाली लगभग आधी जमीन के मालिक अनिवासी होते थे और शेष आधी जमीन में से अधिकांश हिस्से पर छोटे-छोटे मालिकों का स्वत्व होता था, हालाँकि पट्टे पर दिए गए क्षेत्र के प्रमुख हिस्से पर बड़े निवासी स्वामी-व-किसानों का स्वामित्व होता था। बड़े-निवासी खेतिहर मालिक सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से काफी शक्तिशाली होते थे। छोटे-छोटे लगान उपजीवियों की प्रमुखता के कारण काश्तकारी का स्वरूप काफी जटिल हो गया था। समानता की बजाय उत्पादकता पर और काश्तकार के हितों की बजाय मालिक के हितों पर ज्यादा ध्यान दिया जाता था। इन्हीं के परिणामस्वरूप काश्तकारी कानूनों में सुधार हुआ जिसमें लगान की उच्चतम सीमा तथा पट्टे को इस आधार पर नियत किया गया कि मालिक को स्वयं खेती करने के लिए भूमि का पुनर्ग्रहण करने का अधिकार होगा।

कुछ काश्तकारी कानूनों में संरक्षित काश्तकारी का सृजन करने और स्वामित्व के अधिकार प्रदान करने के प्रावधान भी थे। लेकिन इन प्रावधानों पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया था कि जमीन के मालिक को स्वयं खेती करने के लिए जमीन का पुनर्ग्रहण करने का अधिकार है, ऐसा शायद छोटे-छोटे भू-स्वामियों के हितों की रक्षा करने के लिए किया गया था। लिखित रूप में तो यह छोटे-छोटे भू-स्वामियों तथा छोटे काश्तकारों के हितों के बीच एक अच्छा संतुलन दिखाई देता है। लेकिन व्यवहार में, ग्रामीण क्षेत्र में विद्यमान सत्ता समीकरण की वास्तविकता और प्रशासनिक तंत्र के स्वरूप तथा क्षमता को देखते हुए, यह प्रत्याशित ही था कि यह कानून छोटे काश्तकारों के हितों की रक्षा करने में असफल सिद्ध होगा।

5.5.1 फसल-बँटाई प्रथा का स्वरूप

फसल बँटाई पर आधारित काश्तकारी प्रथा काश्तकारी का एक ऐसा जटिल रूप है जिसके अंतर्गत काश्तकार अपने श्रम के अतिरिक्त, कार्यशील पूँजी और यहाँ तक कि स्थिर पूँजी के एक हिस्से का भी योगदान देता है और इसके बदले भू-स्वामी से वह उपज का एक हिस्सा प्राप्त करता है। दूसरे रूप में कहें तो काश्तकार उपज के एक हिस्से को, जो अक्सर एक बहुत बड़ा हिस्सा होता है, भू-स्वामी को लगान स्वरूप दे देता है। काश्तकारी का यह रूप, भू-स्वामी के लिए अत्यधिक लाभदायक प्रबंध होता है। फसल-बँटाईदार एक तरह से फार्म नौकर की तरह होता है क्योंकि वे भी फार्म में अपना श्रम लगाते हैं और बदले में उपज का एक हिस्सा प्राप्त करते हैं। लेकिन काश्तकारी तथा नौकरी में पूँजी के योगदान के आधार पर अंतर होता है। नौकर केवल काम करता है, उसे पूँजी लगाने की न तो जरूरत है और न वह पूँजी लगाता ही है, लेकिन काश्तकार पूँजी लगाता है और उसे खेती करने में आने वाले जोखमों को भी झेलना पड़ता है।

फसल बँटाई की प्रथा युगों पुरानी है और काफी खुले रूप में प्रचलित भी रही है, परन्तु पचास के दशक के

दौरान चलने वाले भूमि सुधार आंदोलन ने, यदि कहा जाए तो, इसे भूमिगत बना दिया है। किन्तु यह सही है कि भूमि सुधारों ने कानूनी रूप में, दूरवासी ज़मींदारों के विरुद्ध वास्तविक किसानों का समर्थन किया है।

जब तक फसल बँटाई काश्तकारी प्रच्छन्न या अमान्य रहेगी, तब तक काश्तकारों को, जिनकी कानूनी हैसियत मात्र नौकर की ही रहती है, बेदखली का डर बना रहेगा और पट्टे की सुरक्षा से संबंधित भूमि सुधार प्रावधान मृत शब्द ही बने रहेंगे। "उचित लगान" का मानक राजस्व प्रशासन पर यह जिम्मेवारी डालता है कि वह सकल उपज के एक चौथाई या एक बटे छह हिस्से से ज्यादा लगान निर्धारित न करे, लेकिन, फसल बँटाई के अंतर्गत जो वास्तविक लगान निश्चित होता है वह दमनकारी होता है। जहाँ भी फसल बँटाई प्रथा प्रचलित है, वहाँ 50:50 का हिस्सा तय होना तो साधारण सी बात है। पश्चिम बंगाल के "बारगादारों", तामिलनाडु के "पन्नयालों", बिहार के "बटा" किसानों और अन्य राज्यों के इसी तरह के फसल बँटाईदारों की आज भी, अपनी सकल उपज के एक तिहाई से लेकर दो तिहाई हिस्सा को भू-स्वामी को देना होता है। इस प्रकार, असुरक्षा तथा ऊँची लगान दर, इन दोनों कारणों से फसल बँटाई काश्तकारी का अत्यधिक शोषणकारी रूप बन गया है। आश्चर्य नहीं कि भू-स्वामी इस तरह की काश्त का समर्थन करते हैं और भाड़े के नौकरों के जरिए खेती कराने के नाम पर उसे चालू रखे हुए हैं।

पचास के दशक के दौरान कानून द्वारा निर्धारित लगान की मात्रा में भी काफी अंतर था, कुछ राज्यों में तो यह सकल उपज के एक बटे पाँच हिस्से के बराबर था तो कुछ अन्य राज्यों में यह 50 प्रतिशत तक होता था। पट्टे की न्यूनतम अवधि भी 5 से लेकर 10 वर्ष तक की होती थी। संरक्षित काश्तकारी प्रावधान भी सभी अधिनियमों में नहीं होते थे।

बहुत से राज्यों के कानून, योजना आयोग की सिफारिशों की अपेक्षा से बहुत नरम थे, हालाँकि इन सभी राज्यों में कानून द्वारा निर्धारित लगान उस समय प्रचलित बाजार लगानों से कम ही नियत किए गए थे। यह तो अर्थशास्त्र का एक सामान्य नियम है कि कमी वाली स्थिति में कीमत नियंत्रण तब तक असफल ही रहेगा जब तक कि भंडार तथा मात्रा पर नियंत्रण न रखा जाए। ऐसा ही लगान पर उच्चतम सीमा निर्धारित करने के मामले में हुआ। बेदखली और स्वैच्छिक रूप से खेत छोड़ देना आम बात हो जहाँ इनमें से कोई न हुआ हो तो काश्तकार को **अनौपचारिक** काश्तकारी करार करने पड़े। फलस्वरूप काश्तकारों की स्थिति बहुत ही असुरक्षित हो गयी। पचास के दशक के मध्य तक बड़े पैमाने पर काश्तकार बेदखल कर दिए गए, लेकिन पचास के दशक के उत्तरार्ध में आकर बेदखली की गति कुछ धीमी पड़ी क्योंकि तब तक कानून को कागजी शेर के रूप में देखा जाने लगा था। परिणामतः काश्तकारी के और अधिक **अनौपचारिक** करार किए जाने लगे। पचास के दशक के उत्तरार्ध में दाँतवाला जैसे सतर्क तथा चौकस पर्यवेक्षक को यह टिप्पणी देनी पड़ी—

"सरकारी और गैर-सरकारी, दोनों ही हलके इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि बहुत बड़ी संख्या में काश्तकारों को कानून द्वारा निर्धारित लगान से कहीं ज्यादा लगान अदा करना पड़ता है। जहाँ तक पट्टे की सुरक्षा का संबंध है, काश्तकारी कानून के पास हो जाने के बाद जितनी बेदखलियाँ या काश्तकार बदले गए हैं उतने हाल के इतिहास में पहले कभी नहीं देखे गए।"

काश्तकारी कानूनों का अनिवासी शहरी भू-धारकों के स्वामित्व वाली भूमि पर ज्यादा असर पड़ा क्योंकि उनका गाँव के सत्ता ढाँचे में बहुत कम प्रभाव था। उन्हें अपनी भूमि बेच देने के लिए प्रेरित किया गया। उनकी भूमि के खरीदार मुख्य रूप से वहाँ के निवासी बड़े ज़मींदार होते थे जिन्होंने खुद खेती करने के नाम पर काश्तकारों को बेदखल कर दिया था या पुराने अथवा नए काश्तकारों से अनौपचारिक काश्तकारी करार कर दिए थे। शक्तिशाली और उद्यमी भू-स्वामियों ने काश्तकारों को बेदखल करने में सफलता हासिल की। उन्होंने बेदखल काश्तकारों को मज़दूरों के रूप में काम पर लगा लिया। पचास के दशक में काश्तकारी कानून का नाटकीय प्रभाव यह पड़ा कि काश्तकार धीरे-धीरे समाप्त होते गए और वे भूमिहीन मज़दूरों की श्रेणी में आते गए, काश्तकारी की शर्तें और अधिक असुरक्षित होती गईं और भूमि का स्वामित्व शहरी मध्यमवर्ग के हाथों से निकल कर गाँव के निवासी बड़े भू-स्वामियों के हाथ में आ गया। यह कहना ठीक नहीं है कि काश्तकारी कानून कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं लाया। इसकी वजह से परिवर्तन तो हुआ परन्तु वह अधिक समानता की दिशा में नहीं हुआ।

प्रो. ए.एम. खुसरो, ऐसे कुछ अर्थशास्त्रियों में से एक हैं जो यह नहीं मानते कि काश्तकारी सुधार पूर्णतया असफल रहे हैं। उनके मतानुसार काश्तकारी कानूनों के लागू हो जाने के बाद काश्तकार अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक हो गए हैं और काश्तकारों की बेदखली की दर में भी गिरावट आई है। फिर भी, काश्तकारी सुधारों की निम्नलिखित सीमाओं पर ध्यान दिया जा सकता है। पहली, जो सुधार गरीब किसानों के पट्टों की सुरक्षा बढ़ाने के लिए लागू किए गए थे वे ही अपनी खामियों के कारण, असुरक्षा पैदा करने के

लिए जिम्मेदार बन गए, उनमें से एक खामी तो यह थी कि खुद खेती करने के लिए भू-स्वामियों को भूमि पुनर्ग्रहण करने की अनुमति दे दी गई थी। अधिकांश कानूनों में खुद खेती करने को इस तरह परिभाषित किया गया कि उसमें नौकरों या मज़दूरों से नकद या जिन्स के रूप में पारिश्रमिक देकर खेती कराना शामिल कर लिया गया, हालाँकि इसमें फसल बँटाई के आधार पर खेती कराना शामिल नहीं था। ज़मींदारी उन्मूलन अधिनियमों में फसल बँटाईदार को काश्तकार नहीं माना जाता था और भू-स्वामियों ने कानून के अधीन उस सभी भूमि पर पुनः अधिकार ग्रहण कर लिया जिस पर फसल बँटाईदार के ज़रिए खेती की जाती थी। दूसरी, काश्तकारी कानूनों के अंतर्गत "स्वेच्छा से छोड़ देने" के प्रावधान की वजह से, काश्तकारों को उन जमीनों से बेदखल कर दिया गया जिन पर वे खेती करते थे।

तीसरी, उचित लगान के प्रावधानों से काश्तकारों को कोई लाभ नहीं पहुँच सका। लगान तो कुल उपज के एक बटे पाँच से लेकर चौथाई हिस्से के बराबर तय होता था परन्तु वास्तव में फसल बँटाईदार को अपनी उपज का आधा हिस्सा लगान के रूप में अदा करना पड़ता था। उचित लगान का प्रावधान केवल उन्हीं काश्तकारों के लिए प्रभावी था जिन्हें पट्टे की सुरक्षा हासिल थी। लेकिन अधिकांश पट्टे प्रबंध मौखिक ही होते थे। काश्तकार जब भी उचित लगान की बात करता था, उसे जमीन से बेदखल कर दिया जाता था। फसल-बँटाई व्यवस्था के अधीन शर्तें भू-स्वामी के हित में होती थी क्योंकि जोखिम तो काश्तकार की तरफ अंतरित हो जाती थी। इसलिए भू-स्वामियों ने अन्य प्रकार की काश्तकारियों को फसल-बँटाई काश्तकारी में तब्दील कर दिया। कानून से बचने के लिए बहुत से भू-स्वामी तो खुद को मालिक खेतिहर और फसल बँटाईदार को नौकर कहते थे।

5.5.2 फसल बँटाई का विस्तार

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अनुसार, काश्तकारी के अंतर्गत आने वाले कुल क्षेत्र में फसल-बँटाई काश्तकारी का हिस्सा 1945-55 के 36.55 प्रतिशत से बढ़कर 1961-62 में 38.24 प्रतिशत और 1971-72 में 47.84 प्रतिशत हो गया। फसल-बँटाई काश्तकारी में वास्तविक वृद्धि इन आँकड़ों से कहीं ज्यादा हुई है। क्योंकि यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि जबकि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार काश्तकारी के अंतर्गत कुल क्षेत्र के 47.84 प्रतिशत क्षेत्र में फसल-बँटाई काश्त होती थी, वहीं 1971-72 की कृषि गणना के अनुसार यह 27.09 प्रतिशत क्षेत्र में होती है। यह उल्लेखनीय है कि कृषि गणना के आँकड़े कम करके दिखाए गए हैं क्योंकि यह ग्राम के भूमि रिकार्डों पर आधारित थे जो भ्रष्ट राजस्व व्यवस्था के कारण अविश्वसनीय होते हैं। इस बात पर भी विश्वास करने के कारण हैं कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़े भी कम करके दिखाए गए हैं क्योंकि ये आँकड़े साक्षात्कार विधि पर आधारित थे। इस तरह सर्वेक्षण में फसल-बँटाई काश्त की सीमा का अनुमान लगा पाना कठिन होता है, क्योंकि यह व्यवस्था अब भूमिगत रूप से काम कर रही है। वोल्फ लेजिंस्की के अनुसार, उन्होंने जिन पाँच जिलों का दौरा किया उनमें से चार में मौखिक पट्टेदारी के जरिए फसल-बँटाई काश्तकारी को व्यापक रूप से प्रचलित पाया।

5.5.3 काश्तकारी कानूनों का प्रभाव

गैर मौरूसी काश्तकारों (tenants-at-will) की तुलना में बड़ी जोतों वाले दखली काश्तकारों तथा अनुसूचित जाति और जनजातियों की तुलना में ऊँची जातियों के काश्तकारों को ज्यादा लाभ पहुँचा।

काश्तकारी कानूनों ने उस पारंपरिक पट्टेदारी व्यवस्था को भी भंग कर दिया जो दीर्घकाल से चली आ रही थी। भू-स्वामी ऐसा करार स्थापित करने में सफल हो गए जिन्होंने काश्तकारों को पहले की अपेक्षा अधिक हानिकर स्थिति में रख दिया। काश्तकार भूमि पर अपने कब्ज़े के किसी सरकारी रिकार्ड के बिना और खुली काश्तकारी को छिपी काश्तकारी में बदलकर उसी जमीन पर खेती करते रहे। इसके अलावा पट्टेदारी करार दीर्घकाल से बदलकर अल्पकालीन हो गए, वार्षिक से बदलकर मौसमी हो गए, लिखित से मौखिक हो गए और औपचारिक से बदलकर अनौपचारिक हो गए।

उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा राजस्थान को छोड़कर, जहाँ भू-स्वामी के वैयक्तिक खेती के लिए भूमि के पुनर्ग्रहण के अधिकार पर रोक लगा दी गई थी, अन्य जगहों पर भू-स्वामियों ने अपनी वैयक्तिक खेती करने के नाम पर जमीनों से काश्तकारों को जबर्दस्ती बेदखल कर दिया। बेदखल काश्तकारों को वही जमीन उन्हें औपचारिक रूप से काश्तकार पंजीकृत कराए बिना पट्टे पर दे दी गई। धीरे-धीरे अन्य राज्य भी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल का अनुकरण करने लग गए।

हरित क्रांति की वजह से भी काश्तकारों को बड़े पैमाने पर बेदखल कर दिया गया, क्योंकि अब खुद खेती

करना ज्यादा लाभदायक बन गया। पंजाब में बहुत से भू-स्वामियों ने काश्तकारों को बेदखल करके भूमि को अपने प्रबन्ध के अधीन कर लिया। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा आंध्र प्रदेश में बहुत से भू-स्वामियों ने वैयक्तिक खेती के लिए जमीन का पुनर्ग्रहण कर लिया। वे बड़े पैमाने की खेती करके ट्रेक्टरों, उर्वरकों के इस्तेमाल से उत्पादन की बेहतर तकनीकें अपनाने लगे हैं।

पट्टेदारी की सुरक्षा प्रदान करने का उद्देश्य आंशिक रूप से ही पूरा किया जा सका। कानून द्वारा गारंटित सुरक्षा, भू-स्वामी के वैयक्तिक खेती के लिए भूमि के पुनर्ग्रहण के अधिकार के अधीन थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से मामलों में काश्तकार की हैसियत स्वयं खेती करने वाले भू-स्वामी के खेतिहर मज़दूर जैसी रह गई। इसके अलावा, अधिकांश काश्तकारी करार औपचारिक रूप से पंजीकृत नहीं होते थे, इसलिए भू-स्वामी आसानी से उनकी विद्यमानता से ही इन्कार कर सकते थे। इसका परिणान यह हुआ कि काश्तकारी कानूनों के पास होने के बाद, बड़े पैमाने पर काश्तकारों की बेदखली होने लगी और "शुद्ध काश्तकार" जोतों का प्रतिशत 1953-54 के 17 प्रतिशत से घटकर 1960-61 में 4.2 प्रतिशत ही रह गया (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, आठवाँ और सत्रहवाँ चक्र)।

"पूर्णतः स्वामित्व" वाली जोतों के प्रतिशत में तदनुरूप वृद्धि हो गई। इस प्रकार की जोतें इस अवधि के दौरान 60 प्रतिशत से बढ़कर 71.6 प्रतिशत हो गई है।

काश्तकारी कानूनों का एक अन्य उद्देश्य, खेती करने वाले को उपज के एक न्यूनतम हिस्से की गारंटी दिलाना था। पंचवर्षीय योजना के मार्ग निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार भू-स्वामी का हिस्सा कुल उपज का 20-25 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए, लेकिन राज्य के कानूनों द्वारा इस हिस्से को बढ़ाकर 25 से 33.3 प्रतिशत तक कर दिया गया लेकिन इन मानों को ग्रामीण क्षेत्रों के कुछ ही हिस्सों में माना जाता है, अधिकांश हिस्सों में भू-स्वामी कानून के विरुद्ध जाकर उपज का आधा हिस्सा मांगते और पाते हैं।

5.5.4 काश्तकारी पर प्रौद्योगिकी का न्यूनाधिक प्रभाव

नई प्रौद्योगिकी का काश्तकारी पर प्रभाव कहीं अधिक तो कहीं कम रहा है। पंजाब में श्रमिक अपेक्षाकृत दुर्लभ हैं। वहाँ लाभदायक प्रौद्योगिकी की वजह से काश्तकारों की बेदखली कर दी गई, मालिक द्वारा खेती की जाने वाली जोतों के आकार का विस्तार हो गया, प्रतिलोम काश्तकारी हो गई, मशीनीकरण हो गया, तनावों के बिना उत्पादकता में वृद्धि हो गई। ऐसा ही वाणिज्यिक दृष्टि से समुन्नत गुजरात में भी हुआ जहाँ बड़ा किसान छोटे किसानों से जमीन पट्टे पर ले लेता है। घनी आबादी वाले पश्चिम बंगाल में, जहाँ लगान उपजीविता गैर-खेतिहर छोटे मालिकों में बहुत फैली हुई है, वहाँ लाभदायक प्रौद्योगिकी ने मालिक को बड़े परिवार वाले छोटे काश्तकार के साथ लागत-भागीदारी की ओर धकेल दिया। पश्चिमी गोदावरी जिले जैसे घनी आबादी वाले किन्तु बड़े मालिक-खेतिहर-व-लगान उपजीवी जोतों वाले क्षेत्र में भी बढ़े हुए लगानों के साथ लागत भागीदारी की ओर झुकाव हो गया है। लेकिन इस मामले में लागत भागीदारी के साथ हिस्सा काश्तकारी एक संक्रमणात्मक व्यवस्था ही है। व्यस्ततम खेती कार्य के समय जैसे-जैसे ठेका मज़दूर प्रबंध बढ़ता है, हिस्सा काश्तकारी का स्थान, गैर-मशीनी मालिक खेतिहर बड़े फार्म ले लेते हैं। मशीनों के जरिए खेती करने का मार्ग ज्यादा आसान होता है। लेकिन यदि मशीनीकरण की प्रक्रिया को तेज किया गया तो यहाँ तनाव पैदा होने की संभावनायें बढ़ेंगी। उड़ीसा में छोटे काश्तकारों द्वारा फसल लगाने का काम चालू है और नई निविष्टियाँ खरीदने के लिए कर्ज लेने पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। उत्कृष्ट प्रौद्योगिकी ने संस्थाओं को आवश्यकता के अनुरूप स्वयं को ढालने की ओर प्रेरित किया है। पट्टेदारी के संबंधों के स्वरूप में तभी थोड़ा परिवर्तन आता है जब लाभदायक प्रौद्योगिकी उपलब्ध न हो। लेकिन समानता से संबंधित मुद्दा और निरंतर विकास पर उसके प्रभाव के साथ-साथ प्रौद्योगिकी के लाभों में व्यापक हिस्सेदारी अभी भी प्रासंगिक मुद्दा बना हुआ है।

बोध प्रश्न 2

1) भूमि सुधारों के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य कौन से हैं? (एक वाक्य में उत्तर लिखिए)

.....

.....

2) फसल बँटाई के स्वरूप का 50 शब्दों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) काश्तकारी सुधारों की प्रमुख सीमाएँ कौन-कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.6 जोतों की उच्चतम सीमा

भूमि सुधार संबंधी कानून अपने तीसरे उद्देश्य अर्थात् खेती की जोतों की उच्चतम सीमा लागू करने में बुरी तरह से असफल हो गया। प्रारंभ में यह आशा की जाती थी कि कानूनी रूप से निर्धारित उच्चतम सीमा से अतिरिक्त भूमि को राज्य अपने अधीन कर लेगा और फिर उसे भूमिहीनों तथा छोटे किसानों में वितरित कर दिया जाएगा ताकि भूमि स्वामित्व में असमानता को कम किया जा सके। स्वयं योजना आयोग की रिपोर्ट के अनुसार 1960-61 में 10 लाख हैक्टेअर भूमि ही अतिरिक्त भूमि के रूप में प्राप्त की जा सकी और उसका भी आधा ही, यानी लगभग 5 लाख हेक्टेयर भूमिहीनों में पुनर्वितरित हो पाया जबकि कुल बुवाई क्षेत्र 13.3 करोड़ हैक्टेयर था (पाँचवी पंचवर्षीय योजना का मसौदा)। सरकार द्वारा प्राप्त इस अतिरिक्त भूमि के अधिकांश भाग को भू-स्वामियों द्वारा दायर मुकदमों के कारण रोक दिया गया।

5.6.1 असफलता के कारण

भूमि हदबंदी कानूनों की इस असफलता के बहुत से कारण थे :

i) अधिकांश कानूनों में छूटों की एक लंबी सूची दी हुई थी, उदाहरणतः पश्चिम बंगाल में मत्स्य पालन फार्म, बागान तथा उद्यान इस कानून के प्रचालन से मुक्त थे। एक सामान्य कमी यह थी कि धार्मिक ट्रस्टों की भूमि को इससे छूट दी गई थी, इसके कारण बहुत से भू-स्वामियों ने अपनी बेशी भूमि एक ट्रस्ट बनाकर उसके नाम अंतरित कर दी।

ii) एक बड़े पैमाने पर भूमि का परिवार के अन्य सदस्यों (जबकि पूरा परिवार एक इकाई के रूप में ही खेती करता था), गैर-मौजूदा व्यक्तियों और ऐसे व्यक्तियों के नाम छद्म अंतरण कर दिया गया जिन्हें इस तरह के अंतरण की कोई जानकारी ही नहीं थी। इस संदर्भ में, कानून को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए, सरकार को प्रत्येक व्यक्ति के कुल भू-स्वामित्व का आकलन करना चाहिए था। यह कार्य इतना दुरूह था कि अपनी अदक्षता के कारण भारतीय नौकरशाही के लिए भू-स्वामित्व से संबंधित दबाई गई सूचना तथा कदाचारी अंतरणों की जाँच कर पाना लगभग असंभव था।

iii) भारत के भूमि वितरण के घोर वैषम्य और 2.63 हैक्टेयर के औसत जोत आकार को देखते हुए उच्चतम सीमा का स्तर काफी ऊँचा रखा गया था। इसके अतिरिक्त, जोतों पर संयुक्त परिवार एक इकाई के रूप में खेती करते थे, इसलिए इस तर्क में काफी वज़न है कि उच्चतम सीमा प्रति परिवार के आधार पर नियत की जाए।

5.6.2 राजनीतिक इच्छा के बिना हदबंदी सीमा कानून

आदर्श स्थिति तो यह होती कि हदबंदी कानून भूमि के वितरण में ऐसे परिवर्तन लाते जिससे स्वामित्व वाली जोतों तथा प्रचालन जोतों में असमानता घटे। लेकिन पचास के दशक में देश के अंदर सत्ता ढाँचे का जिस तरह विकास हुआ उसने हदबंदी कानून को क्रांतिकारी ढंग से लागू नहीं होने दिया। पचास के दशक में राज्य स्तर पर राजनीतिक सत्ता ग्रामीण भू-स्वामियों के हाथ में आ गई और बड़े-बड़े भूपति ग्रामीण वोटों के प्रभावी दलाल बन गए।

किन्तु सत्तर के दशक के प्रारंभ में, भूमि की हदबंदी के बारे में राजनीतिक समर्थन तथा जनता की रुचि में परिवर्तन आया और केन्द्रीय भूमि सुधार समिति (1971) ने सुझाव दिया कि सर्वोत्तम भूमि के लिए 10 एकड़ से लेकर सबसे खराब जमीन की 54 एकड़ की हदबंदी होनी चाहिए। इसमें बड़े परिवार को देखते हुए कुछ बढ़ोत्तरी भी की जा सकती है। बहुत सी पुरानी खामियों को दूर करने का भी सुझाव दिया गया जैसे हदबंदी व्यक्ति की अपेक्षा परिवार के आधार पर की जाए, बहुत सी छूटों जैसे कार्यकुशल फार्मों, गन्ना फार्मों, उद्यान आदि पर मिलने वाली छूटों को समाप्त किया जाए। भूमि अंतरणों को खत्म करने के लिए हदबंदी को काश्तकारी सुधारों, सहकारिताओं तथा जोतों की चकबंदी के साथ एकीकृत करना होगा।

5.6.3 नया उच्चतम सीमा या हदबंदी कानून तथा वास्तविकता का अहसास

पचास के दशक में लाए गए भूमि सुधारों से बहुत कम भूमि अतिरेक के रूप में वितरण के लिए प्राप्त की जा सकी और काश्तकारों को स्वामित्व अधिकार प्रदान करने के काम में कोई खास सफलता हासिल नहीं हो सकी। लेकिन हदबंदी कानूनों की उपस्थिति तथा काश्तकारों को स्वामित्व देने की संभावना की सतत धमकी बने रहने से लोगों ने एहतियाती उपाय अवश्य कर लिए। बहुत बड़े भूपतियों ने अपनी भूमियों का विभाजन करना शुरू कर दिया। गैर-मौजूदा भू-स्वामियों ने अपनी भूमि निवासी स्वामियों को बेचनी शुरू कर दी। मालिक खेतिहर-व-लगान उपजीवियों ने अपने बँटाईदार काश्तकार को स्थायी फार्म नौकर के रूप में बदल दिया। रिकार्डों के अनुसार कोई बेशी जोतें नहीं थी और काश्तकारी भी बहुत कम रह गई, जो कानून की परिधि में नहीं आती थी।

भारत के बहुत से भागों में, भू-स्वामियों ने स्थानीय नौकरशाही से साठगाँठ करके बहुत बड़ी संख्या में काश्तकारों को बेदखल करवाकर स्वयं खेती करने के लिए भूमि का पुनर्ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों, विशेष रूप से बिहार, उड़ीसा, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश में, भू-स्वामी अपनी सत्ता तथा प्रभाव का इस्तेमाल करके बहुत बड़ी-बड़ी जोतें अपने पास रखने में सफल हो गए। काश्तकारी सुधार के संबंध में विभिन्न राज्यों के विधानमंडलों ने बहुत से कानून बनाए, जिनके अनुसार लगान अधिक से अधिक कुल उपज के एक तिहाई से लेकर एक बटे पाँच हिस्से तक तय कर दिया गया। इस मामले में, विभिन्न राज्यों में वास्तविक सफलता में भिन्नता रही है। सामान्यतः, कानून के आदेश की अपेक्षा बाजार स्थितियाँ ज्यादा असरदार रहीं। चकबंदी के मामले में भी विभिन्न राज्यों के बीच काफी अंतर रहा है।

बहुत से कानून बनाए जाने के बावजूद जोतों की हदबंदी करने तथा बेशी भूमि को भूमिहीन तथा गरीब किसानों में वितरित करने के सभी प्रयास लगभग निष्फल सिद्ध हुए हैं। इसीलिए, छठी पंचवर्षीय योजना के प्रारूप के अनुसार 31 जुलाई, 1977 में अनुमानित बेशी भूमि क्षेत्र 225 लाख हैक्टेयर था जिसमें से केवल 16.3 लाख हैक्टेयर क्षेत्र बेशी घोषित किया गया और उसमें से केवल 5.2 लाख हैक्टेयर को ही वास्तव में वितरित किया जा सका। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनुमानित बेशी भूमि के सरकारी आँकड़े वास्तविक स्थिति का एक अंश मात्र होते हैं, क्योंकि ये बड़ी स्वामित्व वाली जोतों से संबंधित सर्वेक्षण आँकड़ों से आकलित किए जाते हैं। किन्तु राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण पर आधारित कुछ अनुमानों के अनुसार बेशी क्षेत्र 87.0 लाख हैक्टेयर के आस-पास होना चाहिए जो सरकारी एजेंसियों के अनुमानों से चौगुना बैठता है। यह स्पष्ट है कि धनी-भूस्वामी भू-राजस्व प्रशासन की सक्रिय साठगाँठ के जरिए हदबंदी अधिनियमों से अपने को बचा लेने में सफल होते रहे हैं।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बहुत से राज्यों में दूखासी ज़मींदारी व्यवस्था के उन्मूलन के जरिए कृषिक संरचना में एक प्रमुख परिवर्तन ला दिया गया है। हालाँकि, सभी मामलों में भूमि वास्तविक खेतिहरों तक अभी तक नहीं पहुँच पायी है। बहुत से मामलों में, काश्तकारों को बड़े पैमाने पर बेदखल कर दिया गया और बड़े-बड़े किसान बड़ी जोतों को अपने पास रखने में सफल हो गए। यह बात विशेष रूप से पूर्वी भारत में बिहार तथा उड़ीसा तथा राजस्थान और मध्यप्रदेश के बारे में सही है क्योंकि सभी उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार इन राज्यों में युगों पुराने अर्द्ध सामंती संबंधों को तोड़ने में बहुत कम सफलता मिल पाई है। अन्य राज्यों में भी भूमि सुधार कानून भूमि की जोतों में व्याप्त व्यापक असमानता को कम करने में असफल सिद्ध हुए हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों से संकेत मिलता है कि भूमि वितरण के

क्षेत्र में अभी भी बहुत अधिक असमानता व्याप्त है। कृषि-गणना के आँकड़े भी यही बतातें हैं कि भूमि वितरण के क्षेत्र में असमानता काफी बढ़ गई है। कृषि के क्षेत्र में कार्यरत जनसंख्या में बहुत तेजी से वृद्धि हो रही है (लगभग जनसंख्या वृद्धि की दर से), इसलिए प्रति मज़दूर खेती-भूमि की उपलब्धता में तेजी से गिरावट आयी है।

5.6.4 भूमि अधिकारों के रिकार्ड तैयार करना

भूमि सुधार कार्यक्रम को लागू करने के लिए उपयुक्त भू-रिकार्ड रखना बहुत जरूरी है। कृषि सुधारों को लागू करने में जो सबसे बड़ी बाधा आती है वह अधिकारों के ठीक तथा अद्यतन (uptodate) भूमि रिकार्डों का अभाव है। केरल में अद्यतन भू-रिकार्डों की अनुपस्थिति कोई बड़ी बाधा सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि केरल के किसान अन्य राज्यों के किसानों की तुलना में सुसंगठित है। काश्तकारों में संगठन का अभाव और उनकी नाजुक आर्थिक अवस्था ने उन्हें पुरानी शोषणकारी संस्थाओं के साथ बंधे रहने पर मजबूर किया है। दस्तावेजों के अभाव में, बँटाई काश्तकारी व अन्य करार मौखिक होते हैं और इससे काश्त की असुरक्षा बरकरार रहती है। भूमि अधिकारों के रिकार्डों को आधुनिक बनाने तथा काश्तकारों और अन्य असुरक्षित धारकों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

अधिकांश राज्य भूमि सुधार कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक लागू करने में असमर्थ रहे हैं, लेकिन पश्चिम बंगाल, कर्नाटक तथा केरल, कुछ ऐसे राज्य हैं जिन्होंने भूमि सुधार कार्यक्रमों के कुछ पहलुओं को लागू करने में एक हद तक सफलता हासिल की है। इस संबंध में हम पश्चिम बंगाल में फसल बँटाईदारों के पंजीकरण, कर्नाटक में भूमि न्यायाधिकरणों की स्थापना तथा केरल में काश्तकारों को कब्जा-अधिकार प्रदान करने आदि का विशेष रूप से उल्लेख कर सकते हैं।

5.7 भूमि-सुधार कार्यक्रम के असफल होने के कारण

भारत में भूमि-सुधार कार्यक्रम के असफल होने के कई कारण हैं। पहला और सबसे बड़ा कारण तो उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं में राजनीतिक इच्छाशक्ति तथा प्रेरणा का अभाव है जो विभिन्न भूमि-सुधार कार्यक्रमों को लागू करने के लिए जिम्मेवार हैं। भूमि-सुधार कार्यक्रम को लागू करने के लिए सरकारी समर्थन जरूरी है। देश में विद्यमान सत्ता-ढाँचा भूमि-सुधार कार्यक्रम के सफल कार्यान्वयन में बाधक है। यदि भूमि-सुधार कार्यक्रम को ईमानदारी से लागू कर दिया जाए तो यह वर्तमान सत्ता-ढाँचे को बदल देगा और वह ग्रामीण निर्धनों के पक्ष में हो जाएगा। वर्तमान में, भूमि-सुधार कार्यक्रम को लागू करने की राजनीतिक इच्छा बहुत कमजोर है।

यदि पर्याप्त राजनीतिक इच्छा शक्ति तथा प्रेरणा विद्यमान होती तो कम से कम अद्यतन भूमि रिकार्डों को तैयार करने के प्रयास ईमानदारी से किए जा सकते थे। पश्चिम बंगाल की सरकार द्वारा फसल बँटाईदारों को रजिस्टर करके उनके अधिकारों के रिकार्ड तैयार करने की दिशा में जो ईमानदारी के साथ प्रयत्न किए गए हैं वे इस बात के उदाहरण हैं कि राजनीतिक इच्छा किस प्रकार अपनी भूमिका निभा सकती है।

हदबंदी कानून को भी प्रभावी ढंग से लागू करने में सही राजनीतिक प्रेरणा महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

भूमि-सुधार कार्यक्रम के असफल होने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण काश्तकारी कानून, हदबंदी कानून आदि में बहुत से बचाव के रास्तों का सहारा लेकर भूमि-सुधार कानून का अपवंचन है। बचाव के इस तरह के रास्ते बहुत से गिनाए जा सकते हैं, जैसे कुछ विशेष तरह की जमीनों को हदबंदी कानून से मुक्त करना, काश्तकारी कानून में भू-स्वामियों को वैयक्तिक खेती के लिए भूमि के पुनर्ग्रहण का अधिकार देना आदि। ये सभी बातें बेनामी अंतरणों को जन्म देती हैं।

भूमि-सुधार कार्यक्रम और विशेष रूप से काश्तकारी कानूनों को लागू करने के मार्ग में तीसरी मुख्य बाधा जनांकिकीय कारक अर्थात् प्रतिकूल भूमि-व्यक्ति अनुपात है। एक ऐसे देश में जहाँ जनसंख्या संवृद्धि की दर बहुत ऊँची है और जहाँ गैर-कृषि क्षेत्र उतनी तेजी से संवृद्धि नहीं कर रहा ताकि बेशी जनसंख्या को अपने में समाहित कर सके, तो ऐसी स्थिति में भूमि-सुधार कार्यक्रम लागू कर पाना कठिन हो जाता है। भूमि की बहुत कमी होने के कारण काश्तकार भूमि को पट्टे पर लेने तथा भू-स्वामी द्वारा थोपी गई शर्तों को मंजूर करने को बाध्य हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि काश्तकारों को भूमि से बेदखल कर दिया जाता है और औपचारिक काश्तकारी करार के स्थान पर अनौपचारिक काश्तकारी करार होने लगते हैं।

चौथे, सरकार ने भूमि-सुधार कार्यक्रमों को लागू करने में नौकरशाही या प्रशासनिक तंत्र पर जरूरत से ज्यादा निर्भरता दिखाई। गाँव के स्तर पर मालगुजारी प्रशासन के लिए जिम्मेदार पटवारी न केवल भ्रष्ट होने अपितु अदक्ष होने के लिए भी कुख्यात हैं। भूमि-सुधार कार्यक्रमों को लागू करने के प्रभारी के रूप में यदि कोई अफसर ईमानदार भी हो तब भी वह अप्रभावी हो जाता है क्योंकि ऊपर के भू-स्वामियों का सरकारी स्तर पर काफी प्रभाव होता है। भूमि में निहित स्वार्थ रखने वाले तत्वों का देश के सत्ता ढाँचे में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

पाँचवें, नीतिगत उपायों के गलत कार्यान्वयन को केवल एक सुदृढ़ कृषक संगठन के द्वारा ही रोका जा सकता है। देश के कुछ भागों, जैसे केरल, पश्चिम बंगाल तथा पंजाब के कुछ इलाकों को छोड़कर, कहीं भी मजबूत किसान संगठन विद्यमान नहीं है। ग्रामीण संगठन और सामाजिक संस्थाएँ कमजोर हैं।

बोध प्रश्न 3

1) भूमि हदबंदी कानूनों के असफल होने के क्या कारण हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में भूमि सुधार विफल हो गए हैं, ऐसा आप क्यों सोचते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.8 सारांश

पहली पंचवर्षीय योजना लागू किए लगभग 40 वर्ष बीत चुके हैं। इन 40 वर्षों के बाद भी प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा निर्धारित अधिकांश उद्देश्य पूरे नहीं हो पाए हैं। गैर-खेतिहर भू-स्वामी अभी भी काश्तकारों का शोषण कर रहे हैं। भूमि का असमान वितरण अभी भी चालू है। भूमि-सुधार कार्यक्रम पश्चिम बंगाल, केरल और कर्नाटक में तो आंशिक रूप से लागू किए गए हैं परन्तु बाकी इलाकों में अभी भी बड़ी धीमी गति से ही लागू किए जा रहे हैं। भूमि-सुधार कार्यक्रमों ने, जो गरीब किसानों को पट्टेदारी की सुरक्षा प्रदान करने के लिए चालू किए गए थे, असुरक्षा तथा अनिश्चितता को जन्म दिया है। काश्तकारी कानूनों ने कोई उपयुक्त वैकल्पिक व्यवस्था दिए बिना, दीर्घकाल से चले आ रहे पारंपरिक पट्टा प्रबंधों को तहस-नहस कर दिया।

जो कृषिक संरचना उभरकर आयी है वह यह दिखाती है कि एक चौथाई से कम ग्रामीण परिवारों का 70 प्रतिशत से अधिक जमीन पर नियंत्रण कायम है और अन्य एक तिहाई का 30 प्रतिशत से कम भूमि पर और शेष दो बटे पाँच, जिनमें अधिकांश भूमिहीन खेतिहर मज़दूर हैं, मज़दूरी पर रोज़गार प्राप्त करने पर

निर्भर हैं। यह संभावना बनी हुई है कि मज़दूरों की इस संख्या तथा प्रतिशत में वृद्धि बनी रहेगी। इसमें संदेह नहीं कि प्रौद्योगिकी का प्रयोग तथा उसके संलग्न प्रभाव कुछ चुनींदा क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। पानी, जल निकास तथा बिजली में सरकारी निवेश की कमी के कारण उत्पादन सामर्थ्य पर अंकुश लग रहा है और बहुत बड़े क्षेत्र में ये तीनों उपलब्ध ही नहीं हैं। जनांकिकीय दबाव और साथ ही भूमिहीनों के अन्य कामों में न लग पाने से गरीबों की दशा में सुधार होने की आशा और भी क्षीण हो गई है। भूमि पर हदबंदी द्वारा नियंत्रण को व्यापक रूप से फैलाने के सारे क्रांतिकारी कदम राजनीतिक बाधाओं के सामने बेअसर होते जा रहे हैं। लेकिन लोकतांत्रिक ढाँचे के अंतर्गत राजनीतिक औचित्य की यह माँग है कि गरीबों के हितों की रक्षा के लिए कदम उठाए जाएँ। राजनीतिक बाधाओं की वास्तविकता और राजनीतिक औचित्य की आवश्यकताओं के बीच यह संघर्ष सरकारी नीति में गंभीर दुविधाएँ पैदा कर देता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि घनी आबादी वाली कृषिक अर्थव्यवस्थाओं में भूमि-सुधार और इसके स्वरूप के बारे में फिर से विचार किया जाए।

5.9 शब्दावली

जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन—खेतिहर तथा राज्य के बीच सभी बिचौलियों को खत्म करना। इसका उद्देश्य कृषि व्यवस्था में सुधार करना था।

जोतों की हदबंदी (उच्चतम सीमा निर्धारित करना) : मुख्यतया एक पुनर्वितरणकारी उपाय। इसके पीछे बुनियादी विचार यह है कि भूमि जो एक महत्वपूर्ण परिसम्पत्ति है, उसका इस ढंग से वितरण किया जाए कि वर्तमान भू-धारकों से कुछ प्राथमिकताओं के आधार पर उच्चतम सीमा से अधिक भूमि अधिग्रहण कर ली जाए। भूमि की हदबंदी का मामला इसलिए उठा कि भूमि की निरपेक्ष तथा स्थायी रूप से कमी होती है और उसका वितरण भी असमान है।

कृषक : इसमें स्थिर दर काश्तकार, विशेषाधिकार प्राप्त काश्तकार, गैर-स्वत्व काश्तकार, वंशानुगत काश्तकार, काबिज काश्तकार, वाटिकाधारक, लगान मुक्त आदाता, तथा अनुकूल लगान दर पर आदाता या मालिक-खेतिहर शामिल हैं।

भूमि-सुधार : इसमें जमीन के स्वामित्व, नियंत्रण तथा उपयोग के प्रचालित प्रतिरूप में ऐसा हस्तक्षेप करना शामिल होता है जिसके अनुसार जोतों की संरचना को बदल दिया जाए, भूमि की उत्पादकता में सुधार किया जाए और लाभों के वितरण को व्यापक बनाया जाए। व्यवहार में, जनसंख्या में वृद्धि, सीमित भूमि क्षेत्र पर दबाव या भूमि अथवा आय के समान वितरण पर आधारित समानता के विचारधारा, जैसे कारकों से उत्पन्न होने वाले सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए राजनीतिक दबावों की के फलस्वरूप भूमि-सुधार का अनुसरण किया जाता है। भूमि-सुधार से राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक आयाम परस्पर जुड़े हुए हैं और इन सबकी आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका है।

भू-पट्टेदारी : खेतिहर द्वारा सरकार से या भू-स्वामी से जमीन धारण करने की प्रणाली, इसमें मालगुजारी के भुगतान के लिए जिम्मेवारी निर्धारित करना या उसका बंदोबस्त करना, भूमि में हितों तथा अधिकारों का स्वरूप तय करना तथा निर्धारण की इकाई तय करना शामिल होता है। यह आसान नहीं होता। इसमें अक्सर काफी जटिलताएँ होती हैं और देश के विभिन्न भागों के सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास के अनुरूप इनमें अन्तर होता है। पट्टेदारी के पहलू का संबंध एक ओर भूमि तथा दूसरी ओर भूमि पर विभिन्न हितों, कृषकों, मालिकों, सरकार आदि; के बीच जटिल संबंधों से होता है। यह भूमि के दोहन तथा निविष्टियों के उपयोग की शर्तों को संचालित करती है।

काबिज काश्तकार : ये वे विशेषाधिकार प्राप्त काश्तकार होते हैं जो एक ही भू-खंड पर बारह वर्षों तक निरंतर खेती करते रहने के कारण स्थायी पट्टा ग्रहण कर लेते हैं। उनके अधिकार दाय योग्य (heritable) होते हैं किन्तु कुछ शर्तों को छोड़कर अंतरणीय नहीं होते। उन्हें भूमि से बेदखल नहीं किया जा सकता और उनका लगान भी परस्पर करार या अदालत के आदेश के बिना बढ़ाया नहीं जा सकता।

रैयतवारी पट्टेदारी : इस व्यवस्था के अंतर्गत राज्य व्यक्तिगत रैयत से सीधे संबंध रखती है और किसी बिचौलिए का कोई स्थान नहीं होता। व्यक्तिगत आधार पर या ग्राम समुदाय के आधार पर अस्थायी बंदोबस्त किया जाता है। पट्टेदारी के इन दोनों प्रकारों के बीच मुख्य अंतर राजकोषीय होता है। रैयतवारी प्रथा के अंतर्गत किसान लगान सीधे सरकार को अदा करता है जबकि भू-स्वामी पट्टेदारी के अंतर्गत भू-स्वामी लगान निर्धारण के अधीन लगान देता है। सरकार को दी जाने वाली मालगुजारी 20-30 वर्षों के लिए

निर्धारित की जाती है। यह प्रणाली मुख्य रूप से महाराष्ट्र, गुजरात, असम, तमिलनाडु तथा मध्य प्रदेश में प्रचलित है।

गैर मौरूसी काश्तकार : इसका भूमि पर कोई अधिकार नही होता और भू-स्वामी जब भी चाहे इसे बेदखल कर सकता है।

ज़मींदारी व्यवस्था : किसान और राज्य के बीच बिचौलियों की एक व्यवस्था।

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् (1990): *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस. चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा.)लि., नई दिल्ली, अध्याय 26 एवं 27 ।

नाथूरामका, लक्ष्मी नारायण (1990) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, अध्याय 13, 14, एवं 15 ।

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी (1989) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, अध्याय 22।

Bandyopadhyay, Nripen (1989) : The Story of Land Reforms in Indian Planning (available in A.K. Bagchi (ed) *Economy, Society and Polity).*

Bhalla, G.S. (1981) : Agrarian Change in India since Independence (available in S.K. Bose (ed) *Essays in Honour of Dr. Gyanchand* , New Delhi, Peoples Publishing House, pp. 198-211).

John, P.V. (1968) : *Some Aspects of the Structure of Indian Agricultural Economy,* 1947-48 to 1961-62, Asia Publishing House, Bombay, Chapter 4.

Khusro, A.M. (1973) : *The Economics of Land Reform and Farm Size in India,* New Delhi, Macmillan Co. of India Ltd., Chapters 1-3, PP. 3-26.

Khusro, A.M. (1975) : Land Reforms Since Independence (available in V.B. Singh (ed.) *Economic History of India* : 1857-1956; Allied Publishers Pvt. Ltd., New Delhi).

Laxmi Narayan, H. and S.S. Tyagi (1982) : *Changes in Agrarian Structure in India,* Agricole Publishing Academy, New Delhi, Chapter 3.

Parthasarathy, G. (1979) : Land Reform and the Changing Agrarian Structure (available in C.H. Shah and C.N. Vakil (ed.) *Agricultural Development of India : Policy and Problems*, New Delhi, Orient Longmans).

Thorner, Daniel and Alice (1974) : *Land and Labour in India,* Asia Publishing House, Bombay, Chapters 2, 3, 4, 13-15.

Thorner, Daniel (1976) : *The Agrarian Prospect in India* , Second Edition, Allied Publishers Ltd., New Delhi.

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर या संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 5.2 देखिए और उत्तर लिखिए।
2) अंतर इसलिए पैदा होता है कि कुछ क्षेत्र पट्टे पर ले लिया जाता है। भाग 5.3 देखिए।
3) मुख्यतः दो कारण हैं—काश्तकारी कानूनों द्वारा काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार तथा स्वयं खेती के लिए जोत का अधिग्रहण।
4) जनबल, पशुबल आदि के अनार्थिक प्रयोग तथा मेड़बंदी, कुआँ खोदने आदि कार्यों पर संसाधनों के व्यय के कारण उत्पादन लागत बढ़ जाती है।

बोध प्रश्न 2

1) दो महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं, परिसंपत्ति वितरण में असमानता कम करना तथा भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करना।
2) उपभाग 5.5.1 देखिए और उत्तर लिखिए।
3) उपभाग 5.5.1 देखिए और उत्तर लिखिए।

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 5.6.1 देखिए और उत्तर लिखिए।
2) भाग 5.7 देखिए और उत्तर लिखिए।

काई 6 स्वतंत्र भारत में ग्रामीण ऋण

ाई की रूपरेखा

उद्देश्य
प्रस्तावना
ग्रामीण ऋण समस्या के मुख्य तत्व
समाधान के लिए मुख्य आवश्यकताएँ
साख-स्रोतों का स्वरूप
6.4.1 निजी साख के कुछ अन्य पक्ष
6.4.2 व्यावसायिक बैंकों एवं केन्द्र और राज्य सरकारों की भूमिका
6.4.3 सहकारी एजेंसी की भूमिका
6.4.4 एकीकृत योजना
6.4.5 रिज़र्व बैंक की भूमिका
ग्रामीण ऋण प्रणाली में सुधार
6.5.1 ऋण और संवृद्धि
6.5.2 राष्ट्रीय स्तर से फार्म स्तर तक ऋण के वितरण के प्रमुख माध्यम
6.5.3 कृषकों को ऋण वितरण में सुधार
कृषि ऋण हेतु निधि-स्रोत : नयी प्रवृतियाँ
6.6.1 संसाधन आधार
6.6.2 ऋण लेन-देन की लागत और ब्याज दरों में अंतर
6.6.3 गैर-मौद्रिक लागत
6.6.4 औपचारिक और अनौपचारिक ऋण लेन-देन की लागतों की तुलना
नीतियों में परिवर्तन : किसानों को ऋण प्राप्त करने में सुविधा
6.7.1 अनुषंगी कार्यालय
6.7.2 दायित्व (tie-up) प्रबंध
6.7.3 परामर्शदायी सेवाएँ
6.7.4 विकेंद्रित निर्णय : कागजी कार्यवाही से बचाव
6.7.5 प्रक्रियाओं का सरलीकरण
संस्थागत ऋणदाताओं की समस्याएँ
6.8.1 मनोवैज्ञानिक अवरोध
6.8.2 क्षेत्रीय समन्वय का अभाव
6.8.3 रियायती ब्याज और आर्थिक सहायता
सुधार के लिए सुझाए गए उपाय
0 सारांश
1 शब्दावली
2 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3 बोध प्रश्नों के उत्तर

इकाई में प्रयुक्त संकेताक्षर

बी डी—एग्रीकल्चरल बैंकिंग डिवीज़न—कृषिक बैंकिंग प्रभाग
डी बी—एग्रीकल्चरल डेवलपमेंट ब्रांच—कृषि विकास शाखा
एम सी बी—आल शेड्यूल कमर्शियल बैंक्स—सभी अनुसूचित व्यावसायिक बैंक
सी बी—कमर्शियल बैंक्स—व्यावसायिक/वाणिज्यिक बैंक
सी सी बी—सेंट्रल को-ऑपरेटिव बैंक्स—केंद्रीय सहकारी बैंक
एच ए—हेक्टेयर—हेक्टेयर
एल डी बी—लैंड डेवलपमेंट बैंक्स—भू-विकास बैंक
एम एच ए—मिलियन हैक्टेयर्स—मिलियन हेक्टेयर
नाबार्ड—नेशनल बैंक फॉर एग्रीकल्चर एंड रूरल डेवलपमेंट—राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक
पी सी एस—प्राइमरी एग्रीकल्चरल क्रेडिट सोसाइटीज़—प्राथमिक कृषि साख समितियाँ
पी एल डी बी—प्राइमरी लैंड डेवलपमेंट बैंक्स—प्राथमिक भू-विकास बैंक
एस सी बी—शेड्यूल्ड कमर्शियल बैंक्स—अनुसूचित व्यावसायिक बैंक

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- ग्रामीण साख से संबंधित समस्याओं को पहचान सकें।
- स्वस्थ ग्रामीण ऋण प्रणाली हेतु कसौटी तय कर सकें।
- विभिन्न स्रोतों से फार्मों को होने वाले ऋण वितरण के मार्गों को पहचान सकें।
- ग्रामीण ऋण प्रणाली की व्यवस्था में सुधार लाने के उपाय सुझा सकें।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय रिज़र्व बैंक ने अगस्त 1951 में अपने इस निर्णय की घोषणा कर दी कि ग्रामीण ऋण के क्षेत्र में दीर्घकालीन नीति निर्धारित करने के लिए एक तात्त्विक आधार प्राप्त करने हेतु सारे देश में एक विस्तृत सर्वेक्षण प्रायोजित किया जाए। बैंक ने एक विशेषज्ञ निदेशन समिति की नियुक्ति कर दी। निदेशन समिति ने क्षेत्र अन्वेषण का एक विस्तृत कार्यक्रम बनाया जिसके अंतर्गत 1951-52 में भारत के 302 प्रशासनिक ज़िलों में से 75 के 600 गाँवों में अन्वेषण कार्य किया गया। सर्वेक्षण प्रारंभ होने के तीन साल बाद अगस्त, 1954 में समिति ने इस दिशा में अपनी सिफारिशें तैयार कर लीं। कृषि ऋण यदि प्राप्त न हो सके तो किसान के लिए समस्या उठ खड़ी होती है। यह समस्या उस समय और भी विकट हो उठती है जब ऋण मिल तो जाता है, किन्तु इस रूप में कि कुल मिलाकर उससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो। यह कहा जा सकता है कि भारत में ग्रामीण ऋण के क्षेत्र में अपर्याप्तता और अनुपयुक्तता की दोहरी समस्या है, जिसका लगातार सामना किया जा रहा है।

6.2 ग्रामीण ऋण समस्या के मुख्य तत्व

अन्य आर्थिक कार्यकलापों की अपेक्षा कृषि के क्षेत्र में वित्त की समस्या अधिक तीव्र है। प्रकृति के अनुरूप कृषि का संबंध ग्रामीण क्षेत्र से है, और जहाँ तक इसके लिए वित्त की व्यवस्था करने की बात है वह अधिकतर देशों में शहरी लोगों द्वारा की जाती है। इसलिए, आमतौर से कृषि ऋण का बहुत छोटा भाग संस्थागत स्रोतों से प्राप्त होता है। अन्य सभी प्रकार के वित्तों की तुलना में यह बहुत अधिक अव्यवस्थित होता है। किन्तु इसका एक मात्र कारण ऋण एजेंसी की प्रकृति ही नहीं है, कृषि अर्थव्यवस्था के भी अपने कई ऐसे लक्षण हैं जिनके कारण यह अन्य उद्योगों से अलग होकर एक विशिष्ट प्रकार का उद्योग बन जाता है। कृषि के प्रमुख लक्षण ये हैं, यथा कार्यकारी इकाई का बहुत छोटा आकार, ऋतुओं की सनक पर निर्भरता और उत्पाद की विनष्टता आदि। कृषि क्षेत्र की ये कठिनाइयाँ आमतौर से सब जगह एक-सी ही होती हैं, जिनके कारण कृषि के लिए आर्थिक सहायता जुटाना बहुत कठिन हो जाता है। साथ ही, इस उद्योग की ओर वित्त आकर्षित करने में भी कठिनाई होती है क्योंकि अपने उपर्युक्त लक्षणों के कारण यह धंधा लाभकारी नहीं प्रतीत होता; हालाँकि व्यावसायिक कृषि की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। खेती करने का आर्थिक स्तर भी बहुत नीचा होता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक सहायता के रूप में किसान को जिस निधि की आवश्यकता होती है, वह अधिकतर उसके उपभोग से ही संबंधित दिखाई देती है, न कि उत्पादन से।

इस देश में कृषि ऋण के मुख्य तत्वों में सिर्फ कृषि के कार्यकलाप हेतु जरूरी पूँजी जुटाने का पक्ष ही शामिल नहीं होता, बल्कि विकास का आर्थिक पक्ष भी इसमें शामिल होता है। साथ ही, हैसियत और भूमि जैसी परिसम्पत्ति के असमान वितरण के फलस्वरूप ऋण पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव को दूर करने वाला सामाजिक पक्ष भी इसके अंतर्गत आता है।

यहाँ सिर्फ इस बात पर गौर करने की आवश्यकता है कि जिन मुद्दों पर ध्यान देना है उनमें एक ओर तो विभिन्न प्रकार के ऋणी आते हैं और दूसरी ओर ऋण देने वाली विभिन्न एजेंसियाँ। इनके अतिरिक्त ऋण की कालावधि और उसका प्रयोजन भी विचारणीय विषय हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ग्रा. ऋण की समस्या के मुख्य तत्वों में से एक प्रमुख तत्व है कालावधि के साथ आवश्यकता और प्रयोजन का समन्वय, और इस पूरी प्रणाली का राष्ट्रीय नीति के उद्देश्यों के साथ समन्वय। राष्ट्रीय नीति का सर्वप्रमुख उद्देश्य यह है कि कृषि उत्पादन की मात्रा को बहुत अधिक बढ़ाया जाए और कृषि वित्त का आकार उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ स्वतः ही बढ़ जाएगा। किन्तु, तथ्य यह है कि भारत में ग्रामीण ऋण की समस्या

सिर्फ विशाल ही नहीं है, अपितु बहुत अधिक पेचीदा भी है। इस संबंध में इस बात को ध्यान में रखना होगा कि यह पेचीदगी आकार की पर्याप्तता के अलावा और भी बहुत-सी महत्वपूर्ण विचारधाराओं से उत्पन्न होती है। इसका नीचे लिखी बातों से संबंध है :

1) सामान्य कसौटी, जिसपर एक उपयुक्त क़िस्म के ऋण को खरा उतरना चाहिए;
2) वर्तमान संस्थागत व्यवस्था के अंतर्गत बाहरी बाधाएँ, और उसके अंदरूनी दोष, जिन्हें या तो दूर किया जाना चाहिए अथवा उनमें सुधार किया जाना चाहिए;
3) निजी ऋणदाता की प्रभावशीलता के प्रतिकारक के रूप में संस्थागत ऋण प्रणाली को और सुदृढ़ बनाना;
4) कृषि उत्पादन को अधिकाधिक करने के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए ऋण प्रणाली को अधिकाधिक संगत बनाया जाए;
5) प्रणाली को सुधारते समय संविधान के मूल निर्देशों का पालन किया जाए।

यह कसौटी पूरी हो जाने पर इसे नीचे लिखे ढंग से व्यवस्थित किया जाए :

1) इसे पर्याप्त लंबी कालावधि के लिए मंजूर किया जाए ताकि जिस क्रिया के लिए ऋण माँगा गया है, वह सुचारू ढंग से पूरा हो सके।
2) इसे कम ब्याज की दर पर मंजूर क़िया जाए।
3) यह पर्याप्त रूप से सुरक्षित और नियमानुकूल हो, और खास तौर पर यह ध्यान रखा जाए कि इसमें ऋण सुविधा का गलत प्रयोग न हो। यह आवश्यक नहीं कि सुरक्षा भौतिक रूप में ही हो, अगर जरूरी हो तो यह ऋण वैयक्तिक भी हो सकता है जो मुख्य रूप से ऋणी की नैतिक मर्यादा और फार्म की सामर्थ्य से सुरक्षित होता है।
4) इसे फार्म की औसत उपज और उसकी भुगतान की क्षमता के अनुरूप रखा जाए, आर्थिक मंदी के समय इस बात का खास तौर से ध्यान रखा जाए।
5) इसे ऐसी संस्थाओं के हाथ में रखा जाए जिनके निदेशकों ने विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया हो और जिन्हें बैंक के काम का वास्तविक अनुभव हो।

हम इनमें से कुछ कसौटियों पर स्वतंत्रता के समय भारत की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे। इनमें से पहली का संबंध ऋण की कालावधि और आर्थिक गतिविधि के बीच संगति से है। निजी कृषि वित्त का प्रयोजन से कोई मतलब नहीं था, लेकिन भुगतान की कालावधि के बारे में, विभिन्न कारणों से, निजी ऋणों की प्रवृत्ति या तो बहुत सख्त थी या फिर बहुत लचीली। जो कुछ थोड़ा-बहुत संस्थागत वित्त औपचारिक रूप से सहकारी संस्थाओं से उपलब्ध था, वह अधिकतया अल्पकालीन प्रयोजन हेतु होता था, जो वास्तव में मध्यकालीन या दीर्घकालीन होना चाहिए था। जहाँ तक प्रयोजन का प्रश्न है, उसके बारे में कोई प्रभावी पर्यवेक्षण नहीं किया जाता था। संस्थागत वित्त के बारे में अंतिम अवलोकन सरकार की ओर से होता था, जो ज्यादा ज़ोरदार होता था। दूसरी कसौटी ब्याज की कम दर से संबंधित थी, निजी वित्त की दृष्टि में ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था, सहकारी वित्त प्रायः इसे प्राप्त करने में असमर्थ था; और सरकारी वित्त जो यत्र-तत्र इस उद्देश्य की प्राप्ति में लगा था, वह बिना किसी योजना और सहयोग के काम कर रहा था। इस बारे में तीसरा उद्देश्य यह था कि जमानत कैसी हो, जमानत की आवश्यकताओं को न तो निजी और न ही संस्थागत वित्त पूरा करता था। चौथी कसौटी भुगतान के बारे में है, और वह इसलिए ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि उपज और कीमतों में उतार-चढ़ाव होते रहने से भुगतान क्षमता एक-सी नहीं रहती। इस आवश्यकता के बारे में हुए अवलोकन से मालूम हुआ है कि इस समस्या का समाधान, ऋण एजेंसी स्वयं अपनी योग्यता से देय राशि के भुगतान को कुछ समय के लिए स्थगित करके कर सकती है। तीसरे दशक की मंदी के बाद सहकारी संस्थाओं की इतनी दुर्दशा हुई कि उन्होंने इस बात के विरुद्ध प्रदर्शन किए और कहा कि उनमें यह सामर्थ्य नहीं है। इस बात पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि कृषि के संस्थागत ऋण के भुगतान में स्थिरता लाने का कोई उचित तरीका होना चाहिए। इसका एक तरीका यह हो सकता है कि सम्पन्न वर्षों में इसके लिए एक आरक्षित कोष बना लिया जाए। अंतिम जरूरत प्रशिक्षित कर्मचारी वर्ग से संबंधित है। इसके बाद भी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में सहकारी संगठनों में स्थिति सामान्य कैसे बनाई जाए। इस बारे में कर्मचारियों द्वारा प्रदर्शन भी हो चुके हैं।

भारत में कृषि वित्त के उचित प्रचालन में आने वाली बहुत-सी बाधाओं के बारे में विशेषज्ञों ने एक बड़ी सूची बना दी है यथा फसलों की अनिश्चितता, यहाँ के अधिकांश भागों में पड़ने वाले अकाल इसके गवाह हैं, जोतों का छोटा और उनका बिखरा होना, क्रय-विक्रय की उचित सुविधा का अभाव और निरक्षरता।

इन मुद्दों में से कुछ में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने का प्रयास किया जा रहा है, किन्तु फिर भी एक बड़ा दोष बाकी रह जाता है। वह दोष है किसानों की जोत की इकाई का बहुत छोटा होना। यह दोष सभी कृषि वित्त

प्रणालियों में विद्यमान रहेगा। ऋण की दृष्टि से इस समस्या से निपटने के लिए इन बातों की जरूरत है : (i) उत्पादन बढ़ाने का एक प्रमुख तरीका यह होगा कि गहन खेती के लिए किसानों को अच्छे बीज और अच्छी खाद आदि दी जाए; छोटे किसानों को यह सुविधा ऋण के रूप में उपलब्ध कराई जाए और इस बात का प्रयत्न किया जाए कि ऋण का भुगतान नकद के रूप में न होकर वस्तु के रूप में हो; (ii) छोटे-छोटे किसानों के एक बहुत बड़े वर्ग के साथ संस्थागत रूप से निपटने की अव्यावहारिकता को दृष्टि में रखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि निगम किस्म के वित्त के स्थान पर सहकारी किस्म के वित्त की व्यवस्था की जाए जिसमें वित्तीय संगठन किसान के साथ सीधे संबंध रखता है।

6.3 समाधान के लिए मुख्य आवश्यकताएँ

संस्थागत ऋण प्रणाली के पुनर्गठन के लिए निम्न कदमों को सूचीबद्ध किया जा सकता है :

1) उसे राज्य की नीतियों से समायोजित किया जाए, खास तौर से उन नीतियों के साथ जिनका उद्देश्य ग्रामीण उपज को बढ़ाना हो।
2) उसे ऋण की निजी एजेंसियों का एक प्रभावशाली विकल्प होना चाहिए, भले ही वह उनका पूरा स्थानापन्न न हो सके।
3) उसके पास पर्याप्त संसाधनों की शक्ति हो और साथ ही पूरी तरह से प्रशिक्षित कर्मचारियों का बल हो ताकि सहकारी ऋण में पाई जाने वाली वित्त, प्रशासन और पर्यवेक्षण संबंधी कमियाँ उसमें न रह जाएं।
4) वह इस स्थिति में हो कि अपने कार्यकलापों का दूसरे क्षेत्रकों के साथ अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋणों के संबंध में सिर्फ अंदरूनी समन्वय ही न करे अपितु क्रय-विक्रय, संसाधन एवं किसानों के अन्य महत्वपूर्ण आर्थिक कार्यकलापों के लिए पूरक व्यवस्था भी कर सके। वह इस स्थिति में भी हो कि सरकार सहित उन अन्य महत्वपूर्ण संस्थागत एजेंसियों के साथ अपने कार्यकलापों का समन्वय कर सके जो गाँव के निवासियों का मार्ग-दर्शन करने, उनके खेती के तरीकों में सुधार लाने, उनके प्रचालनों का पर्यवेक्षण करने या उन्हें हानिप्रद प्रथाओं को दूर करने की शिक्षा देने में लगी हों।
5) उसे मध्यम और छोटी श्रेणी के किसानों की आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए और इसलिए वह इस प्रकार की जमानत पर आधारित होना चाहिए जो ऋणदाता की दृष्टि से हर तरह से उपयुक्त हो ताकि ऋण चुकाने में समर्थ बहुत से उत्पादक उसके द्वारा उपलब्ध सुविधा का लाभ उठा सकें। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि ऋण सिर्फ भूमि की या दूसरी प्रचलित जमानतों पर ही न दिया जाए, अपितु वह प्रत्याशित फसल की जमानत पर दिया जाए।
6) उसे ऋण का वितरण रचनात्मक ढंग से उत्पादक और उत्पादन के सकारात्मक लाभ के लिए करना चाहिए। इसलिए उसे ऋण के उपयोग का सख्ती से पर्यवेक्षण करना चाहिए और लेनदार की उचित आवश्यकताओं तथा हितों का ध्यान रखना चाहिए।
7) उसे इस प्रकार का होना चाहिए कि वह गाँव की संवृद्धि और विकास में सहायक हो। अतः गाँवों में सहकारी ढंग की संस्थाएँ बनाई जाएँ। यह बात इस तथ्य पर आधारित है कि इस देश में कृषि ऋण को कुछ प्रयोजनों के लिए एक संगठित प्रणाली माना जाए ताकि वह राज्य की नीतियों को कार्यान्वित करने में सहायक सिद्ध हो सके। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे गाँव के किसानों की एक संस्था के रूप में संगठित किया जाए। यह बात पूरी तरह से तर्कसंगत है कि ऐसी संस्था सहकारी ही होनी चाहिए। यह भी स्पष्ट ही है कि ऋण लेने वालों की संस्था को, जहाँ तक हो सके, आपसी सहायता पर निर्भर होना चाहिए और साथ ही अपनी निजी शक्ति को विकसित करना चाहिए तथा अपने आप में मितव्ययिता की आदत बनानी चाहिए। देश में शुरू-शुरू में जो सहकारी साख समिति बनाई गई थी, वह इन्हीं कामों को पूरा करने के उद्देश्य से बनाई गई थी।

बोध प्रश्न 1

1) कृषि ऋण की वे कौन-सी समस्याएँ हैं, जो अन्य क्षेत्रों के ऋणों से भिन्न होती हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) समर्थ कृषि वित्त प्रणाली में क्या-क्या गुण होने चाहिए? (पचास शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

संस्थागत ऋण प्रणाली का पुनर्गठन करने के लिए किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति की जानी चाहिए? (पचास शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.4 साख-स्रोतों का स्वरूप

951-52 के सर्वेक्षण में पेशेवर ऋणदाता, कृषि ऋणदाता, संबंधी, व्यापारी, ज़मींदार आदि सभी निजी ऋण ा वाली एजेंसियों ने मिलकर कृषकों द्वारा उधार ली गई कुल राशि के 93 प्रतिशत भाग की पूर्ति की। रकार और सहकारी संस्थाओं का योगदान कुल राशि का मात्र 6 प्रतिशत के लगभग था, जिसमें प्रत्येक का ग 3 प्रतिशत रहा था। व्यापारिक बैंकों का योगदान सिर्फ एक प्रतिशत था, जो कृषकों को सीधे वित्तीय ायता देने की दृष्टि से महत्वहीन था। ये विभिन्न प्रतिशत नीचे की तालिका में दिए गए हैं :

तालिका 6.1

1951-52 में निजी ऋण स्रोत का स्वरूप

ण एजेंसी	कृषकों द्वारा कुल उधार ली गई राशि में प्रत्येक एजेंसी के हिस्से का प्रतिशत
	प्रतिशत
रकार	3.3
हकारी संस्थाएँ	3.1
ंबंधी (रिश्तेदार)	14.2
मींदार	1.5
कृषि ऋणदाता (साहूकार)	24.9
शेवर साहूकार	44.8
व्यापारी और कमीशन एजेंट	5.5
व्यावसायिक बैंक	0.9
अन्य	1.8
	100.0

स्रोत : ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण रिपोर्ट

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि इसमें निजी ऋणदाताओं की प्रमुखता रही है, क्योंकि पेशेवर ऋणदाताओं का भाग लगभग 45 प्रतिशत और कृषि ऋणदाताओं का लगभग 25 प्रतिशत था। यहाँ ध्यान देने वाली एक बात यह है कि पेशेवर ऋणदाता और कृषि ऋणदाता, दोनों ही पक्षों का लगभग 80 प्रतिशत ऋण प्रतिभूतिरहित था।

रिपोर्ट के अनुसार, कृषकों द्वारा उधार ली गई राशि में संबंधियों द्वारा दी गई राशि 14 प्रतिशत थी। सर्वेक्षण के प्रयोजन के लिए "संबंधी" शब्द की जो परिभाषा दी गई है, उसके अनुसार यह ऋण बिना ब्याज का होता है। कृषकों द्वारा लिए गए ऋण का लगभग 6 प्रतिशत भाग व्यापारियों और कमीशन एजेंटों द्वारा दिया गया था। किंतु यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि बहुत से ऋणदाता, खासकर शहरों में रहने वाले ऋणदाता रुपया उधार देने के साथ-साथ अन्य कार्य भी करते रहते हैं।

6.4.1 निजी साख के कुछ अन्य पक्ष

ऋणदाताओं में साहूकारों का और साहूकारों में पेशेवर साहूकारों का, ग्राम ऋण के क्षेत्र में प्रभुत्व रहा है। उनका प्रभाव अनायास ही बना रहा, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्र में ऋण की व्यवस्था करने के लिए बनाई गई प्रतियोगी एजेंसियों द्वारा किए गए सभी प्रयास निष्फल सिद्ध हुए। वास्तविकता तो यह है कि किसानों को ऋण की जरूरत होती है तो वह आसानी से उपलब्ध स्रोत से उसे प्राप्त कर लेता है। ऐसा सोचना बिल्कुल गलत होगा कि साहूकार उन आवश्यकताओं का सिर्फ शोषण करते थे, प्रत्युत वे अपने आपको उनके अनुकूल भी बनाते थे। इसी अनुकूलता के कारण यह वर्ग गाँवों में जीवित बना रहा, जबकि कानून सिर्फ कागज पर उनकी उपस्थिति पर नियंत्रण करने के उपाय खोज रहा था। यह जरूरी हो जाता है कि हम साहूकारों के उन तरीकों को समझने की कोशिश करें, जिनके द्वारा वे गाँव के लोगों को अपने चंगुल में फंसा लेते हैं।

पहला, सबसे पहली बात यह है कि साहूकार अपने कर्ज़दार अथवा संभावी कर्ज़दार की पूरी जानकारी रखता है। सहकारी संस्थाएँ जिन बातों को, यथा प्रकृति का स्थानीय ज्ञान और भुगतान क्षमता को स्वयं सिद्ध मान लेती हैं, किन्तु साहूकारों को इन चीज़ों का वास्तविक ज्ञान होता है।

दूसरा, साहूकार जिन लोगों को उधार देने के लिए चुनता है उसका उनपर नियंत्रण होता है। उसके लिए सबसे महत्वहीन बात यह होती है कि वह क़ानून का आश्रय ले और खासकर आजकल तो अपने कर्ज़दार की सम्पत्ति पर अधिकार करने की संभावना तो बिल्कुल ही महत्वहीन हो गई है। ज्यादातर मामलों में वह ज़मीन को जमानत के रूप में स्वीकार करना पसंद ही नहीं करता। जिस बात पर वह निर्भर करता है, वह यह है कि वह जानता है कि उसका रुपया, कम ज्यादा, अपने आप वापस आ जाएगा। अगर जरूरत पड़ती है तो वह खुद परिस्थितियों से निपटने के लिए आवश्यक शक्तियों को जुटा लेता है। वे शक्तियाँ सामाजिक या आर्थिक, अथवा दोनों प्रकार की होती हैं तथा हर लेनदार के लिए ये अलग-अलग होती हैं, और हर मामले में लेनदार की परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। सामाजिक अनिवार्यता इन बातों पर निर्भर करती है, यथा स्थानीय सम्मान की हानि, जातीय तिरस्कार, जातीय पंचायत और अनेक प्रकार की सामाजिक संस्थाओं द्वारा संभावित दबाव, जिनसे उसका संबंध होता है। रुपया वसूल करने के लिए ये शक्तियाँ कुछ कम शक्तिशाली नहीं होतीं, फिर भी जरूरत पड़ने पर वह हिंसा का मार्ग भी अपना लेता है।

आर्थिक अनिवार्यता के भी अनेक तरीके होते हैं। एक प्रकार का दबाव यह होता है कि साहूकार खुद लेनदार को यह धमकी देता है कि यदि उसने उसका रुपया वापस नहीं किया तो भविष्य में कभी वह उसे उधार नहीं देगा। दूसरा तरीका यह होता है जिसका प्रयोग वह दूसरे साहूकार के माध्यम से कर सकता है और खास तौर से उस व्यापारी के द्वारा जिससे किसान ने कोई अग्रिम लिया हो। दबाव के ये दोनों तरीके लगभग एक से ही हैं; यदि वह साहूकार उधार देने का काम करने के साथ-साथ एक व्यापारी भी हो, जैसा कि आम तौर से होता भी है। चूँकि साहूकार, व्यापारी और ज़मींदार का गाँव में एक-दूसरे पर कुछ न कुछ आपसी आभार रहता ही है अतः गाँव के मुखिया और पटवारी को बिना बताए ही साहूकार कर्ज़दार के ज़मींदार के माध्यम से किसान पर दबाव डलवाता है। ज़मींदार का किसान पर कोई न कोई दबाव तो रहता ही है। आर्थिक स्वीकृति के ये तरीके सिर्फ इतने ही नहीं होते, अपितु वे तो अनेक और बहुत व्यापक हैं।

तीसरा, यह आवश्यक नहीं कि वह अनिवार्यतों की इन शक्तियों का प्रयोग तभी करेगा जब उसका भुगतान देय हो। यह एक ऐसा मामला है जिसपर कोई संस्थागत संहिता लागू नहीं होती। अतः वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार वह सख्त या लचीला तरीका अपना सकता है। सच्चाई तो यह है कि उसे हमेशा इस तथ्य के प्रति सचेत रहना पड़ता है कि उसे और उसके कर्ज़दार दोनों को उसी गाँव में रहना है।

चौथा, इन सब संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए साहूकार यह तय करता है कि वह लेनदार को किस

ाकार और कितना रुपया दे एवं भुगतान की शर्तें क्या रखे। इस बात के लिए वह स्वतंत्र होता है कि उधार ही असली दशा के अनुरूप जितना लचीला तरीका चाहे अपना सकता है। वह ऋण के औपचारिक दस्तावेजों के लिए दबाव डाल भी सकता है और नहीं भी, हालाँकि आमतौर से वह ऐसा करता है। अपनी निजी इच्छा और परिस्थितियों के अध्ययन से निकाले निष्कर्ष के आधार पर साहूकार यह तय करता है कि सच्चाई की पुष्टि के लिए दस्तावेज लिखवाना जरूरी है या नहीं। यदि वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इसकी कोई जरूरत नहीं है तो वह लेन-देन के संक्षिप्त तरीके पर उतर आता है, जिसके अनुसार सिर्फ उधार की मूल राशि, ब्याज, भुगतान की अवधि और जमानत का अभिलेख रखा जाता है। अंत में, अगर उसपर दबाव पड़े तो वह लेन-देन की प्रकृति को भी बदल सकता है। उदाहरणार्थ, वह कह सकता है कि वह लेन-देन उधार के रूप में नहीं हुआ था, बल्कि बिक्री के रूप में हुआ था। ऐसा तब किया जाता है, जबकि पहला तरीका असुविधाजनक हो जाता है।

पाँचवाँ, जो संभवतः सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है, वह यह है कि साहूकार अपने कर्जदार की आवश्यकताओं के अनुरूप उसे तुरंत रुपया देने की सामर्थ्य रखता है। इसके परिणामस्वरूप उसकी ऐसी जरूरतें जिनमें किसी भी प्रकार की देरी करना संभव नहीं होता, वे तुरंत पूरी हो जाती हैं। ऐसा करना इसलिए आसान होता है क्योंकि उसे रुपया उधार देने के लिए किसी अन्य व्यक्ति से मंजूरी लेने की जरूरत नहीं होती, और ऊपर बताई गई अनिवार्यताएँ उसे इस योग्य बना देती हैं कि यदि वह चाहे तो किसी एक या सभी प्रकार की वैधानिक औपचारिकताओं को स्थगित कर दे या उसका परित्याग कर दे।

ऊपर जिस तकनीक का संक्षेप में उल्लेख किया गया है और गाँव के जिस वातावरण में उसका परिचालन होता है, उसके साथ यदि हम यह तथ्य जोड़ दें कि ग्रामीण ऋण में साहूकार का लगभग एकाधिकार होता है तो हमें स्थिति की समग्रता का पता चल जाएगा। यह एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें सिर्फ उधार देने वाली एजेंसी ही किसान के लिए सुगम पड़ती है, भले ही वह अच्छी हो या बुरी, अवैध हो या वैध या गाँव की परिस्थितियों के अनुसार इनका एक मिला-जुला रूप सामने आता है। बहुत-सी अन्य बातों के साथ-साथ इस संयोग में दो महत्वपूर्ण बातें आती हैं; पहली बात यह कि खास साहूकार किस प्रकार का व्यक्ति हो सकता है और दूसरी बात यह है कि क्या गाँव में कोई ऐसा साधन उपलब्ध है जो जरूरत पड़ने पर साहूकार को धमका सके। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि जैसे ही वह कर्ज़दार पर किसी प्रकार का दबाव डालता है वैसे ही क्या किसी अन्य तरीके से साहूकार पर भी दबाव डाला जा सकता है। विभिन्न गाँवों से इस प्रश्न का अलग-अलग उत्तर मिलेगा। वास्तव में कुछ अपवादों को छोड़कर अब तक गाँवों में साहूकार को दबाने या प्रभावहीन बनाने के लिए कुछ नहीं किया गया है। कोई ऐसे आसार नज़र नहीं आते कि निजी साहूकारों का गाँव से सफाया हो जाएगा। परिचालन का लचीलापन उसकी यथास्थिति और उसके प्रभुत्व को बनाए रखने का प्रमुख कारण है। अभी तक कोई ऐसे आसार नज़र नहीं आते कि निजी ढंग से उधार देने वाले साहूकार गाँव से गायब हो जाएंगे। सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो गई है कि पेशेवर साहूकार उन इने-गिने ऋणदाताओं में से एक हैं जो अचल सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्तिगत जमानत पर उधार देना पसंद करते हैं।

किंतु जब ब्याज की दर की बात उठती है तो न तो साहूकार, चाहे वे पेशेवर साहूकार हों या कृषि साहूकार, और न ही उसके निकट संबंधी, ज़मींदार या व्यापारी अपने आप पर नियंत्रण रखते हुए देखे गए हैं। उधार पर 25 प्रतिशत या उससे भी अधिक दर से ब्याज लगता है। कभी-कभी तो यह दर इतनी अधिक होती है कि उड़ीसा में 70 प्रतिशत, त्रिपुरा में 49 प्रतिशत. पश्चिम बंगाल और हिमाचल प्रदेश में 40 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 29 प्रतिशत, और बिहार में 27 प्रतिशत तक पहुँच जाती है। कुछ क्षेत्रों में तो मूल का 50 प्रतिशत या उससे भी अधिक ब्याज लेने की प्रथा प्रचलित है। इसका अर्थ यह होता है कि ऋण देने के कानून का उस तरीके पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा जिसके आधार पर साहूकार किसानों को उधार देते हैं और मनमाने ढंग से उनसे ब्याज वसूल करते हैं।

सर्वेक्षण के आँकड़े यह बताते हैं कि वाणिज्यिक बैंकों से किसानों को जो ऋण प्राप्त हुआ है, वह ऋण की कुल राशि के एक प्रतिशत से भी कम है और वह सुविधा भी कुछ ही ज़िलों तक सीमित रही है। सर्वेक्षण के लिए चुने गए 75 ज़िलों में से 44 ज़िले ऐसे थे जहाँ पर किसानों द्वारा वाणिज्यिक बैंक से एक नए पैसे का भी ऋण नहीं लिया गया।

6.4.2 व्यावसायिक बैंकों एवं केन्द्र और राज्य सरकारों की भूमिका

सरकार द्वारा दिया जाने वाला कृषि ऋण बहुत पुराने ढंग का है, जिसे "तकावी" कहते हैं। इसका वैधानिक ढाँचा दो प्रमुख कानूनों पर आधारित है—1883 का भूमि उद्धार ऋण अधिनियम; और 1884 का कृषक

ऋण अधिनियम। पहले अधिनियम का संबंध मुख्य रूप से लंबी अवधि के ऋणों से है, जबकि दूसरे का संबंध छोटी अवधि के ऋणों से। यही मूल अधिनियम या इनसे निकले हुए कुछ थोड़े से भिन्न अधिनियम अधिकतर राज्यों में प्रचलित हैं जिनके कारण अधिकतर राज्यों में कृषि ऋण के संबंध में एकरूपता कायम रह सकी है। तकावी बाँटने के लिए राजस्व एजेंसी पर निर्भरता और उसकी वित्तीय व्यवस्था करने के लिए रुपया मिलने की कठिनाई, ये अन्य दो लक्षण हैं जो अधिकतर राज्यों में एक से होते हैं।

तकावी का महत्व अकाल और अन्य संकट के समय बहुत बढ़ जाता है। इसकी ऐतिहासिक शुरुआत खास करके इसी कार्य के लिए हुई थी। इसके अलावा, इसका एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है पिछड़े क्षेत्रों अथवा पिछड़े वर्गों की सहायता करना। किंतु इस प्रणाली का मूल्यांकन करते समय इसकी इस दूसरी बात पर विचार न करके सिर्फ इस बात को ध्यान में रखकर विचार किया जाना चाहिए कि यह किसानों को ऋण वितरित करने की एक प्रणाली है, जिसका प्रयोग आर्थिक सहायता देने और उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाता है और इनमें भी अधिक बल इस बात पर दिया जाता है कि उत्पादन बढ़ाने के लिए ही इसका ज्यादा उपयोग किया जाए। इस बात से यह पता चलता है कि असल में तकावी एक परिपूर्ण एजेंसी द्वारा एक अपर्याप्त धनराशि का असंगत वितरण होने के साथ-साथ किसी प्रयोजन को पूरा करने का एक मामूली माध्यम है। यह कहना गलत नहीं होगा कि तकावी का इतिहास अपर्याप्तताओं का इतिहास है—

- राशि की अपर्याप्तता, वितरण की अपर्याप्तता और सुरक्षा के आधार की अनुपयुक्तता।
- समय की असुविधा, प्रासंगिक देरी और विभिन्न प्रकार के लेनदारों के साथ छल-कपट।
- पर्यवेक्षण की अकुशलता और समन्वय की अपूर्णता।

6.4.3 सहकारी एजेंसी की भूमिका

भारत में सहकारिता की शुरुआत असल में 1904 में हुई थी। भारत के विभिन्न भागों में इसके विकास के भिन्न-भिन्न लक्षण और एकरूपता का अभाव, यही इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। समय के साथ-साथ इसकी भिन्नताएँ बढ़ती गईं, यह बात इसके रिकार्ड से स्पष्ट होती है। इसके साथ ही, सरकारी अधिनियम और प्रशासन व्यवस्था, जो केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों की दृढ़ और निश्चित नीति पर आधारित रहती है, की स्थिति कुछ राज्यों में ही वास्तविक और उत्साहपूर्ण रही है। प्रशासन कुछ राज्यों में काफी सक्षम रहा, जबकि अन्य राज्यों में वह बहुत ही अक्षम था। प्रशासन एवं इस योजना का अस्तित्व, दोनों ही नाममात्र के थे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किसी देश के ग्रामीण वित्त में सहकारी ऋण का महत्वपूर्ण स्थान होता है, लेकिन प्रबंध और वित्त की दृष्टि से यह अभी भी प्रारंभिक स्तर का ही है। हालाँकि कुछ समय पहले ही इसका काफी विस्तार किया गया है, किन्तु फिर भी इसका केंद्रीय बैंक बहुत ही कमज़ोर और असमन्वयित है। लेकिन इस शृंखला की सबसे कमज़ोर कड़ी प्राथमिक सहकारी साख समिति है, जो हर दृष्टि से निर्बल है। यह अच्छी सहकारिता और स्वस्थ ऋण की किसी भी शर्त को पूरा नहीं करती। जिस तरह यह गाँव में पर्याप्त, अविलम्ब और उत्पादक ऋण की व्यवस्था करने में असमर्थ रही, उसी प्रकार गाँव के लोगों में मितव्ययिता व बचत की भावना को विकसित करने में भी यह असफल रही है।

ये टिप्पणियाँ जो अल्पकालीन ऋण के संबंध में की गई हैं, मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋणों के बारे में भी लागू होती हैं। अल्पकालीन ऋण के बारे में यह सभी क्षेत्रों में समान रूप से विद्यमान है।

यह कहा जा सकता है कि भारत की भूमि बंधक प्रणाली द्वारा प्रयत्न करने के बावजूद अपेर्याप्त निधि ही जुटाई जा सकी, और वह भी इस तरीके से जो माँग से ठीक तरह संबंधित नहीं थी, और वह उनको इस ढंग से दी जाती थी जिसका विकास के साथ कोई संबंध नहीं था। वह राशि भी इस ढंग से वितरित की जाती थी कि उसका लाभ अधिकतर बड़े किसानों को मिलता था, किन्तु उन्हें भी वह विलम्ब से ही मिलती थी।

भारतीय गाँवों के सहकारी ऋण आंदोलन के रिकार्ड के बारे में विचार करते समय इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि भारत में यह आंदोलन दूसरे देशों से पूरी तरह भिन्न है। इसमें नीचे लिखे लक्षणों का अनोखा सम्मिश्रण मिलता है : (1) यहाँ का सामाजिक-आर्थिक ढाँचा गाँव की सीमा के अंतर्गत, मुख्य रूप से जाति प्रथा पर आधारित है; (2) उस ढाँचे के ऊपरी भाग को नगद अर्थव्यवस्था और ऐसे प्रशासन के साथ जोड़ना, जो शहरी क्षेत्र में केन्द्रित है; और (3) तथ्य यह है कि जोड़ने का यह कार्य तीन प्रक्रियाओं द्वारा होता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में एक साथ परिचालित होती हैं. ये प्रक्रियाएं हैं : औपनिवेशिक शासन और प्रशासन, कृषि का वाणिज्यीकरण और शहरीकरण।

घटनाओं और शक्तियों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप यहाँ का सामाजिक-आर्थिक ढाँचा इतना छिन्न-भिन्न हो

गया है कि एक ओर तो खुद गाँवों के बीच गंभीर असमानताएँ बढ़ गई हैं और दूसरी ओर, कस्बों तथा शहरों के बीच अंतर बढ़ गया है। भारत में सहकारी प्रयत्नों द्वारा ऋण का विकास करने की दिशा में अब तक हम यही कर सके हैं। सहकारिता का ध्येय हमेशा से ऐसे उपायों को खोजना रहा है, जो सर्व-साधारण के हित में हो। सबसे पहले उन्हें आर्थिक दृष्टि से युक्ति संगत होना चाहिए और साथ ही नैतिक दृष्टि से सही हों ताकि उनके द्वारा भारतीय गाँवों का ठीक ढंग से पक्ष प्रदर्शन हो सके।

सहकारी ऋण की असफलता की जिम्मेदारी इस बात पर आती है कि प्रतियोगिता में बहुत ही कमजोर को बहुत बलवान के बराबर लाने के लिए जो प्रयत्न किए गए, वे पूरी तरह से अस्वाभाविक थे; और साथ ही यह आशा की गई कि इस समस्या के समाधान के लिए उचित स्थितियाँ अपने आप बन जाएंगी।

यह समस्या सिर्फ यहाँ तक ही सीमित नहीं है कि सहकारी ऋण को किस प्रकार संगठित किया जाए, अपितु प्रमुख बात यह थी कि ऐसी स्थितियाँ बनाई जाएं जिनके अंतर्गत इसका प्रभावशाली ढंग से कमजोरों के हित में परिचालन किया जा सके। इस प्रकार की प्रचलित स्थितियाँ ऐसे व्यक्तियों द्वारा नहीं उत्पन्न की जा सकतीं, जो सताए हुए हैं और जिनका अस्तित्व कमजोर हो। बदलाव लाने वाली शक्तियाँ कम से कम उतनी शक्तिशाली तो होनी ही चाहिए, जितनी शक्तिशाली वे हैं, जिनका उन्हें विरोध करना है। इस प्रकार की शक्तियाँ सिर्फ सहकारिता द्वारा नहीं उत्पन्न की जा सकतीं, बल्कि राज्य के साथ मिलकर आपसी सहयोग द्वारा उन्हें उत्पन्न किया जा सकता है।

6.4.4 एकीकृत योजना

ग्रामीण ऋण की समन्वित योजना की सिफारिश तीन मूल सिद्धांतों पर आधारित थी; विभिन्न स्तरों पर राज्य की साझेदारी; ऋण के दूसरे आर्थिक कार्यकलापों, खास कर विपणन और प्रक्रमण (processing) के बीच का पूरा समन्वय; और पूरी तरह से प्रशिक्षित एवं योग्य व्यक्तियों द्वारा प्रशासन, जो ग्रामीण आबादी की जरूरतों के प्रति उत्तरदायी हों। इनकी व्याख्या नीचे लिखे ढंग से की जा रही है :

मुख्य सिद्धांत

1) सहकारी ग्रामीण ऋण के साथ राज्य की साझेदारी इस प्रकार की हो कि उसमें वित्तीय साझेदारी भी शामिल हो, ताकि इस प्रकार के ऋण सिर्फ विस्तृत और सुदृढ़ ही न बनाए जा सकें, अपितु, उन्हें इसलिए विस्तृत और सुदृढ़ बनाया जाए जिससे उत्पादन के सकारात्मक उद्देश्य और उत्पादक के हित की पूर्ति हो सके।
2) राज्य की साझेदारी, जिसमें वित्तीय साझेदारी भी शामिल हो, ग्रामीण उत्पादकों के हित के अनुकूल हो। यह एक ऐसे कार्यक्रम द्वारा किया जा सकता है जिसके अंतर्गत भूमि के प्रक्रमण और विपणन को सहकारिता के आधार पर इस तरह संगठित किया जाए कि भंडारों और गोदामों का विकास हो सके।
3) ग्रामीण उत्पादकों के हित के लिए राज्य की साझेदारी, जिसमें वित्तीय साझेदारी भी शामिल हो; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन किया जाए जिनके अंतर्गत सहकारिता के आधार पर गाँव के उन अन्य आर्थिक कार्यकलापों को संगठित किया जाए जो किसानों, कृषि श्रमिकों और कारीगरों के हित में हों। इन कार्यकलापों में कृषि, सिंचाई, बीज और खाद की व्यवस्था, परिवहन, मत्स्यपालन, दुग्ध वितरण, दुग्धशाला, पशुपालन और कुटीर उद्योग-धंधे आदि आते हैं।
4) राज्य की वित्तीय सहभागिता से वाणिज्यिक बैंकों के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र का एकीकरण किया जाए, जो विभिन्न अंशों में आज भी राज्य के साथ सहयोजित हैं; और यदि संबंधित बैंकों का एकीकरण हो जाए तो मोटे तौर से पूरा भारत उसकी सीमा के अंतर्गत आ जाता है। इसका परिणाम यह होगा कि सहकारिता की योजना को विकसित करने के लिए अन्य बातों के साथ-साथ सहभागी बैंकों की संस्थाएँ भी उपलब्ध हो जाएंगी और वे ग्रामीण एवं सहकारी बैंक व्यवस्था को किसानों के हितों के अनुरूप विकसित करने में सकारात्मक सहयोग देने का पूरा प्रयास करेंगी। आशा है कि वे अपने कर्त्तव्यों को कई ढंग से पूरा करेंगे, जिनमें से सबसे प्रमुख यह है कि गाँवों में जल्दी और कम खर्च पर रुपया पहुँच सकेगा। इसका लाभ खास तौर से उन क्षेत्रों को अधिक होगा जो अविकसित हैं और वाणिज्यिक बैंकों ने जिनकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है और इन सुविधाओं के अभाव में वहाँ ग्रामीण और सहकारी बैंक व्यवस्था का विकास संभव नहीं हो सका है।
5) प्रशिक्षण के महत्व की मान्यता; जिसके अंतर्गत लोगों को इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाए जो एकदम नए प्रकार का हो, इसमें लोगों को सिर्फ तकनीकी प्रशिक्षण ही न दिया जाए अपितु उनका दृष्टिकोण भी सहानुभूतिपूर्ण बने। अन्य बातों के साथ-साथ उन्हें इस बात का भी प्रशिक्षण दिया जाए कि वे ग्रामीण समाज के साथ निकटता का अनुभव करें, ग्रामीण आवश्यकताओं की ओर तुरंत ध्यान दें, और [illegible] सहकारी [illegible] हितों की उपलब्धि [illegible] को पूरा करने के लिए अधिक प्रयास करें

ताकि राज्य में जो नए कार्यकलाप विकसित हों वे अपना काम अच्छे ढंग से और ग्रामीण जनता के हित में कर सकें।

6.4.5 रिज़र्व बैंक की भूमिका

एकीकृत प्रणाली में रिज़र्व बैंक का कार्य अत्यधिक महत्व का होगा।

हमने इस बात का उल्लेख किया है कि ऐसी सहकारी साख की व्यवस्था की जाए जिसमें राज्य की साझेदारी हो और ग्रामीण बैंक सुविधा का विकास राज्य के सहयोग से किया जाए। अन्य देशों की भाँति हमारे रिज़र्व बैंक का स्वरूप केन्द्रीय बैंक के रूढ़िवादी स्वरूप से भिन्न हो, इसके साथ ही उसे उन कार्यों के निकट भी पहुँचना चाहिए जो केंद्रीय बैंक द्वारा किए जाने थे। इन विकसित कार्यकलापों को पूरा करने के लिए उसे व्यक्तियों और वित्त की जरूरत होगी।

इस प्रकार, निदेशन समिति ने रिज़र्व बैंक के लिए जिस कार्यक्रम की सिफारिश की है, उसके अंतर्गत रिज़र्व बैंक को राज्य और जिला बैंकों के कार्यों पर विचार करना होगा, क्योंकि इन्हीं श्रेणीबद्ध संगठनों द्वारा ग्रामीण सहकारी संस्थाओं के माध्यम से गाँव को उनके उत्पादन की आवश्यकता के अनुरूप सहायता दी जानी है। वास्तव में, सर्वेक्षण के समय ग्रामीण भारत में ऋण की इस प्रकार की व्यवस्था उपलब्ध नहीं थी। जाँच में, वास्तव में, उस विधि का उल्लेख किया गया है, जिसे भविष्य में अपनाना है न कि उस विधि का जो उस समय के ग्रामीण ढाँचे में मौजूद थी।

बोध प्रश्न 2

1) वर्ष 1951-52 में किसानों द्वारा उधार ली गई कुल राशि में संस्थागत स्रोतों का भाग कितना था?

.....

.....

2) वे कौन से प्रमुख लक्षण थे जिनके कारण पेशेवर साहूकार कृषि ऋण के प्रभावशाली स्रोत बन गए? (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) "तकावी" ऋण क्या होता है?

.....

.....

.....

4) ग्रामीण ऋण की एकीकृत योजना में भारतीय रिज़र्व बैंक का क्या योगदान है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 ग्रामीण ऋण प्रणाली में सुधार

देश के ग्रामीण ऋण के ढाँचे में मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। इस तथ्य का पता इस बात से चलता है कि 1951-52 में ग्रामीण गृहस्थों द्वारा लिए गए कुल ऋण का 70 प्रतिशत भाग साहूकारों ने दिया था, जबकि 1981 में वह घटकर सिर्फ 17 प्रतिशत रह गया था (तालिका 6.2)। हालाँकि मुद्रीकृत प्रदेशों में अनौपचारिक स्रोतों द्वारा लिए जाने वाले ब्याज की दर आम तौर से नीची थी जबकि निर्वाह अर्थव्यवस्था और कम मुद्रीकृत प्रदेशों में वह अपेक्षाकृत ऊँची थी।

तालिका 6.2

ग्रामीण परिवारों द्वारा विभिन्न ऋण एजेंसियों से लिया गया ऋण

ऋण की श्रेणी	1951-52	1971 (प्रतिशत)	1981
गैर-संस्थागत :			
पेशेवर साहूकार	45	14	8
कृषि साहूकार	25	23	9
संबंधी और मित्र	14	14	9
व्यापारी और कमीशन एजेंट	6	9	3
ज़मींदार	2	9	4
अन्य	1	2	6
योग	93	71	39
संस्थागत			
सरकारी हिस्सा (तकावी ऋण)	3	7	4
सहकारी	3	20	29
वाणिज्यिक बैंक	1	2	28
योग	7	29	61
कुल योग	100	100	100

स्रोत : 1951-52 के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण रिपोर्ट 1961-62; 1981-82 और 1971-72 अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण रिपोर्ट; भारतीय रिज़र्व बैंक बुलेटिन जून, 1986

1969 और 1980 में प्रमुख वाणिज्यिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप ऋण का प्रवाह कृषि और अन्य-चरीयता वाले क्षेत्रों की ओर हो गया। व्यावसायिक बैंकों की शाखाओं में भारी वृद्धि होने के फलस्वरूप प्रत्येक शाखा के पीछे जनसंख्या जो 1969 में 65000 थी, वह 1986 में घटकर 13000 रह गई। इससे वित्तीय अनुबंधन विस्तृत और गहरा हो गया, वित्तीय बचतों की वृद्धि हुई, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बैंकों का मध्यवर्ती योगदान बढ़ गया।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (आर.आर.बी.) और कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) जैसी नई संस्थाओं की स्थापना हो जाने पर ग्रामीण ऋण की पूर्ति की सुविधाएँ और भी बढ़ गईं जिससे अनौपचारिक ऋण की मात्रा में काफी कमी आ गई। तृतीय अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण (1981-82) के परिणामों से इसकी पुष्टि होती है। पिछले दो दशकों के दरम्यान परिसम्पत्ति-ऋण अनुपात किसानों के पक्ष में आगे बढ़ा है, जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि किसानों के कार्यकलापों में ऋण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है (तालिका 6.3)। ग्रामीण क्षेत्र में जाने वाली कुल संस्थागत निधि में वाणिज्यिक बैंकों का भाग लगभग 60 प्रतिशत रहता है। गैर-कृषि ऋण का एक बहुत बड़ा भाग तथा कृषक ऋण का 37.4 प्रतिशत भाग, अनौपचारिक क्षेत्र द्वारा पूरा किया जाता है। कई राज्यों ने सांविधिक विकास निगमों की स्थापना की है, जो लघु सिंचाई, वन, भूमि, कृषि, उद्योग आदि के लिए बैंकों से वाणिज्यिक शर्तों पर उधार लेते हैं और विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करते हैं। रबर, कॉफी, चाय, इलायची और नारियल आदि की कृषि को बढ़ावा देने के लिए बहुत-सी चीज़ों के बोर्ड भी स्थापित किए गए हैं।

तालिका 6.3
तृतीय अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण के परिणाम

श्रेणी	1961	1971	1981
कुल परिसम्पत्ति (प्रति गृहस्थ औसत मूल्य रुपये में)	अप्राप्य	11,311	36,090
संस्थागत ऋण का उपयोग करने वाले गृहस्थों का अनुपात (प्रतिशत)	15.4	14.7	13.0
प्रति सूचक गृहस्थ पर नकद ऋण का औसत (रुपए)	132	422	2,288
कुल बकाया ऋण में संस्थागत बकाया ऋण का अनुपात (प्रतिशत)	18.4	31.7	62.6
परिसम्पत्ति पर बकाया नकद ऋण का औसत (3/1) (प्रतिशत)	अप्राप्य	3.7	6.3

स्रोत : राष्ट्रीय बैंक समाचार समीक्षा (एनबीएनआर) फरवरी, 1987, पृष्ठ-26.

6.5.1 ऋण और संवृद्धि

कृषि संवृद्धि में ऋण का बहुत योगदान रहता है। यह निजी निवेश के लिए आगतों और स्थायी पूँजी को उपलब्ध कराता है, जिससे किसान इस योग्य बनते हैं कि वे उत्पादन के श्रेष्ठ ढंग को अपना सकें। भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा उत्पादन को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ऋण देने की एक ऐसी प्रणाली शुरू की गई है, जो तकनीकी-आर्थिक साध्यता के आधार पर ऋण उपलब्ध कराती है तथा ऋण का फोकस उन किसानों पर ही रहता है जो कम आय और कम बचत के कारण ऋण के बिना कोई निवेश कर ही नहीं सकते। इस प्रकार, संवृद्धि में ऋण का योगदान अप्रत्यक्ष होते हुए भी सकारात्मक होता है और इसकी उत्पादकता उसके द्वारा जुटाए गए निवेश से भिन्न नहीं होती।

कृषि के काम में आने वाली मशीनों और सिंचाई की लघु योजनाओं के लिए बड़े पैमाने पर वित्त उपलब्ध होने से कृषि उत्पादन को बढ़ाने में बहुत सुविधा हुई है। इससे भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण हुआ है। नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लाइड इकनोमिक रिसर्च (NCAER) द्वारा 1980 में किए गए एक अध्ययन से यह पता चला है कि 1975-1980 के बीच जितने ट्रैक्टर बिके, उनमें से 96 प्रतिशत संस्थागत ऋण की मदद से खरीदे गए थे। पुनर्वित्त की दर में कुछ गिरावट आने के बावजूद यह प्रवृत्ति आगे भी जारी रही, अस्सी के दशक के प्रारंभिक वर्षों में यह दर 75 प्रतिशत थी, जो 1985-86 में घटकर 50 प्रतिशत रह गई। इसके अलावा कॉफी, चाय, रबर, इलायची जैसी नगदी फसलों के वृक्षारोपण हेतु एवं गन्ना, पशु-पालन और अन्य संबंधित कार्यकलापों के लिए भी बैंक बड़े पैमाने पर ऋण देते हैं। इन योजनाओं के अलावा दूसरी ऐसी योजनाओं के लिए भी बैंक उधार देते रहे हैं जिनमें कुछ प्रतिबंध होने के कारण पुनर्वित्त उपलब्ध नहीं है।

6.5.2 राष्ट्रीय स्तर से फार्म स्तर तक ऋण वितरण के प्रमुख माध्यम

सहकारी संस्थाएँ, वाणिज्यिक बैंक और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक; ये तीन प्रमुख एजेंसियाँ फार्म स्तर पर कृषि ऋण के लिए उपलब्ध हैं। इनमें से प्राथमिक कृषि साख समितियाँ (पी.ए.सी.एस.) शीर्ष स्थान पर आती हैं। सारे देश में इसकी 92,000 से भी अधिक शाखाओं का जाल बिछा हुआ है। वितरित ऋण की मात्रा और क्षेत्र का विस्तार, दोनों ही दृष्टियों से ये सबसे आगे हैं। वाणिज्यिक बैंकों की 28,000 से भी अधिक उप-शहरी और ग्रामीण शाखाएँ हैं और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की 12,600 से भी कुछ अधिक शाखाएँ देश में हैं। कृषि के क्षेत्र में राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक एक शीर्ष राष्ट्रीय संस्था के रूप में उभर कर आया है, जो इसे क्षेत्र की नीति, योजना और परिचालन का काम जिम्मेदारी से कर रहा है। यह सभी बैंकों को पुनर्वित्त सहायता प्रदान करता है और सहकारी संस्थाओं एवं क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक के कार्यों पर पूरा नियंत्रण रखता है। ऋण वितरण प्रणाली की विस्तृत रूपरेखा चार्ट-1 में दी गई है।

चार्ट 1

ग्राम वित्त की वर्तमान संस्थागत व्यवस्था

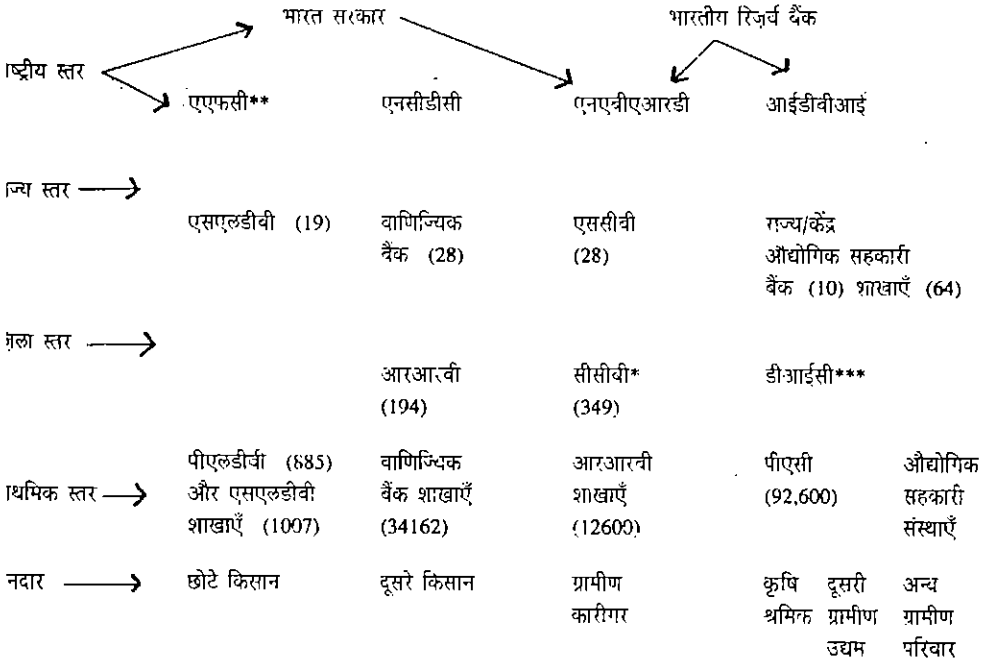

ष्पणी : (1) कोष्ठक में दी गई संख्या नवीनतम उपलब्ध संख्या है।

(2) कुछ कार्यकारी संस्थाएँ भी अपने-अपने क्षेत्रों में ऋण अग्रिम देती हैं।

** कृषि वित्त निगम परामर्श सहायता वित्तीय एजेंसियों और सरकार को देती हैं।

• छोटे राज्यों और केंद्र-शासित प्रदेशों में एसंसीबी सीधे पीएसीएस को वित्तीय सहायता देते हैं।

*** ज़िला औद्योगिक केंद्र ग्रामीण कारीगरों और अन्य साहसिक कार्यों के लिए तकनीकी और वित्तीय परामर्श देता है।

ोत : एम.एन. डॉडेकर, स्टेट बैंक आफ इंडिया मंथली रिविय्, मार्च-अप्रैल, 1988.

.5.3 कृषकों को ऋण वितरण में सुधार

किसानों को ऋण वितरण की स्थिति में सुधार करने के लिए समय-समय पर विभिन्न तरीके अपनाए गए हैं :

-) अल्प-वित्तीयन से बचने के लिए इकाई लागत का मानकीकरण, तथा समय-समय पर उसका आधुनिकीकरण;
-) पहले दिए गए अग्रिम के हर मामले की समीक्षा, ताकि ऋण की नीतियों और अवधि में जो दोष रह गए हों उन्हें दूर किया जा सके;
-) बेहतर प्रायोजना का निर्माण;
-) पर्यवेक्षण करने वाले कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि और हर पर्यवेक्षक द्वारा संभाले जाने वाले खातों की संख्या में कमी;
-) सहकारिता क्षेत्र में कमजोर बैंकों के लिए पुनर्स्थापन कार्यक्रम;
-) कुछ मामलों में प्राथमिक सहकारी संस्थाओं को उनके संसाधनों की स्थिति चिंताजनक होने के कारण वित्तीय कार्यकलापों हेतु वाणिज्यिक बैंकों को सौंपना। इसके साथ ही कृषि और ग्रामीण विकास हेतु दिए गए संस्थागत ऋण के प्रबंध की समीक्षा करने वाली समिति की सिफारिश के अनुसार प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियों को जीवित रहने योग्य इकाइयों के रूप में बने रहने के लिए मान्यता दी जा रही है और उन्हें बहु-उद्देशीय क्रियात्मक इकाइयों के रूप में बदलने के प्रयास किए जा रहे हैं।
-) इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि ऋण और आगत की सामयिक आवश्यकताओं को नियंत्रित करने एवं लेन-देन की लागत को कम करने हेतु बैंकों को किसानों की कुल ऋण आवश्यकताओं (कार्यकारी पूँजी और आवधिक ऋण, दोनों) को पूरा करना चाहिए।
-) कृषि और ग्रामीण विकास के, राष्ट्रीय बैंक द्वारा पिछले चार वर्षों से देश के कुछ चुने हुए ज़िलों में ऋण वितरण प्रणाली को प्रभावशाली बनाने के लिए एक प्रयोग किया जा रहा है, जो विश्व बैंक के सहचार्य से, प्रशिक्षण और मुलाकात (टी और वी) की रीति से हो रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कृषकों और ऋण एजेंसियों, दोनों को ही प्रोत्साहन मिला है। बैंक और लेनदार के बीच जल्दी-जल्दी संपर्क स्थापित होने से यह लाभ होता है कि लेनदार अपनी समस्याओं का समाधान कर लेता है और कृषि के क्षेत्र में हुए नवीनतम विकास से अवगत हो जाता है। बैंकर को यह फायदा होता है कि

उसे लेनदार की समस्याओं का ज्ञान हो जाता है और किसान की आवश्यकताओं तथा उसकी भुगतान क्षमता के अनुरूप वह ऋण का समायोजन कर लेता है। फिर भी, इस प्रक्रिया में ऋण एजेंसियों की लेन-देन की लागत, जो पहले ही तुलनात्मक रूप से अधिक थी, वह और भी बढ़ती जा रही है और बैंक के लाभों को खाए जा रही है।

9) ग्रामीण ऋण परिचालन के निरीक्षण में बैंक शाखाओं की प्रभाविता बढ़ाने के लिए, बैंकों को सप्ताह में एक दिन ऐसा तय करना चाहिए कि उस दिन उनकी ग्रामीण शाखाओं में कोई भी काम न हो। ऐसा दिन दो काम के दिनों के बीच होना चाहिए और उसका उपयोग सिर्फ अपने क्षेत्र के गाँवों का निरीक्षण करने के लिए किया जाए ताकि वर्तमान और भावी ग्राहकों के साथ संपर्क स्थापित हो, जमा राशि में वृद्धि हो, ऋण के उपयोग को बढ़ावा मिले और बकाया राशि की वसूली की व्यवस्था हो सके।

10) व्यावसायिक बैंक और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा दिए जाने वाले कृषि ऋण का बीमा "जमा बीमा और ऋण गारंटी निगम" द्वारा किया जाता है ताकि कृषि वित्तीयन में, खासकर कमजोर वर्ग के लोगों के लिए, बैंक की भागीदारी को ज्यादा प्रोत्साहन मिले।

11) लीड बैंक योजना के अंतर्गत ऋण योजना, समन्वय और प्रबोधन का बड़ा महत्व है और बैंक इस योजना में उत्प्रेरक की भूमिका निभा रहे हैं।

जिन विधियों द्वारा औपचारिक ऋण लक्षित वर्ग तक सुविधापूर्वक पहुँचता है वे हैं : लक्षित वर्ग को पहचानने की तेज और सरल विधि, प्रक्रिया और शर्तों का सरलीकरण, भू-अभिलेख का अद्यतन होना, प्रायोजना पर आधारित ऋण, आगतों और सेवाओं की पूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए जरूरी आधारित संरचना की सृष्टि, और इसी तरह की अन्य विधियाँ, जिनसे ऋण एजेंसियाँ इस योग्य बन सकें कि लक्षित वर्ग को ऋण का वितरण ठीक समय पर हो सके।

6.6 कृषि ऋण हेतु निधि-स्रोत : नयी प्रवृतियाँ

हाल के वर्षों में अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की जमा में चमत्कारपूर्ण वृद्धि से यह स्पष्ट होता है कि अर्थव्यवस्था में काफी संवृद्धि हुई है। बैंकों की शाखाओं का विस्तार हुआ है और गृहस्थ परिवार बचतों के लिए बैंकों को प्राथमिकता देने लगे हैं। सभी अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की शाखाओं में भी उसी के अनुरूप वृद्धि हुई है।

प्रत्यक्ष कृषि अग्रिमों में भी ठोस वृद्धि हुई है। जून, 1969 में अग्रिमों की राशि 8.3 बिलियन रुपए थी, जो जून, 1986 में बढ़कर 153.6 बिलियन रुपए हो गई (तालिका 6.4)। छठी पंचवर्षीय योजना का यह लक्ष्य था कि फार्म ऋण वितरण जो 1979-80 में 25.5 बिलियन रुपए था, उसे बढ़ाकर 1984-85 में 54.15 बिलियन रुपए कर दिया जाए।

तालिका 6.4

कृषि के लिए प्रत्यक्ष संस्थागत वित्त

(जून की स्थिति : बिलियन रुपयों में

वित्त का स्रोत	1969	1972	1980	1981	1982	1983	1984	1985	1986
सहकारिता	7.8	16.0	37.6	43.2	48.2	51.6	57.2	62.9	अप्राप्य
अनुसूचित व्यावसायिक बैंक (एस.सी.बी.)	0.5	2.7	24.6	30.4	35.4	47.9	59.5	61.6	अप्राप्य
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (आर आर बी)	—	—	—	1.8	2.7	3.8	5.1	7.0	15.4
योग	8.3	18.7	62.2	75.4	86.3	103.3	121.8	131.5	153.6

स्रोत : विभिन्न वर्षों की भारतीय रिज़र्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट से संकलित

नोट : एक बिलियन = 100 करोड़

तालिका 6.5

छठी पंचवर्षीय योजना की उपलब्धि और सातवीं पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य

(बिलियन रुपयों में)

ग एजेंसी	आधार स्तर 1979-80	छठी योजना का लक्ष्य 1984-85 के लिए	प्रत्याशित उपलब्धि 1984-85 में	सातवीं योजना का लक्ष्य 1989-90	84-85 की तुलना में 89-90 की उपलब्धि (प्रतिशत)
कारिता :					
ादन ऋण	13.00	25.00	25.00	55.40	122
ेश ऋण	4.00	7.95	7.50	15.30	104
ा :	17.00	32.95	32.50	70.70	117
वसायिक बैंक :					
ादन ऋण	4.50	15.00	11.10	25.00	125
ेश ऋण	4.00	6.20	14.50	30.00	107
ा :	8.50	21.20	25.60	55.00	115
ी संस्थाएँ :					
ादन ऋण	17.50	40.00	36.10	80.40	123
ेश ऋण	8.00	14.15	22.00	45.30	106
ा :	25.50	54.15	58.10	125.70	116

ोत : भारत सरकार : छठी पंचवर्षीय योजना Vol. I और II)

6.1 संसाधन सहायता आधार

ाणिज्यिक बैंक इस योग्य हैं कि वे संसाधनों को पर्याप्त मात्रा में संग्रह कर सकते हैं क्योंकि उनकी बैंक ंधी सेवाओं का काफी विस्तार हुआ है, किंतु केंद्रीय सहकारी बैंक ऐसा करने की स्थिति में नहीं हैं। अल्प धि वाली शाखाएँ कृषि के लिए अन्य और मध्यकाल के ऋण देती हैं इसलिए वे ग्रामीण क्षेत्र में कम ाय की छोटी बचतों को आकर्षित कर पाती हैं। इसके विपरीत, प्राथमिक भू-विकास बैंक, जिनकी स्थापना षे निवेश ऋण उपलब्ध कराने के लिए हुई है, उनकी पहुँच बचतों या पूँजी बाज़ार तक नहीं है। उनके ाधन तो पूरी तरह से उधार के आधार पर ऋण-पत्र बेचकर जुटाए जाते हैं, जो मुख्य रूप से राष्ट्रीय षे और ग्रामीण विकास बैंक, राज्य और केंद्र सरकार तथा वाणिज्यिक बैंकों की मदद से जारी किए जाते इन ऋण-पत्रों को ज्यादा आकर्षक उपकरण बनाने के लिए राज्य उनके पुनर्भुगतान की गारंटी देते हैं। ाकृत कृषि परियोजना के अधीन बैंकों द्वारा मंजूर किए गए ऋण के 75 से 90 प्रतिशत भाग के बराबर र्वित्त की सहायता देकर राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक विकास के लिए उपलब्ध संसाधनों की द्धि करता रहा है। इसके अलावा, अलग-अलग प्रयोजन के लिए भी राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास के ंक द्वारा पुनर्वित्त की सहायता दी जाती है और अंतर्राष्ट्रीय विकास एजेंसियों द्वारा भी विकास कार्यों के ए निधि उपलब्ध होती है।

ादन पर आधारित ऋण प्रणाली से कृषि ऋण का विस्तार हुआ है और उसमें गहनता भी आई है। पहले संबंध इस बात से है कि अधिक से अधिक किसानों को औपचारिक ऋण का लाभ मिल सके जबकि रे का संबंध इस बात से है कि हर फार्म को ऋण की अधिक मात्रा हो और यह अधिक समय के लिए ा जाए ताकि कृषि तकनीक का सुधार करना संभव हो सके। सच्चाई तो यह है कि ऋण की कुछ नता तो कृषि को विस्तृत करने की प्रक्रिया से ही जुड़ी हुई है, क्योंकि ज्यादा से ज्यादा किसान पचारिक ऋण की सुविधा प्राप्त करने में लगे हैं।

6.2 ऋण लेन-देन की लागत और ब्याज दरों में अंतर

ादन ऋण के लिए न्यूनतम और अधिकतम ब्याज दर 11.5 प्रतिशत और 15 प्रतिशत, एवं निवेश ार के लिए 10 प्रतिशत और 12.5 प्रतिशत है, जबकि गैर-प्राथमिकता के व्यावसायिक उधार के लिए .5 प्रतिशत की दर प्रचलित है। निश्चित ही कृषि उधार की दरें रियायती हैं। वाणिज्यिक बैंकों, प्राथमिक षे साख समितियों और प्राथमिक भू-विकास बैंकों की ब्याज की सीमाओं और लेन-देन की लागतों के बारे राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक के नवीनतम अनुमान से यह स्पष्ट होता है कि वाणिज्यिक बैंकों लेन-देन की लागत अधिकतम ब्याज के बावजूद, निवेश उधार में 2 प्रतिशत से अधिक और उत्पादन ा में 3 प्रतिशत से भी अधिक है। अतः कृषि उधार के लिए इमदाद देने का सुझाव दिया है। प्राथमिक षे साख समितियाँ ठीक ढंग से चलती हुई प्रतीत होती हैं, क्योंकि उनके ब्याज की दरें उनके लेन-देन की

लागत से अधिक हो गयी हैं। इससे यह साबित होता है कि वे ऋण को किसानों तक पहुँचाने में सक्षम हैं। प्राथमिक भू-विकास बैंकों की स्थिति अच्छी नहीं है क्योंकि चार राज्यों में न्यूनतम ब्याज की सीमा लेन-देन की लागत से नीची है। इन तीन प्रकार की संस्थाओं के बीच वाणिज्यिक बैंकों की लेन-देन की लागत अन्य दो की तुलना में अधिक है और उसके बाद क्रम से प्राथमिक कृषि साख समितियों और प्राथमिक भू-विकास बैंकों का नम्बर आता है।

लेनदारों को पूँजी के हस्तांतरण और इमदादी ब्याज की दरों का दोहरा लाभ मिला है। थोक मूल्य सूचकांक की वार्षिक स्फीति दर, जो छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान 6.3 प्रतिशत थी और सातवीं पंचवर्षीय योजना में उससे भी अधिक थी, का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि-उधार की वास्तविक ब्याज दर, किसानों के लिए लाभदायक है।

6.6.3 गैर-मौद्रिक लागत

ग्रामीण क्षेत्र में भू-अभिलेख को अद्यतन रखने, कच्चे माल की पूर्ति, विपणन विकास और मरम्मत, फालतू तथा सहायक पुर्जों की उचित व्यवस्था न हो सकने के कारण लेनदारों की गैर-मौद्रिक लेन-देन लागत बहुत बढ़ गई है। इसके अलावा, 70 प्रतिशत गाँव सभी ऋतुओं में सड़कों से नहीं जुड़े रहते जिसके कारण इन लागतों में और भी वृद्धि हो जाती है। किसानों को निकटवर्ती बाज़ार केंद्रों में जाना पड़ता है जिससे उन्हें अपने समय के रूप में एक बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। इसके साथ ही एक बात यह भी है कि अधिकतर किसानों की जोत छोटी होती है, इसलिए वे बड़े पैमाने के उत्पादन का लाभ नहीं उठा पाते।

6.6.4 औपचारिक और अनौपचारिक ऋण लेन-देन की लागतों की तुलना

साहूकारों और व्यापारियों से उधार लेना मुख्य रूप से अनौपचारिक लेन-देन कहा जाता है। सभी किसान इस बात का जोरदार विरोध करते थे कि यदि वे साहूकार से उधार लेते तो इनमें से कोई भी लागत उन्हें नहीं देनी पड़ती। साहूकारों से उधार लेने के कुछ विशेष लाभ इस प्रकार के थे : (क) हालाँकि ब्याज अधिक लगता है (औसतन एस एफ, एम एफ और ओ एफ के लिए क्रमशः 23 प्रतिशत, 21 प्रतिशत और 24.7 प्रतिशत), किन्तु उन्हें कोई भी दस्तावेज़ प्रस्तुत नहीं करना पड़ता; (ख) किसानों के बारे में स्थानीय ज्ञान के आधार पर उन्हें उधार दिया जाता है; (ग) वे एक ही गाँव में रहते हैं (कम से कम नज़दीक/पास-पड़ोस में) इसलिए हर समय उनसे सम्पर्क स्थापित हो सकता है, इसके विपरीत औपचारिक एजेंसियां लगभग 10 किलोमीटर की दूरी पर होती हैं; (घ) वे साधारण माँग वचन पत्र से संतुष्ट हो जाते हैं और उनके द्वारा लेनदारों को एक बार में पूरा उधार दे दिया जाता है। औपचारिक एजेंसियों से उधार लेने के लिए जमानत के रूप में बचतों को रखना पड़ता है, जो किसानों को अनौपचारिक क्षेत्र के उपर्युक्त लाभों के कारण उपयुक्त नहीं लगता। औपचारिक एजेंसियों की जरूरतों को पूरा करने में कठिनाइयाँ होने क कारण किसान अक्सर अनौपचारिक एजेंसियों से ही उधार लेना पसंद करते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) किसानों को ऋण उपलब्ध करने की स्थिति में सुधार लाने के लिए समय-समय पर क्या उपाय किए गए हैं? (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) संस्थागत उधार से लेनदारों को क्या लाभ होता है?

.....

.....

.....

) बताइए कि निम्नलिखित सही हैं अथवा गलत :

i) सालों बाद ग्रामीण गृहस्थों की ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने में महाजनों का हिस्सा तेजी से कम हुआ है।

ii) अनौपचारिक क्षेत्र कृषकों की ऋण की आवश्यकताओं के एक बहुत बड़े भाग की पूर्ति करता रहा है।

iii) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक ग्रामीण ऋण की योजना बनाने वाली शीर्ष राष्ट्रीय संस्था है।

6.7 नीतियों में परिवर्तन : किसानों को ऋण प्राप्त करने में सुविधा

प्राथमिकता वाले क्षेत्र के लिए उधार का विशेष लक्ष्य और कमजोर वर्ग के लिए अलग-अलग उप-लक्ष्य निर्धारित करने की सरकारी नीति के फलस्वरूप जरूरत वाले भागों में ऋण की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने में सहायता मिली है। मार्च, 1987 के अंत तक वाणिज्यिक बैंकों ने सिर्फ कृषि-कार्य के लिए उधार देने की अपनी नीति में काफी सफलता प्राप्त कर ली, क्योंकि कुल उधार में 16 प्रतिशत वृद्धि केवल उन्हीं कार्यों के लिए दिया गया था, जो सीधे कृषि से संबंधित थे। फलस्वरूप उनके कुल उधार का 42 प्रतिशत भाग प्राथमिकता वाले क्षेत्र में गया, जबकि उसका निर्धारित लक्ष्य 40 प्रतिशत का था। कमज़ोर वर्ग को दिया गया उधार भी 10 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से आगे निकल गया था। सातवीं पंचवर्षीय योजना बनाते समय एक प्रमुख नीति यह बनाई गई थी कि 1989-90 तक कृषि की ओर ऋण का प्रवाह 1984-85 की तुलना में बढ़कर 116 प्रतिशत तक पहुँच जाए। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्राथमिक कृषि सहकारी समितियों को बहु-उद्देशीय सहकारी समितियों में बदलना था ताकि वे इस योग्य बन सकें कि वे सिर्फ उधार देने का ही कार्य न करें अपितु अन्य सेवाएँ और पूर्तियाँ करने में भी समर्थ हो सकें। इसी प्रकार, केंद्रीय सहकारी बैंकों और भू-विकास बैंकों की सीमाओं को भी बढ़ाया गया था। इस बात का प्रबंध किया जा रहा है कि किसानों की, और खासकर उन किसानों की ओर जो कमज़ोर वर्ग के हैं, सारी जरूरतें सिर्फ एक जगह से पूरी हो सकें।

एक दूसरी नीति के अनुसार, यह तय किया गया है कि बैंक अपनी ग्रामीण शाखाओं को उनके द्वारा गतिशील बनाए गए निक्षेपों (जमा) का 60 प्रतिशत ऋण दें ताकि निधि का ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर हस्तांतरण रुक सके और किसानों की ऋण की सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। बैंक इस शर्त को पहले ही पूरा कर चुके हैं। ग्रामीण बैंकों ने यह नीति अपना ली है कि वे सिर्फ कमज़ोर वर्ग के लोगों को ही अपने ऋण की सुविधा प्रदान करें। भविष्य में भी गाँवों में बैंक की सुविधा का विस्तार करते समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को प्राथमिकता मिल सके।

6.7.1 अनुषंगी कार्यालय

जरूरत वाली जगहों में बैंक की कुछ वर्तमान शाखाओं को चुने हुए आधार पर अनुषंगी या चल शाखाओं में बदला जा रहा है। इसके अलावा, बैंक इस बात पर विचार कर रहे हैं कि जरूरत पर आधारित तरीके के अनुरूप अपनी नियमित/अनुषंगी/चल शाखाएँ उन केंद्रों में स्थापित करें, जहाँ उनकी जरूरत महसूस की जा रही हो।

6.7.2 दायित्व (tie-up) प्रबंध

जब कोई किसान नियमित रूप से अपने उत्पाद को विपणन या प्रक्रमण इकाई (चीनी मिलों, दुग्धशाला और मुर्गी-पालन समितियाँ आदि) को बेचता है तो उस उत्पाद का क्रेता (खरीदार) पूर्व निश्चित व्यवस्था के अनुरूप उसके द्वारा की गई बिक्री से प्राप्त होने वाली राशि का एक भाग बैंक ऋण के रूप में काट लेता है। उधार दाता की जोखिम को कम करने के लिए ऋण और वस्तु की बिक्री को आपस में जोड़ने की यह नई प्रक्रिया सभी ऋण देने वाली एजेंसियों द्वारा अपनाई जा रही है।

6.7.3 परामर्शदायी सेवाएँ

वैज्ञानिक और तकनीकी परामर्शदात्री सेवाओं तक किसानों की पहुँच बढ़ाने से उनकी उत्पादकता में वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप बैंक के व्यवसाय में वृद्धि होती है और ऋण का जोखिम भी कम होता है। भारतीय

स्टेट बैंक और उसके सहयोजित बैंकों की कृषि विकास शाखाएँ और कृषि बैंकिंग प्रभाग एवं बैंक ऑफ बड़ौदा के ग्राम विकास केंद्र तथा भारतीय ओवरसीज़ बैंक का ऋण विकास प्रभाग एवं इसी प्रकार की अन्य इकाइयों की विशेष शाखाएँ; किसानों को तकनीकी और वित्तीय परामर्शदायी सेवाएँ प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील हैं। विशेष संवर्ग के तकनीकी अधिकारी (अफसर) और ग्राम स्तर के कार्यकर्ता क्षेत्र के ऋण प्रस्तावों की जाँच कर सकते हैं और उनके लिए एक प्रभावशाली व्यवस्था उपलब्ध कराने का प्रबंध कर सकते हैं। इसके साथ ही, समय-समय पर उनके द्वारा क्षेत्र का निरीक्षण होने से निरीक्षण और वसूली की समस्या का भी समाधान हो जाएगा।

6.7.4 विकेंद्रित निर्णय : कागजी कार्यवाही से बचाव

किसानों को ऋण देने के 85-90 प्रतिशत मामले तकनीकी संवर्ग की सहायता से बैंक की शाखाओं द्वारा ही निपटा दिए जाते हैं और शेष 10-15 प्रतिशत मामलों को ही, जिनकी राशि बड़ी होती है, प्रधान कार्यालय को भेजा जाता है। इस प्रकार ऐसे ऋणों के संबंध में प्रधान कार्यालय (मुख्यालय) की लेन-देन की लागत बहुत कम होती है। इसके अलावा, इस बात पर भी अधिक ज़ोर दिया जा रहा है कि कार्यालय में बैठकर काम करने की अपेक्षा क्षेत्र में जाकर काम निपटाना ज्यादा अच्छा होगा क्योंकि ऐसा करने से निर्णय लेने में सुविधा होगी और किसानों को प्रोत्साहन मिलेगा। शाखा और शाखा प्रबंधक के काम का मूल्यांकन, जमा के आकार, ऋण का परिमाण और उसकी वसूली, इन सबके सामूहिक परिणाम के आधार पर किया जाता है। अपने द्वारा निपटाए गए कामों के दस्तावेज़ तैयार करने और उन्हें मुख्यालय भेजने के काम में बैंक अत्यधिक मितव्ययिता बरतने का प्रयास करते हैं।

6.7.5 प्रक्रियाओं का सरलीकरण

दस्तावेज़ प्राप्त करने की विधि को सरल बनाने के लिए तलवार समिति द्वारा की गई सिफारिशों के आधार पर राज्यों द्वारा, भू-स्वामियों और काश्तकारों को पास बुक दी जाती हैं जिन्हें देखते ही इस बात का सबूत मिल जाता है कि कृषि भूमि पर उनका अधिकार है।

किसानों की कठिनाइयों को कम करने के लिए ऋण की सीमा और जमानत के प्रतिमानों को सरल बना दिया गया है ताकि छोटे और सीमांत किसानों को अग्रिम मिलने में सुविधा हो। इसके अलावा, बैंकों को यह सलाह दी गई है कि वे छोटे अग्रिमों में न तो दंडस्वरूप ब्याज लें और न ही निरीक्षण तथा फोटोग्राफ का शुल्क वसूल करें। यह सलाह बलदेव सिंह समिति की सिफारिशों के आधार पर दी गई है। हालाँकि अब भी कुछ ऐसे उदारहण मिलते हैं जहाँ पुराना तरीका ही चल रहा है। ऐसे मामलों में प्राथमिक ऋण एजेंसियाँ ऐसा भी कर सकती हैं कि ऋण मंजूर करते समय इन लागतों को ऋण का ही एक भाग मान लें और उसे ऋण की पूरी अवधि में वसूल कर लें।

6.8 संस्थागत ऋणदाताओं की समस्याएँ

आज भी ऐसी बहुत-सी समस्याएँ हैं जिनका सामना संस्थागत ऋणदाताओं को करना पड़ता है। उनमें से कुछ नीचे दी जा रही हैं :

6.8.1 मनोवैज्ञानिक अवरोध

ग्रामीण क्षेत्रों में वाणिज्यिक बैंकों के प्रवेश के बाद भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि किसान, खास तौर से छोटे और गरीब किसान, बैंक के कार्यकर्त्ताओं के साथ संबंध स्थापित करने में हिचकते हैं क्योंकि उन्हें इस बात का डर लगा रहता है कि बैंक कार्यकर्त्ताओं के साथ संबंध स्थापित करने से साहूकारों के साथ कहीं उनके संबंध खराब या समाप्त न हो जाएँ।

6.8.2 क्षेत्रीय समन्वय का अभाव

बहुत-सी संस्थाओं की स्थापना हो जाने और बहुत से कार्यक्रमों के प्रारंभ हो जाने के साथ ही कृषि-विकास के क्षेत्र में उनका परस्पर समन्वय करना एक बहुत महत्वपूर्ण पहलू बन गया है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि एक ओर तो भू-विकास बैंकों और वाणिज्यिक बैंकों के बीच निकटवर्ती समन्वय स्थापित हो और दूसरी ओर वाणिज्यिक बैंकों तथा स्थानीय सरकार के साथ भी वैसा ही समन्वय स्थापित किया जाए। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसानों ने कुओं और पंप सेटों के निर्माण में तो काफी पैसा लगा दिया,

किन्तु उन्हें चलाने के लिए बिजली की लाइन की सुविधा नहीं उपलब्ध हो सकी। ऐसे भी कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ बिजली की लाइन देने की मंजूरी तो मिल गई लेकिन ऋण नहीं मंजूर हो सका। इन सबसे औपचारिक ऋण प्राप्त करने में लेनदार की गैर-मौद्रिक लेन-देन लागत काफी बढ़ जाती है। इन उदाहरणों से यह अर्थ निकलता है कि क्षेत्रीय समन्वय की इस क्षेत्र में नितांत आवश्यकता है।

6.8.3 रियायती ब्याज और आर्थिक सहायता

लेन-देन की लागत और बकाया राशि के पुनर्भुगतान के खतरे को पूरा करने के लिए वर्तमान ब्याज का फैलाव पर्याप्त नहीं है। अतः ऋण एजेंसियों को यह चाहिए कि वे अपनी लागत को कम करके इस समस्या का समाधान करें जो बाद में उनके लिए उत्पादक सिद्ध होगी।

सख्ती से तय की गई ब्याज की दरों से किसानों की जमा की गतिशीलता और उन्हें दिए गए ऋण की वसूली, दोनों पर ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

सहकारी संस्थाओं से सस्ते ब्याज पर ऋण की उपलब्धता, स्थिति में बदलाव लाने के लिए सबसे बड़ा प्रलोभन है। कृषि विकास को आगे बढ़ाने के लिए निवेश ऋण ही सबसे प्रमुख साधन है, जिसमें वृद्धि की जानी चाहिए। यह पहले ही बताया जा चुका है कि अब तक निवेश ऋण का लाभ सिर्फ 2 प्रतिशत किसानों को ही मिल सका है। वित्तीय परिसम्पत्ति का हिस्सा बहुत ही महत्वहीन अर्थात् एक प्रतिशत से भी कम रहा है।

बैंकों ने सारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाओं का जाल बिछाकर जरूरी वित्त बाज़ार का निर्माण कर दिया है। 1969 में एक बैंक शाखा खोलने के पीछे आबादी 65,000 थी जो घटकर अब मात्र 13,000 रह गया है। इसीलिए ग्रामीण गृहस्थों के लिए यह शर्त रखी गई है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उनका लेन-देन उनकी शाखाओं के माध्यम से ही होगा। किन्तु इसके बावजूद भी ग्रामीण वित्त बाज़ार ज्यादा कुशल नहीं है। इसे कुशल बनाने का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि किसानों की जमा पर ब्याज की दर बढ़ाकर इतनी कर दी जाए जो भू-सम्पत्ति और अन्य उत्पादक परिसम्पत्ति की तुलना में अधिक हो। इस संबंध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि बैंक अपनी शाखाओं को इतना प्रभावशाली बना दें कि वे ग्रामीण वित्त बाज़ारों को विकसित कर सकें।

6.9 सुधार के लिए सुझाए गए उपाय

भूमि-व्यक्ति अनुपात में वृद्धि : इस समस्या का एक लाभदायक विकल्प यह हो सकता है कि औद्योगिक शहरी क्षेत्र में निवेश की मात्रा काफी बढ़ा दी जाए और कृषि क्षेत्र में उत्पन्न बेशी पूँजी (पूँजी अधिशेष) या माल को उधर भेज दिया जाए ताकि कृषि क्षेत्र की बेशी श्रम-शक्ति की खपत अपरिहार्य रूप से वहाँ हो सके। इसका एक दूसरा तरीका यह हो सकता है कि ग्रमीण क्षेत्रों में ही उद्योग और गैर-कृषि कार्यकलाप शुरू किए जाएँ। इस तरीके से कृषि क्षेत्र को ग्रामीण जनसंख्या के दबाव से कुछ सीमा तक मुक्त किया जा सकता है और श्रम शक्ति को गतिशील बनाया जा सकता है। विकेंद्रीकृत क्षेत्र में अभी भी ग्रामीण एवं कुटीर लगाने की काफी गुंजाइश है, जिसका भरपूर उपयोग किया जाना चाहिए।

समन्वय : ज़िला और प्रभाग स्तर पर विभिन्न एजेंसियों के बीच समन्वय बढ़ाने की बहुत जरूरत है।

व्यावसायिक नज़रिया : बैंक व्यवस्था द्वारा हर स्तर पर सामाजिक कर्त्तव्य को निभाने और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के साथ-साथ यह नितांत आवश्यक है कि उन्नत व्यावसायिक नज़रिया अपनाएँ।

बहु-एजेंसी दृष्टिकोण : वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्र में अनेक प्रकार के बैंक हैं और उनके कार्यों के बीच कोई सीमा-रेखा न होने के कारण उनका एक-दूसरे के साथ टकराव होता रहता है। इसी कारण उनके बीच समन्वय की समस्या उत्पन्न हुई है क्योंकि उनके अभाव में एक ही ऋण के लिए कई वित्तीय व्यवस्थाएँ की जाती हैं जिससे बैंक व्यवस्था की लागत बढ़ जाती है। इसके साथ ही, ग्रामीण ऋण की अव्यवस्था, सामाजिक और राजनीतिक दबाव, प्रयोजनों की बहुलता के कारण यह लागत और भी बढ़ जाती है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हर क्षेत्र में सिर्फ एक कार्यकारी बैंक होना चाहिए और ऋण का निरीक्षण गश्ती दल द्वारा किया जाना चाहिए।

अनौपचारिक ऋण एजेंसियों को शामिल करना : देश की वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत ऋण क्षेत्र में साहूकारों की उपस्थिति भी जरूरी है क्योंकि औपचारिक एजेंसियाँ देश के हर कोने तक नहीं पहुँच सकतीं। आज की

स्थिति में इस क्षेत्र से उनका सफाया करने की जरूरत नहीं है अपितु औपचारिक ऋण एजेंसियों के साथ-साथ, देश के विकास कार्य में उनका भी सहयोग लिया जाए। उन्हें प्रतिस्पर्धी न मानकर पूरक मानना चाहिए। परन्तु यह संभव कैसे हो? अनौपचारिक ऋण क्षेत्र के परिचालन को बैंकिंग प्रणाली की मदद से व्यवस्थित किया जा सकता है। इसके लिए उन्हें मान्यता दी जा सकती है और प्रोत्साहित किया जा सकता है कि वे बैंकों से पुनर्वित्त की सुविधा प्राप्त करके किसानों को अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण की सुविधाएँ प्रदान करें। इसके साथ ही यह व्यवस्था भी हो कि एक जाँच दल द्वारा साहूकारों के कार्यों की जाँच होती रहे ताकि वे किसानों के हित के लिए प्राप्त राशि का दुरुपयोग न कर सकें। औपचारिक क्षेत्र को अपनी निधियों का परिचालन बैंक की शाखाओं के माध्यम से करने की सुविधा दी जाए और पुनर्वित्त की सीमा तक भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋण की सुविधा प्राप्त करने का भी उन्हें अधिकार प्रदान किया जाए। इन सुविधाओं से उनके संसाधनों में सरलता से वृद्धि होगी और वे अपने ब्याज का फैलाव कम कर सकेंगे। इससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि औपचारिक क्षेत्र से निधि का विचलन रुक जाएगा।

बोध प्रश्न 4

1) कृषि ऋण उपलब्ध कराने वाली वित्तीय संस्थाओं की प्रमुख समस्याएँ क्या हैं? (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) कृषि ऋण की प्रक्रिया को सुधारने के लिए आपके विचार से क्या-क्या उपाय किए जाने चाहिए? (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.10 सारांश

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद चार दशकों में ग्रामीण ऋण का एक आमूल परिवर्तित दृश्य सामने आया है। अब संस्थागत ऋण का भाग कुल ग्रामीण ऋण के 80 प्रतिशत से भी अधिक हो गया है। ग्राम वित्त उपलब्ध कराने में भारत ने बहु-एजेंसी दृष्टिकोण को अपनाया है। इस व्यवस्था के अंतर्गत सहकारी, वाणिज्यिक, क्षेत्रीय बैंक और क्षेत्रीय स्तर की दूसरी संस्थाएँ ग्रामीण वित्त उपलब्ध कराती हैं और उन्हें कृषि एवं ग्राम विकास के लिए केन्द्र तथा राज्य सरकारों एवं राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं, यथा भारतीय रिजर्व बैंक, राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक, राष्ट्रीय सहकारिता विकास निगम और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से सहायता प्राप्त होती है। अलग-अलग लेनदारों को क्षेत्रीय स्तर की जो संस्थाएँ ऋण देती हैं वे हैं : (क) प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियाँ जो अपने सदस्यों को अल्पकालीन और मध्यकालीन दोनों प्रकार के ऋण उपलब्ध कराती हैं; (ख) प्राथमिक सहकारी भू-विकास बैंक या राज्य सहकारी भू-विकास बैंक की शाखाएँ जो अपने सदस्यों को दीर्घकालीन ऋण उपलब्ध कराती हैं; (ग) वाणिज्यिक बैंक की शाखाएँ, और (घ) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की शाखाएँ (आर आर बी)।

फिर भी, ऐसी अनेक समस्याएँ बनी हुई हैं जिनके कारण संस्थाओं एवं छोटे और गरीब किसानों के बीच ऋण के प्रवाह एवं उसके भुगतान में बाधाएँ आ जाती हैं। इसका लाभ निजी साहूकारों को मिलता है और वे

अपनी स्थिति बनाए हुए हैं। हाल ही में, संस्थागत ऋण प्रणाली की आर्थिक क्षमता कम हो जाने के कारण बहुत से संकटों का सामना करना पड़ा है। ये संकट राजनीतिक दबाव में आकर ऋण मेला और ऋण परित्याग (माफी) जैसे आयोजनों द्वारा आमंत्रित किए गए हैं।

6.11 शब्दावली

ग्राम ऋण की एकीकृत योजना : निदेशन समिति, जिसे अखिल भारतीय ऋण सर्वेक्षण समिति भी कहते हैं, और जिसकी स्थापना 1954 में भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा की गई थी, ने ग्रामीण ऋण की एक योजना का सुझाव दिया था जिसे ग्रामीण ऋण की एकीकृत योजना कहा जाता है। इस समिति की रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि ऋण-नीतियाँ इस प्रकार की बनाई जाएँ कि उत्पादन कार्यक्रमों में तेजी आए, और सहकारिता क्षेत्र में एक ऐसी एकीकृत योजना विकसित की जाए जिससे ऋण, विपणन और प्रक्रमण एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाएँ। इसने यह सुझाव भी दिया था कि इस क्षेत्र में राज्य की सहायता और मार्ग दर्शन की वृद्धि की जाए (जिसमें सहकारी संस्थाओं में राज्य की साझेदारी भी शामिल हो), और बड़े आकार की समितियाँ बनाई जाएँ ताकि पर्याप्त व्यवसाय उपलब्ध कराने वाले सभी क्षेत्रों को उनकी सीमा के अंदर लाया जा सके।

भू-विकास बैंक (एल डी बी) : ये किसानों को अपनी भूमि बंधक रखने पर लम्बी अवधि (15 से 20 वर्ष) के ऋण उपलब्ध कराते हैं। पहले भू-विकास बैंकों को भूमि-बंधक बैंक कहते थे।

बैंक अग्रणी योजना (लीड बैंक स्कीम) : इस योजना के अंतर्गत राष्ट्रीयकृत बैंकों को यह कार्य सुपुर्द किया गया था और कहा गया था कि वे अपने इलाके के अंतर्गत इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभाएँ; बैंकों ने देश के सभी ज़िलों में बैंक व्यवस्था का सर्वेक्षण करने और उसे विकसित करने की जिम्मेदारी को पूरा करने में साथ भी बंटाया है। इस योजना का मूल उद्देश्य यह है कि अलग-अलग बैंक, गहन विकास के लिए, अलग-अलग ज़िलों की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लें। इस योजना के अंतर्गत अग्रणी बैंकों से आशा की गई थी कि अपने-अपने ज़िले के विकास के हित को ध्यान में रखकर वहाँ पर स्थित सहकारी बैंकों, वाणिज्यिक बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं के बीच समन्वय स्थापित करें।

पार्श्विक उधार (लोन कोलैटरल) : इसका अर्थ है ऋण के भुगतान की गारंटी के लिए सम्पत्ति को गिरवी रखना।

सावी उधार : यह सरकार से लिया हुआ कृषि ऋण होता है। यह दो कानूनों के अंतर्गत दिया जाता है : (1) भूमि उद्धार ऋण अधिनियम, 1883; और (2) कृषि ऋण अधिनियम, 1884। पहले का संबंध मुख्य रूप से दीर्घ कालीन ऋणों से है, जबकि दूसरे का संबंध अल्प कालीन ऋणों से। यह ऋण अकाल और अन्य संकट के समय प्रमुख भूमिका निभाता रहा है।

6.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Vandekar, M.N. (1988) : Farm Credit in India, *State Bank of India Monthly Review. March - April.*

Datt, Ruddar and K, P.M. Sundharam (1991) : *Indian Economy* Chapter 32, S. Chand & Co., New Delhi.

Government of India (1976) : *Report of the National Commission on Agriculture*, Part XII, Chapters 1-4, and PP. 79-84.

Reserve Bank of India (1956) : *Report of the Committee of Direction, All-India Rural Credit Survey : The General Report (Abridged Edition)*, RBI, Bombay.

Reserve Bank of India (1969) : *All-India Rural Credit Review Committee-Summary of Recommendations*, RBI, Bombay.

Reserve Bank of India (1990) : *Report of the Agricultural Credit Review Committee*, RBI, Bombay.

दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् (1990) : *भारतीय अर्थव्यवस्था*, एस. चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा.) लि., नई दिल्ली अध्याय 28.

नाथूरामका, लक्ष्मी नारायण (1990) : भारतीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, अध्याय 19.

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी (1989) : भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, अध्याय 25.

6.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 6.2 पढ़िए, खास तौर से पहले तीन पैराग्राफ।
2) भाग 6.2 पढ़िए, खास तौर से कृषि ऋण की अनोखी समस्याओं को ध्यान में रखते हुए पूरी की जाने वाली कसौटी।
3) भाग 6.3 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) वह कुल उधार ली गई राशि का 7 प्रतिशत से कुछ अधिक भाग था।
2) भाग 6.4.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3) भाग 6.4.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
4) भाग 6.4.5 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 6.5.3 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) लेनदारों को मुख्य रूप से दो लाभ होते हैं : पूँजी प्राप्त करने में सुविधा और उस पर ब्याज की नीची दर।
3) (i) सही (ii) सही (iii) गलत।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 6.8 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) भाग 6.9 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

खंड

3

भारतीय कृषि विकास : अस्थिरता तथा जल-व्यवस्था

इकाई 7

खाद्यान्न, नक़दी फसलें तथा फसल उत्पादन वृद्धि का क्षेत्रीकरण 5

इकाई 8

भारतीय कृषि उत्पादन में वार्षिक उच्चावचन तथा कृषि-जलवायु संबंधी क्षेत्र-निर्धारण 21

3 भारतीय कृषि विकास : अस्थिरता तथा जल-व्यवस्था

ना

ः स्वतंत्रता के समय औपनिवेशिक शासन से प्राप्त भारत की आर्थिक स्थिति का विवरण प्रस्तुत करता है। इसमें
। प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न दशकों में हुए विकास का भी वर्णन होगा तथा भारत में जल-व्यवस्था तथा
र्यावरण क्षेत्रों का विस्तृत व्यौरा पेश किया जाएगा। इस खंड में दो इकाइयाँ हैं। प्रथम इकाई खाद्यान्न, नक़दी
तथा उन्नीसवीं सदी के अंत से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध तक फसल उत्पादन के विकास के क्षेत्रीकरण से संबंधित
यह विश्लेषण 1950 से 1980 तक की अवधि के लिए भी होगा।

इकाई फसल उत्पादन, विशेषतः खाद्यान्न उत्पादन, की अस्थिरता के बारे में है तथा यह विश्लेषण भारत की
ावस्था एवम् कृषि-मौसम क्षेत्रों के संदर्भ में है।

ई 7 खाद्यान्न, नक़दी फसलें तथा फसल उत्पादन वृद्धि का क्षेत्रीकरण

की रूपरेखा

उद्देश्य
प्रस्तावना
स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व की अवधि
7.2.1 कार्यविधि
7.2.2 प्रवृत्ति-मापन
7.2.3 समग्र विकास का स्वरूप
7.2.4 खाद्यान्न तथा जनसंख्या
7.2.5 गैर-खाद्यान्न फसलें - क्षेत्रीय स्वरूप
7.2.6 वृद्धि दर : वर्धमान अथवा ह्रासमान
पचास के दशक में फसल के उत्पादन में वृद्धि
7.3.1 पचास के दशक में विकास का स्वरूप
7.3.2 1952-53 से 1961-62 की अवधि में राज्यवार वृद्धि दर
साठ के दशक में विकास
7.4.1 सभी फसलें
7.4.2 खाद्यान्न
7.4.3 दालें
7.4.4 तिलहन
7.4.5 अन्य गैर-खाद्यान्न फसलें
7.4.6 कपास, जूट तथा तंबाकू
सत्तर एवं अस्सी के दशकों में विकास का स्वरूप
7.5.1 खाद्यान्न
7.5.2 तिलहन
सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर-संकेत

उद्देश्य

काई का अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्न का विश्लेषण करने में समर्थ होंगे:

वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व कृषि की दीर्घकालीन प्रवृत्ति एवं उसमें क्षेत्रीय उच्चावचन,

वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विकास का स्वरूप एवं उसमें क्षेत्रीय उच्चावचन, तथा

कास के इस स्वरूप में खाद्य एवं नकदी फसलों की दृष्टि से अंतर।

प्रस्तावना

काई का प्रथम भाग जॉर्ज ब्लिन (George Blyn) के अध्ययन पर आधारित है। इस अध्ययन की कार्यविधि, आँकड़ों तथा निष्कर्षों का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित पृष्ठों में दिया गया है। अन्य भागों में स्वतंत्रता प्राप्ति से की अवधि तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दशकों के विकास के स्वरूप की स्थिति प्रस्तुत की जाएगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व की अवधि

के अध्ययन में 1891-92 से 1946-47 तक के 56 वर्षों की अवधि को शामिल किया गया है। इस अध्ययन ारंभिक वर्ष वह वर्ष है जब मुख्य अधिकास्कि शृंखला में पहली बार फसल उत्पादन का विवरण दिया गया था अंतिम वर्ष वह वर्ष है, जब भारत तथा पाकिस्तान में स्वतंत्र सरकारों का गठन हुआ था। इस अध्ययन में ब्रिटिश ब के अधीन सभी प्रांतों को सम्मिलित किया गया है। 1941 में ब्रिटिश शासन के अधीन भारतीय प्रांतों (ब्लूचिस्तान तिरिक्त) के अंतर्गत संपूर्ण भारत की 76 प्रतिशत जनसंख्या तथा 51 प्रतिशत क्षेत्र सम्मिलित था।

7.2.1 कार्यविधि

इस अध्ययन में क्षेत्रों का निर्धारण छोटे प्रांतों में विभाजन से पूर्व बड़े प्रांतों की जो सीमाएँ थी, उसके आधार पर किया गया है। संयुक्त प्रांत, केंद्रीय प्रांत तथा मद्रास को अलग-अलग क्षेत्र माना गया है। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा को मिलाकर वृहत्तर बंगाल कहा गया। पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमांत व दिल्ली को मिलाकर वृहत्तर पंजाब कहा गया। बंबई तथा सिंध को 1921-32 की अवधि में एक राजनैतिक इकाई के रूप में दर्शाने के कारण तथा इनके भौगोलिक सामीप्य को देखते हुए इन्हें एक क्षेत्र माना गया। यद्यपि दोनों प्रांतों में वर्षा की मात्रा में भारी अंतर है। असम तथा अजमेर-मेवाड़ को समग्र ब्रिटिश भारत में शामिल किया गया, परंतु क्षेत्रीय विश्लेषण में नहीं।

इस अध्ययन में उन अठारह फसलों को शामिल किया गया है, जिनके बारे में संपूर्ण अवधि की सतत् श्रेणी बनाने के लिए पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध थे। इन फसलों के अंतर्गत वर्ष 1940-41 में ब्रिटिश भारत के कुल कृषित क्षेत्र का 80 प्रतिशत भाग था। ये फसलें थी — चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, रागी, मक्का, जौ, चना, गन्ना, तिल, रेपसीड व सरसों, अलसी, मूँगफली, कपास, जूट, नील, तंबाकू तथा चाय। इन फसलों को खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न दो भागों में बाँटा गया। अध्ययन की अवधि में इन अठारह फसलों के कुल कृषित क्षेत्र का 80 प्रतिशत भाग आठ खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत था। अध्ययन में प्रयुक्त की गई कीमतों के भार के आधार पर 1944-45 — 1946-47 की अवधि में खाद्यान्न फसलों का उत्पादन सभी फसलों के उत्पादन का 68 प्रतिशत था।

फसलों को भार देने तथा विभिन्न फसलों के उत्पादन का योग ज्ञात करने हेतु कीमत संरचना प्राप्त करने के लिए 1924-25—1928-29 के दौरान कटाई के समय की फसल कीमतों को चुना गया। इस अवधि में विभिन्न फसलों का सामान्य कीमत स्तर काफी स्थिर था। शृंखला को सरलित (निष्कोण) करने के लिए क्षेत्र तथा उत्पादन के पाँच वर्षीय चल-माध्य (moving average) ज्ञात किये गये। चल-माध्य शृंखला के प्रत्येक वर्ष के आँकड़े उस वर्ष में केंद्रित पाँच वर्षों (प्रदत्त वर्ष, उससे पूर्व के दो वर्ष तथा बाद के दो वर्ष) के चल-माध्यम हैं।

7.2.2 प्रवृत्ति-मापन

1891-01, 1901-11 आदि जनगणना वर्षों तथा 1896-1906, 1906-1916 आदि मध्य-जनगणना दशक वर्षों की शृंखला के परस्परव्याप्ति खण्डों (overlapping segments) के लिए साधारण चरघातांकीय वक्रों (fitting simple exponential equations) का परिकलन करके फसलों की प्रवृत्ति दर ज्ञात की गई। इन दशकों को संदर्भ दशक कहा गया। संपूर्ण अवधि की औसत प्रवृत्ति ज्ञात करने के लिए दस संदर्भ दशकों का समानांतर माध्य निकाला गया। संदर्भ दशकों की दर में परिवर्तन ज्ञात करने के लिए इन दरों में वृद्धि या कमी की प्रवृत्ति दर की गणना की गई। प्रथम व चार अंतिम संदर्भ-दशकों की दरों के औसत की भी गणना की गई, ताकि इन दो उप-अवधियों की दरों में परिवर्तन ज्ञात किया जा सके। मध्य के दो संदर्भ-दशकों में ऐसी असामान्य स्थिति थी, जो दोनों उप-अवधियों में से किसी में भी नहीं पायी गई।

7.2.3 समग्र विकास का स्वरूप

ब्रिटिश भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व के 56 वर्षों में तथा प्रथम चार व अंतिम चार संदर्भ-दशकों की अवधि में खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि की दर में काफी असमानता रही। इस अवधि में ब्रिटिश भारत में सभी फसलों के उत्पादन में वृद्धि की दर 0.37 प्रतिशत प्रति वर्ष रही, जबकि जनसंख्या 0.67 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ी। इसके विपरीत खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की दर केवल 0.11 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही, जो जनसंख्या में वृद्धि की दर से काफी कम थी। गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि की दर 1.31 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही।

जहाँ तक क्षेत्रीय स्थिति का संबंध है, इस अवधि में वृहत्तर बंगाल में खाद्यान्न का उत्पादन 0.73 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से घटा, जबकि गैर-खाद्यान्न फसलों का उत्पादन 0.23 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा। दूसरी तरफ वृहत्तर पंजाब में खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न दोनों फसलों के उत्पादन में बढ़ने की प्रवृत्ति रही।

7.2.4 खाद्यान्न तथा जनसंख्या

ऊपर वर्णित उत्पादन की विकास दरों की तुलना में वृहत्तर बंगाल में जनसंख्या 0.65 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी। जहाँ तक अन्य क्षेत्रों का संबंध है, दस संदर्भ दशकों में खाद्यान्न, गैर-खाद्यान्न तथा जनसंख्या की औसत वृद्धि की दर संयुक्त प्रांत में क्रमशः 0.35%, 0.92% तथा 0.40%, मद्रास में 0.42%, 2.37% तथा 0.80%, वृहत्तर पंजाब में 1.10%, 2.40% तथा 0.93%, बम्बई-सिन्धु में 0.27%, 1.44% तथा 0.71% केंद्रीय प्रांत में 0.29%, 0.97% तथा 0.58% रही। अतः वृहत्तर पंजाब तथा संयुक्त प्रांत के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों में खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि की दर जनसंख्या में वृद्धि की दर से कम रही। यहां यह उद्धृत करना महत्वपूर्ण होगा कि प्रथम चार संदर्भ दशकोंमें वृहत्तर बंगाल के अलावा सभी क्षेत्रों में जनसंख्या में वृद्धि की दर की तुलना में खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न दोनों फसलों के उत्पादन में वृद्धि की दर काफी अधिक रही। दूसरी तरफ अंतिम चार संदर्भ दशकों में खाद्यान्न उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर वृहत्तर बंगाल में -0.61%, संयुक्त प्रांत में -0.22%, मद्रास में -0.61% तथा केंद्रीय प्रांत में -0.24% रही, परंतु वृहत्तर पंजाब में यह 0.92% तथा बम्बई-सिंध में 0.40% रही। ये वृद्धि दरें जनसंख्या में वृद्धि की दरों से काफी कम थी। जनसंख्या में वृद्धि की दर सभी क्षेत्रों में एक प्रतिशत या उससे कुछ अधिक थी।

7.2.5 गैर-खाद्यान्न फसलें : क्षेत्रीय स्वरूप

अंतिम चार संदर्भ दशकों में गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की स्थिति खाद्यान्न तथा जनसंख्या वृद्धि की तुलना में बेहतर रही। इन दशकों में गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर संयुक्त प्रांत में 1.42%, मद्रास में 1.32%, वृहत्तर पंजाब में 1.80% तथा बंबई-सिंध में 1.80% रही, जबकि वृहत्तर बंगाल में यह 0.55% तथा केंद्रीय प्रांत में 0.84% रही। अंतिम चार संदर्भ दशकों की तुलना में प्रथम चार संदर्भ दशकों में जनसंख्या में वृद्धि की दर सभी क्षेत्रों से काफी कम थी। ब्रिटिश भारत में प्रथम चार संदर्भ दशकों में जनसंख्या की औसत वार्षिक वृद्धि दर 0.44 प्रतिशत थी तथा अंतिम चार संदर्भ दशकों में 1.12% प्रतिशत प्रतिवर्ष। अतः एक तरफ जहाँ अंतिम चार संदर्भ दशकों में प्रथम चार संदर्भ दशकों की तुलना में जनसंख्या की वृद्धि दर में तेजी से वृद्धि हुई, वहीं दूसरी तरफ इस अवधि में खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर में तेजी से कमी हुई। बंबई-सिंध के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों में इन संदर्भ दशकों में खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर ऋणात्मक रही। गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में भी यही स्थिति रही।

7.2.6 वृद्धि दर : वर्द्धमान अथवा ह्रासमान

दस संदर्भ दशकों की अर्द्ध शताब्दी में ब्रिटिश भारत में खाद्यान्नों के क्षेत्र की वृद्धि दर में मामूली सी वर्द्धमान प्रवृत्ति रही तथा प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि दर में ह्रासमान प्रवृत्ति रही। बंबई-सिंध की स्थिति समग्र ब्रिटिश भारत के ही समान रही। वृहत्तर पंजाब, संयुक्त प्रांत तथा केंद्रीय प्रांत में फसल क्षेत्र में वृद्धि की स्थिति प्रति एकड़ उत्पादकता में वृद्धि की तुलना में बेहतर रही। यद्यपि इन क्षेत्रों में प्रति एकड़ उत्पादकता की प्रवृत्ति वर्द्धमान रही तथापि वृहत्तर पंजाब में यह क्षेत्र की तुलना में कम वर्द्धमान रही तथा सयुक्त प्रांत एवं केंद्रीय प्रांत में यह औसतन शून्य के आस-पास रही। अन्य दो क्षेत्रों में से एक क्षेत्र वृहत्तर बंगाल में प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि की दर में ह्रासमान प्रवृत्ति रही तथा दूसरे क्षेत्र मद्रास में वर्द्धमान प्रवृत्ति। वृहत्तर बंगाल, बंबई-सिंध तथा केंद्रीय प्रांत के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों में फसल क्षेत्र की वृद्धि दर में संदर्भ दशकों में परिवर्तन की (उपनति) दर ऋणात्मक रही।

ब्रिटिश भारत में इस अर्द्धशताब्दी में गैर-खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र तथा प्रति एकड़ उत्पादकता में वर्द्धमान प्रवृत्ति रही एवं प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि दर क्षेत्र की वृद्धि दर से दुगुनी रही। विभिन्न दशकों में क्षेत्र की वृद्धि दर में कमी हुई, जबकि प्रति एकड़ उत्पादकता की दर में लगातार वृद्धि हुई। यह देखा गया है कि संदर्भ दशकों की विकास दरों में परिवर्तन की दर सामान्यतया ऋणात्मक रही। जहाँ तक विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति का संबंध है, संयुक्त प्रांत तथा केंद्रीय प्रांत का उपनति स्वरूप (trend pattern) समग्र ब्रिटिश भारत के अनुरूप था, जबकि वृहत्तर बंगाल में क्षेत्र की उपनति दर ऋणात्मक रही तथा प्रति एकड़ उत्पादकता की धनात्मक। अन्य तीन क्षेत्रों — मद्रास, वृहत्तर पंजाब तथा बंबई-सिंध में क्षेत्र तथा प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि दर समान (किंतु सापेक्षिय रूप से अधिक) रही। संयुक्त प्रांत, वृहत्तर पंजाब तथा बंबई-सिंध में प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि दर में वर्द्धमान प्रवृत्ति रही।

समग्र ब्रिटिश भारत के स्तर पर अध्ययन की इस अवधि के प्रथम तथा द्वितीय भाग में सभी फसलों के उत्पादन में वृद्धि अधिकांशतः क्षेत्र की वर्द्धमान प्रवृत्ति के कारण संभव हुई। प्रति एकड़ उत्पादन के संदर्भ में इस अर्द्ध-शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण सांख्यिकीय उपलब्धि यह रही कि समग्र ब्रिटिश भारत में सभी फसलों की कुल मिलाकर प्रति एकड़ उत्पादकता में परिवर्तन की औसत दर करीब शून्य थी। गैर-खाद्यान्न फसलों में वर्द्धमान प्रवृत्ति रही, जबकि खाद्यान्नों में या तो कम वर्द्धमान या फिर ह्रासमान प्रवृत्ति। इस अवधि में प्रति एकड़ उत्पादकता का निम्न स्तर दोहरी बुवाई के अंतर्गत फसल क्षेत्र में वृद्धि या खाद के लिए गोबर की उपलब्धता में कमी के कारण रहा होगा। इन कारणों से फसल की गहनता में वृद्धि तथा पड़ती भूमि की मात्रा में बढ़ोतरी के बावजूद भी उत्पादकता पर किसी प्रकार का अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

उत्पादन की वृद्धि में क्षेत्र (acreage) का सर्वाधिक योगदान होने तथा प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि दर शून्य के आस-पास होने के बावजूद भी कई कीमती व्यापारिक फसलों विशेषतः गन्ना तथा कपास की प्रति एकड़ उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई। यह वृद्धि भी उन क्षेत्रों में परिलक्षित हुई, जहाँ कुल उत्पादन में इन फसलों का अनुपात काफी अधिक था। ब्रिटिश भारत में उत्पादकता में वृद्धि की दर शून्य होना जड़ता का द्योतक नहीं है, वरन् यह प्रति एकड़ा उत्पादकता में वृद्धि तथा कमी करने वाले तत्वों में संतुलन का द्योतक है। यदि प्रति एकड़ उत्पादकता में वृद्धि के तत्व क्रियाशील न होते तो उत्पादकता में कमी की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती।

बोध प्रश्न 1

1) बताइए कि निम्न कथन सही हैं या गलत :
   अ) ब्लिन के अध्ययन में 1891-92 से 1946-47 तक पचास वर्षों की अवधि को शामिल किया गया है।
   ब) इस अध्ययन में प्रमुख अठारह फसलों को शामिल किया गया है।
   स) इस अध्ययन की अवधि में अठारह फसलों के अंतर्गत क्षेत्र का करीब 60 प्रतिशत भाग आठ खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत था।
   द) ब्लिन के अध्ययन की अवधि में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की दर केवल 0.11 प्रतिशत प्रति वर्ष थी, जो जनसंख्या में वृद्धि की दर से बहुत कम थी।

2) खाद्यान्न तथा जनसंख्या की वृद्धि की दर का विवेचन कीजिए। (करीब 100 शब्दों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

3) फसलों के उत्पादन की वृद्धि के क्षेत्रीकरण (regionalisation) से आप क्या समझते हैं? (करीब 100 शब्दों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

7.3 पचास के दशक में फसल के उत्पादन में वृद्धि

इस भाग में पचास के दशक में भारत के विभिन्न राज्यों की खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि का पृथक-पृथक वर्णन किया जायेगा। कुछ महत्वपूर्ण फसलों के अतिरिक्त अधिकांश विवेचन फसलों के समूह, विशेषतः खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों के बारे में होगा। खाद्यान्न व नकदी फसलों के अंतर को जान-बूझकर छोड़ दिया गया है, क्योंकि कुछ क्षेत्रों में खाद्यान्न फसलें भी नकदी फसलों में परिवर्तित हो गई हैं। वैसे गैर-खाद्यान्न फसलें मुख्यतः नकदी फसलें ही होती हैं। इस खण्ड में राज्यों को ही क्षेत्र के रूप में माना गया है। विभिन्न राज्यों में कृषि मौसम की स्थिति, आधारभूत सुविधा, संस्थागत संगठन, फसलों के ढाँचे आदि में भारी अंतर होने के कारण इन राज्यों में कृषि की स्थिति भी निश्चित ही समान नहीं होगी। केवल नियंत्रित सिंचाई एवं सुनिश्चित वर्षा वाले क्षेत्रों में ही कृषि उत्पादन में सतत् वृद्धि संभव हो सकती है।

7.3.1 पचास के दशक में विकास का स्वरूप

1951 में जब आर्थिक विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गई, उस समय हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि दर व जीवन की औसत प्रत्याशा कम थी तथा मृत्यु दर सापेक्षिक रूप से अधिक।

जैसा कि पिछले भाग में बताया गया है, योजना काल से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि प्रधान जड़ (stagnant) अर्थव्यवस्था थी। आर्थिक पुनरुद्धार के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के साथ ही हमारा देश कृषि विकास की महत्वपूर्ण अवस्था में प्रविष्ट हो गया। इसलिए समग्र भारत तथा विभिन्न राज्यों की कृषि विकास की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए हमने सबसे पहले 1952-53 से 1961-62 तक की अवधि की वृद्धि दर की गणना की। यह विश्लेषण 1952-53 से ही प्रारंभ किया गया, क्योंकि इससे पूर्व के वर्षों के लिए समान आधार पर सभी राज्यों के सूचकांक उपलब्ध नहीं थे। राज्यों से तुलना करने के लिए समग्र भारत की वृद्धि दर का आकलन भी इसी वर्ष से किया गया।

1952-53 से 1961-62 तक की अवधि के लिए समग्र भारत के खाद्यान्न, गैर-खाद्यान्न तथा सभी फसलों के उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता की रेखीय वृद्धि दर (1952-53 से 1954-55 तक के औसत को 100 मानते हुए) तालिका 7.1 में दी गई है।

तालिका 7.1

1952-53 से 1961-62 तक की अवधि के लिए समग्र भारत की रेखीय वृद्धि दर
(1952-53 से 1954-55 तक के औसत को 100 मानते हुए)

क्रम. स.	कृषि उत्पादन (प्रतिशत)	फसलों के अंतर्गत क्षेत्र (प्रतिशत)	कृषि उत्पादकता (प्रतिशत)
i)	खाद्यान्न 2.66	1.10	1.45
ii)	गैर-खाद्यान्न 4.40	2.38	1.74
iii)	सभी फसलें 3.23	1.31	1.76

स्रोत : भारत सरकार, खाद्य तथा कृषि मंत्रालय, *ग्रोथ रेट्स इन एग्रीकल्चर*, 1964

52-53 से 1961-62 तक की दस साल की अवधि के लिए सभी फसलों के उत्पादन की रेखीय वार्षिक वृद्धि दर
13 प्रतिशत थी। उत्पादन की इस वृद्धि में क्षेत्र की वृद्धि दर (1.31 प्रतिशत) की तुलना में उत्पादकता की वृद्धि
(1.76 प्रतिशत) का योगदान अधिक रहा। खाद्यान्न फसलों के उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता की वृद्धि दर गैर-खाद्यान्न
सलों की तुलना में कम थी। गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में अधिक वृद्धि उत्पादकता की अपेक्षा क्षेत्र में अधिक
द्धि के कारण संभव हो सकी। दूसरी तरफ खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता में क्षेत्र की तुलना में अधिक वृद्धि हुई।
ाँ यह भी उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि 1952-53 से 1961-62 की अवधि में जनसंख्या की वृद्धि दर (2.26
शत प्रतिवर्ष) की तुलना में खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर (2.66 प्रतिशत प्रतिवर्ष) अधिक रही।

52-53 से 1961-62 की अवधि के लिए समग्र भारत की कुछ प्रमुख फसलों तथा फसलों के समूह के क्षेत्र,
ादन तथा उत्पादकता की वृद्धि दर (1952-53 से 1954-55 के औसत को 100 मानते हुए) को देखने पर ज्ञात
ा है कि इन फसलों की वृद्धि दर में काफी अंतर है। खाद्यान्नों में चावल, गेहूँ तथा चने के उत्पादन की वार्षिक दर
तिशत से भी अधिक रही। गेहूँ तथा चने के उत्पादन में हुई अधिकांश वृद्धि क्षेत्र में बढ़ोतरी के कारण संभव हुई।
वल की उत्पादकता की वृद्धि दर क्षेत्र की वृद्धि दर से अधिक थी। मक्के के उत्पादन की वार्षिक दर 2.74% रही
ा इसमें केवल क्षेत्र में वृद्धि का ही महत्वपूर्ण योगदान रहा, क्योंकि उत्पादकता में वृद्धि की दर मामूली-सी ऋणात्मक
। बाजरा का उत्पादन 0.7 प्रतिशत वार्षिक दर से घट रहा था। दूसरी तरफ ज्वार के उत्पादन की वार्षिक वृद्धिदर
55 प्रतिशत रही तथा इसमें सर्वाधिक योगदान उत्पादकता में वृद्धि का रहा। दालों के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर
75 प्रतिशत रही जबकि इसकी उत्पादकता 0.17 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से घट रही थी। गैर-खाद्यान्नों में मूँगफली
उत्पादन की वृद्धि दर 4.91 प्रतिशत, रेपसीड व सरसों की 4.67 प्रतिशत, कपास की 1.87 प्रतिशत, जूट की
32 प्रतिशत, चाय की 2.41 प्रतिशत, कॉफी की 15.15 प्रतिशत तथा गन्ने की 8.56 प्रतिशत थी। तिलहन, जूट
ा गन्ने के उत्पादन में वृद्धि का प्रमुख स्रोत क्षेत्र में वृद्धि था, जबकि कपास तथा चाय के उत्पादन की वृद्धि में
क्षिक रूप से उत्पादकता की वृद्धि का अधिक योगदान रहा, परंतु कॉफी के उत्पादन की वृद्धि में उत्पादकता का
ादान बहुत अधिक था।

3.2 1952-53 से 1961-62 की अवधि में राज्यवार वृद्धि दर

र वर्णित अवधि में विभिन्न राज्यों में खाद्यान्न, गैर-खाद्यान्न तथा सभी फसलों के उत्पादन, उत्पादकता तथा क्षेत्र की
द्धि दर का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इन दरों में भारी क्षेत्रीय असमानता है। पंजाब (हरियाणा सहित)
सभी फसलों के उत्पादन की वृद्धि दर सर्वाधिक थी तथा पश्चिमी बंगाल में न्यूनतम। समग्र भारत की सभी फसलों
उत्पादन की वृद्धि दर से अधिक वृद्धि दर वाले राज्य थे — पंजाब (5.62%), तमिलनाडु (4.93%), हिमाचल
श (3.83%), मध्यप्रदेश (3.64%), कर्नाटक (3.56%), महाराष्ट्र (3.53%) तथा बिहार (3.40%)। उत्पादन
वृद्धि में प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि का योगदान अधिक महत्वपूर्ण हो गया है, यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है
समग्र भारत के औसत से अधिक उत्पादन की वृद्धि दर वाले सातों राज्यों में उत्पादकता की वृद्धि दर भी अधिक
। आंध्र प्रदेश के अलावा कम वृद्धि दर वाले सभी आठ राज्यों में उत्पादकता की वृद्धि दर देश की औसत वृद्धि
से कम रही। इस प्रकार का संबंध उत्पादन तथा क्षेत्र की वृद्धि दर में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। विभिन्न राज्यों के उत्पादन
ढाँचे में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। कुल उत्पादन में राष्ट्रीय औसत से कम वृद्धि वाले कुछ राज्यों में खाद्यान्न
थवा गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि की दर राष्ट्रीय औसत से अधिक रही।

द्यान्नों के उत्पादन में राष्ट्रीय औसत से अधिक वृद्धि दर वाले राज्य थे — पंजाब (4.48%), तमिलनाडु (4.58%),
ाचल प्रदेश (4.20%), मध्यप्रेदश (3.53%), कर्नाटक (2.86%), बिहार (3.35%), केरल (4.05%) तथा
ध्र प्रदेश (3.32%), जबकि गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में राष्ट्रीय औसत से अधिक वृद्धि दर वाले राज्य
— पंजाब (9.14%), तमिलनाडु (5.59%), मध्यप्रदेश (4.52%), कर्नाटक (5.23%), महाराष्ट्र (5.64%),
स्थान (4.41%), गुजरात (5.39%) तथा उत्तर प्रदेश (4.70%)। अन्य राज्यों में खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों
उत्पादन की वृद्धि दर राष्ट्रीय औसत से कम थी। देश के अधिकांश राज्यों में खाद्यान्न के उत्पादन की तुलना में
-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि दर काफी अधिक रही। इसी प्रकार की स्थिति खाद्यान्न की तुलना में गैर-खाद्यान्न
सलों के क्षेत्र तथा उत्पादकता की वृद्धि दर के संदर्भ में रही।

धिकांश राज्यों में खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि में उत्पादकता की वृद्धि दर का अधिक योगदान रहा, जबकि
-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि का प्रमुख स्रोत क्षेत्र में वृद्धि था। यहाँ यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा
गुजरात में खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र में तथा आंध्रप्रदेश व उड़ीसा में गैर-खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र में काफी कमी
। इसी प्रकार राजस्थान, असम तथा पं. बंगाल में खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता एवं हिमाचल प्रदेश, गुजरात व
बंगाल में गैर-खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता में काफी गिरावट हुई। राजस्थान तथा पंजाब में खाद्यान्नों के अंतर्गत
त्र में काफी वृद्धि हुई, जबकि तमिलनाडु, केरल तथा हिमाचल प्रदेश में इन फसलों की उत्पादकता में उल्लेखनीय
द्धि हुई। इसी प्रकार गुजरात, पंजाब, राजस्थान, पं. बंगाल, बिहार तथा हिमाचल प्रदेश में गैर-खाद्यान्न फैसलों के
तर्गत क्षेत्र में तेजी से वृद्धि हुई। खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता में दो प्रतिशत से अधिक वृद्धि वाले राज्य हैं —
मिलनाडु, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, केरल तथा आंध्र प्रदेश। इसी प्रकार गैर-खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता
दो प्रतिशत से अधिक वृद्धि वाले राज्य हैं — पंजाब, तमिलनाडु, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश तथा
ध्र प्रदेश।

1952-53 से 1961-62 की अवधि के खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों के राज्यवार उत्पादन सूचकांक (1956-57 के कृषि वर्ष के उत्पादन को 100 मानते हुए) विभिन्न राज्यों के कृषि उत्पादन में भारी वार्षिक उच्चावचन प्रदर्शित करते हैं। ये उच्चावचन खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र तथा उत्पादकता दोनों में उतार-चढ़ाव के कारण हुए हैं।

इस अध्ययन में शामिल 15 राज्यों के कुल कृषित क्षेत्र का 50 प्रतिशत उन सात राज्यों में है, जहाँ कृषि उत्पादन में वृद्धि की दर समग्र भारत के औसत से अधिक थी। इन राज्यों में 1952-53 से 1961-62 की अवधि में सकल सिंचित क्षेत्र तथा एक से अधिक बार बोए गए क्षेत्र में अन्य राज्यों की तुलना में अधिक वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन में राज्यवार अंतर का कारण इन राज्यों में प्रति एकड़ उर्वरक के उपयोग में अंतर होना भी हो सकता है।

बोध प्रश्न 2

1) पचास के दशक में विकास के ढाँचे पर करीब 100 शब्दों में टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) दस फसलों के नाम लिखिए तथा उन्हें खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न फसलों में वर्गीकृत कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1952-53 से 1961-62 की अवधि में फसलों के उत्पादन में क्षेत्रीय असमानता का परीक्षण कीजिए। (शब्द सीमा 100 शब्द)

.....

.....

.....

.....

.....

7.4 साठ के दशक में विकास

भल्ला तथा अलघ ने 1962-63 से 1964-65 तक तथा 1970-71 से 1972-73 तक की अवधि के लिए विभिन्न राज्यों की खाद्यान्न फसलों तथा प्रमुख गैर-खाद्यान्न फसलों की विकास दर का अध्ययन किया है। उनका अध्ययन 19 प्रमुख फसलों के उत्पादन तथा क्षेत्र से संबंधित है। ये फसलें हैं: (i) अनाज : चावल, गेहूँ, ज्वार, बाज़रा, मक्का, रागी तथा जौ, (ii) दालें : चना तथा तूर, (iii) तिलहन : मूँगफली, रेपसीड व सरसों, तिल, अलसी तथा अरण्डी, (iv) रेशेवाली फसलें : जूट, मेस्ता व कपास, तथा (v) अन्य फसलें : गन्ना व तंबाकू। यहाँ सकल कृषित क्षेत्र से तात्पर्य केवल इन 19 फसलों के अंतर्गत क्षेत्र से है। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि भीतरी महाराष्ट्र के कई जिलों तथा भीतरी कर्नाटक व आंध्र प्रदेश के कुछ जिलों में 1972-73 का वर्ष भयंकर सूखे के कारण असाधारण रूप से खराब रहा। इसी प्रकार महाराष्ट्र में 1971-72 का वर्ष भी काफी खराब रहा।

अध्ययन में सम्मिलित 19 फसलों के साठ तथा सत्तर के दशकों के उत्पादन को समग्र भारत की 1970-73 की औसत (स्थिर) कीमतों से गुणा करके कृषि उत्पादन का कुल मूल्य ज्ञात किया गया।

7.4.1 सभी फसलें

1962-63 व 1970-73 के बीच विभिन्न राज्यों में सभी फसलों के उत्पादन, क्षेत्र व उत्पादकता की वार्षिक चक्रवृद्धि दर में काफी उतार-चढ़ाव रहे (तालिका 7.2)। कृषि उत्पादन में वृद्धि होने वाले सभी राज्यों में सामान्यतः उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ क्षेत्र तथा उत्पादकता में भी वृद्धि हुई। केवल कर्नाटक, गुजरात तथा बिहार राज्य ही इसके

पवाद हैं। कर्नाटक में विभिन्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्र में कमी होने के बावजूद भी प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में भारी द्धि होने के कारण उत्पादन में बढ़ोतरी हुई। इसी प्रकार गुजरात व बिहार में फसैल-क्षेत्र में कमी होने के बावजूद भी पादकता में वृद्धि होने के कारण कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी हुई।

षि उत्पादन में कमी होने वाले राज्यों में मिश्रित स्थिति रही। महाराष्ट्र में फसल-क्षेत्र व उत्पादकता में भारी कमी के ारण उत्पादन में भारी गिरावट हुई। आंध्र प्रदेश में फसल-क्षेत्र में कमी होने के बावजूद भी उत्पादकता में वृद्धि होने कारण उत्पादन में मामूली गिरावट हुई। उड़ीसा ही एक मात्र ऐसा राज्य है, जहाँ फसल-क्षेत्र में भारी वृद्धि होने के वजूद भी उत्पादकता में कमी के कारण उत्पादन में कमी हुई।

तालिका 7.2

1962-65 से 1972-73 की अवधि में सभी फसलों के क्षेत्र, उत्पादन तथा उत्पादकता की वृद्धि दर

.सं.	राज्य	वार्षिक चक्रवृद्धि दर (%) क्षेत्र	उत्पादन	उत्पादकता
	आंध्र प्रदेश	-0.32	-0.06	-0.27
	असम	1.76	2.54	0.77
	बिहार	-0.19	0.54	0.73
	गुजरात	-0.46	1.95	2.42
	हरियाणा	1.19	5.73	4.49
	हिमाचल प्रदेश	0.33	3.15	2.83
	जम्मू व कश्मीर	0.29	5.67	5.37
	कर्नाटक	-1.53	2.08	3.66
	केरल	0.83	2.02	1.18
).	मध्य प्रदेश	0.50	1.39	0.88
।.	महाराष्ट्र	-1.08	-3.77	-2.74
².	उड़ीसा	0.65	-0.30	-0.93
३.	पंजाब	2.33	7.91	5.45
४.	राजस्थान	1.25	5.10	3.81
५.	तमिलनाडु	0.12	2.47	2.36
६.	उत्तर प्रदेश	1.04	2.94	1.87
७.	पं. बंगाल	1.45	2.42	0.96
	समग्र भारत	0.29	1.95	1.66

ोत: जी.एस. भल्ला व वाई. के. अलघ, *प्रफॉर्मेंस ऑफ इंडियन एग्रीकल्चर, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा. लि., 1979* पृष्ठ 10-11.

स अवधि में अखिल भारतीय स्तर पर फसलों के ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि खाद्यान्नों का उत्पादन 762 ाख टन से बढ़कर 946 लाख टन हो गया, परंतु खाद्यान्नों में सर्वाधिक 134 लाख टन की वृद्धि गेहूँ में हुई। ज्वार उत्पादन में कमी हुई, परंतु अनाज़ की अन्य फसलों में मामूली वृद्धि हुई। दालों के उत्पादन एवं क्षेत्र दोनों में कमी ई। तिलहनों के क्षेत्र में जड़ता की स्थिति बनी रही। गन्ने के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। रेशेवाली फसलों के त्पादन में मामूली गिरावट हुई, जबकि कपास के उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई। यद्यपि ज्वार के अलावा सभी अनाजों ी उत्पादकता में वृद्धि हुई, परंतु गेहूँ की उत्पादकता में असाधारण रूप से वृद्धि हुई। जहाँ तक तिलहनों का संबंध , मूँगफली के अंतर्गत क्षेत्र में मामूली गिरावट हुई, जबकि इसकी उत्पादकता में तुलनात्मक रूप से अधिक कमी ई। गन्ने की उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई। कपास की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में एक प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि ई, जबकि जूट तथा मेस्ता की उत्पादकता में मामूली गिरावट हुई। 1962-65 से 1970-73 की अवधि में सभी 9 फसलों की प्रति हेक्टेयर औसत उत्पादकता 853 रुपये से बढ़कर 973 रुपये हो गई, अर्थात् इसकी चक्रवृद्धि दर .66 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही

.4.2 खाद्यान्न

970-73 की अवधि में संपूर्ण देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन का आधे से ज्यादा भाग पाँच राज्यों अर्थात् उत्तर प्रदेश, मध्य देश, पंजाब, पं. बंगाल तथा बिहार में पैदा हुआ। इन राज्यों का खाद्यान्न के कुल क्षेत्र तथा उत्पादन में हिस्सा क्रमशः 6.79 प्रतिशत तथा 51.59 प्रतिशत था। 1970-73 की अवधि में देश के खाद्यान्न के कुल क्षेत्र का तथा उत्पादन इन राज्यों का अलग-अलग हिस्सा क्रमशः इस प्रकार था — उत्तर प्रदेशः 17.23% तथा 18.23%, मध्य प्रदेशः 2.59% तथा 10.22%, पंजाबः 3.75% तथा 8.03%, पं. बंगालः 5.48% तथा 7.56% एवं बिहारः 7.74% तथा

7.55%। अन्य राज्यों का कुल उत्पादन में हिस्सा तुलनात्मक रूप से काफी कम था। 1962-65 से 1970-73 की अवधि में विभिन्न राज्यों की खाद्यान्न की वार्षिक चक्रवृद्धि दर तालिका 7.3 में दी गई है।

तालिका 7.3

1962-65 से 1970-73 की त्रैवार्षिक में खाद्यान्न के औसत क्षेत्र, उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि

क्र.सं.	राज्य	वार्षिक चक्रवृद्धि दर (%) 1962-65 पर 1970-73		
		क्षेत्र	उत्पादन	उत्पादकता
1.	आंध्र प्रदेश	-1.11	-0.98	0.13
2.	असम	1.90	2.23	0.31
3.	बिहार	0.52	1.52	1.47
4.	गुजरात	0.22	4.50	4.25
5.	हरियाणा	1.22	7.88	6.58
6.	हिमाचल प्रदेश	0.46	3.36	2.87
7.	जम्मू व कश्मीर	0.32	5.80	5.45
8.	कर्नाटक	-1.88	2.45	4.41
9.	केरल	0.90	2.15	1.24
10.	मध्य प्रदेश	0.68	1.63	0.94
11.	महाराष्ट्र	-0.97	-4.89	-3.96
12.	उड़ीसा	0.63	-0.61	-1.23
13.	पंजाब	2.67	10.42	7.54
14.	राजस्थान	1.33	4.72	3.37
15.	तमिलनाडु	-0.01	2.87	2.87
16.	उत्तर प्रदेश	1.10	4.30	3.15
17.	पं. बंगाल	1.83	3.62	1.75
	समग्र भारत	0.42	2.74	2.33

स्रोत: जी.एस. भल्ला व वाई. के अलघ, *प्रफॉर्मेंस ऑफ इंडियन एग्रीकल्चर, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा.लि., 1979*

तालिका को देखने से स्पष्ट है कि इस अवधि में महाराष्ट्र के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों के खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि हुई। पं. बंगाल, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, जम्मू व कश्मीर, हरियाणा तथा पंजाब राज्यों में खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर 3.60 प्रतिशत तथा 10.42 प्रतिशत के बीच केरल, असम, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा हिमाचल प्रदेश राज्यों में 2 प्रतिशत तथा 3.40 प्रतिशत के बीच तथा बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों में 1.50 प्रतिशत तथा 1.70 प्रतिशत के बीच रही। महाराष्ट्र तथा उड़ीसा के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में खाद्यान्न की प्रति एकड़ उत्पादकता में वृद्धि हुई तथा आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र व तमिलनाडु के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में फसल-क्षेत्र में बढ़ोतरी हुई। क्षेत्र तथा उत्पादकता में सर्वाधिक वृद्धि पंजाब में दर्ज की गई। असम के अतिरिक्त उत्पादन में धनात्मक वृद्धि दर वाले अन्य सभी राज्यों के उत्पादन की वृद्धि में क्षेत्र में वृद्धि की अपेक्षा उत्पादकता में वृद्धि का अधिक योगदान रहा। गुजरात, हरियाणा, जम्मू व कश्मीर, कर्नाटक तथा पंजाब में उत्पादकता की वृद्धि दर 4 प्रतिशत से अधिक; हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश में 2 प्रतिशत से 4 प्रतिशत के बीच; बिहार, केरल तथा पं. बंगाल में 1 प्रतिशत व 2 प्रतिशत के बीच तथा आंध्र प्रदेश, असम व मध्य प्रदेश में शून्य व 1 प्रतिशत के बीच रही। दूसरी तरफ खाद्यान्नों के अंतर्गत क्षेत्र की वृद्धि दर पंजाब में 2.67 प्रतिशत, असम तथा पं. बंगाल में 1.9 प्रतिशत के करीब, उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा राजस्थान में 1.10 प्रतिशत व 1.33 प्रतिशत के बीच तथा अन्य राज्यों में एक प्रतिशत से कम रही।

7.4.3 दालें

इस श्रेणी के अंतर्गत केवल चना व तुर (अरहर) को शामिल किया गया है। चना व तुर का कुल उत्पादन साठ के दशक में 68.1 लाख टन था, जो कम होकर सत्तर के दशक के आरंभ में 66.1 लाख टन रह गया, अर्थात् इसमें गिरावट की चक्रवृद्धि दर 0.37 प्रतिशत प्रति वर्ष रही। इसके विपरीत दालों की उत्पादकता में 1.53 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई, जिससे इसकी मात्रा 1962-65 में 589 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर से बढ़कर 1970-73 में 665 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर हो गई। देश के प्रमुख दाल उत्पादक राज्य उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा हरियाणा हैं। 1970-73 की अवधि में देश के चने व तुर के क्षेत्र तथा उत्पादन में इन राज्यों का हिस्सा क्रमशः 72.37 प्रतिशत तथा 79.08 प्रतिशत था। उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश देश के दो सर्वाधिक दाल उत्पादक राज्य हैं। उत्तर प्रदेश का देश दाल के क्षेत्र व उत्पादन में हिस्सा क्रमशः 24.99 प्रतिशत तथा 32.61 प्रतिशत था, इसके बाद मध्य प्रदेश का हिस्सा क्रमशः 21.49 प्रतिशत तथा 21.43 प्रतिशत था।

धकाश राज्यों में दालों के क्षेत्र व उत्पादन में कमी हुई, परंतु चार प्रमुख दाल उत्पादक राज्यों में से दो राज्यों—मध्य श व राजस्थान के उत्पादन में क्रमशः 3.30 प्रतिशत व 4.43 प्रतिशत तथा क्षेत्र में 1.48 प्रतिशत व 0.30 प्रतिशत वर्ष की दर से वृद्धि हुई। उत्पादन में धनात्मक वृद्धि दर दर्ज कराने वाले अन्य राज्य हैं—असम, हिमाचल प्रदेश, टिक, उड़ीसा तथा तमिलनाडु। अन्य दो प्रमुख दाल उत्पादक राज्यों में से उत्तर प्रदेश में दाल उत्पादन 0.34 प्रतिशत वर्ष तथा हरियाणा में 3.02 प्रतिशत प्रतिवर्ष कम हो रहा था। हरियाणा में दालों के अंतर्गत क्षेत्र 3.45 प्रतिशत र्षिक दर से कम हो रहा था, परंतु उत्तर प्रदेश में यह 3.06 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ रहा था। प्रमुख दाल ादक राज्यों में राजस्थान में उत्पादकता में तेजी से वृद्धि (4.11 प्रतिशत) हुई; इसके बाद उत्तरप्रदेश (2.80 प्रतिशत), प्रदेश (1.79 प्रतिशत) तथा हरियाणा (0.45 प्रतिशत) का स्थान है।दालों के उत्पादन में सर्वाधिक कमी बिहार, याणा तथा पंजाब में हुई, जहाँ चने एवं तुर के उत्पादन में क्रमशः 1.40 लाख टन, 1.84 लाख टन व 2.79 लाख से कमी हुई। इन तीनों राज्यों में उत्पादकता में भारी वृद्धि होने की वजह से क्षेत्र में गिरावट की तुलना में उत्पादन गिरावट कम हुई। दालों की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता पंजाब में 741 कि.ग्रा. से बढ़कर 866 कि.ग्रा., बिहार में 610 कि.ग्रा. बढ़कर 695 कि.ग्रा. तथा हरियाणा में 607 कि.ग्रा. से बढ़कर 629 कि.ग्रा. हो गई। आंध्र प्रदेश, असम तथा राष्ट्र के अलावा देश के सभी राज्यों में दालों की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में वृद्धि हुई। यह मध्य प्रदेश में 572 कि.ग्रा. बढ़कर 659 कि.ग्रा., राजस्थान में 468 कि.ग्रा. से बढ़कर 646 कि.ग्रा. तथा उत्तर प्रदेश में 691 कि.ग्रा. से बढ़कर ? कि.ग्रा. हो गई। किंतु केवल बिहार, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पं. बंगाल राज्यों में दालों की उत्पादकता अखिल तीय स्तर से अधिक रही। यह तथ्य कि दालों का उत्पादन गिर रहा है, भारत जैसे देश के लिए गंभीर चिंता का य है, क्योंकि यहाँ के गरीबों के लिए दालें ही प्रोटीन का प्रमुख स्रोत हैं।

4.4. तिलहन

में तिलहन की प्रमुख फसलें मूँगफली, रेपसीड व सरसों, तिल, अलसी तथा अरण्डी हैं। देश के प्रमुख तिलहन ादक राज्य (1970-71 में समग्र भारत के तिलहन उत्पादन में हिस्से के आधार पर) आंध्र प्रदेश (16.94%), रात (19.57%) तथा तमिलनाडु (14.92%) हैं। इनके बाद कर्नाटक (8.86%), मध्य प्रदेश (8.37%), महाराष्ट्र 28%) राजस्थान (6.34%) तथा उत्तर प्रदेश (5.7%) आदि का स्थान है। उत्तर प्रदेश में मिश्रित फसलों के व उत्पादन में तिलहनों को शामिल न करने के कारण इस राज्य को प्रमुख तिलहन उत्पादक राज्यों में सम्मिलित किया है। अन्य राज्यों में, देश के कुल तिलहन उत्पादन में पंजाब का हिस्सा 3.72 प्रतिशत है, जिसके बाद उड़ीसा 84%), हरियाणा (1.84%) तथा बिहार (1.40%) का स्थान है।

ुल भारतीय स्तर पर 1962-65 से 1970-73 की अवधि में तिलहनों के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर बहुत कम 12 प्रतिशत) रही। इसी प्रकार उत्पादकता की वृद्धि दर 0.20 प्रतिशत रही किंतु क्षेत्र में -0.09 प्रतिशत से कमी हुई। ब तिलहन उत्पादक राज्यों में से गुजरात में तिलहन उत्पादन 0.74 प्रतिशत प्रति वर्ष तथा तमिलनाडु में 0.96 शत प्रति वर्ष की दर से घट रहा था, जबकि यह आंध्र प्रदेश में 3.51 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ रहा था। दन में गिरावट का कारण गुजरात में केवल क्षेत्र में कमी (2.05% प्रति वर्ष की दर से) तथा तमिलनाडु में केवल दकता में कमी (1.95% प्रति वर्ष की दर से) होना था। आंध्र प्रदेश में, उत्पादन में वृद्धि का कारण मुख्यतः क्षेत्र जी से वृद्धि (2.99 प्रतिशत प्रति वर्ष) होना था। अन्य राज्यों में से हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा महाराष्ट्र में हन उत्पादन 2.75 प्रतिशत से भी अधिक दर से घट रहा था और कर्नाटक,उत्तर प्रदेश तथा केरल में उत्पादन में की यह दर 0.12 प्रतिशत व 0.67 प्रतिशत के बीच रही। इसके विपरीत पंजाब, राजस्थान, उड़ीसा तथा जम्मू श्मीर में तिलहन उत्पादन 4.9 प्रतिशत से भी अधिक दर से बढ़ रहा था और मध्य प्रदेश, बिहार, असम तथा गाल में उत्पादन की वृद्धि दर 0.64 प्रतिशत व 2.56 प्रतिशत के बीच रही। जहाँ असम तथा पंजाब में उत्पादन द्धि मुख्यतः क्षेत्र में वृद्धि के कारण हुई, वहीं बिहार, जम्मू व कश्मीर, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा राजस्थान में यह मुख्यतः उत्पादकता में वृद्धि के कारण हुई। प. बंगाल में क्षेत्र तथा उत्पादकता, दोनों उत्पादन में वृद्धि के लिए न रूप से उत्तरदायी थे। जहाँ तक उत्पादन में कमी का प्रश्न है, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा कर्नाटक में यह तः क्षेत्र में कमी के कारण और केरल, महाराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश में उत्पादकता में कमी के कारण हुई। हमारे देश लहन का उत्पादन इसकी माँग से बहुत कम है, जिसके कारण इसका आयात करना पड़ता है।

4.5 अन्य गैर-खाद्यान्न फसलें

में 1962-65 से 1970-73 की अवधि में गन्ने के अंतर्गत क्षेत्र 23.5 लाख हैक्टेयर से बढ़कर 24.8 लाख हैक्टेयर इसका उत्पादन 107.3 लाख से बढ़ कर 123.4 लाख टन (गुड़ के रूप में) हो गया। इस अवधि में गन्ने के उत्पादन तथा उत्पादकता की वार्षिक चक्रवृद्धि दर क्रमशः 0.67 प्रतिशत, 1.76 प्रतिशत व 1.08 प्रतिशत रही।

0-73 की अवधि में भारत में प्रमुख गन्ना उत्पादक राज्य उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा कर्नाटक इनके बाद हरियाणा, बिहार तथा पंजाब का स्थान था। केवल उत्तर प्रदेश में गन्ने का उत्पादन 53.7 लाख टन है, जो देश के कुल उत्पादन का 43.50 प्रतिशत है। 1970-73 की अवधि में उत्तर प्रदेश में गन्ने की प्रति हैक्टेयर दकता (4101 कि.ग्रा.), आंध्र प्रदेश (8582 कि.ग्रा.), तमिलनाडु (8476 कि.ग्रा.) तथा कर्नाटक 71 कि.ग्रा.) की उत्पादकता से आधे से भी कम थी। बिहार (3521 कि.ग्रा.), हरियाणा (4492 कि.ग्रा.) तथा

पंजाब (4260 कि.ग्रा.) राज्यों में उत्पादकता का स्तर उत्तर प्रदेश के समान ही था। वास्तव में उत्तर प्रदेश में उत्पादकता का स्तर निम्न होने के कारण समग्र भारत की प्रति हैक्टेयर औसत उत्पादकता भी केवल 4973 कि.ग्रा. ही है।

प्रमुख गन्ना उत्पादक राज्यों म स उत्तर प्रदेश में गन्ने के उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता की वृद्धि दरें क्रमशः 1.15, 0.15% व 1.00%; महाराष्ट्र में 3.22%, 3.78% व -0.53%; आंध्र प्रदेश में 0.09%, 0.18% व -0.08%; तमिलनाडु में 5.96%, 6.28% व -0.29% तथा कर्नाटक में 3.51%, 2.96% व 0.54% थी। द्वितीय श्रेणी के राज्यों में से बिहार में गन्ने के उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता की दरें क्रमशः ऋणात्मक रहीं -1.12%, -0.83%, व -0.29%; हरियाणा में 0.91%, 0.21%, व 0.70% और पंजाब में 2.66%, -0.29% व 2.97% थीं। कुछ अन्य राज्यों में भी गन्ने के उत्पादन में संतोषजनक वृद्धि हुई।

7.4.6 कपास, जूट व तंबाकू

1962-65 से 1970-73 की अवधि में कपास के क्षेत्र में बिहार, हरियाणा तथा राजस्थान के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में कमी हुई। इसके परिणामस्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर कपास के अंतर्गत क्षेत्र 80.9 लाख हैक्टेयर से कम होकर 76.8 लाख हैक्टेयर हो गया। इस अवधि में अखिल भारतीय स्तर पर कपास का उत्पादन 53.5 लाख गाँठों से बढ़कर 54.9 लाख गाँठ हो गया। इसका कारण इस फसल में प्रति हैक्टेयर उत्पादकता का स्तर 119 कि.ग्रा. से बढ़कर 129 कि.ग्रा. होना था। उत्पादन की वृद्धि में मुख्य योगदान गुजरात, हरियाणा, पंजाब तथा राजस्थान का रहा।

देश के प्रमुख कपास उत्पादक राज्य गुजरात, पंजाब तथा महाराष्ट्र हैं। इन राज्यों में से हर राज्य का कपास का उत्पादन 8 लाख गाँठों से अधिक है तथा 1970-73 की अवधि में देश के कपास के क्षेत्र व उत्पादन में इन राज्यों का हिस्सा करीब 63 प्रतिशत था। अन्य राज्यों में हरियाणा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा तमिलनाडु भी काफी महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि 1970-73 की अवधि में इनमें से प्रत्येक राज्य कपास का उत्पादन 3 लाख गाँठों से ज्यादा कर रहे थे।

जहाँ तीन राज्यों के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी राज्यों में कपास के अंतर्गत क्षेत्र में कमी हुई, वहीं मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में कपास की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में वृद्धि हुई। देश के प्रमुख कपास उत्पादक राज्यों में से राजस्थान, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा पंजाब में उत्पादकता में अधिकतम वृद्धि हुई। प्रमुख कपास उत्पादक राज्यों में से गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, पंजाब तथा राजस्थान में कपास के उत्पादन में 2.0 प्रतिशत या इससे अधिक दर से वृद्धि हुई, जबकि मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र में कपास के उत्पादन में भारी कमी (3 प्रतिशत से भी अधिक दर से) हुई।

जूट

1962-65 से 1970-73 की अवधि में देश में जूट के अंतर्गत क्षेत्र 8.36 लाख हैक्टेयर से कम होकर 7.42 लाख हैक्टेयर हो गया तथा इसका उत्पादन 5.75 मिलियन गाँठों से कम होकर 5.05 मि. गाँठ हो गया। इसी प्रकार जूट की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता भी 1237 कि.ग्रा. से मामूली सी कम होकर 1227 कि.ग्रा. हो गई। जूट प्रमुख रूप से प. बंगाल व असम में तथा कुछ मात्रा में बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में पैदा किया जाता है। देश में जूट के कुल उत्पादन का 79 प्रतिशत प. बंगाल तथा असम में पैदा होता है।

असम के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में जूट के उत्पादन में कमी हुई है। जूट के उत्पादन में कमी की दर बिहार में 5.87 प्रतिशत, उड़ीसा में 3.78 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 3.03 प्रतिशत तथा प. बंगाल में 1.58 प्रतिशत रही। पहले तीन राज्यों में जूट के अंतर्गत क्षेत्र में कमी की दर 4.0 प्रतिशत से भी ज्यादा रही, जबकि अंतिम राज्य में यह दर 0.99 प्रतिशत थी। बिहार तथा प. बंगाल में प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में भी क्रमशः 1.74 प्रतिशत व 0.59 प्रतिशत वार्षिक दर से कमी हुई, जबकि उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में इसके उत्पादन में क्रमशः 0.77 प्रतिशत व 0.96 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई। इसके विपरीत असम में जूट के उत्पादन में 2.42 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई। इसका कारण क्षेत्र तथा उत्पादकता में क्रमशः 0.55 प्रतिशत व 1.86 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि होना था। 1970-73 की अवधि में सर्वाधिक प्रति हैक्टेयर उत्पादकता 1502 कि.ग्रा. प. बंगाल तथा न्यूनतम 859 कि.ग्रा. बिहार में दर्ज़ की गई।

तंबाकू

तंबाकू का उत्पादन यद्यपि भारत के अधिकांश राज्यों में होता है, परंतु इसका अधिकांश उत्पादन आंध्र प्रदेश तथा गुजरात राज्यों में ही केंद्रित है। 1970-73 की अवधि में इन राज्यों में देश के तंबाकू के अंतर्गत क्षेत्र का 70 प्रतिशत तथा इसके उत्पादन का 89 प्रतिशत था। 1962-65 से 1970-73 की अवधि में देश में तंबाकू के अंतर्गत क्षेत्र 4.12 लाख हैक्टेयर से बढ़कर 4.34 लाख हैक्टेयर तथा इसका उत्पादन 3.48 लाख टन से बढ़कर 3.70 लाख टन हो गया। इस अवधि में तंबाकू की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में मामूली वृद्धि हुई। यह 845 कि.ग्रा. से बढ़कर 852 कि.ग्रा. हो गई। आंध्र प्रदेश, गुजरात, केरल तथा उड़ीसा के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में तंबाकू के उत्पादन में भारी कमी दर्ज़ की गई। आंध्र प्रदेश में तंबाकू के उत्पादन की वृद्धि दर केवल 0.43 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। इस राज्य में तंबाकू के अंतर्गत क्षेत्र में 2.92 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि होने के बावजूद भी इसके उत्पादन में कम वृद्धि का कारण इसकी उत्पादकता में 1.81 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से गिरावट होना था। गुजरात में तंबाकू के उत्पादन में 3.73 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई, जबकि इस राज्य में तंबाकू के क्षेत्र व उत्पादकता में वृद्धि की दर क्रमशः 0.22 प्रतिशत

1 3.49 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। अधिकांश राज्यों में तंबाकू के अंतर्गत क्षेत्र में 2.0 प्रतिशत प्रतिवर्ष से गिरावट हुई। करीब आधे राज्यों में तंबाकू की उत्पादकता में कमी दर्ज की गई।

प्रश्न 3

भल्ला तथा अलघ के अध्ययन के प्रमुख निष्कर्षों पर करीब 250 शब्दों में प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत:

अ) कृषि उत्पादन में कमी वाले राज्यों में मिश्रित स्थिति पाई गई।

ब) खाद्यान्नों के वर्ग में गेहूँ में न्यूनतम वृद्धि हुई।

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

अ) उन पाँच राज्यों के नाम बताइए, जहाँ 1970-73 की अवधि में देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन का आधे से अधिक भाग पैदा किया गया।

.....

.....

.....

ब) दो प्रमुख दालों के नाम बताइए, जिन्हें दालों के वर्ग में शामिल किया गया है।

.....

.....

स) चार प्रमुख दाल उत्पादक राज्य कौन-कौन से हैं?

.....

.....

द) भारत की प्रमुख तिहलन फसलों के नाम बताइए।

.....

.....

य) भारत में तिलहन का उत्पादन इसकी माँग से कम क्यों है?

.....

.....

निम्नलिखित फसलों के उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता में वृद्धि की दरों एवम् इन फसलों के उत्पादक राज्यों के बारे में पचास-पचास शब्दों में टिप्पणी कीजिए:

अ) गन्ना

.....

.....

.....

ब) कपास

.....

.....

.....

स) तंबाकू

.....

.....

.....

7.5 सत्तर एवं अस्सी के दशकों में विकास का स्वरूप

इस भाग में सत्तर एवं अस्सी के दशकों (हरित क्रांति-काल) में कृषि में हुए विकास का वर्णन किया जाएगा। यह विश्लेषण मुख्यतः खाद्यान्नों तक ही केंद्रित रहेगा, यद्यपि तिलहनों के उत्पादन का भी वर्णन होगा। इसका कारण यह है कि इस अवधि के लिए कुछ गैर-खाद्यान्न फसलों के बारे में आवश्यक सूचनाएँ एकत्रित नहीं की जा सकी हैं।

7.5.1 खाद्यान्न

हमारे देश में 1970-73 से 198[illegible]9 की अवधि में खाद्यान्नों का उत्पादन 103.54 मि. टन से बढ़कर 151.34 मि. टन हो गया, जिससे 2.40 प्रति[illegible] वार्षिक चक्रवृद्धि दर प्राप्त होती है। विभिन्न राज्यों में खाद्यान्नों के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दरों में भारी अंतर है। अखिल भारतीय औसत से अधिक वृद्धि दर दर्ज़ करने वाले राज्य हैं — नागालैंड (5.8%), पंजाब (5.0%), महाराष्ट्र (4.9%), त्रिपुरा (3.8%), हरियाणा (3.6%), उत्तर प्रदेश (3.4%) तथा मणिपुर (3.3%)। नागालैंड तथा त्रिपुरा का अच्छा प्रदर्शन स्वागत योग्य है, यद्यपि देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन में इन राज्यों का हिस्सा 0.4% से भी कम है। उत्तर प्रदेश का प्रदर्शन इस तथ्य को देखते हुए शानदार कहा जा सकता है कि इस राज्य में 1970-73 की अवधि में देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन का 18 प्रतिशत पैदा किया गया था। देश के खाद्यान्न उत्पादन में इस राज्य का हिस्सा बढ़कर 1986-89 में 20.9 प्रतिशत हो गया तथा इस प्रकार खाद्यान्न के उत्पादन में इसका अब भी प्रथम स्थान है। पंजाब तथा हरियाणा में तेजी से विकास की गति बनी रही। यह भी उल्लेखनीय है कि इस अवधि में महाराष्ट्र ने भी शानदार प्रगति की। पूर्वी राज्यों में प. बंगाल ने इस अवधि में अच्छी प्रगति की तथा इसकी वार्षिक वृद्धि दर 2.22 प्रतिशत रही। दूसरी तरफ असम में खाद्यान्न के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर 1.47%, उड़ीसा में 1.56 प्रतिशत तथा बिहार में 1.29 प्रतिशत रही। दक्षिणी राज्यों में खाद्यान्न के उत्पादन की सर्वाधिक वृद्धि दर (2.37%) आंध्र प्रदेश में तथा उसके बाद कर्नाटक (1.38%) में दर्ज़ की गई। दूसरी तरफ तमिलनाडु में खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर बहुत कम (0.28 प्रतिशत) रही, जबकि केरल में खाद्यान्न उत्पादन में 1.42 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से गिरावट दर्ज़ की गई। केरल में अन्य कारणों के अतिरिक्त चावल के क्षेत्र को नारियल के क्षेत्र में हस्तांतरित होने से खाद्यान्न के उत्पादन में कमी हुई। दो पश्चिमी राज्यों (राजस्थान तथा गुजरात) में उत्पादन की वृद्धि दर बहुत निराशाजनक रही। राजस्थान में जहाँ खाद्यान्न के उत्पादन में मात्र 0.56 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई, वहीं गुजरात में इसमें 0.63 प्रतिशत की वार्षिक दर से कमी हुई। गुजरात में ऋणात्मक वृद्धि दर का कारण मोटे अनाज़ (राज्य के खाद्यान्न उत्पादन में जिसका हिस्सा महत्वपूर्ण है) के उत्पादन में वृद्धि की स्थिति निराशाजनक रहना है। मध्य प्रदेश में खाद्यान्न के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर 1.80 प्रतिशत तथा हिमाचल प्रदेश में 0.78 प्रतिशत रही। खाद्यान्नों में दालों की स्थिति अब भी निराशाजनक है।

7.5.2 तिलहन

यद्यपि भारत में तिलहनों के अंतर्गत विश्व का सर्वाधिक क्षेत्र है, फिर भी देश में तेलों एवं वसा के प्रति व्यक्ति उपभोग का स्तर करीब 6 कि.ग्रा. प्रतिवर्ष है, जो न केवल विश्व के औसत से कम है वरन् यह भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा निर्धारित प्रति व्यक्ति 14 कि.ग्रा. के वार्षिक पोषाहार मापदण्ड से भी बहुत कम है। भारत में तिलहनों के उत्पादन में तेजी से वृद्धि नहीं होने का कारण यह है कि हमारे देश में इन फसलों की अधिक उपज देने वाली किस्में विकसित नहीं का जा सकी हैं तथा इन फसलों का 90 प्रतिशत से भी अधिक भाग वर्षा पर निर्भर तथा घटिया मिट्टी में बोया जाता है, जिससे इनके उत्पादन में बहुत अधिक वार्षिक उतार-चढ़ाव होते हैं। वनस्पति तेलों तथा वसा (चर्बी) की माँग में होने वाली 4 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की तुलना में इसके उत्पादन में केवल 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हो पा रही है, जिससे भारी मात्रा में तेल के आयात करने की आवश्यकता पड़ती है।

मूँगफली तथा रेपसीड-सरसों तिलहन की दो महत्वपूर्ण फसलें हैं, जिनका 1983-85 की अवधि में देश के तिलहन उत्पादन में हिस्सा क्रमशः 54% व 22% था। यहाँ हमारा विवेचन इन्हीं दो फसलों पर केंद्रित होगा।

मूँगफली

देश में मूँगफली के अंतर्गत क्षेत्र 75 लाख हैक्टेयर से अधिक है। इस फसल का अधिकांश भाग खरीफ के मौसम में बोया जाता है, जिसकी पैदावार वर्षा पर निर्भर करती है। गुजरात, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र राज्यों का देश के मूँगफली के क्षेत्र तथा उत्पादन में 80 प्रतिशत हिस्सा है, जबकि केवल गुजरात तथा आंध्र प्रदेश राज्यों का हिस्सा करीब 50 प्रतिशत है। इस फसल के अंतर्गत क्षेत्र का करीब 14 प्रतिशत क्षेत्र सिंचित है।

1967-68 से 1983-84 की अवधि में अधिकांश राज्यों में मूँगफली का उत्पादन कम हुआ अथवा स्थिर रहा। केवल तीन राज्यों — आंध्र प्रदेश, गुजरात तथा उड़ीसा में मूँगफली के उत्पादन में क्रमशः 1.38 प्रतिशत, 3.42 प्रतिशत व 9.25 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। केवल दो राज्यों गुजरात तथा उड़ीसा में मूँगफली के अंतर्गत क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। मूँगफली के अंतर्गत क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि की दर उड़ीसा में 9.25 प्रतिशत तथा गुजरात में 1.39 प्रतिशत रही। बाकी सभी राज्यों में मूँगफली के अंतर्गत क्षेत्र में जबरदस्त कमी अथवा स्थिरता दर्ज़ की गई। उत्तरी राज्यों में इसके क्षेत्र में भारी कमी हुई। केरल के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में मूँगफली की उत्पादकता स्थिर रही। इससे स्पष्ट है कि मूँगफली की उत्पादकता के क्षेत्र में किसी प्रकार के महत्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तन नहीं हुए।

रेपसीड व सरसों

देश में रेपसीड व सरसों के अंतर्गत क्षेत्र 40 लाख हैक्टेयर से भी अधिक हैं। यह फसल रबी के मौसम में बोयी जाती है। इसका उत्पादन देश के उत्तरी तथा पूर्वी राज्यों में ही केंद्रित है। उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में देश के रेपसीड व सरसों के क्षेत्र व उत्पादन का करीब 60 प्रतिशत भाग है। उत्तर प्रदेश तथा असम में कुल कृषित क्षेत्र का 7 प्रतिशत से भी अधिक भाग रेपसीड व सरसों के अंतर्गत है, जबकि अन्य राज्यों में यह अनुपात 5 प्रतिशत से भी कम है तथा संपूर्ण राष्ट्र के लिए यह औसत 2 प्रतिशत से कुछ ज्यादा है। देश में इस फसल के अंतर्गत क्षेत्र का करीब 27 प्रतिशत भाग सिंचित है, जबकि उत्तर प्रदेश में यह अनुपात करीब 10 प्रतिशत है।

1967-68 से 1983-84 की अवधि में तेरह में से केवल आठ राज्यों में रेपसीड व सरसों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इस फसल के उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि (18 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक) गुजरात में दर्ज़ की गई तथा इसके बाद राजस्थान तथा प. बंगाल (7 से 11 प्रतिशत के बीच) का स्थान है। असम, जम्मू व कश्मीर, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा उड़ीसा जैसे राज्यों में रेपसीड व सरसों के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर 6 से 7 प्रतिशत तक रही। असम तथा राजस्थान का प्रदर्शन प्रशंसनीय है, क्योंकि इन दोनों राज्यों का देश के रेपसीड व सरसों के उत्पादन में करीब 27 प्रतिशत हिस्सा है। यह बहुत दुखद स्थिति है कि उत्तर प्रदेश में इस फसल के उत्पादन की वृद्धि दर ऋणात्मक रही, यद्यपि यह सांख्यिकीय दृष्टि से सार्थक नहीं थी। उत्तर प्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा इन राज्यों में से हैं, जहाँ इस अवधि में रेपसीड व सरसों का उत्पादन करीब-करीब स्थिर रहा।

राष्ट्रीय स्तर से अधिक उत्पादकता वाले राज्यों में से गुजरात राज्य में रेपसीड व सरसों की उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि (5.7 प्रतिशत) हुई तथा इसके बाद पंजाब व हरियाणा (3.1 प्रतिशत) एवं जम्मू व कश्मीर (2.6 प्रतिशत) राज्य आते हैं। राष्ट्रीय स्तर से कम उत्पादकता वाले राज्यों में से महाराष्ट्र तथा प. बंगाल में रेपसीड व सरसों की उत्पादकता में 4 प्रतिशत से अधिक, मध्य प्रदेश में 3.7 प्रतिशत से अधिक एवं असम में 1.2 प्रतिशत से अधिक वार्षिक वृद्धि दर्ज़ की गई। यह बड़े दुःख का विषय है कि उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान जैसे प्रमुख रेपसीड-सरसों उत्पादक राज्य इन राज्यों की श्रेणी में सम्मिलित हैं, जहाँ 1967-68 से 1983-84 की अवधि में इस फसल की उत्पादकता स्थिर रही।

बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब व हरियाणा (जहाँ रेपसीड-सरसों का क्षेत्र स्थिर रहा) के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में इस फसल के अंतर्गत क्षेत्र में भारी वृद्धि हुई। क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि की दर गुजरात (11.9 प्रतिशत से अधिक), राजस्थान (7.7 प्रतिशत से अधिक) तथा उड़ीसा (6.83 प्रतिशत) में दर्ज़ की गई। अन्य राज्यों में क्षेत्र की वार्षिक वृद्धि दर 1.5 व 5 प्रतिशत के बीच रही। जम्मू व कश्मीर, गुजरात, असम, प. बंगाल, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में इस फसल की उत्पादकता में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई, जबकि अन्य राज्यों में यह करीब-करीब स्थिर रही। बिहार तथा उत्तर प्रदेश ने क्षेत्र व उत्पादकता में स्थिरता दर्ज़ करने की विशिष्टता प्राप्त की, जबकि पंजाब व हरियाणा में उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, परंतु क्षेत्र स्थिर रहा। यह बड़े दुःख का विषय है कि देश के रेपसीड व सरसों के उत्पादन में करीब 30 प्रतिशत की भागीदारी वाले राज्य उत्तर प्रदेश में फसल के क्षेत्र तथा उत्पादकता दोनों में कोई वृद्धि नहीं हुई।

सामान्यतः सत्तर व अस्सी के दशकों में जहाँ हरित क्रांति दृष्टिगोचर हुई, वहीं उत्कृष्ट एवं मोटे अनाजों के साथ-साथ दालों व तिलहनों में भी असामंजस्य देखा गया। इस अवधि में भारत के उत्तर-पश्चिमी राज्यों तथा पूर्वी राज्यों के बीच स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व के व्यापक अंतराल में और अधिक वृद्धि हुई।

बोध प्रश्न 4

1) गत दो दशकों के अंतर्गत भारत में कृषि के विकास का परीक्षण कीजिए (करीब 250 शब्दों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलतः

अ) मूँगफली तथा रेपसीड-सरसों तिलहन की प्रमुख फसलें हैं।

ब) देश में आजकल तेल एवं वसा के प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग का स्तर करीब 6 कि.ग्रा. है।

स) केरल में चावल का क्षेत्र नारियल की तरफ परिवर्तित हो गया है।

द) पंजाब एवं हरियाणा ने तीव्र विकास की गति को कायम नहीं रखा।

य) सत्तर व अस्सी के दशकों में जहाँ हरित क्रांति दृष्टिगोचर हुई, वहीं उत्कृष्ट व मोटे अनाजों में सामंजस्य भी देखा गया।

7.6 सारांश

इस इकाई में हमने बीसवीं शताब्दी में कृषि उत्पादन के विकास एवं स्वरूप का अध्ययन किया। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व की अवधि का विश्लेषण ब्लिन के अध्ययन पर आधारित है, जिसमें 1891-92 से 1946-47 तक के 56 वर्षों को शामिल किया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का विवेचन अस्सी के दशक के अंत तक के चार दशकों की अवधि के लिए है तथा यह प्रमुखतया कृषि क्षेत्र के विद्वानों के आनुभविक अध्ययनों पर आधारित है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व की अवधि में खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि दर गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि दर की तुलना में कम थी। साथ ही, जनसंख्या की वृद्धि दर खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि दर से बहुत अधिक थी। कृषि उत्पादन का क्षेत्रीय प्रदर्शन मिश्रित रहा। सामान्यतः वृहत्तर बंगाल में खाद्यान्न के उत्पादन में कमी हुई, जबकि वृहत्तर पंजाब में खाद्यान्न तथा गैर-खाद्यान्न दोनों फसलों में वृद्धि दर्ज की गई। वर्तमान शताब्दी के प्रथम भाग में फसल-क्षेत्र में मामूली सी वर्द्धमान प्रवृत्ति तथा प्रति एकड़ उत्पादकता में ह्रासमान प्रवृत्ति रही। परंतु इस अवधि में गैर-खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र तथा प्रति एकड़ उत्पादकता दोनों में वर्द्धमान प्रवृत्ति रही। यह स्मरण रहे कि उत्पादकता की वृद्धि दर क्षेत्र की वृद्धि दर से दुगुनी रही।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की अवधि के लिए कृषि के विकास एवं स्वरूप का विवेचन अलग से किया गया। भारत में तथाकथित हरित क्रांति के उद्भव से कृषि क्षेत्र में खाद्यान्न के उत्पादन में आश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। कृषि की धनात्मक वृद्धि दर के बावजूद भी करीब-करीब सभी फसलों के क्षेत्र, उत्पादन व उत्पादकता की दृष्टि से विभिन्न राज्यों के प्रदर्शन में भारी असमानता देखी गई। अखिल भारतीय स्तर पर फसलों के ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। खाद्यान्नों के वर्ग में गेहूँ के उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि हुई। सामान्यतः पूर्वी राज्यों का प्रदर्शन वैसा शानदार तथा संतुलित नहीं रहा, जैसा कि अन्य राज्यों का रहा। अतः वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों (पूर्वी राज्यों) तथा शुष्क कृषि की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

दालों तथा तिलहनों के उत्पादन का स्तर संतोषजनक नहीं है, जिससे इनके उत्पादन को प्राथमिकता देनी चाहिए क्योंकि विदेशी विनिमय संकट के कारण हम खाद्य तेलों के आयात को जारी रखने में समर्थ नहीं हैं। तथाकथित 'हरित क्रांति' के बाद भी उत्कृष्ट तथा मोटे अनाजों के बीच असंतुलन बढ़ गया है।

7.7 शब्दावली

क्षेत्रफल: कृषि के अंतर्गत क्षेत्र अथवा किसी विशिष्ट फसल के अंतर्गत क्षेत्र। भारत में कृषि के क्षेत्रफल में और वृद्धि करने की संभावनाएँ बिल्कुल नहीं हैं, इसलिए केवल उत्पादकता में वृद्धि करके ही कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

रेशेवाली फसलें: कपास, जूट तथा मेस्ता। इस प्रकार की फसलों का उत्पादन केवल बाज़ार के लिए ही होता है तथा इन्हें अन्य गैर-खाद्यान्न फसलों की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है।

खाद्यान्न फसलें: मुख्यतः भोजन के लिए प्रयुक्त फसलें, जैसे—गेहूँ, चावल, मक्का, बाज़रा, ज्वार, दालें आदि। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मुद्रा प्राप्त करने के लिए इनका विक्रय नहीं होता है। तथापि इन्हें इसलिए खाद्य फसलें कहा जाता है, कि बड़ी संख्या में किसान, विशेषकर गरीब किसान इन्हें स्वयं उपभोग के लिए बोते हैं तथा वे अपने उत्पादन का बहुत कम भाग बाज़ार में बेचते हैं।

कृषि उत्पादन के विकास का स्वरूप: किसी दिए हुए समय-बिंदु पर विभिन्न फसलों के क्षेत्र तथा उत्पादकता के संदर्भ में कृषि उत्पादन की विकास दर तथा समय के साथ इसमें परिवर्तन।

फसल कटाई के समय की कीमतें: सामान्य बोलचाल में विभिन्न फसलों की कीमतें, जो फसल कटाई के समय प्रचलित रहती हैं। फसल की कटाई के समय प्रायः फसलों की कीमतें कम रहती हैं।

गैर-खाद्य फसलें (नक़दी फसलें): इनका उत्पादन मुख्यतः बाज़ार में बेचने के लिए होता है, उदाहरणार्थ—गन्ना, कपास, जूट, तिलहन, तंबाकू, चाय, काफी आदि।

फसल उत्पादन के विकास का क्षेत्रीकरण: सामान्यतः किसी राज्य की राजनैतिक अथवा प्रशासकीय सीमाओं को एक क्षेत्र के रूप में माना जाता है। विभिन्न क्षेत्रों की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ होती है, अतः कोई भी एक योजना देश के सभी कृषि-क्षेत्रों पर लागू नहीं की जा सकती है। विभिन्न क्षेत्रों में मिट्टी की प्रकृति, वर्षा की मात्रा, सिंचाई सुविधाओं एवं जल की उपलब्धि आदि में भारी अंतर होता है; उदाहरणार्थ — बिहार, प. बंगाल अथवा पंजाब में कृषि की स्थिति समान नहीं है। सामान्यीकरण में अंतः क्षेत्रीय असमानताओं को नकार दिया जाता है। इसीलिए कृषि क्षेत्र के विकास की क्षेत्रीय स्थिति पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भल्ला जी.एस. एवं अलघ वाई. के. 1979 *परफॉर्मेंस ऑफ इंडियन एग्रीकल्चर : ए डिस्ट्रिक्ट वाइज स्टडी,* स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली।

ब्लिन जॉर्ज, 1966, *एग्रीकल्चरल ट्रेण्ड्स इन इंडिया, 1891-1947 : आउटपुट एवेलेबिलिटी एण्ड प्रोडक्टिविटी,* यूनिवर्सिटी ऑफ पेनसिल्वेनिया प्रेस, फिलाडेल्फिया।

निनान के.एन. 1987 "एडिबल आइलसीड्सः ग्रोथ एण्ड एरिया रेस्पांसेज", *इकनामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली,* वाल्युम XXI, न. 39, सितम्बर 26, 1987, रिव्यु ऑफ एग्रीकल्चर, पेज ए 97-ए 110।

सरीन एस.बी. 1990 "डिवेलपमेंट ऑफ एग्रीकल्चर इन इंडिया विद् स्पेशल रेफरेंस टू फूडग्रेन प्रोडक्शन—ए रिव्यु", *रुरल रिकंस्ट्रक्शन,* वॉल्युम 23, नं. 2; जुलाई 1990, पेज 93-107।

7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

1) अ) सही।
   ब) सही।
   स) गलत (सही आँकड़ा 80 प्रतिशत है न कि 60 प्रतिशत)।
   द) सही।

2) देखिए भाग 7.2.4 तथा उत्तर दीजिए।

3) देखिए भाग 7.2.1 व 7.2.5 तथा उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 7.3.1 देखिए और अपना उत्तर तैयार कीजिए।
2) स्वयं प्रयास कीजिए।
3) उत्तर के लिए 7.3.2 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 7.4.2 से 7.4.5 तथा उत्तर दीजिए।

2) अ) सही।
   ब) गलत।

3) अ) उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब व हरियाणा तथा बिहार।

ब) [illegible]।
स) उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान।
द) मूँगफली, रेपसीड व सरसों, तिल, अलसी तथा अरण्डी।
य) देखिए भाग 7.4.4 तथा उत्तर दीजिए।

4) देखिए भाग 7.4.5 तथा उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) देखिए भाग 7.5.1

2) अ) सही।
ब) सही।
स) सही।
द) गलत।
य) गलत।

इकाई 8 भारतीय कृषि उत्पादन में वार्षिक उच्चावचन तथा कृषि-जलवायु संबंधी क्षेत्र-निर्धारण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 खाद्यान्न के उत्पादन में अस्थिरता
8.3 हरित क्रांति तथा अस्थिरता
  8.3.1 अस्थिरता के विषम प्रभाव
  8.3.2 अस्थिरता के बारे में एक समग्र दृष्टिकोण
8.4 अस्थिरता में वृद्धि के कारण
  8.4.1 राज्यवार अस्थिरता
  8.4.2 प्रकृति निर्दोष है
  8.4.3 बड़े तथा छोटे कृषकों के बीच अंतर
  8.4.4 पारिस्थितिक असंतुलन
8.5 वर्षा एवं जल-संसाधन
  8.5.1 जल संसाधनों का मूल्यांकन
  8.5.2 वर्तमान एवं प्रस्तावित भण्डारण
  8.5.3 भूमिगत जल
  8.5.4 सिंचाई संभाव्य
8.6 जल संसाधनों में क्षेत्रीय असमानता
  8.6.1 जल की आवश्यकता एवं सूखा
  8.6.2 सूखा-संभाव्य क्षेत्र
8.7 भारत में कृषि-पारिस्थितिक क्षेत्र-निर्धारण
  8.7.1 कृषि-जलवायु संबंधी प्रमुख क्षेत्र
  8.7.2 उप-क्षेत्रों के लिए कृषि रणनीति
8.8 सारांश
8.9 शब्दावली
8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.11 बोध-प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

8.0 उद्देश्य

यह इकाई आपको निम्नलिखित बातों की जानकारी देने में सहायक होगी :

- खाद्यान्न के उत्पादन में अस्थिरता का मूल्यांकन तथा जल-व्यवस्था से इसका संबंध,
- वर्षा के जल की सतही एवं भूमिगत जल संरचनाओं की सहायता से संभावित उपयोग का अनुमान, तथा
- कृषि नियोजन में कृषि-जलवायु संबंधी क्षेत्र-निर्धारण की प्रासंगिकता।

8.1 प्रस्तावना

पौधों के विकास के लिए आवश्यक घटकों में जल तथा मिट्टी सबसे महत्वपूर्ण हैं। फसलों का सफलतापूर्वक उगाना जल की पर्याप्त उपलब्धि पर निर्भर करता है, वह जल चाहे बरसात का हो, सतही हो या भूमिगत। बरसात के जल का कुछ भाग भूमि अथवा पेड़-पौधों पर से भाप बनकर उड़ जाता है, जो कुछ भाग भूमि सोख लेती है, वही भूमिगत जल के पुनर्भरण में सहायक होता है तथा बाकी भाग भूमि पर बह जाता है। आप जानते हैं कि हमारे देश के अधिकांश भागों में जून से सितम्बर के चार महीनों में ही बरसात होती है तथा इस अवधि में साल-भर की तीन चौथाई बरसात हो जाती है। बाकी के महीनों में भूमिगत अथवा सतही जल संसाधनों से सिंचाई द्वारा पानी की आवश्यकता पूरी की जाती है। चौमासे के अतिरिक्त दूसरे मौसम में तथा बरसात न होने की स्थिति में फसल उगाने के लिए सिंचाई की आवश्यकता प्राचीन काल से ही महसूस की जाती रही है। समय के साथ-साथ जनसंख्या में वृद्धि होने तथा इसके परिणामस्वरूप अधिक कृषि उत्पादन की आवश्यकता होने से सिंचाई की आवश्यकता में वृद्धि हुई है। सिंचाई की आवश्यकता केवल कम वर्षा वाले क्षेत्रों तथा बरसात के बाद के मौसम तक ही सीमित नहीं है। अच्छी बरसात वाले

क्षेत्रों में वर्षा में लंबे अंतराल के समय भी इसकी आवश्यकता महसूस की जाती है। सुनिश्चित जल-व्यवस्था की स्थिति में ही अधिक उपज देने वाले बीजों तथा उर्वरकों की तकनीक से अधिक फसल ली जा सकती है।

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने यह अनुमान लगाया है कि भारत में औसत वार्षिक वर्षा की मात्रा 400 मिलियन हैक्टेयर मीटर है। इसमें से करीब 105 मिलियन हैक्टेयर मीटर का ही विभिन्न तरीकों से उपयोग किया जा सकता है तथा 125 मिलियन हैक्टेयर मीटर सीधे ही वाष्पोत्सर्जन के रूप में प्रयुक्त हो जाता है। बाकी बचे जल की मात्रा भाप बन कर उड़ जाती है अथवा भूमि पर बहकर समुद्र में विलीन हो जाती है। हमारे देश में नदियों में बहने वाले पानी का 80 प्रतिशत भाग, खासकर मानसून के 4-5 महीनों में नदियों में बाढ़ आने के कारण समुद्र में गिर जाता है। इसके साथ ही, देश में सभी स्थानों पर समान रूप से बरसात नहीं होती है, जिससे कुछ क्षेत्रों में जलाभाव व कुछ क्षेत्रों में बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः जल संसाधनों का उपयोग जल भण्डारण की क्षमता पर निर्भर करता है।

देश में बाढ़ तथा सूखा, राज्य की सीमाओं को पार करते हुए अनेक क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं। देश का एक-तिहाई क्षेत्र सूखा-संभाव्य क्षेत्र है तथा प्रति वर्ष औसतन 9 मिलियन हैक्टेयर के करीब क्षेत्र बाढ़ से प्रभावित होता है। राष्ट्रीय बाढ़ कमीशन के अनुसार देश का करीब 40 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र बाढ़ के प्रति संवेदनशील है। वर्षा की इन विशेषताओं का वार्षिक फसल उत्पादन की स्थिरता पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि औपनिवेशिक शासन के समय नियुक्त अकाल आयोगों तथा समितियों के इन सामान्य पूर्वानुमानों पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि भारत में मानसून की असफलता के कारण वक्त-बेवक्त पड़ने वाले अकाल अवश्यंभावी हैं, फिर भी फसल के वार्षिक उत्पादन की अस्थिरता तथा जल-व्यवस्था के बीच के संबंध को नकारा नहीं जा सकता।

8.2 खाद्यान्न के उत्पादन में अस्थिरता

जहाँ साल-भर की अधिकांश वर्षा केवल एक ही मानसून (दक्षिण-पश्चिमी मानसून) से होती है वहाँ खाद्यान्न उत्पादन, विशेषतः अधिक जल वाली फसलों के उत्पादन में अस्थिरता आंशिक रूप से अंतर्निहित होती है। जैसा कि हम जानते हैं, ब्रिटिश काल में इस प्रकार के मानसून की स्थिति में अकाल को अंतर्निहित तत्व माना जाता था। हम यह भी जानते हैं कि फसल के उत्पादन में ऐसी तथाकथित अंतर्निहित अस्थिरता को दूर करने के लिए सिंचाई का सहारा लिया गया। परंतु प्रारंभ में ही यह जोर देकर कहना होगा कि औपनिवेशिक काल में, विशेषतः रेलवे के आगमन के पश्चात् देश में निरंतर एवं भयंकर रूप से पड़ने वाले अकालों में वृद्धि हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 1966, 1967, 1972, 1982, 1987 इत्यादि कई वर्षों में मानसून की असफलता के कारण देश का विस्तृत भू-भाग प्रभावित हुआ, फिर भी देश में इतने व्यापक स्तर पर अकाल नहीं पड़े। इसका कारण इस अवधि में देश में सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के लिए भारी मात्रा में खाद्यान्नों का स्टॉक उपलब्ध होना था, न कि खाद्यान्न के वार्षिक उत्पादन की अस्थिरता में कमी होना।

वास्तव में, इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि औपनिवेशिक काल में (उदाहरण के लिए इस शताब्दी के बीस व तीस के दशकों में) जहाँ देश के खाद्यान्न उत्पादन में दीर्घकाल में कदाचित् कमी हो रही थी, यह जरूरी नहीं था कि इस काल में फसल के उत्पादन में वार्षिक उच्चावचन भी बढ़ रहे थे। साथ ही एस.आर. सेन ने उल्लेख किया है, कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पहले दशक तथा दूसरे अर्ध-दशक में ज्यों ही देश की कृषि में गति आई तथा खाद्यान्न के उत्पादन में वर्धमान प्रवृत्ति के संकेत दृष्टिगोचर होने लगे, त्यों ही खाद्यान्न के उत्पादन में वार्षिक उच्चावचनों में भी वृद्धि हुई। इस बात के भी पुष्ट प्रमाण हैं कि जहाँ प्राचीन वृहत्तर बंगाल में इस सदी के प्रथम अर्ध-भाग में खाद्यान्न उत्पादन में दीर्घकाल में कमी हुई, वहीं वार्षिक उच्चावचनों में भी वृद्धि नहीं हुई, इनमें संभवतः कुछ कमी ही हुई। परंतु वृहत्तर पंजाब के बारे में यह सही नहीं है। वहाँ इसी अवधि में दीर्घकाल में वर्धमान प्रवृत्ति रही तथा वार्षिक उच्चावचनों में भी वृद्धि हुई।

8.3 हरित क्रांति तथा अस्थिरता

खाद्यान्न उत्पादन की वर्ष-दर-वर्ष अस्थिरता में वृद्धि का प्रश्न गेहूँ तथा चावल में हरित क्रांति के पश्चात् विशेष रूप से विवाद का मुद्दा बन गया है। बी. चट्टोपाध्याय ने हरित क्रांति से पूर्व (1950-51 से 1964-65) तथा हरित क्रांति के बाद (1967-68 से 1981-82) की अवधियों के लिए कई सांख्यिकीय गणनाएँ करके निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किये हैं:

> रबी के मौसम तथा अधिकांशतः सिंचित क्षेत्र में बोई जाने वाली फसल गेहूँ के बारे में हरित क्रांति से पूर्व तथा उस के बाद की अवधियों की प्रवृत्ति दर में महत्वपूर्ण वृद्धि दृष्टिगोचर हुई तथा उत्पादन के वार्षिक उच्चावचन में वृद्धि नहीं हुई। दूसरी तरफ खरीफ़ की फसल चावल की प्रवृत्ति दर में इस प्रकार की महत्वपूर्ण वृद्धि दृष्टिगोचर नहीं हुई तथा उत्पादन के वार्षिक उच्चावचन जो पहले विद्यमान नहीं थे, हरित क्रांति के बाद इनमें वृद्धि हुई। यही स्थिति अन्य अनाज़ों में भी रही, मक्का तथा बाज़रा जैसे मोटे अनाज़ों के उत्पादन की अस्थिरता में वृद्धि हुई। ऐसा ही दालों में भी हुआ। अतः गेहूँ के अतिरिक्त अन्य अनाज़ों तथा दालों में परस्पर-विरोधी परिवर्तन होने का मूल

प्रभाव यह रहा कि सभी खाद्यान्नों के उत्पादन की अस्थिरता में वृद्धि हुई, जबकि इनके उत्पादन की प्रवृत्ति दर में हरित क्रांति से पूर्व तथा उसके बाद की अवधियों में कोई वृद्धि नहीं हुई।

8.3.1 अस्थिरता के विषम प्रभाव

फसल उत्पादन के तीव्र एवं वर्धमान वार्षिक उच्चावचनों के कई घातक प्रभाव हो सकते हैं। इनसे न केवल समग्र विकास दर में कमी होती है, वरन् सामाजिक-आर्थिक-प्रक्रियाओं में अपरिवर्तनीय परिवर्तन होने लगते हैं। इस तथ्य को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन नीतियों के निर्धारण में सामान्यतः नज़रअंदाज़ किया गया है। इस क्षेत्र में अल्पकालीन नीति का पक्ष खाद्यान्नों के बफर स्टॉक के संचालन से संबंधित है। दीर्घकालीन नीति के प्रभावों की गहनता से अध्ययन की आवश्यकता है तथा यह सिंचाई में विनियोग की सीमाओं, फसल के अनुसंशित ढाँचों से संबंधित कृषि विस्तार कार्यों आदि से संबंधित है।

अर्थव्यवस्था में प्रमुख अनाज़ उत्पादन में वर्ष-दर-वर्ष उच्चावचनों (यदि ये उच्चावचन बढ़ रहे है, जिनके बारे में सुदृढ़ तथ्य हैं, तो भी इनके कारणों के बारे में मतभेद है) के भयंकर परिणाम होते हैं। इसका कारण खाद्यान्न उत्पादन के उपनति मूल्यों से धनात्मक अथवा ऋणात्मक विचलनों का अर्थव्यवस्था के समष्टि तथा व्यष्टि स्तरों पर पड़ने वाले प्रभावों में मौलिक रूप से विषमता का होना है। उदाहरण के लिए, खाद्यान्न के उत्पादन में महत्वपूर्ण ऋणात्मक विचलन होने से देश में खाद्यान्न की कमी हो जाती है। इससे खाद्यान्न को आयात करने की आवश्यकता होगी, जिसका आशय है— विदेशी विनिमय का घाटा। किंतु इस घाटे को खाद्यान्न का निर्यात करके पूरा नहीं किया जा सकता, चाहे अगले वर्ष खाद्यान्न के उत्पादन में उसी मात्रा में तथा विपरीत दिशा में विचलन हो। इसलिए विदेशी विनिमय का यह घाटा साल-दर-साल चलता रहेगा तथा संचित होता रहेगा। खाद्यान्न के उत्पादन में कमी होने से इसी प्रकार की असमानताएँ अर्थव्यवस्था के समष्टि स्तर पर स्फीतिकारक शक्तियों तथा बजट संसाधनों पर पड़ने वाले दबावों के रूप में देखी जा सकती है। आगामी वर्ष में खाद्यान्न के उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि होने पर इन असमानताओं को न तो अनिवार्यतः पूरा किया जा सकता है और न ही इन्हें रोका जा सकता है।

इस प्रकार की असमानताएँ व्यष्टि स्तर पर भी बहुत तीक्ष्ण हो सकती हैं। उदाहरण के लिए किसी क्षेत्र में अकाल के कारण फसल के बरबाद होने से लघु कृषक ऐसे प्रभावित होते हैं जिसे सुधारा नहीं जा सकता। फसल बरबाद होने से उन्हें अबचत (dissavings) का सामना करना पड़ सकता है, परिसंपत्तियों की हानि उठानी पड़ सकती है तथा अंततोगत्वा वे भूमिहीन श्रमिक की स्थिति में आ सकते हैं, यहाँ तक कि उन्हें देशांतर के लिए भी विवश होना पड़ सकता है।

8.3.2 अस्थिरता के बारे में एक समग्र दृष्टिकोण

हाल ही में वाशिंगटन स्थित अंतर्राष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान द्वारा 1954-55 से 1964-65 तथा 1967-68 से 1977-78 तक की दो अवधियों (खराब फसल के दो क्रमागत वर्षों 1965-66 व 1966-67 को छोड़ते हुए) के लिए भारत में अनाज़ की सभी प्रमुख फसलों के उत्पादन तथा उत्पादकता के उच्चावचनों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए :

दो अवधियों के बीच अनाज़ के कुल उत्पादन में 44.8 प्रतिशत वृद्धि हुई, परंतु उत्पादन के प्रमाप विचलन (standard deviation) में 110.1 प्रतिशत वृद्धि होने से विचरण-गुणांक (coefficient of variation) में 45.2 प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी प्रकार की प्रवृत्ति गेहूँ तथा बाज़रा के अतिरिक्त अनाज़ की अन्य सभी फसलों में प्रकट हुई। गेहूँ के औसत उत्पादन में 141.9 प्रतिशत वृद्धि हुई। चूँकि इसके उत्पादन के प्रमाप विचलन में करीब इतनी ही वृद्धि हुई, अतः विचरण-गुणांक में केवल 2.1 प्रतिशत ही वृद्धि हुई।

दो अवधियों के लिए विभिन्न फसलों व राज्यों के उत्पादन के विचरण-गुणांक उन फसलों व राज्यों के उत्पादन के जोखिम में भयंकर अस्थिरता को प्रदर्शित करते हैं। समग्र भारत के लिए अनाज़ की सभी फसलों के उत्पादन का विचरण-गुणांक द्वितीय अवधि में काफी संतुलित (5.9 प्रतिशत) था। यह गुणांक असम में चावल के उत्पादन के विचरण-गुणांक के अलावा अन्य सभी फसलों व राज्य के तत्संबंधित विचरण-गुणांकों से काफी कम था। विभिन्न राज्यों तथा समग्र भारत में बाज़रा का उत्पादन काफी जोखिमपूर्ण रहा। द्वितीय अवधि में संपूर्ण देश के लिए इसका विचरण-गुणांक 27.7 प्रतिशत तथा राजस्थान के लिए बहुत अधिक 54.9 प्रतिशत रहा। द्वितीय अवधि में सभी राज्यों में से गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में अनाज का उत्पादन सर्वाधिक जोखिमपूर्ण रहा, जहाँ इसका विचरण गुणांक 20 प्रतिशत से भी अधिक था।

उत्पादन के विचरण-गुणांकों से भाँति-भाँति के निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, क्योंकि विभिन्न फसलों तथा राज्यों दोनों के उत्पादन जोखिमों में काफी परिवर्तन हुए। उदाहरण के लिए बिहार, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में चावल के उत्पादन के विचरण-गुणांक में कमी हुई, परंतु बाकी राज्यों तथा समग्र भारत के लिए इस गुणांक में वृद्धि हुई।

यह मानने पर कि राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ तथा बाज़रा के अतिरिक्त अन्य सभी अनाज़ों के उत्पादन के सापेक्ष जोखिम (विचरण-गुणांक से आँकने पर) में वृद्धि हुई है, प्रश्न यह उठता है कि इस वृद्धि का कितना भाग उत्पादकता में वृद्धि के कारण हुआ? उत्पादकता के विचरण-गुणांकों को देखने से ज्ञात होता है कि सभी राज्यों एवं समग्र भारत के लिए अनाज़ की सभी फसलों की उत्पादकता के विचरण-गुणांक में परिवर्तन हुए। राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ तथा जौ के अतिरिक्त

अन्य सभी अनाज़ों की उत्पादकता की सापेक्ष जोखिमों में वृद्धि हुई, परंतु यह वृद्धि उत्पादन की सापेक्ष जोखिम में वृद्धि के समान नहीं रही। जहाँ समग्र भारत के लिए सभी अनाज़ों के उत्पादन के विचरण-गुणांक में 45.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई वहीं उत्पादकता के विचरण-गुणांक में केवल 20.4 प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी प्रकार का संबंध चावल, बाज़रा, ज्वार, मक्का तथा रागी में भी दृष्टिगोचर हुआ। बाज़रा की उत्पादकता के सापेक्ष जोखिम में उत्पादन की जोखिम की तुलना में तेजी से वृद्धि हुई, परंतु गेहूँ तथा जौ के लिए इसमें कमी हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि उत्पादकता तथा उत्पादन के विचरण-गुणांकों में एक ही दिशा में परिवर्तन नहीं हुए। उदाहरण के लिए, अधिकांश राज्यों में गेहूँ की उत्पादकता के विचरण-गुणांक में कमी हुई, परंतु उत्पादन के विचरण-गुणांक में वृद्धि हुई। स्पष्टतः उत्पादकता के सापेक्ष जोखिमों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, परंतु वे उत्पादन की सापेक्ष जोखिमों के परिवर्तनों की व्याख्या करने वाले अकेले चर नहीं है।

समग्र भारत में अनाज़ के कुल उत्पादन के प्रसरण (variance) में इन दो अवधियों में 342 प्रतिशत वृद्धि हुई। इस वृद्धि का केवल 6 प्रतिशत ही प्रत्यक्षतः विभिन्न राज्यों की फसलों की उत्पादकता में वृद्धि के कारण हुआ। इस वृद्धि के बहुत बड़े भाग (82 प्रतिशत) के लिए उसी राज्य तथा अन्य राज्यों में उगाई गई विभिन्न फसलों के बीच उत्पादन के सहप्रसरण में वृद्धि उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त उत्पादकता के अंतःफसल तथा अंतःराज्य सहप्रसरणों में वृद्धि इन उत्पादन सहप्रसरणों (covariances) में वृद्धि के प्रमुख स्रोत रहे।

आश्चर्य की बात है उत्पादकता के सहप्रसरण में वृद्धि के बहुत कम भाग के लिए उत्पादकता के प्रसरण में वृद्धि उत्तरदायी है। उत्पादकता के सहप्रसरण में करीब 90 प्रतिशत वृद्धि नहीं हो पाती, अगर उसी राज्य तथा अन्य राज्यों में पैदा की गई फसलों के बीच अधिक धनात्मक सहसंबंध की तरफ एक साथ बदलाव नहीं होता। यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि उत्पादकता के सहसंबंधों में इस वृद्धि के लिए विकसित तकनीक को कहाँ तक उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, अधिक से अधिक यह उत्पादकता के प्रसरणों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। इस बात की अधिक संभावना है कि मौसम में परिवर्तन तथा सिंचाई व खाद्य के बड़े पैमाने पर उपयोग के कारण ये परिवर्तन हुए हों, वह भी उस समय जब खाद तथा सिंचाई में प्रयुक्त पंपसेटों के लिए विद्युत आपूर्ति बहुत कम भरोसेमंद है।

बोध प्रश्न 1

1) वर्षा की व्यवस्था का विवरण 50 शब्दों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) हरित क्रांति से पूर्व तथा उस के बाद की अवधियों में खाद्यान्न के उत्पादन की अस्थिरता में हुए परिवर्तन का विवरण 200 शब्दों में दीजिए। (अलग कागज पर उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) अस्थिरता के (1) समष्टिगत तथा (2) व्यष्टिगत स्तर पर हुए विषम प्रभाव कौन-कौन से हैं?

.....

.....

.....

.....

8.4 अस्थिरता में वृद्धि के कारण

अपने शानदार शोध कार्य में सी.एच. हनुमन्थराव ने यह पाया है कि वर्षा के प्रति उत्पादन की संवेदनशीलता में वृद्धि होने के कारण हरित क्रांति के बाद की अवधि (1965-66 के बाद) में कृषि उत्पादन की अस्थिरता में वृद्धि हुई है। वर्षा की मात्रा में परिवर्तन से कृषि उत्पादन विशेषतः खाद्यान्न के उत्पादन की अस्थिरता में वृद्धि का कारण यह है कि नवीन बीजों तथा खाद की जल व सिंचाई सुविधाओं में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि के बीच उच्च स्तर की पूरकता है। सिंचाई के अंतर्गत क्षेत्रफल में पर्याप्त वृद्धि (पचास के दशक के प्रारंभ में कुल कृषित क्षेत्र के 15 प्रतिशत से बढ़कर अस्सी के दशक के मध्य में 30 प्रतिशत) होने के बावजूद भी सृजित सिंचाई क्षमता का बहुत बड़ा भाग अब भी वर्षा पर निर्भर है। हाल ही में सिंचाई की इस अनिश्चितता में और अधिक वृद्धि हुई है। हरित क्रांति के बाद की अवधि में गेहूँ के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की फसलों के उत्पादन के उच्चावचन के विस्तार में वृद्धि हुई है। गेहूँ के उत्पादन में सबसे कम विचरण (variability) का कारण यह है कि नवीन तकनीक तथा सिंचाई से यही फसल सबसे अधिक प्रभावित हुई है। उत्पादन के विचरण में सर्वाधिक वृद्धि तिलहनों में हुई तथा उसके पश्चात् मोटे अनाजों व दालों का स्थान है, क्योंकि ये फसलें असिंचित भूमि तथा अपर्याप्त व अनिश्चित वर्षा की स्थितियों में बोयी जाती हैं।

8.4.1 राज्यवार अस्थिरता

1961-65 की अवधि में विभिन्न राज्यों के खाद्यान्न उत्पादन के अस्थिरता सूचकांकों में भारी अंतर है। गुजरात, राजस्थान, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा राज्यों में अधिक अस्थिरता पायी गई, क्योंकि इनके खाद्यान्न उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर का प्रमाप विचलन 21.6 (मध्य प्रदेश) से 32.2 (गुजरात) के बीच रहा। दूसरी तरफ असम, केरल तथा पंजाब राज्यों के उत्पादन में कम अस्थिरता पायी गई। साथ ही विभिन्न राज्यों की स्थिरता की दरों तथा विकास की दरों में किसी प्रकार का सहसंबंध नहीं पाया गया। यह देखा गया कि रबी की तुलना में खरीफ़ की खाद्यान्न फसलें वर्षा की मात्रा में परिवर्तन के प्रति अधिक संवेदनशील थी। इसका कारण यह है कि रबी की फसलों को नियंत्रित जलापूर्ति अर्थात् सिंचाई की सुविधा सापेक्षिक रूप से अधिक उपलब्ध होती है, जिससे इन फसलों को जलवायु के संकटों का कम सामना करना पड़ता है। जिन राज्यों में खाद्यान्न उत्पादन की वर्षा की मात्रा में परिवर्तन के प्रति संवेदनशीलता में वृद्धि हुई, वे हैं — असम, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा तमिलनाडु। दूसरी तरफ बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, केरल तथा पंजाब राज्यों में वर्षा की मात्रा के प्रति उत्पादन संवेदनशीलता में भारी कमी हुई। इन सभी राज्यों में खाद्यान्न के उत्पादन की अस्थिरता में भी भारी कमी हुई। पंजाब तथा हरियाणा में खाद्यान्न के उत्पादन, विशेषतः गेहूँ के उत्पादन की अस्थिरता में कमी के लिए अंशतः भूमिगत जल संसाधनों पर आधारित नलकूप तथा पंपसेटों का विस्तार उत्तरदायी है। ये साधन वर्षा पर आधारित व गुरुत्वाकर्षण शक्ति से प्रवाहित सिंचाई तथा सतही लघु सिंचाई के अन्य तरीकों की तुलना में अधिक विश्वसनीय हैं।

8.4.2 प्रकृति निर्दोष है

अंतर्राष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान के विश्लेषण में हरित क्रांति के बाद की अवधि में कृषि उत्पादन में अस्थिरता के लिए जलवायु में हुए परिवर्तनों को उत्तरदायी माना गया था, किंतु यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि दो दशकों की अल्पावधि में जलवायु में किस प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। साथ ही हमें वर्षा से संबंधित उस नियतिवाद से बचना भी जरूरी है, जिसने औपनिवेशिक काल के अधिकांश अकाल जाँच आयोगों, समितियों, अभाव नियमावलियों तथा अकाल संहिताओं को यह मानने के लिए प्रेरित किया कि वर्षा में कमी-बेशी होने से भारत में वक्त-बेवक्त अकाल का पड़ना अनिवार्य है। परंतु केवल प्रकृति को ही इस प्रकार के आधारहीन आरोपों के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

कृषि उत्पादन के साधनों में पूरकता पायी जाती है, जिसमें मिट्टी की विशेषता, फसल के क्रम, नमी की मात्रा, पोषक तत्व, बीज आदि सभी तत्व जैविक रूप से मिलकर फसल की एक निश्चित मात्रा उत्पादित करते हैं। इनमें से किसी भी तत्व की कमी से बिल्कुल विषम व ऋणात्मक प्रभाव पड़ सकता है। किंतु बीज-खाद-जल तकनीक यदि साधनों की इस पूरकता को अधिक संवेदनशील बना दें, तो उत्पादन में और अधिक उतार-चढ़ाव होंगे। यह तथ्य कि अंतःफसल, अंतः-राज्य तथा क्षेत्र-उत्पादकता सहप्रसरण (covariance) सामान्य प्रसरण (simple variance) से बहुत अधिक है, स्वयमेव इस परिकल्पना से अनिवार्यतः असंगत नहीं है कि उसके लिए अधिक संवेदनशील तकनीकी पैकेज उत्तरदायी है।

इस प्रकार के तकनीकी पैकेजों के लिए बीज, खाद, कीटनाशक दवा, जल, पंपसेट के लिए ईंधन या विद्युत, पंपसेट तथा मशीनरी के लिए कल-पुर्जों आदि का समय पर मिलने के लिए नियमित संभरण प्रणाली की आवश्यकता होती है। इस संभरण प्रणाली में किसी भी बिंदु पर व्यवधान उत्पन्न होने से अनेक प्रकार के प्रभावों का सिलसिला शुरू हो जाएगा। आवश्यक साधनों को समय पर प्राप्त करने के लिए किसानों को समानांतर व्यापार तंत्र पर निर्भर रहना पड़ता है, जो साधनों की अल्पकालिक अथवा कृत्रिम अभावों की पूर्ति करता है। इस प्रकार की व्यवस्था के अंतर्गत साधन प्राप्त करने के लिए किसानों को अक्सर सामान्य कीमतों (जो ईंधन व खाद के लिए सरकार द्वारा सब्सिडाइज्ड अथवा निर्देशित होती है) से अधिक कीमत देनी पड़ती है।

8.4.3 बड़े तथा छोटे कृषकों के बीच अंतर

इन परिस्थितियों में बड़े किसानों का राजनीतिक प्रभाव अधिक होगा तथा जैसा कि सभी जानते हैं, अच्छे ग्राहकों की सबसे पहले पूछ होती है। इन किसानों को अपने साधन सस्ते दर पर उपलब्ध हो जाते हैं, जबकि स्थिर लागतें, साधनों

की खोज़ तथा व्यापारियों से मोल-भाव करने में वक्त का बरबादी, वित्तीय साधनों के स्रोत आदि कमजोर किसानों के लिए विपरीत परिस्थितियाँ बन जाती है। इन किसानों को अधिक ब्याज चुकाना पड़ता है तथा उन पर थोपी गई ऋण वापसी की शर्तें भी प्रतिकूल होती हैं। नवीन तकनीकी पैकेज अपनाने से फसल की गहनता में वृद्धि होने अथवा बड़े पैमाने पर किसी दूसरी नई फसल के बोने (उदाहरण के लिए गेहूँ के क्षेत्रों में चावल तथा चावल के क्षेत्रों में गेहूँ) से दोनों फसलें जलाभाव आदि की समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाती है। इससे फसल की उत्पादकता तथा उसका क्षेत्र अथवा दोनों प्रभावित होते हैं।

उत्पादकता तथा क्षेत्र का उच्च सहप्रसरण संभवतः फसलों के ढाँचे की एकरूपता की प्रक्रिया तथा बीज़ों के किस्मों से संबंधित हो सकता है। जहाँ तक फसल के ढाँचे का संबंध है, यह लघु एवं सीमांत किसानों द्वारा विशेषतः अनिश्चित जलापूर्ति वाले क्षेत्रों में परंपरागत कम जोखिम वाली अंतःफसल प्रक्रिया का त्याग करके एक मौसम में केवल एक फसल को क्षेत्र आबंटित करने की प्रक्रिया से संबंधित हो सकती है। इस प्रकार का बदलाव कृषि विस्तार-तंत्र तथा बाज़ार की कीमतों में परिवर्तन के प्रति अधिक संवेदनशील किसान भी पसंद करते हैं, क्योंकि आजकल किसान जोखिम से बचने की अपेक्षा जोखिम उठाने के लिए तैयार हो रहे हैं। कीमतों तथा वर्षा के प्रति कृषि उत्पादन की बढ़ती संवेदनशीलता का अन्य अध्ययनों में भी समर्थन किया गया है।

8.4.4 पारिस्थितिक असंतुलन

फसलों के ढाँचे में जब इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं, तब कई प्रकार के परंपरागत किस्मों के बीज़ों के स्थान पर कुछ ही प्रकार के सुधरे हुए बीज़ प्रचलित होने लगते हैं। इससे काफी बड़े भू-भाग पर फसलों की एकरूपता में वृद्धि तथा आनुवंशिक (genetic) समूह में कमी होती है। भारत में हुआ यह आनुवंशिक ह्रास पौध आनुवंशिक संसाधन तथा जीन बैंक से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय बोर्ड के लिए भी चिंता का विषय है। इससे हजारों किस्म की बोई जाने वाली धान की किस्में नष्ट होकर अब केवल कुछ दर्जन ही रह गई हैं। इस प्रक्रिया में नष्ट हुई जीन (gene) की हानि सदा के लिए है। पर्यावरण में होने वाले भारी परिवर्तनों (जलवायु, नये संघातक जीव एवं बीमारियाँ) के संबंध में कृषिशास्त्री अपने आपको असहाय महसूस करते हैं। जैसा कि संयुक्त राज्य राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी की एक रिपोर्ट में कहा गया है :

> यह प्रक्रिया सामाजिक तथा आर्थिक विकास में उस विरोधाभास को प्रकट करती है, जिसमें तकनीक के उत्पाद (उत्पादकता एवं एकरूपता) उन संसाधनों को ही हटा देते हैं, जिन संसधानों पर यह तकनीक आधारित होती है।

फसलों की समरूपता की इस प्रकार की द्वैत प्रक्रिया, मंथर गति से बढ़ती फसलों की गहनता के साथ मिलकर उत्पादकता एवं क्षेत्र के प्रसरण और सहप्रसरण को बढ़ायेगी। इससे लघु किसान भयंकर रूप से प्रभावित होंगे, क्योंकि वे ही वर्षा अथवा तालाब, पोखर तथा कुओं जैसे लघु सिंचाई स्रोतों पर आश्रित रहते हैं। इस प्रकार के स्रोत काफी अनिश्चित होते हैं तथा इनके कारण किसानों के उत्पादन में भारी अस्थिरता उत्पन्न होती है। हो सकता है कि कई सालों से औसत उत्पादन बहुत अधिक हो, परंतु गरीब व्यक्ति केवल औसत पर ही गुज़र-बसर नहीं कर सकते। बिना सुरक्षित भण्डार के वे उत्पादन में कमी-बेशी का सामना करने की स्थिति में नहीं हो सकतें। उनके उत्पादन का नया न्यूनतम स्तर काफी ऊँचा होने के बावजूद भी यह जरूरी नहीं है कि उनकी स्थिति बेहतर हो, क्योंकि अधिक उत्पादन से व्यय के स्वरूप एवं प्रत्याशाओं में परिवर्तन होते हैं तथा अधोमुखी अनम्यता के कारण उपभोग में तत्काल कमी करना बहुत मुश्किल होता है। साथ ही, उत्पादन में उतार-चढ़ाव से लघु तथा वृहत् किसानों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ते हैं, तथा नवीन तकनीक व व्यष्टि स्तर की पारिस्थिति (मिट्टी, जल, कीट तथा बीमारी) के बीच असंतुलन के कारण इसमें वृद्धि होती है।

बोध प्रश्न 2

1) क्या आप यह सोचते हैं कि हरित क्रांति से अस्थिरता में वृद्धि हुई है? कारण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या आप सोचते हैं कि भारत में खाद्यान्न के उत्पादन की अस्थिरता एवं हाल ही में हुए इस अस्थिरता में परिवर्तनों के लिए प्रकृति उत्तरदायी है? कारण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) विभिन्न श्रेणियों के किसानों पर अस्थिरता के प्रभावों के संदर्भ में हरित क्रांति की तकनीक से संबंधित क्या समस्याएँ हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 वर्षा एवं जल संसाधन

मूलभूत पारिस्थितिक संसाधन तथा वर्षा के वितरण का उत्पादन के उच्चावचन से सीधा संबंध होता है। हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में वर्षा की मात्रा में भारी अंतर है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में वर्षा के स्तर के वितरण का खाका तालिका 8.1 में पेश किया गया है। वर्षा से प्राप्त जल भूतल पर बहने, नदी में बहकर समुद्र में गिरने तथा भूमिगत जल पुनर्भरण के रूप में बंट जाता है।

तालिका 8.1

विभिन्न क्षेत्रों में वर्षा का वितरण

क्र. सं.		औसत वार्षिक वर्षा (मिली मीटर)	स्थिति
1)	बहुत कम	300	राजस्थान का पश्चिमी भाग, कच्छ प्रायद्वीप।
2)	कम	300-500	पंजाब तथा हरियाणा के दक्षिणी तथा दक्षिण-पश्चिमी भाग।
3)	सामान्य	500-800	काठियावाड़ प्रायद्वीप, पूर्वी राजस्थान, हरियाणा, पंजाब तथा केंद्रीय प्रायद्वीप।
4)	सामान्य	800-1000	तमिलनाडु का कुछ भाग, दक्षिणी कर्नाटक, महाराष्ट्र का कुछ भाग, आंध्र प्रदेश, गुजरात तथा मध्य प्रदेश।
5)	सामान्य से अधिक	1000-1500	मध्य प्रदेश, उड़ीसा, प. बंगाल, गंगा-सिंधु का मैदान, तमिलनाडु का तटीय मैदान, सह्याद्रि की गिरिपीठ (foothill)।
6)	अधिक	1500-2000	पश्चिमी घाट, महानदी घाटी का कुछ भाग, प. बंगाल का मैदान, उड़ीसा का कुछ भाग, हिमाचल प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की पचमारी पहाड़ियाँ।
7)	बहुत अधिक	2000-3000	पश्चिमी तटीय मैदान, उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र।
8)	अत्यधिक	3000	मेघालय का पठार, उत्तरी बंगाल का मैदान, तटीय कर्नाटक तथा केरल।

स्रोत : योजना, जून 16-30, 1989

8.5.1 जल संसाधनों का मूल्यांकन

केंद्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौपरिवहन आयोग के संस्थापक अध्यक्ष डॉ. ए.एन. खोसला के अध्ययनों के अनुसार देश में सभी नदियों का औसत वार्षिक जल-प्रवाह 1673 घन किलोमीटर था। केंद्रीय जल तथा विद्युत आयोग ने देश में सभी नदियों का औसत वार्षिक जल-प्रवाह 1881 घन किलोमीटर माना। भूतपूर्व संघीय सिंचाई तथा विद्युत मंत्री डा. के. एल राव ने देश के उपलब्ध वार्षिक सतही जल-प्रवाह की मात्रा 1645 घन किलोमीटर अनुमानित की। असामान्य वर्ष में नदी के जल प्रवाह में वर्षा का योगदान कम होने की स्थिति में पिघली हुई बर्फ का योगदान बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। परंतु इस योगदान के मूल्यांकन के बारे में भारत में बहुत कम कार्य हुआ है, यद्यपि इसकी शुरुआत हो चुकी है। राष्ट्रीय दूर-संवेदन

अभिकरण, भाखड़ा-व्यास प्रबंध मण्डल तथा केंद्रीय जल आयोग ने इस दिशा में प्रारंभिक कार्य किया है। सिंधु-गंगा-ब्रह्मपुत्र-मेघना नदियों में पिघली हुई बर्फ का योगदान जलग्रहण क्षेत्र में हिमपात का 90 प्रतिशत माना गया है।

राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुमानों के अनुसार देश में वार्षिक आधारभूत जल संसाधनों की मात्रा 185 मिलियन हैक्टेयर मीटर है। इसमें से सतही जल संसाधनों की मात्रा 135 मिलियन हैक्टेयर मीटर तथा भूमिगत जल संसाधनों की मात्रा 50 मिलियन हैक्टेयर मीटर है। विभिन्न अवस्थाओं में सतही जल तथा भूमिगत जल की अदला-बदली से दोनों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि सतही जल का एक भाग भूमिगत जल में समाविष्ट हो जाता है तथा भूमिगत जल का बहुत बड़ा भाग सतही जल के रूप में पुनः प्रकट हो जाता है। अतः मौजूदा भूमिगत जल कुल अनुमानित मात्रा 67 मिलियन हैक्टेयर मीटर बैठती है। इसमें से 45 मिलियन हैक्टेयर मीटर जल मानसूनेतर अवधि में सतही जल के रूप में पुनः प्रकट हो जाता है, जिससे सतही जल की मात्रा बढ़कर 180 मिलियन हैक्टेयर मीटर हो जाती है।

कुल मिलाकर देश में इस्तेमाल होने योग्य सतही जलप्रवाह की मात्रा 70 मिलियन हैक्टेयर मीटर तथा भूमिगत जल की मात्रा 35 मिलियिन हैक्टेयर मीटर है। यह सारा का सारा जल सिंचाई के लिए उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि अन्य प्रयोजन जैसे — नगर, उद्योग, तापीय तथा न्यूकलीय बिजली आदि के लिए भी जल की माँग होती है। विभिन्न कारकों को ध्यान में रखते हुए अंतिम सिंचाई संभाव्य का मोटा अनुमान करीब 110 मिलियन हैक्टेयर बैठता है। यह अगली शताब्दी के प्रारंभिक भाग के लिए अनुमानित 210 मिलियन हैक्टेयर के निवल कृषित क्षेत्र का करीब 52 प्रतिशत होगा।

8.5.2 वर्तमान तथा प्रस्तावित भण्डारण

मानसून के मौसम में मौजूदा व्यवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके नदी के बहते जल का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है। इसके लिए बहुत कम भण्डारण की आवश्यकता होगी। बाद के मौसम में जल का उपयोग करने के लिए बाढ़ के पानी के भण्डारण के लिए जलाशय तथा तालाबों के रूप में बड़े पैमाने पर भण्डारण क्षमता के निर्माण करने की आवश्यकता होती है। छठी योजना के अंत तक पूरी हो चुकी परियोजनाओं की भण्डारण क्षमता करीब 143 घन किलोमीटर है। निर्माणाधीन परियोजनाओं द्वारा 79 घन किलोमीटर क्षमता के मिल जाने से कुल क्षमता बढ़कर 222 घन किलोमीटर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त बड़ी संख्या में छोटे तालाब वगैरह भी हैं, जिनकी सिंचाई क्षमता लगभग 30 घन किलोमीटर है, जिससे सब स्रोतों की कुल सिंचाई क्षमता करीब 250 घन किलोमीटर होगी। निर्माणाधीन परियोजनाओं से 82 घन किलोमीटर की अतिरिक्त क्षमता का सृजन होगा। हम अगले खंड में सिंचाई संरचनाओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

8.5.3 भूमिगत जल

केंद्रीय भूमिगत जल मण्डल के अनुसार इस्तेमाल के योग्य भूमिगत जल संसाधनों की मात्रा 418 घन किलोमीटर प्रतिवर्ष के करीब है तथा इसका वर्तमान उपयोग करीब 100 घन किलोमीटर प्रतिवर्ष है, जो कुल इस्तेमाल योग्य संसाधनों का करीब 24 प्रतिशत है। भूमिगत जल संसाधनों के वर्तमान उपयोग का अनुपात असम में 1.0 प्रतिशत से लेकर पंजाब में 82 प्रतिशत तक है। हरियाणा का स्थान दूसरा है, जो अपने भूमिगत जल संसाधनों के 70 प्रतिशत भाग का इस्तेमाल करता है, जबकि अन्य राज्यों में यह अनुपात 37 प्रतिशत से भी कम है। अतः देश में भूमिगत जल संसाधनों के उपयोग की काफी संभावनाएँ हैं, जो कृषि उत्पादन में उतार-चढ़ाव को कम करने का एक और कारगर तरीका है।

8.5.4 सिंचाई संभाव्य

वृहत् मध्यम तथा लघु सिंचाई योजनाओं का अनुमानित अंतिम सिंचाई संभाव्य 113 मिलियन हैक्टेयर है, जिसमें वृहत् तथा मध्यम सिंचाई योजनाओं का अंतिम सिंचाई संभाव्य 58 मिलियन हैक्टेयर तथा लघु सिंचाई योजनाओं का 55 मिलियन हैक्टेयर है (इसमें भूमिगत जल संसाधनों का 40 मिलियन हैक्टेयर अंतिम सिंचाई संभाव्य भी शामिल है)। तथापि इस अंतिम सिंचाई संभाव्य में देश के सरिता-तंत्र के अनुकूलतम विकास, जलाधिक्य वाले क्षेत्रों से जलाभाव वाले क्षेत्रों को जल के हस्तांतरण तथा पड़ोसी देशों के साथ सहयोग द्वारा वृद्धि की जा सकती है। अंतिम सिंचाई संभाव्य में 35 मिलियन हैक्टेयर तक वृद्धि की जा सकती है परंतु इसके लिए काफी विनियोग की आवश्यकता होगी।

उपलब्ध अनुमान यह प्रदर्शित करते हैं कि देश के संभाव्य कृषि योग्य क्षेत्र का करीब 60 प्रतिशत विभिन्न सिंचाई स्रोतों से अंतिम रूप से सिंचित किया जा सकता है। अभी तक केवल 60 प्रतिशत सिंचाई संभाव्य को ही उपयोग किया जा सका है। देश के ऊपरी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में लघु सिंचाई स्रोतों के उपयोग का स्तर बहुत ऊँचा (90 प्रतिशत तथा 77 प्रतिशत) है, जबकि पूर्वी क्षेत्र में यह न्यूनतम (केवल 48 प्रतिशत) है। अतः कम वर्षा तथा फलतः कम जल पुनर्भरण वाले क्षेत्रों में भूमिगत जल के उपयोग का स्तर काफी ऊँचा है। भूमिगत जल की बहुतायत से उपलब्धि की अपेक्षा इसकी आवश्यकता, भूमिगत जल के उपयोग को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है। देश के लघु सिंचाई स्रोतों के अवशिष्ट सिंचाई संभाव्य में पूर्वी क्षेत्र का हिस्सा करीब 53 प्रतिशत है तथा अवशिष्ट सिंचाई संभाव्य में अन्य स्रोतों का हिस्सा 46 प्रतिशत है। उत्तरी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में लघु सिंचाई स्रोतों की तुलना में वृहद् तथा मध्यम सिंचाई स्रोतों के विकास की अच्छी संभावनाएँ हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में अब तक लघु सिंचाई स्रोतों का गहराई से उपयोग किया जा चुका है। पूर्वी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में लघु सिंचाई के विकास की तुलनात्मक रूप से अधिक संभावनाएँ हैं।

.6 जल संसाधनों में क्षेत्रीय असमानता

भिन्न राज्यों में जल संसाधनों की उपलब्धि में काफी असमानता है। राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुसार सकल कृषित
ा का वह भाग, जो अंतिम रूप से सिंचित किया जा सकेगा, उसका प्रतिशत हिमाचल प्रदेश के 17 से लेकर पंजाब
85 प्रतिशत तक है। इस आधार पर राज्यों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है:

र्ग-I (35 प्रतिशत से कम):
माचल प्रदेश, मेघालय, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा गुजरात।

र्ग-II (35 से 50 प्रतिशत के बीच):
पुरा, कर्नाटक, तमिलनाडु, नागालैंड तथा केंद्र शासित क्षेत्र।

र्ग-III (50 तथा 60 प्रतिशत के बीच):
ांध्र प्रदेश, मणिपुर, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा हरियाणा।

र्ग-IV (65 प्रतिशत से अधिक):
सम, जम्मू व कश्मीर केरल, बिहार, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश।

.6.1 जल की आवश्यकता एवं सूखा

षि में सूखे की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब पौधों के बढ़ने के समय में मिट्टी में नमी तथा वर्षा की मात्रा सल के पकने के लिए अपर्याप्त होती है तथा फसल मुरझा जाती है। भारत के मौसम विज्ञान विभाग ने सूखे को ी स्थिति के रूप में पारिभाषित किया है, जो किसी साल में किसी ऐसे क्षेत्र में उत्पन्न होती है, जहाँ वार्षिक वर्षा की त्रा विचाराधीन 20 प्रतिशत वर्षों की सामान्य वर्षा के 75 प्रतिशत से कम है। जब वर्षा की कमी की मात्रा 40 प्रतिशत चाराधीन वर्षों के सामान्य वर्षा की करीब 50 प्रतिशत तक होती है, तो इसे भयंकर सूखा कहा जाता है। सूखे के ारण हैं — वर्षा में स्थानिक तथा कालिक असामान्यता, जल का गलत प्रबंध तथा भण्डारण की कमी। अतः जलाधिक्य ले क्षेत्रों से सूखा संभाव्य क्षेत्रों में जल के अंतः घाटी हस्तांतरण के साथ-साथ जल-भण्डारण एवं जल प्रबंधन की युक्त रणनीति की महती आवश्यकता है। किसी भी तालुका अथवा समकक्ष क्षेत्र का यदि 30 प्रतिशत अथवा अधिक षित क्षेत्र सिंचित है, तो यह कहा जा सकता है कि वह उस स्थिति को प्राप्त कर चुका है, जहाँ वह क्षेत्र समुचित तुलित कृषि विकास कायम रखने तथा सूखे से पर्याप्त रूप से मुकाबला करने में समर्थ होगा। आरंभिक अध्ययन ह प्रदर्शित करते हैं कि देश के 99 जिलों के 109 मिलियन हैक्टेयर भू-क्षेत्र में से 74 जिलों में फैला हुआ 1.12 मिलियन हैक्टेयर भू-क्षेत्र सूखा-संभाव्य कहा जा सकता है।

3.6.2 सूखा-संभाव्य क्षेत्र

ारत के मौसम विभाग ने 1901 से 1960 की अवधि के लिए देश के 500 स्टेशनों की सामान्य वर्षा से वार्षिक तथा क्षिण-पश्चिमी मानसून की वर्षा के विचलनों का उपयोग करते हुए सूखा-संभाव्य क्षेत्रों की पहचान की है। सिंचाई आयोग ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया तथा अपनी रिपोर्ट में निम्नानुसार सूखा तथा चिरकालिक सूखा क्षेत्रों को र्गीकृत किया है:

1)	सूखा क्षेत्र (सामान्य वर्षा से 25 प्रतिशत से भी अधिक कमी की 20 प्रतिशत संभावना)	गुजरात, राजस्थान तथा पंजाब के समीपवर्ती क्षेत्र, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश, मध्य महाराष्ट्र, भीतरी मैसूर, रायलसीमा, दक्षिणी तेलंगाना तथा तमिलनाडु के कुछ भाग, उत्तर पश्चिमी बिहार तथा समीपवर्ती पश्चिमी उत्तर प्रदेश का कुछ भाग, उत्तर-पूर्वी बिहार का कुछ भाग तथा प. बंगाल का समीपवर्ती भाग।
2)	चिरकालिक सूखा प्रभावित क्षेत्र (सामान्य वर्षा से 25 प्रतिशत से भी अधिक कमी की 40 प्रतिशत संभावना)	पश्चिमी राजस्थान तथा कच्छ।

अतः सूखे के प्रति अतिसंवेदनशील क्षेत्रों के रूप में पहचान किए गए क्षेत्र मरुस्थलीय तथा अर्धमरुस्थलीय क्षेत्रों के अंतर्गत आते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। चिरकालिक सूखा प्रभावित क्षेत्रों की पहचान अत्यधिक रेगिस्तानी क्षेत्र के साथ की जाती है। सूखा क्षेत्र के सभी जिले फसल बरबाद होने की दृष्टि से समान रूप से अति संवेदनशील नहीं है, क्योंकि कुछ जिलों के तालुकों में संरक्षित सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है। अतः उन जिलों अथवा तालुकों को सूखा प्रभावित क्षेत्रों की सूची में से निकाल देना ही उपयुक्त होगा, जहाँ न्यूनतम सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

8.7 भारत में कृषि-पारिस्थितिक क्षेत्र-निर्धारण

कृषि-पारिस्थितिक अथवा कृषि जलवायु संबंधी क्षेत्र किसी भू-भाग का वह विस्तृत क्षेत्र है, जहाँ स्थलाकृति, मिट्टी, जलवायु, तापमान, वर्षा, सिंचाई, जनसंख्या का घनत्व, फसलों का ढाँचा, उत्पादकता का स्तर आदि की दृष्टि से बहुत कुछ समान स्थितियाँ पायी जाती हैं। यह काफी कुछ समरूप क्षेत्र होता है, जिसकी सुनिश्चित विशेषताएँ होती हैं, और जो उसे अपने आस-पास के क्षेत्रों से अलग करती है। भारत में क्षेत्रों के अंकन के लिए भूतकाल में कई प्रयत्न किए गए हैं। देश की कृषि अर्थव्यवस्था के क्षेत्र-निर्धारण के लिए भारत की जनगणना की ओर से डॉ. अशोक मित्र, डॉ. गलिना सदास्युक तथा सुश्री पी. सेनगुप्त, योजना आयोग के संसाधन-विकास डिवीजन, राष्ट्रीय कृषि आयोग, भारतीय कृषि शोध परिषद् तथा अन्य पेशेवर संगठन एवं विद्वानों ने प्रयत्न किए हैं। देश के क्षेत्र-निर्धारण के लिए मिट्टी के लक्षण, जलवायु, वर्षा तथा जल की उपलब्धि को प्रमुख विशेषताओं के रूप में इस्तेमाल किया गया है। हाल ही में योजना आयोग के एक कार्य दाल ने भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के क्षेत्र-निर्धारण के संबंध में किए गए पुराने प्रयत्नों की समीक्षा करने के पश्चात् कृषि के नियोजन के लिए भारत के क्षेत्र-निर्धारण के बारे में गंभीर प्रयत्न किए हैं। इसके लिए कृषि-जलवायु विशेषताओं की समरूपता तथा संबंधित भौगोलिक क्षेत्र के नियोजन की व्यवहार्यता के मानदण्डों को काम में लिया जाता है।

8.7.1 कृषि-जलवायु संबंधी प्रमुख क्षेत्र

इस विषय में विद्वानों में मतैक्य है कि भारत के प्राथमिक क्षेत्रीय खण्डों का निर्धारण स्थालाकृति के आधार पर ही होना चाहिए। इस आधार पर भारत को निम्नलिखित पाँच प्रमुख प्राकृतिक क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है:

1) हिमालय तथा संबद्ध पर्वत श्रंखलाएँ,
2) उत्तरी मैदान (इसमें भारत के गंगा-सिंधु के मैदान को शामिल किया जाता है),
3) प्रायद्वीपीय पठार तथा पर्वत,
4) पूर्व तटीय मैदान, एवं
5) पश्चिम तटीय मैदान।

विद्वानों में निम्न बिंदुओं के बारे में भी मतैक्य है:

1) हिमालय क्षेत्र को दो क्षेत्रों—पश्चिमी तथा पूर्वी क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है।
2) उत्तरी मैदान का वर्गीकरण मुख्यतः वर्षा के आधार पर करना चाहिए, क्योंकि इस मैदानी क्षेत्र में केवल वर्षा की मात्रा ही सबसे महत्वपूर्ण चर है।
3) पश्चिम तटीय मैदान को दो भागों में बाँटा जा सकता है—दक्षिण का आर्द्र क्षेत्र तथा उत्तर का शुष्क क्षेत्र।

उपर्युक्त बिंदुओं के आधार पर भारत की मुख्य भूमि को 14 संसाधन विकास क्षेत्रों में बाँटा गया है, जिनमें से दो हिमालय क्षेत्र, पाँच उत्तरी मैदान में, चार प्रायद्वीपीय पठार तथा पर्वत क्षेत्र में, एक पूर्व तटीय मैदान और दो पश्चिम तटीय मैदान में हैं। पंद्रहवें क्षेत्र में बंगाल की खाड़ी के अण्डमान व निकोबार तथा अरब सागर के लक्षद्वीप, मिनिकोय व अनिन्दिवि द्वीप शामिल हैं।

इन निष्कर्षों के आधार पर योजना आयोग ने भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के निम्न क्षेत्रीकरण को स्वीकार करने का निश्चय किया है:

1) पश्चिमी हिमालय क्षेत्र,
2) पूर्वी हिमालय क्षेत्र,
3) गंगा नदी का निचला मैदानी क्षेत्र,
4) गंगा नदी का मध्यवर्ती मैदानी क्षेत्र,
5) गंगा नदी का ऊपरी मैदानी क्षेत्र,
6) गंगा पार का मैदानी क्षेत्र,
7) पूर्वी पठारी तथा पर्वतीय क्षेत्र,
8) केंद्रीय पठारी तथा पर्वतीय क्षेत्र,
9) पश्चिमी पठारी तथा पर्वतीय क्षेत्र,
10) दक्षिणी पठारी तथा पर्वतीय क्षेत्र,
11) पूर्व तट का मैदानी तथा पर्वतीय क्षेत्र,
12) पश्चिम तटीय मैदान तथा घाट,
13) गुजरात का मैदानी तथा पर्वतीय क्षेत्र,
14) पश्चिमी शुष्क क्षेत्र, तथा
15) द्वीप क्षेत्र।

8.7.2 उप-क्षेत्रों के लिए कृषि रणनीति

इस योजना के अंतर्गत क्षेत्र को जिलों के समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है। ये क्षेत्र विभिन्न राज्यों की सीमाओं के पार भी जाते हैं, परंतु इनमें जिलों की सीमाओं को सुरक्षित रखा गया है। प्रत्येक क्षेत्र को उप-क्षेत्रों में बाँटा गया है क्योंकि आरंभ में सीमांकित 15 प्राथमिक कृषि-जलवायु क्षेत्र विस्तृत कार्यकारी नियोजन के लिए पर्याप्त रूप से समरूप नहीं थे। जिन मानदण्डों के आधार पर उप-क्षेत्रों का निर्धारण किया गया, वे इस प्रकार हैं—मिट्टी का प्रकार, जलवायु (विशेषतः **तापमान** तथा उसमें परिवर्तन और **वर्षा** तथा उसमें परिवर्तन), अन्य कृषि-मौसम संबंधी विशेषताएँ, जल की माँग व पूर्ति संबंधी विशेषताएँ, जल की किस्म तथा जल की स्थिति। विभिन्न क्षेत्रों तथा उप-क्षेत्रों की कृषि-जलवायु संबंधी विशेषताओं को संलग्न तालिका में दर्शाया गया है, जो स्वयं स्पष्ट है।

कृषि विकास के लिए योजना बनाने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने देश को क्षेत्रों तथा उप-क्षेत्रों में विभाजित किया है। इसमें भूमि के उपयोग तथा फसलों की योजना बनाने पर विशेष जोर दिया गया है। सतही जल प्रणाली की व्यवस्था, भूमिगत जल के उपयोग तथा जलसंभरण के विकास के लिए विस्तृत दिशा-निर्देश बनाने पर विचार-विमर्श किया गया। भूमि, जल तथा आधारभूत संरचनाओं के विकास की रणनीति के आधार पर सिंचित, असिंचित तथा शुष्क भूमि के लिए अलग-अलग फसलों का ढाँचा तैयार करना था। इस प्रकार के विकेंद्रीकरण से नीतियों के निर्माण एवं क्रियान्वयन का कार्य आसान हो जाएगा क्योंकि ये क्षेत्र बहुत कुछ समरूप होते हैं। तथापि, इन समरूप उप-क्षेत्रों की कृषि नीति के निर्माण में जलवायु को उपयोगी संसाधन के रूप में स्वीकार करते समय जनांकिकीय तथा सामाजिक-आर्थिक विभिन्नताओं एवं खेती की परंपरागत पद्धति में परिवर्तन की मात्रा को भी ध्यान में रखना आवश्यक होगा।

कृषि जलवायु संबंधी 15 उप-क्षेत्रों की प्रमुख विशेषताएँ

क्रम. सं.	उप-क्षेत्र	वर्षा (मिली-मीटर)	जलवायु	मिट्टी	फसलें
1)	**पश्चिमी हिमालय**				
	1) उच्च शीतोष्ण	165	आर्द्र से शीत मरूस्थलीय	पहाड़ी मिट्टी, पर्वतीय शाइल, तराई	गेहूँ, मक्का, चावल, ज्वार
	2) पहाड़ी शीतोष्ण	2000	आर्द्र	भूरी पहाड़ी	चावल, मक्का, रेपसीड, गेहूँ
	3) घाटी शीतोष्ण	400	अल्प आर्द्र	उप-पर्वतीय, पर्वतीय शाइल	चावल, गेहूँ, मक्का, गन्ना
	4) अर्ध उष्णकटिबंधी	1030	आर्द्र मरूस्थलीय से आर्द्र	कछारी, भूरी पहाड़ी	गेहूँ, जौ, आलू
2)	**पूर्वी हिमालय**				
	1) हिमालय पर्वत शृंखला	2641	पूर्व आर्द्र से आर्द्र	भूरी पहाड़ी	चावल, मक्का, रागी, आलू
	2) उत्तर-पूर्वी पर्वत शृंखला	3528	पूर्व आर्द्र से आर्द्र	लाल बलुआ, लेटराइट	चावल, रेपसीड, मक्का
	3) दक्षिणी पर्वत शृंखला	2052	पूर्व आर्द्र से आर्द्र	अम्लीय मिट्टी	चावल, मक्का, तिल, गन्ना
	4) अवर (lower) ब्रह्मपुत्र	1840	पूर्व आर्द्र से आर्द्र	कछारी, लाल, दुम्मटा, तराई	चावल, रेपसीड, गेहूँ, जूट, आलू
	5) ऊपरी ब्रह्मपुत्र	2809	पूर्व आर्द्र से आर्द्र	कछारी, लाल, दुम्मट	चावल, जूट, रेपसीड, गेहूँ
3)	**गंगा का निचला मैदान**				
	1) बेरिंड मैदान	1589	नम अल्प आर्द्र व शुष्क अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली, कछारी	चावल, जूट, गेहूँ, रेपसोड
	2) केंद्रीय कछारी मैदान	1449	नम अल्प आर्द्र से शुष्क अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली, डेल्टाई, कछारी, लाल दुम्मट	चावल, जूट, गेहूँ, रेपसीड, आलू
	3) कछार तटीय लवणीय मैदान	1609	शुष्क अल्प आर्द्र से नम अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली, डेल्टाई, कछारी	चावल, जूट, रेपसीड
	4) राढ़ मैदान	1302	नम अल्प आर्द्र व शुष्क अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली, लाल दुम्मट	चावल, गेहूँ, रेपसीड, तिल

4)	**गंगा का मध्यवर्ती मैदान**				
	1) उत्तर-पश्चिमी कछार	1271	नम अल्प आर्द्र व शुष्क अल्प आर्द्र	कछारी, चूनेदार	चावल, गेहूँ, मक्का, गन्ना
	2) उत्तर-पूर्वी कछारी	1470	शुष्क अल्प आर्द्र से नम अल्प आर्द्र	कछारी, तराई	चावल, गेहूँ, मक्का, जूट, चना
5)	**गंगा का ऊपरी मैदान**				
	1) केंद्रीय मैदान	979	शुष्क अल्प आर्द्र से अर्द्ध मरूस्थलीय	कछारी	गेहूँ, चावल, तुर
	2) उत्तर-पश्चिमी मैदान	907	शुष्क अल्प आर्द्र से अर्द्ध मरूस्थलीय	कछारी, तराई	गेहूँ, चावल, गन्ना, मक्का
	3) दक्षिण-पश्चिमी मैदान	721	अर्द्ध मरूस्थलीय	कछारी	गेहूँ, बाज़रा, चावल, मक्का, तुर, आलू
6)	**गंगा-पार का मैदान**				
	1) शिवालिक व हिमालय की पहाड़ियाँ	890	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	कछारी, चूनेदार	गेहूँ, चावल, मक्का, गन्ना
	2) मैदान	561	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	कछारी, चूनेदार	गेहूँ, चावल, बाज़रा, मक्का, गन्ना
	3) कम वर्षा का मरूस्थलीय क्षेत्र	360	मरूस्थलीय व अत्यधिक मरूस्थलीय	चूनेदार, कछारी	गेहूँ, कपास, चना, बाज़रा, चावल
7)	**पूर्वी पठार तथा मैदान**				
	1) पूर्वी मैदान	1272	शुष्क अल्प आर्द्र	मध्यम से गहरी काली लाल तथा पीली	चावल, अलसी, ज्वार, गेहूँ, चना, मूँगफली
	2) पूर्वी उच्च भूमि	1436	नम अल्प आर्द्र से शुष्क अल्प आर्द्र	लाल बालुआ, लाल तथा पीली	चावल, मक्का, नाइजरसीड़, गेहूँ
	3) उत्तर केंद्रीय पठार	1296	नम अल्प आर्द्र से शुष्क अल्प आर्द्र	लाल बालुआ, लाल तथा पीली	चावल, मक्का, गेहूँ रागी
	4) पूर्वी पठार	1369	नम अल्प आर्द्र से शुष्क अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली, लाल दुम्मट	चावल, मक्का, रागी, गेहूँ
	5) जनजातीय	1338	नम अल्प आर्द्र से शुष्क अल्प आर्द्र	लाल बालुआ, लाल तथा पीली, लाल दुम्मट, लेटराइट	चावल, रागी, नाइजरसीड, मक्का
8)	**केंद्रीय पठार तथा पर्वत**				
	1) बुंदेलखण्ड (उ.प्र.)	780	शुष्क अल्प आर्द्र से शुष्क मरूस्थलीय	मिश्रित लाल तथा काली	गेहूँ, चना, ज्वार, चावल
	2) बुंदेलखण्ड (म.प्र.)	700	शुष्क अल्प आर्द्र से अर्द्ध मरूस्थलीय	मिश्रित लाल तथा काली	गेहूँ, चावल, चना, ज्वार
	3) उत्तरी पहाड़ी	1570	नम अल्प आर्द्र से शुष्क अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली	चावल, गेहूँ, नाइजर-सीड, मक्का
	4) किमोर पठार तथा सतपुरा पहाड़ियाँ	1100	शुष्क अल्प आर्द्र	लाल तथा पीली, मध्यम काली	गेहूँ, चावल, चना, अलसी
	5) विंध्य पठार	1130	शुष्क अल्प आर्द्र	मध्यम काली	गेहूँ, चना, ज्वार, चावल
	6) सतपुरा पठार	1220	शुष्क अल्प आर्द्र	हल्की काली, मिश्रित लाल तथा काली	ज्वार, गेहूँ, तुर, चावल
	7) केंद्रीय नर्मदा घाटी	1300	शुष्क अल्प आर्द्र	गहरी काली	गेहूँ, चना, सोयाबीन, ज्वार
	8) ग्रिड	670	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा शुष्क व आर्द्र)	मध्यम काली, कछारी	गेहूँ, चना, ज्वार, रेपसीड, बाज़रा
	9) दक्षिण पूर्वी मैदान	760	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा शुष्क व आर्द्र)	मध्यम काली	गेहूँ, ज्वार, चना, मक्का
	10) दक्षिणी मैदान	760	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा आर्द्र)	मध्यम लाल व काली, सफेद, भूरी	मक्का, चावल, गेहूँ चना
	11) परिवर्ती मैदान	490	अर्द्ध मरूस्थलीय से मरूस्थलीय	ऊसर मिट्टी, सफेद, भूरी	बाजरा, गेहूँ, तिल, रेपसीड, ज्वार

12) दक्षिणी मैदान तथा अरावली पहाड़ियाँ	500	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा आर्द्र)	लाल तथा पीली, सफेद, भूरी	मक्का, गेहूँ, चना, ज्वार	
13) अर्द्ध मरूस्थलीय पूर्वी मैदान	300	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा शुष्क)	कछारी	गेहूँ, बाज़रा, ज्वार, चना	
14) बाढ़ से प्रभावित पूर्वी मैदान	500	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा शुष्क)	कछारी	बाजरा, गेहूँ, रेपसीड, चना, ज्वार	
9) पश्चिमी पठार तथा पर्वत					
1) पर्वतीय क्षेत्र	988	अर्द्ध मरूस्थलीय	मध्यम से गहरी, काली, हल्की लाल, लाल दुम्मट	ज्वार, बाज़रा, चावल, मूँगफली	
2) अभाव का क्षेत्र	602	अर्द्ध मरूस्थलीय	मध्यम काली, गहरी काली	ज्वार, कपास, गेहूँ चना	
3) पठारी क्षेत्र (उत्तर)	874	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा आर्द्र)	मध्यम काली, गहरी काली, लाल तथा काली, हल्की काली	ज्वार, कपास, गेहूँ, चना	
4) पठारी क्षेत्र (दक्षिण)	1040	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	मध्यम काली, हल्की काली	कपास, ज्वार, तुर	
10) दक्षिणी पठार तथा पर्वत					
1) उप-क्षेत्र 1	769	अर्द्ध मरूस्थलीय मरूस्थलीय	मध्यम काली, लेटराइट, गहरी काली, लाल दुम्मट	ज्वार, कपास, मूँगफली, बाज़रा	
2) उप-क्षेत्र 2	677	अर्द्ध मरूस्थलीय	लाल दुम्मट, मध्यम काली, लाल बालुआ, तटीय कछारी, लेटराइट	मूँगफली, रागी, ज्वार, चावल	
3) उप-क्षेत्र 3	725	अर्द्ध मरूस्थलीय मरूस्थलीय	लाल बालुआ, मध्यम से गहरी काली	ज्वार, चावल, रेपसीड, मूँगफली	
4) उप-क्षेत्र 4	1001	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा आर्द्र)	गहरी काली, मध्यम काली	चावल, ज्वार, मक्का, कपास, मूँगफली	
5) उप-क्षेत्र 5	865	अर्द्ध मरूस्थलीय	लाल दुम्मट, लाल बालुआ	रागी, ज्वार, मूँगफली, चावल	
6) उप-क्षेत्र 6	841	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	मिश्रित लाल तथा काली, लाल दुम्मट, डेल्टाई कछारी	चावल, ज्वार, मूँगफली, बाज़रा	
11) पूर्व तटीय मैदान तथा पर्वत					
1) उत्तर तटीय उड़ीसा	1287	नम अल्प आर्द्र	डेल्टाई, कछारी, तटीय, कछारी, लेटराइट, लाल दुम्मट	चावल, मूँगफली, जूट, तिल, रागी	
2) उत्तर तटीय आंध्र	1128	शुष्क अल्प आर्द्र	लाल दुम्मट, लेटराइट, मध्यम काली, लाल बालुआ, तटीय कछारी	चावल, रागी, मूँगफली, बाज़रा, तिल	
3) दक्षिण तटीय आंध्र	996	अर्द्ध मरूस्थलीय	डेल्टाई कछारी, गहरी काली, लाल बालुआ, लाल तथा काली	चावल, कपास, ज्वार, तंबाकू, मूँगफली	
4) उत्तर तटीय तमिलनाडु	1036	अर्द्ध मरूस्थलीय	लाल दुम्मट, लाल बालुआ, तटीय कछारी	चावल, मूँगफली, बाज़रा, ज्वार	
5) तंजावुर	1113	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	डेल्टाई, कछारी, लाल दुम्मट	चावल, मूँगफली, तिल, गन्ना	
6) दक्षिण तटीय तमिलनाडु	780	अर्द्ध मरूस्थलीय (आधा शुष्क)	मिश्रित लाल तथा काली, तटीय कछारी	चावल, कपास, बाज़रा, मूँगफली	

12)	**पश्चिम तटीय मैदान तथा घाट**				
	1) तटीय पहाड़ी	3640	पूर्व आर्द्र तथा आर्द्र	लेटराइट, लाल दुम्मट, तटीय कछारी	चावल, रागी, तिल, नाइजरसीड
	2) तटीय मध्यप्रदेश	3127	शुष्क अल्प आर्द्र तथा पूर्व आर्द्र	लाल दुम्मट, तटीय कछारी, लेटराइट	चावल, कसावा, मूँगफली, केला
	3) मध्य देश	2727	पूर्व आर्द्र	लेटराइट, लाल दुम्मट, तटीय कछारी	चावल, कसावा, मूँगफली, केला
	4) पहाड़ी	2226	पूर्व आर्द्र	लाल दुम्मट, मिश्रित लाल तथा काली	चावल, रागी, ज्वार, मूँगफली
13)	**गुजरात का मैदानी तथा पहाड़ी क्षेत्र**				
	1) दक्षिण गुजरात	1793	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	गहरी काली, तटीय कछारी	चावल, रागी, गन्ना, ज्वार
	2) दक्षिण गुजरात	974	अर्द्ध मरूस्थलीय से शुष्क अल्प आर्द्र	गहरी काली, तटीय कछारी	ज्वार, तुर, कपास, गेहूँ
	3) मध्य गुजरात	904	अर्द्ध मरूस्थलीय	मध्यम काली	चावल, कपास, मक्का, बाजरा
	4) उत्तर गुजरात	735	मरूस्थलीय से अर्द्ध मरूस्थलीय	सफेद भूरी, तटीय कछारी, लाल तथा काली	बाजरा, कपास, ज्वार, गेहूँ
	5) उत्तर-पश्चिम मरूस्थल	340	मरूस्थलीय से अर्द्ध मरूस्थलीय	सफेद भूरी, डेल्टाई कछारी	बाजरा, मूँगफली, ज्वार, कपास
	6) उत्तर सौराष्ट्र	537	शुष्क अल्प आर्द्र	मध्यम काली	मूँगफली, कपास, बाजरा, ज्वार
	7) दक्षिण सौराष्ट्र	844	शुष्क अल्प आर्द्र	तटीय कछारी, मध्यम काली	मूँगफली, गेहूँ बाजरा, कपास
14)	**पश्चिमी शुष्क**				
	1) पश्चिमी	395	मरूस्थलीय से अत्यधिक मरूस्थलीय	ऊसर मिट्टी, सफेद भूरी	बाजरा, चना, गेहूँ, रेपसीड

टिप्पणी : उप-क्षेत्रों का वर्गीकरण अभी अपूर्ण है।

स्रोत : एग्रो-क्लाइमैटिक रीजनल प्लेनिंग : एन ओवर व्यू, योजना आयोग, भारत सरकार, नई दिल्ली, जुलाई 1989.

बोध प्रश्न 3

1) वर्षा के वितरण के अनुसार मोटे तौर पर वे कौन-कौन से विभिन्न क्षेत्रीय समूह हैं, जिनमें हमारे देश को विभाजित किया जा सकता है? अत्यधिक वर्षा वाले तथा कम वर्षा वाले क्षेत्रों को बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सूखे को पारिभाषित कीजिए तथा प्रमुख (i) सूखा क्षेत्रों तथा (ii) चिरकालिक सूखा प्रभावित क्षेत्रों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

कृषि-जलवायु संबंधी क्षेत्र को परिभाषित कीजिए तथा बताइए कि निम्नलिखित राज्य किन कृषि-जलवायु क्षेत्रों में आते हैं: मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मेघालय, तमिलनाडु?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 सारांश

इकाई में हमने हरित क्रांति के विशेष संदर्भ में खाद्यान्न उत्पादन की अस्थिरता तथा जल-व्यवस्था से इसके संबंध विवेचन किया है। हमने यह देखा है कि यद्यपि मानसून की अंतर्निहित प्रकृति के कारण खाद्यान्न उत्पादन में कुछ थरता है, परंतु केवल प्रकृति को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है। अपितु, अस्थिरता के प्रभावों को करने के लिए सामाजिक-आर्थिक प्रणाली, विशेषतः खाद्यान्न वितरण की प्रणाली का निर्णायक महत्व है। हरित क्रांति श्चात् खाद्यान्न के उत्पादन में गेहूँ तथा चावल जैसे उत्कृष्ट खाद्यान्नों में अधिक वार्षिक उच्चावचन दर्ज़ किया गया। पे हाल ही में नियंत्रित भूमिगत जल-आपूर्ति के उपयोग के बढ़ने से उत्तर-पश्चिमी भारत के गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों में चित् इस अस्थिरता में कमी देखी गई है। इस संदर्भ में जल संसाधनों की उपलब्धि तथा देश के विभिन्न भागों में वितरण की संक्षिप्त रूपरेखा तैयार की गई है, जिसमें देश के कृषि-मानसून संबंधी क्षेत्रों तथा उप-क्षेत्रों के लिए क्त रणनीति तैयार करने के लिए सतही तथा भूमिगत जल संरचनाओं से जल संसाधनों के संभावित उपयोग के र स्तर, देश के विभिन्न कृषि-मानसून संबंधी क्षेत्र तथा कृषि-पारिस्थितिक क्षेत्र के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों र्षा तथा जल संसाधनों के वितरण को शामिल किया गया है।

9 शब्दावली

ा-पारिस्थितिक क्षेत्र/कृषि-जलवायु क्षेत्र
ाकृति, मिट्टी, जलवायु, तापमान, वर्षा, सिंचाई, जनसंख्या का घनत्व, फसलों का ढाँचा, उत्पादकता का स्तर आदि दृष्टि से बहुत कुछ समान स्थितियों वाले विस्तृत भू-क्षेत्र को कृषि-पारिस्थितिक क्षेत्र अथवा कृषि-जलवायु क्षेत्र कहते हैं।

मता-कारक प्रभाव
उत्पादन, विशेषतः खाद्यान्न उत्पादन में अस्थिरता से अर्थव्यवस्था में विषमता का तत्व समाहित हो जाता है। इसका ण यह है कि यदि किसी साल की खाद्यान्न की क्षति को अगले साल की भरपूर फसल से पूरा कर लिया जाए भी खाद्यान्न की कीमतें उसके अनुरूप कम नहीं होंगी और न ही उस वर्ष किए गए खाद्यान्न के आयात को भरपूर ल के वर्ष में खाद्यान्न का निर्यात करके पूरा किया जा सकता है। यह समष्टि स्तर की विषमता है। यदि व्यष्टि स्तर देखा जाए तो हम पाते हैं कि किसी साल फसल खराब होने पर यदि सीमांत किसान को उधार लेना पड़े तथा न बेचकर भूमिहीन श्रमिक होना पड़े, तो अगले साल भरपूर फसल होने की स्थिति में वह अपनी जमीन को पुनः त करने में सफल नहीं हो सकेगा। समष्टि स्तर पर मुद्रास्फीति के दबावों तथा विदेशी विनिमय के घाटे के कारण व्यष्टि स्तर पर भूमिहीनता के कारण समय के साथ-साथ विषमता के ये प्रभाव बढ़ते जाते हैं।

की वृद्धि दर
उत्पादन की औसत वृद्धि को दो भागों में बाँटा जा सकता है—किसी फसल के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि तथा उस ल की प्रति हैक्येटर उत्पादकता में वृद्धि। किसी फसल के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि को दो समय-बिंदुओं के बीच सत चक्रवृद्धि दर के रूप में परिगणित किया जाता है। यदि हमारा उद्देश्य एक वर्ष में किसी फसल के अंतर्गत एक अधिक बार बोए गये क्षेत्र को भी शामिल करना होता है तो हम सकल कृषित क्षेत्र को लेते हैं अन्यथा निवल कृषित को।

ादन की वृद्धि दर
उत्पादन की वृद्धि दर सामान्यतः दो समय-बिंदुओं के बीच परिगणित की गई औसत चक्रवृद्धि दर होती है। चूँकि उत्पादन में वर्ष-दर-वर्ष उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, अतः सामान्यतः वृद्धि दर के परिगणन के लिए किसी अवधि प्रारंभ व अंत के तीन वर्षों का औसत लिया जाता है।

अस्थिरता

भारत में मानसून, मूलतः दक्षिण-पश्चिम मानसून अंतर्निहित अस्थिरता कारक तत्व है, जिसके परिणामस्वरूप भारत में साल-दर-साल वर्षा की मात्रा में तथा उसी वर्षा-ऋतु के विभिन्न सप्ताहों में वर्षा की मात्रा में परिवर्तन होता रहता है। जब तक कृषि की व्यवस्था में जलवायु में होने वाले इन परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तन नहीं किया जाता, कृषि उत्पादन में अस्थिरता रहेगी तथा कृषि उत्पादन में वार्षिक उच्चावचन होते रहेंगे। इससे कृषि प्रणाली में अस्थिरता प्रविष्ट होती है।

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चट्टोपाध्याय, बी. एवं पिअरे स्पिटज (1987), *फूड सिस्टम एण्ड सोसायटी इन इस्टर्न इण्डिया,* यूनाइटेड नेशंस रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल डिवेलपमेंट, जिनेवा।

चट्टोपाध्याय, बी. (1991), *फूड सिस्टम एण्ड ह्युमन एन्वायरनमेण्ट,* वाल्यूम I, अध्याय 2, के.पी. बाग्ची एण्ड सन्स, कलकत्ता।

नेशनल कमीशन ऑफ एग्रीकल्चर, भारत सरकार नई दिल्ली, 1976 रिपोर्ट, भाग IV, ग्रुप ऑफ इण्डिया।

राव, सी.एच. हनुमन्थ, एस.के.रे. एण्ड के. सुब्बाराव, (1988), *अनइस्टेबल एग्रीकल्चर एण्ड ड्राउट्स,* विकास पब्लिसिंग हाउस प्रा. लि. दिल्ली।

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए खण्ड 8.1 को सावधानी पूर्वक पढ़िए।
2) उत्तर के लिए खण्ड 8.3 को पूर्णरूप से पढ़िए।
3) उत्तर के लिए उप-खण्ड 8.3.3 को पढ़िए।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर के लिए उप-खण्ड 8.3.2 तथा खण्ड 8.4 पढ़िए।
2) उत्तर के लिए उप-खण्ड 8.4.2 तथा 8.4.4 पढ़िए।
3) उत्तर के लिए उप-खण्ड 8.4.3 पढ़िए।

बोध प्रश्न 3

1) उत्तर के लिए खण्ड 8.5 पढ़िए।
2) उत्तर के लिए उप-खण्ड 8.6.1 पढ़िए।
3) उत्तर के लिए खण्ड 8.7 पूर्णरूप से पढ़िए तथा क्षेत्रों की सूची की जाँच कीजिए।

UGEC-04
भारत में कृषि विकास

खण्ड

4

भारत में वृहद् तथा लघु सिंचाई

इकाई 9

भारत में वृहद् सिंचाई 5

इकाई 10

भारत में लघु सिंचाई 15

इकाई 11

वृहद् तथा लघु सिंचाई : तुलनात्मक अर्थशास्त्र 25

ड 4 भारत में वृहद एवं लघु सिंचाई

ावना

को इस खंड में भारत में सिंचाई की विषय-वस्तु का अध्ययन करवाया जाएगा। यह ान्य अवधारणा है कि उष्ण कटिबंधी अथवा अशीतोष्ण जलवायु वाले देशों में सिंचाई ा विकास की पूर्व शर्त है। अतः यह अध्ययन कृषि विकास के संदर्भ में होगा। मुख्य बल बात पर होगा कि आपका ध्यान सिंचाई तथा विशेषतः भारत में सिंचाई के कुछ त्वपूर्ण आर्थिक पहलुओं की ओर आकर्षित किया जाए।

खंड तीन इकाइयों में विभक्त है। इकाई 9 वृहद् सिंचाई कार्यों तथा इकाई 10 सिंचाई ों के बारे में है। वृहद् एवं लघु सिंचाई कार्यों का तुलनात्मक विश्लेषण इकाई 11 में दिया है।

ाई 9 भारत में वृहद् सिंचाई

ाई की रूपरेखा

) उद्देश्य
प्रस्तावना
2 वृहद् सिंचाई किसे कहते हैं?
3 वृहद् सिंचाई कार्यों के प्रकार
4 वृहद् सिंचाई की प्रगति
5 सिंचाई क्षमता का अल्प उपयोग
6 पूँजीगत तथा परिचालन लागतें
7 उत्पादन प्रभाव
8 बाह्य प्रभाव
9 सारांश
10 शब्दावली
11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

0 उद्देश्य

इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

विभिन्न प्रकार की सिंचाई जैसे—वृहद्, मध्यम तथा लघु सिंचाई में अंतर कर सकेंगे,

सिंचाई की लागतों को जान सकेंगे, तथा

सिंचाई के प्रभावों को ज्ञात कर सकेंगे।

1 प्रस्तावना

प जानते हैं कि भूमिगत तथा सतही जल का स्रोत वर्षा है। कोई खेत उस समय सिंचित ा जाता है जब किसान भूमिगत जल अथवा सतही जल-स्रोत; जैसे—झील, नदी या नाले से न्त जल का उपयोग खेत में करता है। खेत में इस प्रकार **कृत्रिम** रूप से पानी देने में ीगत तथा परिचालन लागतों के रूप में कुछ व्यय अवश्य होता है किन्तु इस प्रकार का ई व्यय सिंचाई के लिये वर्षा पर **आधारित खेती** क्षेत्र में नहीं होता है।

ब किसान सिंचाई की पूँजीगत एवं परिचालन लागतें स्वयं वहन करता है तब इसे निजी चाई कहा जाता है। इसके विपरीत, **सार्वजनिक सिंचाई** में विशाल बाँध, बैराज, बँधी र, सरकारी जलाशय तथा बड़े आकार के ट्यूबवैल जैसे कार्य शामिल किए जाते हैं, नका निर्माण एवं रख-रखाव सरकारी विभाग/अभिकरणों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार सार्वजनिक सिंचाई कार्यों की पूँजीगत तथा परिचालन लागतों की व्यवस्था के लिए भभोगी किसानों (जिन्हें **सेचक** भी कहते हैं) से उपभोक्ता-शुल्क वसूल किया जाता है, से **सिंचाई-दर** कहते हैं।

भारत में सिंचाई कार्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है, यथा–1) **वृहद कार्य**, 2) **मध्य कार्य**, तथा 3) **लघु कार्य**। यद्यपि योजना-दस्तावेज़ों में यह त्रिपथ वर्गीकरण अपनाया गया है, परंतु व्यवहार में प्रथम दो श्रेणियों को मिलाकर वृहद् तथा मध्यम वर्ग' कहा जाता है। इस वर्ग को बोलचाल की भाषा में केवल वृहद् वर्ग ही कहा जाता है क्योंकि मध्यम सिंचाई कार्यों का पूँजीगत परिव्यय तथा संभावनाओं की दृष्टि से इस वर्ग में बहुत कम अंश है। परिणामस्वरूप हमारे पास यथार्थ में सिंचाई की केवल दो श्रेणियाँ–वृहद् तथा लघु सिंचाई ही रह जाती है।

9.2 वृहद् सिंचाई किसे कहते हैं?

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार का सिंचाई कार्य सरकार के बजट संसाधनों पर जबरदस्त दबाव डालता है तथा किसी क्षेत्र के विशाल भू-भाग की कृषि अर्थव्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित करता है। वृहद् सिंचाई परियोजना की आधिकारिक परिभाषा इस प्रकार है–इस प्रकार की परियोजना 10,000 हैक्टेयर कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र के किसानों को लाभान्वित करती है। जब परियोजना का कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र 2,000 से 10,000 हैक्टेयर के बीच होता है तो उसे मध्यम सिंचाई कार्य कहते हैं। यह उल्लेखनीय है कि किसी परियोजना का कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र तथा सिंचाई संभाव्य एक नहीं है। जहाँ कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र किसी परियोजना से सिंचित कृषि योग्य **भू-क्षेत्र** को इंगित करता है वहीं सिंचाई संभाव्य उस **फसल क्षेत्र** को कहते हैं जिसे एक कृषि वर्ष की तीनों फसलों के समय सिंचित किया जा सकता है।

उपर्युक्त परिभाषा भारतीय योजना आयोग द्वारा पाँचवी योजना (1974-78) की समाप्ति के पश्चात् 1978 में स्वीकार की गई थी। इससे पहले सिंचाई परियोजनाओं का वर्गीकरण सिंचाई परियोजनाओं के पूर्ण होने पर लगने वाले **विनियोग** परिव्यय पर आधारित था। लगातार बढ़ती मुद्रास्फीति के कारण वृहद्, मध्यम तथा लघु सिंचाई कार्यों का विभेदक बिंदु समय-समय पर बदलना पड़ता था, जैसे लघु सिंचाई परियोजनाओं के लिए वित्तीय परिव्यय की सीमा 1970 में 15 लाख रुपये से बढ़ाकर 25 लाख रुपये कर दी गई थी। सिंचाई योजनाओं के वर्गीकरण के लिए निर्धारित क्षेत्र-आधारित नवीन-प्रतिमान को मुद्रास्फीति के कारण परिवर्तित करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है।

9.3 वृहद् सिंचाई कार्यों के प्रकार

वृहद् सिंचाई कार्य मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं, जैसे–1) **विपथन कार्य** तथा 2) **भण्डारण कार्य**। विपथन कार्य में नदी पर बैराज़ या बांध बनाया जाता है ताकि जल-स्तर इतना ऊँचा हो कि नदी का प्रवाह नहर की तरफ हो जाए। इसके विपरीत भण्डारण कार्य में नदी के जल को जलाशय में भरने के लिए बड़े बाँध का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार के जलाशयों से इच्छित मात्रा में नहरों में जल छोड़ा जाता है; जिससे सिंचाई, जल-विद्युत उत्मादन, बाढ़ नियंत्रण तथा बड़े नगरों के लिए पेय जल जैसे बहुउद्देशीय लाभ प्राप्त होते हैं।

चूँकि बांध का निर्माण कार्य बैराज या बंधे की तुलना में काफी मँहगा होता है, अतः विपथन पर आधारित सिंचाई कार्यों की अपेक्षा भण्डारण पर आधारित सिंचाई कार्यों के लिए काफी अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। फिर भी, किसानों को, विशेषतः अकाल के वर्षों में एवं रबी तथा ग्रीष्म जैसे शुष्क मौसम के समय, सिंचाई के लिए जल की आवश्यकता की पूर्ति विपणन कार्यों की अपेक्षा भण्डारण कार्यों से ही अधिक विश्वसनीयता से की जा सकती है। निःसंदेह, सिंचाई के इस गुणात्मक लाभ के लिए न केवल अतिरिक्त पूँजीगत संसाधनों को खर्च करना पड़ता है, वरन् इसके लिए बनी झील के कारण भूमि तथा वनों के जलमग्न होने से बड़ी संख्या में लोगों को विस्थापित भी होना पड़ता है।

बड़े भंडारण कार्यों का निर्माण गत सौ वर्षों से ही होने लगा है। इससे पहले वृहद् सिंचाई कार्य विपथन किस्म के ही होते थे। कावेरी नदी पर बना विशाल **एनीकट** तथा यमुना नदी पर बनी पश्चिमी यमुना नहर अति प्राचीन स्वदेशी वृहद् सिंचाई कार्यों के ज्वलंत उदाहरण हैं। औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा निर्मित अधिकांश सिंचाई कार्य विपथन किस्म के ही थे। 1951 में जब नियोजन की शुरुआत हुई तब विपथन कार्यों के लिए उपर्युक्त अधिकांश

अधिकांश स्थानों का उपयोग हो चुका था। परिणामस्वरूप हमें अपने देश के विपुल जल-प्रवाह का उपयोग करने के लिए मजबूरन भण्डारण कार्यों को हाथ में लेना पड़ा।

9.4 वृहद् सिंचाई की प्रगति

वृहद् (तथा मध्यम) सिंचाई परियोजनाओं द्वारा सिंचाई के विकास का दायित्व राज्य सरकारों का है। इन परियोजनाओं के निर्माण तथा संचालन के लिए आवश्यक विपुल धनराशि तथा विशिष्ट तकनीकी कौशल को देखते हुए इनका निर्माण हमेशा सार्वजनिक क्षेत्र में ही किया गया है। जैसा कि सर्वविदित है विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के लागू करने से सार्वजनिक क्षेत्र का कई गुना विस्तार हो चुका है। भारतीय नियोजन में सिंचाई के विकास को उच्च प्राथमिकता देने से 1951 से सिंचाई क्षमता में वृहद् तथा लघु सिंचाई कार्यों के कारण लगातार विस्तार हुआ है।

1951 में वृहद् (तथा मध्यम) सिंचाई परियोजनाओं से 9 मिलियन हैक्टेयर फसल क्षेत्र की सिंचाई की जाती थी। नियोजन काल में नए सिंचाई कार्यों के निर्माण होने से सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक यह क्षमता बढ़कर करीब 33 मिलियन हैक्टेयर हो गई। यह सही है कि यह प्रगति न तो नियमित रही और न ही वर्तमान, जैसा की संचयी सृजित सिंचाई संभाव्य के निम्नलिखित समंकों से स्पष्ट है:

तालिका 9.1

	योजना	वृहद् तथा मध्यम सिंचाई संभाव्य (मिलियन हैक्टेयर)
)	योजना से पूर्व	8.6
)	पहली योजना (1951-56)	12.2
)	दूसरी योजना (1956-61)	13.3
)	तीसरी योजना (1961-66)	16.6
)	वार्षिक योजना (1966-69)	17.0
)	चौथी योजना (1969-74)	19.6
)	पाँचवी योजना (1974-78)	23.6
)	वार्षिक योजनाएँ (1978-80)	25.6
)	छठी योजना (1980-85)	30.6
0)	सातवीं योजना (1985-90)	32.9

सिंचाई संभाव्य तथा **सिंचाई** के उपयोग के आँकड़ों में निश्चितता का अभाव है। अतः बड़ी सावधानी से इनका उपयोग करने की आवश्यकता है। फिर भी, इस बात के सुस्पष्ट प्रमाण हैं कि स्वतंत्रता के पश्चात् हमारी वृहद् सिंचाई क्षमता में भारी विस्तार हुआ है। विगत चार शताब्दियों की अवधि में हमारे देश में संपूर्ण ब्रिटिश शासन (जिसे कभी-कभी कानून एवं व्यवस्था, रेलवे तथा सार्वजनिक सिंचाई की व्यवस्था करने का श्रेय दिया जाता है) के समय निर्मित वृहद् सिंचाई क्षमता से करीब तीन गुनी क्षमता का निर्माण किया जा चुका है। यह भी सब जब सिंचाई कार्यों के क्रियान्वयन में अकुशलता तथा देरी की समस्या बनी रही है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय हमारे देश में 144 वृहद् तथा 216 मध्यम सिंचाई परियोजनायें अधूरी थीं, जिनके पूरा होने पर हमारी सिंचाई क्षमता में करीब 13 मिलियन हैक्टेयर की वृद्धि होने की आशा है।

यद्यपि ब्रिटिश शासन के समय वृहद् सिंचाई का विकास अत्यधिक असंतुलित था, नियोजनकाल में इसका विकास संतुलित रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि कम से कम वृहद् सिंचाई के क्षेत्र में समय के साथ-साथ अन्तर्राज्यीय विषमता में कमी हुई है, जबकि भूमिगत जल से सिंचाई के संदर्भ में इस विषमता में वृद्धि हुई है जो निजी क्षेत्र में है। अन्तर्राज्यीय विषमता का होना कुछ हद तक अवश्यंभावी है क्योंकि देश में जल संसाधनों का वितरण समान नहीं है।

बोध प्रश्न 1

) **सिंचाई से आप क्या समझते हैं?** (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

2) वृहद् सिंचाई परियोजना को परिभाषित करने का क्या मापदण्ड है? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

3) ब्रिटिश शासन के समय सिंचाई के विकास की क्या स्थिति थी? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

4) वृहद् सिंचाई कार्यों के विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं? (चार वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.5 सिंचाई क्षमता का अल्प उपयोग

वृहद् सिंचाई परियोजनाओं की सृजित सिंचाई संभाव्य के अल्प उपयोग के लिए आलोचना की जाती है। चूँकि इन संसाधनों का निर्माण भारी लागत से होता है, अतः इनके अल्प-उपयोग रहने के कारण असंतोष पैदा होना स्वाभाविक है। परंतु अगर हम **इस समस्या के दो पहलुओं को ध्यान में रखें** तो इस बारे में अधिकांश चिन्ता अनुचित होगी।

सिंचाई के उपयोग का अधिक सार्थक पहलू इसके उत्पादन तथा आय प्रभावों से संबंधित है। इस उत्पादन दृष्टिकोण का प्रयोग सामान्यतः औद्योगिक क्षमता के अल्प उपयोग के विश्लेषण में किया जाता है। इसका कम सार्थक अथवा किंचित सतही दृष्टिकोण अनुमोदित परियोजना रिपोर्ट के प्रावधानों के अनुसार **लाभान्वित प्रत्याशित फसल क्षेत्र** की तुलना में परियोजना से **लाभान्वित वास्तविक** फसल क्षेत्र से संबंधित है। अतः हमें **क्षेत्र दृष्टिकोण** की अपेक्षा **उत्पादन दृष्टिकोण** पर ध्यान देना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमें अपने जल-संसाधनों के उपयोग का मूल्यांकन इन संसाधनों द्वारा कृषि उत्पादन में किए गए **योगदान** को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के मूल्यांकन का कार्य सरल तथा सीधा-सादा नहीं है। इसकी तुलना में क्षेत्र दृष्टिकोण अधिक सरल तथा आसान है। परन्तु तब हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम सार्थकता के स्थान पर सरलीकरण को चुन रहे हैं, जिससे गलत निष्कर्ष निकलने का भयंकर खतरा है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए आइए हम इन दो सामान्यतः स्वीकार्य मान्यताओं की जाँच करें, यथा 1) सृजित सिंचाई क्षमता का व्यापक अल्प उपयोग होता है तथा 2) इस अल्प उपयोग के बढ़ने की प्रवृत्ति रही है। आने वाले विश्लेषण में हम इन परिकल्पनाओं की उपलब्ध आँकड़ों की सहायता से परंपरागत तरीके से जाँच करेंगे।

सिंचाई क्षमता के उपयोग के बारे में एक मान्यता यह है कि नियोजन काल के प्रारंभ में विद्यमान क्षमता का पूर्ण उपयोग हो रहा था, इस बात की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसे मानसून का जुआ कहते हैं, के बारे में यह बहुत कठोर

मान्यता है। इस प्रकार की मान्यता रखने पर गलत निष्कर्ष प्राप्त करने की पूर्ण संभावना बनी रहती है। इसलिए हमें सिंचाई क्षमता के उपयोग के स्थान पर नियोजन काल में सृजित अतिरिक्त सिंचाई क्षमता का इस्तेमाल करना चाहिए। सातवीं योजना के अंत तक इस प्रकार की 24 मिलियन हैक्टेयर सिंचाई क्षमता में से 18 मिलियन हैक्टेयर के करीब सिंचाई क्षमता के उपयोग को योजना आयोग भी स्वीकार करता है। अतः **अप्रयुक्त सिंचाई संभाव्य** 6 मिलियन हैक्टेयर के करीब है, जो सृजित सिंचाई संभाव्य का एक चौथाई है। यद्यपि अप्रयुक्त सिंचाई संभाव्य में समय के साथ वृद्धि हो रही है, परंतु यह कहना सही नहीं होगा कि हर योजना में सृजित सिंचाई संभाव्य के प्रतिशत के रूप में इसमें वृद्धि हुई है। इस तथ्य का सत्यापन निम्नलिखित आँकड़ों (तालिका 9.2) से भी होता है। ये योजनाओं के अंतर्गत सिंचाई क्षमता के उपयोग की गिरती हुई दर का समर्थन नहीं करते हैं।

तालिका 9.2

	योजना का अंत	योजनाओं के अंतर्गत वृहद् एवं मध्यम सिंचाई कार्यों द्वारा निर्मित संचयी क्षमता के उपयोग की दर (%)
1)	पहली योजना	52
2)	दूसरी योजना	72
3)	तीसरी योजना	80
4)	वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	84
5)	चौथी योजना	82
6)	पाँचवी योजना	76
7)	वार्षिक योजनाएँ (1978-80)	77
8)	छठी योजना	75
9)	सातवीं योजना	77

9.6 पूँजीगत तथा परिचालन लागतें

सिंचाई एक महँगा कार्य है तथा वृहद् सिंचाई कार्यों के बारे में यह बात और भी स्पष्ट है। वृहद् सिंचाई कार्यों के लागतों के ढाँचे में पूँजीगत लागतों की प्रमुखता रहती है तथा इन कार्यों की परिचालन अथवा आवर्ती लागतें तुलनात्मक रूप से काफी कम होती हैं क्योंकि उनसे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के द्वारा पानी स्वतः ही खेतों में प्रवाहित होता रहता है, जिससे इनके संचालन में बहुत कम शक्ति का उपयोग होता है। अतः **इकाई पूँजीगत** लागत (जिसे कुल परियोजना लागत में उस विशेष परियोजना की सिंचाई संभाव्य का भाग देकर प्राप्त किया जाता है) वृहद् सिंचाई की लागत का उपयुक्त माप है। इसे वृहद् सिंचाई के समय के साथ बढ़ती लागतों के मूल्यांकन के लिए आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है।

वृहद् सिंचाई की इकाई पूँजीगत लागतों के संबंध में पक्के अनुमानों का अभाव है। इस संबंध में जो अनुमान बहुधा उद्धृत किए जाते हैं, वे किसी पंचवर्षीय योजना में वृहद् सिंचाई कार्यों पर हुए पूँजीगत परिव्यय (व्यय) को तत्संबंधी सृजित सिंचाई संभाव्य की उपलब्धियों से विभाजित करके प्राप्त किए जाते हैं। सातवीं योजना के लिए प्रति हैक्टेयर सिंचाई क्षमता की इकाई लागत करीब 36,000 रुपये अनुमानित की गई थी। इसी प्रक्रिया का उपयोग करने पर पहली पंचवर्षीय योजना के लिए अनुमानित इकाई लागत 1,500 रु. प्रति हैक्टेयर आती है। वृहद् सिंचाई की इकाई लागत में हुई इस कई गुणा वृद्धि को इतनी गंभीरता से नहीं लिया जाना चाहिए क्योंकि मुद्रास्फीति के कारण पहली एवं सातवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में निर्माण-लागत में भारी वृद्धि हुई है। यदि मुद्रास्फीति के लिए लागत में यथोचित संशोधन किया जाए तो हम पाते हैं कि वास्तविक लागत में इतनी अधिक वृद्धि नहीं हुई है, जैसा कि निम्नलिखित आँकड़ों (तालिका 9.3) से स्पष्ट है:

तालिका 9.3 : वृहद् सिंचाई की इकाई पूँजीगत परिव्यय

(रु./हैक्टेयर)

		वास्तविक	1970-71 की कीमतों पर
1)	पहली योजना	1,530	3,340
2)	दूसरी योजना	1,780	3,300
3)	तीसरी योजना	2,590	3,940
4)	वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	2,840	3,440
5)	चौथी योजना	4,740	4,310
6)	पाँचवी योजना	6,090	3,470
7)	वार्षिक योजनाएँ (1978-80)	10,880	4,590
8)	छठी योजना	34,924	9,330
9)	सातवीं योजना (प्रत्याशित)	36,240	5,380

वृहद् सिंचाई की योजनावार इकाई लागत का अनुमान लगाने के लिए अपनाई गई प्रक्रिया की जो भी सीमाएँ हों, वास्तविक इकाई लागत में वृद्धि के लिए दो कारण उत्तरदायी हैं। प्रथम—वृहद् सिंचाई कार्यों के निर्माण के लिए उपयुक्त नदी के तटों का उपयोग इस प्रकार हो रहा है कि अधिक अनुकूल (कम लागत वाली) जगह का उपयोग पहले होता है तथा कम अनुकूल स्थानों का उपयोग बाद में। द्वितीय—भारत के नए सिंचाई कार्यों में कई नवीन विशेषताएँ जोड़ी गई हैं, जैसे अब वितरण में जल के रिसाव को रोकने के लिए अधिक लाइनों वाली नहरों का निर्माण किया जाता है, नहरी कमाण्ड क्षेत्र में बेहतर संचार सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं तथा अधिक महँगी नहरों का निर्माण किया जाता है, जिनमें हर अंतिम निकास मार्ग के अंतर्गत पहले की तुलना में कम कमाण्ड क्षेत्र होता है। यह अतिरिक्त व्यय इस आशा से किया जाता है कि इससे अधिक उत्पादन तथा आय की प्राप्ति होगी तथा नहरों से जल-रिसाव के कारण होने वाली ज़लाक्रांति अथवा क्षारीयता (जो कुछ सीमा तक अवश्यंभावी है) से पर्यावरण की क्षति कुछ कम होगी।

बोध प्रश्न 2

1) क्या आप यह सोचते हैं कि सिंचाई क्षमता के उपयोग के निर्धारण के लिए क्षेत्र-दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्पादन-दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिए? (चार वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) वृहद् सिंचाई की लागत में वृद्धि के क्या कारण हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बताइए निम्नांकित सही है या गलत :

अ) अनुमान यह बताते हैं कि सृजित सिंचाई क्षमता का एक-चौथाई भाग अप्रयुक्त है।

ब) परियोजना की कुल पूँजीगत लागत वृहद् सिंचाई की कुशलता का उपयुक्त माप है।

म) कई दशकों में प्रति हैक्टेयर कुल पूंजीगत लागत (रुपयों में) में हुई असाधारण वृद्धि यह दर्शाती है कि वृहद् सिंचाई मंहगा क्षेत्र है।

उत्पादन-प्रभाव

ीय सिंचाई तथा विशेषतः नहरी सिंचाई की भूमि की उत्पादकता को उस वाँछित स्तर बढ़ाने में असफल रहने के लिए आलोचना की जाती है, जिस स्तर की कल्पना सिंचाई ोजना की उस रिपोर्ट में की जाती है, जिसके आधार पर योजना आयोग से परियोजना ीकृति माँगी जाती है। यह दोषारोपण किया जाता है कि नहरी कमाण्ड क्षेत्र की सिंचित में प्रति हैक्टेयर खाद्यान्न का उत्पादन केवल 1 से 2 टन के बीच है। स्पष्ट है कि उत्पा/ ा का यह स्तर कृषि शोध केंद्रों की सिंचित भूमि में प्राप्त 4 से 5 टन प्रति हैक्टेयर के व्य स्तर से काफी कम है। साथ ही यह स्तर सुदूर पूर्व के देशों विशेषकर जापान, दक्षिण ोरिया तथा ताइवान के 5 से 6 टन हैक्टेयर की तुलना में भी बहुत कम है।

भी सिंचाई के उत्पादन-निष्पादन के मूल्यांकन का अधिक सार्थक तरीका कृषि उत्पादन वृद्धि में सिंचाई के योगदान के आँकलन का हो सकता है। निम्नलिखित तीन तरीकों में से ी एक या अधिक तरीकों से उत्पादन में वृद्धि हो सकती है : 1) उत्पादकता में वृद्धि, फसल की गहनता में वृद्धि तथा 3) फसल के ढाँचे में निम्न उत्पादकता कम मूल्य वाली लों से, उच्च उत्पादकता अधिक मूल्य वाली फसलों जैसे—गन्ना, फल तथा सब्जियों की परिवर्तन। वृहद् तथा लघु सिंचाई कार्यों से मिलने वाली सिंचाई-सुविधाओं के कारण प्रति यर क्षेत्र में उत्पन्न अतिरिक्त कृषि उत्पादन के बारे में दुर्भाग्य से केवल कुछ ही प्रतिदर्श क्षणों से सूचनाएँ उपलब्ध हैं। इस संबंध में सिंचाई के प्रकार या स्रोत (नहर, तालाब, बवैल, कुएँ आदि) के अनुसार राज्यवार सूचनाएँ तैयार नहीं की जा सकती हैं क्योंकि हमारे में सिंचित भूमि की उत्पादकता के अनुमान, सिंचाई के स्रोत के अनुसार नहीं हैं। त्यक्ष विधि से प्राप्त कुछ राज्यवार अनुमान नीचे दिये जा रहे हैं ताकि वृहद् सिंचाई कार्यों नेरपेक्ष तथा सापेक्ष उत्पादन प्रभाव के बारे में आप कुछ मात्रात्मक अनुमान लगा सकें।

रे निष्कर्ष चार राज्यों से संबंधित हैं। दो राज्य कम वर्षा वाले उत्तरी भारत से तथा दो य मध्यम वर्षा वाले दक्षिणी भारत से लिये गये हैं। सिंचाई के अभाव में (वर्षा पर ाधारित खेती में) खाद्यान्न के रूप में भूमि की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता कम तथा ाश्चित रहती है। यह अनुमान लगाया गया है कि सातवें दशक के अंत में सिंचाई के र्गत लाई गई प्रति हैक्टेयर भूमि में पंजाब व आंध्र प्रदेश में 2 टन तथा हरियाणा एवं मिलनाडु में करीब 1.5 टन अतिरिक्त उत्पादन हुआ है। इस बात को देखते हुए कि इन राज्यों में नहरी सिंचाई के अंतर्गत भूमि की उत्पादकता में समय के साथ बढ़ने का प्रवृत्ति ती है (ऐसी प्रवृत्ति शुष्क खेतों में नहीं देखी गई)। यह कहा जा सकता है कि इन राज्यों वर्तमान में नहरी सिंचाई से प्रति हैक्टेयर उत्पादन में वृद्धि ऊपर दिए गए 10 से 12 साल अवधि के पुराने अनुमानों से कहीं अधिक होनी चहिए।

ाक्षिक रूप में, ऊपर वर्णित चार राज्यों में नहरी सिंचाई का उत्पादन प्रभाव वास्तव में की रहा है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि नहरी सिंचाई के अभाव में भूमि की प्रति हैक्टेयर पादकता हरियाणा में 0.6 टन, पंजाब में 0.7 टन तथा तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश में ोब 0.8 टन रही है।

ाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि इन राज्यों में नहरी सिंचाई का अच्छा प्रभाव कम वर्षा स्थिति या नहरों के उचित प्रबंध के कारण न हो कर आधारभूत सुविधाओं (जैसे — त्तार सेवाओं, बैंकों तथा अन्य शाखा संस्थाओं से दिए गए फसली ऋण) की पर्याप्तता के रण संभव हुआ है। सिंचाई के विकास के फलस्वरूप उत्पादन पर पड़ने वाले स्तर के र्धारण में ये सुविधायें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार की सुविधाएँ नहर-प्रणाली संबंध में राज्य सिंचाई विभाग के अच्छे प्रबंध के सहयोग से भारत में कृषि उत्पादकता के ाव्य व वास्तविक स्तर में व्याप्त व्यापक अंतर को खत्म कर सकती है।

8 बाह्य प्रभाव

द सिंचाई से उत्पन्न बाह्य प्रभावों का उल्लेख व्यापक रूप से किया जाता है। यद्यपि

विभिन्न लेखकों ने प्रतिकूल या **ऋणात्मक** बाह्य प्रभावों की तरफ ध्यान आकर्षित किया है किंतु धनात्मक या लाभकर प्रभावों की तरफ वांछित ध्यान नहीं दिया गया है।

ऋणात्मक प्रभावों में नहर कमाण्ड क्षेत्र में **पनप** रही जलाक्रांति तथा लवणता क्षारीयता की दोहरी समस्या के बारे में बहुत चिंता व्यक्त की जा रही है। यह समस्या नहरी पानी के रिसाव से **उत्पन्न** होती है। इस **प्रकार** का जल रिसाव अपरिहार्य है। मुख्य नहरों, शाखा नहरों, **वितरिताओं**, माइनरों, पानी के रास्तों तथा खेती की नालियों की पोलीथीन की मोटी चद्दरों तथा ईंटों **व सीमेण्ट-कंक्रीट** से लाइनिंग करने में अतिरिक्त विनियोग करके जल **रिसाव** को जल-निकास **के** 20 से 25 प्रतिशत तक नियंत्रित किया जा सकता है। बिना लाइनों **की** नहरों में जल रिसाव **की मात्रा** जल निकास के 50 से 75 प्रतिशत तक होती है। यदि इस जल रिसाव को **क्षैतिज निष्कासन** अथवा **उदग्र निष्कासन** (कुओं तथा ट्यूबवैल द्वारा) में अतिरिक्त विनियोग करके निकाला न गया तो भूमिगत जल की सतह बढ़कर भूतल तक पहुँच जाएगी। **जल की सतह** को इस प्रकार फसलों के जड़-क्षेत्र तक बढ़ने को जलाक्रांति (water-logging) कहते हैं, जो अंत में अर्द्ध-मरुस्थलीय क्षेत्रों में क्षारीयता को जन्म देती है। इससे प्रारंभ में फसलों की उत्पादकता में कमी होती है तथा अंत में कृषि-कार्य ही रुक जाता है क्योंकि भूमि खेती के योग्य ही नहीं रहती है। ऐसी भूमि में पुनः खेती करने के लिए अतिरिक्त संसाधनों की आवश्यकता होती है परंतु कभी-कभी यह क्षति **स्थायी** एवं **अपरिवर्तनीय** होती है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि नहरों ने पर्यावरण को क्षति पहुँचाई है। परंतु केवल नहरों के कारण जलाक्रांत/क्षारीय भूमि के सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस संबंध में उद्धृत किए जाने वाले आँकड़ों की सावधानीपूर्वक उपयोग में लेने की आवश्यकता है। एक तरफ ये आँकड़े कुल जलाक्रांत/क्षारीय भूमि से संबंधित हो सकते हैं, दूसरी तरफ जलाक्रांत क्षेत्र के आँकड़ों तथा क्षारीय मिट्टी के आँकड़ों का योग संभव नहीं है। अंत में, निजी क्षेत्र के कुओं से सिंचाई करने के कार्य में विस्तार होने से अपेक्षित उदग्र निष्कासन भी संभव हुआ है। वास्तव में, भूमिगत जल (जो सतही जल की तुलना में विश्व में सर्वत्र कम है) की बढ़ती माँग के कारण भूमिगत जल संसाधनों पर भारी दबाव पड़ा है, जिससे देश के कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भूमिगत जल की समाप्ति का खतरा उत्पन्न हो गया है।

हरित क्रांति के फलस्वरूप भूमिगत जल पर आधारित कृषि को तेजी से विकास हुआ है, जिसको बढ़ावा देने के लिए भूमिगत जल के **कृत्रिम पुनर्भरण** के तरीके खोजे जा रहे हैं। परिणामस्वरूप सतही जल पर आधारित सिंचाई के विकास को हाथ में लिया गया है क्योंकि इससे होने वाले जल रिसाव का भी अपना लाभ है। अतः नहरों तथा ट्यूबवैलों को, भूमिगत जल की पूर्ति बढ़ाने में इनके योगदान को देखते हुए, पसंद किया जाने लगा है। **नहरों से व्यापक** रूप से जल रिसाव के अभाव में पंजाब में ट्यूबवैलों की संख्या करीब 7 लाख न होकर उससे बहुत कम, संभवतः एक लाख होती। दूसरे शब्दों में पंजाब में ट्यूबवैल से सिंचित खेतों के कृषि उत्पादन के बड़े भाग के लिए **परोक्ष रूप** से इस राज्य की नहर प्रणाली के विकास को श्रेय देना चाहिए। उत्पादन में नहरों का इस प्रकार **परोक्ष** योगदान कभी-कभी पिछले खण्ड (9.7) में वर्णित प्रत्यक्ष उत्पादन प्रभाव के बराबर भी हो सकता है (उदाहरण के लिए पश्चिमी महाराष्ट्र के मुला कमाण्ड में)।

बोध प्रश्न 3

1) सिंचाई कृषि उत्पादन को किस प्रकार प्रभावित कर सकती है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) ऐसा क्यों है कि सिंचाई का कृषि उत्पादन पर प्रभाव निर्धारित करने में अन्य आधारभूत सुविधाओं की भूमिका महत्वपूर्ण है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ज्यवार अनुमानों के अनुसार वृहद् सिंचाई का कृषि उत्पादन पर क्या प्रभाव रहा है?
ार वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

सारांश

सिंचाई कार्य दो प्रकार के होते हैं। प्रथम—नदी के प्रवाह को नहर में मोड़ने के लिए या बंधी के द्वारा किए गए विपथन (मोड़) कार्य। द्वितीय—बाँध बनाकर किए गए रण कार्य, ताकि जब व जैसी आवश्यकता हो जलाशय से नहर के द्वारा पानी छोड़ा जा वृहद् सिंचाई कार्य बहुधा बहुउद्देशीय होते हैं, जिनसे सिंचाई सुविधाओं के साथ-साथ वैद्युत, बाढ़ नियंत्रण, पेयजल आदि सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं

ा चार दशकों में वृहद् सिंचाई (तथा मध्यम सिंचाई, जैसा कि व्यवहार में वृहद् व म सिंचाई को मिला दिया गया है) के अंतर्गत सिंचित क्षेत्र ब्रिटिश शासन की पूरी अवधि लना में तिगुना हो गया है। परंतु सिंचाई क्षमता का भारी मात्रा में अल्प उपयोग हो रहा अनुमानतः सृजित सिंचाई क्षमता का एक चौथाई भाग है। सिंचाई की इकाई विक) लागत में भी वृद्धि हो रही है।

सिंचाई की बढ़ती हुई लागतों के लिए दो कारण उत्तरदायी हैं। प्रथम – बाँध निर्माण ए नदियों के तटों का उपयोग इस प्रकार हो रहा है कि अधिक अनुकूल (कम लागत स्थानों का उपयोग पहले होता है तथा कम अनुकूल स्थानों का बाद में। द्वितीय – रिसाव को रोकने के लिए अधिक लाइनों वाली नहरों की व्यवस्था तथा कमाण्ड क्षेत्र में वितरण की बेहतर सुविधाओं के कारण नहरों के निर्माण की लागत में वृद्धि हुई है।

ई का कृषि उत्पादन पर प्रभाव अधिक उत्पादकता, फसलों की गहनता में वृद्धि तथा क उपज वाली फसलों की ओर फसल के ढाँचे में परिवर्तन के रूप में हुआ है। वृहद् ई से उत्पन्न बाह्य प्रभाव केवल धनात्मक ही नहीं है। इन सिंचाई कार्यों के ऋणात्मक जिक प्रभावों में जलाक्रांति, क्षारीयता, तथा पर्यावरण के ह्रास की समस्याएँ भी शामिल

0 शब्दावली

ई-संभाव्य : यह किसी एक कृषि वर्ष के तीनों मौसमों में सिंचित किए जा सकने वाले क्षेत्र को इंगित करता है।

सिंचाई परियोजना : 10,000 हैक्टेयर से अधिक कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र (अर्थात् परियोजना की सिंचाई विधाओं से खेती के लिए उपयोगी भू-क्षेत्र) के किसानों को न्वित करने वाली सिंचाई परियोजना।

मध्यम सिंचाई परियोजना : 2,000 से 10,000 हैक्टेयर के बीच कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र की सिंचाई परियोजना।

परिचालन लागत : नियमित तथा आवर्ती स्वरूप की लागतें।

इकाई पूँजीगत लागत (प्रति हैक्टेयर सिंचाई संभाव्य) : यह परियोजना के कुल पूँजीगत परिव्यय को परियोजना द्वारा सृजित सिंचाई संभाव्य से भाग देने पर प्राप्त होती है।

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

धवन, बी.डी., 1990, *बिग डैम्ज : क्लेम्स, काउंटर क्लेम्स,* कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, अध्याय 1 व 5.

धवन, बी.डी., 1988, *इरिगेशन इन इंडियाज़ एग्रीकल्चरल डेवेलपमेण्ट,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, अध्याय 2, 5 तथा 10.

धवन, बी.डी., 1989, *स्टडीज़ इन इरिगेशन एण्ड वाटर मैनेजमेण्ट,* कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, अध्याय 6, 7 तथा 9.

9.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) यह खेतों के प्राकृतिक वर्षा की अपेक्षा कृत्रिम रूप से सिंचाई करने से संबंधित है।
2) वृहद् सिंचाई परियोजनाओं को पारिभाषित करते समय उस परियोजना के कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र को ध्यान में रखा जाता है।
3) सृजित सिंचाई क्षमता कम थी। सृजित क्षमता में अंतर्राज्यीय विषमता बहुत थी।
4) खंड 9.3 देखिए तथा उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) खंड 9.5 उत्तर देखें।
2) खंड 9.6 देखिए तथा उत्तर दीजिए।
3) अ) सही ब) गलत स) गलत

बोध प्रश्न 3

1) यह कृषि उत्पादन को अधिक उत्पादकता, फसल की गहना में वृद्धि तथा फसल के स्वरूप में परिवर्तन द्वारा प्रभावित करती है।
2) खंड 9.8 देखिए तथा उत्तर दीजिए।
3) खंड 9.7 देखिए तथा उत्तर दीजिए।

इकाई 10 भारत में लघु सिंचाई

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 लघु सिंचाई के प्रकार
10.3 लघु सिंचाई की प्रगति
10.4 क्षमता का उपयोग
10.5 लघु सिंचाई की लागत
10.6 कृषि में लाभ
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- लघु सिंचाई परियोजनाओं के प्रकार बता सकेंगे,
- लघु सिंचाई द्वारा सृजित सिंचाई क्षमता का वर्णन कर सकेंगे,
- लघु सिंचाई क्षमता का उपयोग, तथा
- लघु सिंचाई की लागत तथा लाभ को समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में वृहद् तथा मध्यम सिंचाई कार्यों के विवेचन के समय लघु सिंचाई की परिभाषा दी गई थी। संक्षेप में, लघु सिंचाई के अंतर्गत वे सभी सिंचाई कार्य सम्मिलित किए जाते हैं, जिनका **कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र 2,000 हैक्टेयर से कम** होता है। इस मापदण्ड के आधार पर वर्गीकृत सतही जल पर आधारित योजनाओं के अलावा भूमिगत जल पर आधारित सभी योजनाएँ, चाहे वे सार्वजनिक क्षेत्र में हो या निजी क्षेत्र में, लघु सिंचाई के अंतर्गत शामिल की जाती हैं।

लघु सिंचाई प्रधानतः गैर-नहरी सिंचाई है। दुर्भाग्य से इसकी नामावली अथवा शब्दावली अधिक संतोषप्रद नहीं है। देश के लघु सिंचाई कार्यों की सम्मिलित सिंचाई क्षमता काफी है तथा वृहद् तथा मध्यम सिंचाई कार्यों की कुल सिंचाई क्षमता से यह हमेशा अधिक रही है। इसका "लघु" विशेषण भारत में ब्रिटिश शासन के समय इस्तेमाल होने लगा था। उस समय की राज्य सरकारों के बजट संसाधनों पर एक लघु सिंचाई कार्य की विनियोग आवश्यकता का बहुत कम प्रभाव पड़ता था, तथा उन सरकारों को इनके लिए बृहद् सिंचाई कार्यों की तरह भारतीय अथवा विदेशी पूँजी बाज़ार से धन जुटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। पहली पंचवर्षीय योजना से लघु सिंचाई के विकास पर किए गए सार्वजनिक व्यय (बजट तथा संस्थागत) की मात्रा काफी बढ़ गई। इसके बावजूद भी बजट तथा योजना दस्तावेज़ों में अभी भी लघु, मध्यम तथा वृहद् सिंचाई कार्यों का पुराना वर्गीकरण विद्यमान है।

10.2 लघु सिंचाई कार्यों के प्रकार

हाल ही में लघु सिंचाई का विकास भूमिगत सिंचाई के विकास का समानार्थक हो गया है। यह

पहचान (चाहे ग़लत हो) इसलिए उभर कर सामने आई, क्योंकि भारत में लघु सिंचाई क्षमता का विकास मुख्यत: कुओं की सिंचाई के द्वारा ही संभव हुआ है। जो भी हो, लघु सिंचाई शीर्षक के अंतर्गत सिंचाई से संबंधित अनेक योजनाओं में होने वाले कई प्रकार के विनियोगों को सम्मिलित किया जाता है। भारतीय नियोजन में लघु सिंचाई के अंतर्गत निम्नलिखित पंद्रह प्रकार की योजनाएँ शामिल की जाती हैं:

I) भूमिगत जल से संबंधित

1) नये कुएँ
2) नये ट्यूबवैल
3) फ़िल्टर बिंदु
4) बुम्ब कूप (artesian well)
5) जल उद्धाहक (वाटर लिफ़्टिंग) उपकरण
6) कुओं में बोरिंग
7) कुओं की बड़े पैमाने पर मरम्मत
8) पुराने कुओं को गहरा करना

II) सतही जल से संबंधित

9) तालाब
10) विपथन (मोड़) योजनाएँ (पहाड़ी क्षेत्रों की कुहल योजनाओं सहित)
11) लिफ़्ट सिंचाई
12) बाढ़ नियंत्रण कार्य
13) जल निकासी कार्य
14) समुद्री जल के प्रवेश को रोकने संबंधी कार्य
15) जल संरक्षण तथा भूमिगत जल के पुनर्भरण से संबंधित कार्य

भारत में इस समय करीब 9.5 मिलियन कुएँ, 4.8 मिलियन उथले (कम गहरे) ट्यूबवैल, 63,000 गहरे अथवा सार्वजनिक ट्यूबवैल, 8 मिलियन विद्युत पम्पसेट तथा 4 मिलियन डीजल-चालित पम्पसेट कार्य कर रहे हैं। इनमें से ज़्यादातर पम्पसेट निजी क्षेत्र के कुओं तथा ट्यूबवैल से भूमिगत जल खींचने के काम आते हैं तथा कुछ झील, नदी, तालाब तथा जलाशयों के पानी को लिफ़्ट करने के काम में लिए जाते हैं।

सतही जल पर आधारित लघु सिंचाई कार्यों में तालाबों की संख्या सर्वाधिक है। लघु सिंचाई गणना के अनुसार देश में इस प्रकार के 6,00,000 तालाब हैं, जो कुओं की तरह सारे देश में व्यापक रूप से बिखरे हुए हैं। तालाबों से सिंचाई का संकेंद्रण दक्षिणी राज्यों जैसे—तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक में विशेष रूप से हैं। बड़े तालाबों का स्वामित्व तथा रख-रखाव सरकार के नियंत्रण में है, जबकि छोटे तालाब सामान्यत: सामाजिक स्वामित्व के अंतर्गत आते हैं। इसके विपरीत ट्यूबवैल से सिंचाई मुख्य रूप से पंजाब, हरियाणा उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पं. बंगाल में होती है। ये राज्य गंगा सिंधु नदियों की घाटी में है। यहाँ की गहरी जलोढ मिट्टी ट्यूबवैल की खुदाई के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। अधिकांश उथले ट्यूबवैल किसानों के निजी स्वामित्व में है, जबकि गहरे ट्यूबवैल सार्वजनिक क्षेत्र में हैं।

10.3 लघु सिंचाई की प्रगति

लघु सिंचाई की प्रगति के आँकलन का उचित मापदण्ड कुल तैयार की गयी सिंचाई क्षमता है। इसके साथ ही, विभिन्न प्रकार के लघु सिंचाई कार्यों एवं किसानों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले जल उद्धाहक (वाटर लिफ़्टिंग) उपकरणों की प्रगति को ध्यान में रखना भी जरूरी है। इस प्रकार का विवरण हमें लघु सिंचाई कार्यों की शक्ति एवं दुर्बलताओं को समझने में सहायक होगा, विशेषकर उस समय जब हम अगली इकाई में लघु तथा वृहद् सिंचाई का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। परंतु हमें लघु सिंचाई की प्रगति के सूचक के रूप में लघु सिंचाई

रव्यय में योजनावार वृद्धि के आधिकारिक आकड़ा का इस्तमाल करते समय सतर्क रहना
ाहिए, चाहे ये आँकड़े मूल्य वृद्धि के लिए समायोजित ही क्यों न किए गए हों। इन आँकड़ों
ा अविश्वसनीयता का कारण इनका अधूरापन है। इन आँकड़ों में कुओं से सिंचाई के लिए
ृसानों द्वारा स्वयं के साधनों से किए गए विनियोग को शामिल नहीं किया गया है। दूसरे
ब्दों में, **योजना परिव्यय सार्वजनिक क्षेत्र** में होने वाले परिव्यय से संबंधित है, जबकि
ओं से सिंचाई का ज्यादातर विकास **निजी क्षेत्र** में ही हो रहा है। स्पष्टतया, योजना
रेव्यय से संबंधित इस प्रकार के **आंशिक आँकड़े,** चाहे वे **वास्तविक रूप** में ही क्यों न हों,
घु सिंचाई के विकास का काफ़ी भ्रामक चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं।

रत में लघु सिंचाई की प्रमुख प्रवृत्तियों को दर्शाने वाले आँकड़े तालिका 10.1 व 10.2 में
ए गए हैं। सातवीं योजना से संबंधित आँकड़े योजना के अंतिम दो वर्षों के वास्तविक
ाँकड़ों की उपलब्धि पर संशोधित होंगे। आठवीं योजना से संबंधित आँकड़े योजना के बारे
लघु सिंचाई दल द्वारा जुलाई 1989 में योजना आयोग को प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के प्रस्ताव
। इस प्रकार के प्रस्तावों में सामान्यत: योजना आयोग कमी कर देता है।

जना काल में कुओं से सिंचाई का विकास तुलनात्मक रूप से धीमा होने के बावजूद भी
ाज लघु सिंचाई कार्य में कुओं का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान में कुओं का
र्माण आधुनिक ढंग से होता है, जिनमें अधिकाधिक मात्रा में पम्पसेट लगाए जाते हैं तथा
ापूर्ति बढ़ने के लिए इनमें बोरिंग भी की जाती है। लघु सिंचाई कार्य में दूसरा महत्वपूर्ण
ान उथले ट्यूबवैल का है, जिनकी संख्या छठे दशक के मध्य से तेज़ी के साथ बढ़ रही है।

तालिका 10.1 : भारत में भूमिगत जल पर आधारित लघु सिंचाई कार्य

(हजारों में)

	कुएँ	उथले ट्यूबवैल	सार्वजनिक ट्यूबवैल	विद्युत पम्पसेट	डीजल पम्पसेट
50-51	3860	3	2.4	21	66
60-61	4540	22	8.9	200	230
68-69	6100	360	14.7	1090	720
73-74	6700	1138	22.0	2430	1750
77-78	7435	1740	30.0	3300	2350
79-80	7786	2132	33.3	3965	2650
84-85	8742	3359	46.2	5709	3550
89-90*	9487	4754	63.4	8226	4355
90-95**	11198	6443	74.4	11226	4977

त्याशित
स्तावों पर आधारित

तालिका 10.2: भारत में लघु सिंचाई का विकास

अवधि	सृजित सिंचाई क्षमता (मिलियन हैक्टेयर)			विनियोग (करोड़ रु. में)		
	सतही जल	भूमिगत जल	योग	योजना परिव्यय	संस्थागत	योग
अंतिम योजना पूर्व	15	40	55			
पहली योजना (1951-56)	6.4	6.5	12.9			
दूसरी योजना (1956-61)	6.43	7.63	14.06	66	(नगण्य)	66
तीसरी योजना (1961-66)	6.45	8.30	14.75	142	19	161
वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	6.48	10.52	17.00	328	115	443
चौथी योजना (1969-74)	6.50	12.50	19.00	326	235	561
पाँचवीं योजना (1974-78)	7.00	16.50	23.50	513	661	1174
वार्षिक योजना (1978-79)	7.50	19.80	27.30	631	780	1141
वार्षिक योजना (1979-80)	7.75	20.85	28.60	237	240	477
छठी योजना (1980-85)	8.00	22.00	30.00	260	250	510
1985-86	9.70	27.80	37.50	1802	1438	3240
	9.99	29.03	39.02	493	501	994

14)	1987-88	10.54	31.13	42.27	642	610	1252
15)	1988-89*	10.85	33.13	43.99	739	773	1512
16)	1989-90*	11.15	34.78	45.94[1]	766	843	1609
17)	आठवीं योजना ** (1990-95)	13.26	44.79	58.06	7513	5119	12632

* प्रत्याशित ** प्रस्तावित

[1] नवीनतम अनुमानों के अनुसार यह 46.93 मिलियन हैक्टेयर हैं।

पानी को लिफ्ट करने की सर्वाधिक लोकप्रिय तकनीक विद्युत पम्पसेट है। इनकी संख्या 1951 के बाद तेजी से बढ़ रही है। आठवें दशक के मध्य तक इनकी संख्या 5.7 मिलियन थी, जिसे बढ़कर आठवें दशक के अंत में 8 मिलियन की सीमा को पार कर जाने की संभावना थी। इस समय इनकी संख्या डीज़ल पम्पसेटों की संख्या से दुगुनी है। कुछ पम्पसेट सतही जल स्रोत के स्थानों पर भी लगाए गए हैं। लघु सिंचाई गणना की प्रारंभिक सूचनाओं के अनुसार 1986-87 में सतही जल लिफ्ट सिंचाई की 0.17 मिलियन योजनाएँ चालू थीं। उस समय तालाबों की संख्या 0.16 मिलियन तथा पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के उपयोग पर आधारित जल विपथन योजनाओं की संख्या 0.09 मिलियन थी। इन तीनों प्रकार के सतही जल सिंचाई कार्यों का कुल सिंचाई संभाव्य करीब 11 मिलियन हैक्टेयर है, जो योजना पूर्व के 6.4 मिलियन हैक्टेयर के स्तर के दुगुने से भी कम है। इसकी तुलना में भूमिगत जल स्रोतों का कुल सिंचाई संभाव्य 1951 में 6.5 मिलियन हैक्टेयर से बढ़कर 1990 में 34 मिलियन हैक्टेयर (यानि पांच गुणा) हो गया। लघु सिंचाई कार्यों के विस्तार में संस्थागत वित्त ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस वित्त की वार्षिक मात्रा इस समय 800 करोड़ रुपये है।

अंत में, सातवें दशक की तुलना में आठवें दशक में लघु सिंचाई के विकास में गिरावट के कोई संकेत दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, जो तालिका 10.3 से स्पष्ट हैं।

तालिका 10.3

क्र.सं.	योजना	लघु सिंचाई संभाव्य का सृजन ('000 हैक्टेयर)	भूमिगत जल संरचनाओं की संख्या ('000) उथले ट्यूबवैल	कुएँ	विद्युत पम्प	डीजल पम्प
1)	पहली योजना	232				
2)	दूसरी योजना	138	2	68	18	16
3)	तीसरी योजना	450	16	112	63	48
4)	वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	666	86	*	192	83
5)	चौथी योजना	900	156	120	268	206
6)	पांचवीं योजना	950	151	184	219	150
7)	वार्षिक योजना (1978-79)	1300	200	180	300	150
8)	वार्षिक योजना (1979-80)	1400	192	171	365	150
9)	छठी योजना	1500	245	191	349	180
10)	सातवीं योजना	1688	279	149	503	161
11)	आठवीं योजना (प्रस्तावित)	2424	338	342	600	124

* अनुपलब्ध

बोध प्रश्न 1

1) लघु सिंचाई से आप क्या समझते हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में लघु सिंचाई के मुख्य स्रोत कौन-कौन से हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बताइये, सही है या गलत :

अ) ट्यूबवैल से सिंचाई अधिकतर दक्षिणी राज्यों में की जाती है जबकि तालाबों से पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में।

ब) उथले (कम गहरे) ट्यूबवैल अक्सर किसानों के निजी स्वामित्व में होते हैं, जबकि गहरे ट्यूबवैल अधिकतर सार्वजनिक क्षेत्र में।

स) लघु सिंचाई में विनियोग के सरकारी विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि उनमें निजी विनियोग को शामिल नहीं किया जाता।

10.4 क्षमता का उपयोग

लोगों में इस गलत धारणा का प्रचलन है कि लघु सिंचाई कार्यों में सृजित सिंचाई संभाव्य के अल्प उपयोग की कोई समस्या नहीं है। नियोजन क्षेत्रों में भी अब तक यही धारणा प्रचलित थी। इस धरणा का जन्म संभवतः दो मान्यताओं से हुआ होगा—1) लघु सिंचाई तथा निजी क्षेत्र के कुओं से सिंचाई समानार्थक है तथा 2) निजी कुएँ का मालिक अक्सर अपनी सिंचाई क्षमता को अनुपयुक्त नहीं रहने देता है।

पहली मान्यता पूर्ण रूप से सही नहीं है। सतही जल पर आधारित लघु सिंचाई अधिकांशतः निजी क्षेत्र के स्वामित्व में नहीं है तथा सरकार भी कुछ ट्यूबवैलों से सिंकी सुविधा प्रदान करती है। ये सरकारी ट्यूबवैल अपनी अकुशलता के लिए कुख्यात हैं। इससे इनकी सिंचाई क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं होता है। राष्ट्रीय स्तर पर इन ट्यूबवैलों की केवल 40 प्रतिशत सिंचाई क्षमता का ही उपयोग होता है तथा बिहार में तो इनकी क्षमता के उपयोग की दर केवल 5 से 10 प्रतिशत ही है।

जहाँ तक दूसरी मान्यता का संबंध है, इस संबंध में हमें उन अड़चनों की तरफ भी ध्यान देना चाहिए, जिनके कारण किसान अपने कुओं की सिंचाई क्षमता का पूरा उपयोग नहीं कर सकते हैं। उनकी भू-जोत इतनी छोटी व अपखण्डित हो सकती है कि उसकी सिंचाई आवश्यकता कुओं की कुल सिंचाई क्षमता से कम हो। अगर माँग पक्ष की तरफ से कोई अड़चन न हो तो भी किसान को पूर्ति पक्ष की तरफ से विद्युत व डीजल की अनुपलब्धता जैसी अड़चनों का सामना करना पड़ सकता है

भारत के योजना आयोग ने छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के समय देश की कुल सिंचाई क्षमता के उपयोग का अनुमान लगाने में लघु सिंचाई संभाव्य के पूर्ण उपयोग की **कार्यकारी मान्यता** को छोड़ दिया था। आयोग ने अब माना है कि लघु सिंचाई संभाव्य के 7.5 प्रतिशत भाग का उपयोग नहीं हो रहा है। मात्रात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंत में 46.8 मिलियन हैक्टेयर के कुल सिंचाई संभाव्य में से 3.3 मिलियन हैक्टेयर का उपयोग नहीं हो रहा था। इस अप्रयुक्त सिंचाई संभाव्य का सार्वजनिक या निजी क्षेत्र अथवा भूमिगत जल व सतही जल-स्रोत के अनुसार वर्गीकरण देना संभव नहीं है।

अक्सर यह दृढ़तापूर्वक कहा जाता है कि वृहद् सिंचाई संभाव्य एवं इसके उपयोग के अनुमानों में अनेक त्रुटियाँ हैं। यह बात लघु सिंचाई के बारे में भी कही जाती है। लघु सिंचाई कार्यों के कुल सिंचाई संभाव्य के अनुमान, विभिन्न प्रकार के कुओं व विद्युतीकृत पम्पसेटों की संख्या के बारे में राज्य सरकारों द्वारा भेजी गई रिपोर्ट पर आधारित होते हैं। कुल सिंचित क्षेत्र की गणना के लिए इन कुओं व पम्पसेटों की संख्या को प्रति कुआँ/पम्पसेट औसत सिंचित क्षेत्र के मानदण्डों से गुणा कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया के बारे में अनेक प्रश्न उठाए जाते हैं, जैसे कि इन मानदण्डों का आधार क्या है? क्या ये मानदण्ड सुव्यवस्थित एवं राज्यवार सर्वेक्षणों से

सूखे कुएँ) तथा अप्रयुक्त (उदाहरणार्थ, अनुपयुक्त तालाब) सिंचाई कार्यों के लिए क्या प्रक्रिया अपनाई जाती है?

10.5 लघु सिंचाई की लागत

यह सामान्य राय है कि लघु सिंचाई कार्य सस्ता होता है, किंतु यह बात जनसंख्या बहुल एवं परंपरागत कृषि तकनीक का इस्तेमाल करने वाली (निर्वाह) अर्थव्यवस्था के बारे में ही सही हो सकती है, आधुनिक कृषि तकनीक पर आधारित अर्थव्यवस्था के बारे में नहीं लघु सिंचाई की **इकाई लागत** के अनुमानों का विवेचन करने से पहले यह महत्वपूर्ण होगा कि हम इस प्रकार की सिंचाई के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन करें।

ब्रिटिश राज की स्थापना से ही तालाब दक्षिणी भारत में सिंचित कृषि का प्रमुख आधार रहा है। इसकी **लागत संरचना** जलाशय पर आधारित वृहद् सिंचाई कार्य के समान ही है। तालाबों की परिचालन लागतें पूँजीगत लागतों की तुलना में कम होती हैं। इनकी संरचना जलाशयों पर आधारित वृहद् सिंचाई के समान ही है। तालाब एक लघु जलाशय होता है। इसके साथ एक छोटा बाँध बना हुआ होता है, जिसे **तालाब का बाँध** कहते हैं। इसमें सिंचित जल पृथ्वी की **प्राकृतिक** गुरुत्वाकर्षक शक्ति के द्वारा किसानों के खेतों तक पहुँचता है। तालाब पर आधारित लघु सिंचाई व जलाशय पर आधारित वृहद् सिंचाई में एक महत्वपूर्ण अंतर है। तालाब की इकाई पूँजीगत व आवर्ती लागत वृहद् सिंचाई से काफी भिन्न होती है। इसकी इकाई पूँजीगत लागत वृहद् सिंचाई की तुलना में कम होती है, परंतु इकाई परिचालन लागत अधिक। कम पूँजीगत लागत का कारण है मिट्टी से निर्मित इसका ढाँचा तथा इसके निर्माण में स्टील, सीमेंट तथा आधुनिक मशीनरी जैसे औद्योगिक साधनों का उपयोग न होना।

तालाब की पूँजीगत लागत का एक और महत्वपूर्ण कारण इसके **डूब** में आने वाली भूमि की कम कीमत आँकना है। सृजित सिंचाई संभाव्य के प्रतिशत के रूप में इस भूमि की मात्रा अच्छी जगह स्थित तालाब के लिए 15 से 20 प्रतिशत तथा अन्य तालाबों के लिए 30 से 35 प्रतिशत तक होती है। यह दर बड़े बाँधों के 5 से 15 प्रतिशत की तुलना में बहुत ज्यादा है। दूसरी तरफ तालाबों की ऊँची परिचालन लागतों का कारण यह है कि मिट्टी से बने होने के कारण अधिक वर्षों के समय इनमें दरार पड़ जाती है, जिससे इनमें **मरम्मत तथा रख-रखाव की अधिक आवश्यकता** होती है तथा इनकी भराव क्षमता को बनाए रखने के लिए इनके पेंदों में जमा **गाद** बार-बार **निकालना** पड़ता है।

पूँजीगत परिव्यय को ब्याज तथा घिसावट के लिए समायोजित कर दिया जाये तो तालाब से सिंचाई की परिचालन लागत पूँजीगत लागत की तुलना में अधिक होती है। लागत के ढाँचे में यह अंतर उन लघु सिंचाई कार्यों में अधिक होगा; जिनमें पानी को लिफ्ट करने की आवश्यकता होती है।

केवल बम्ब कूप अथवा स्वत: प्रवाहित कूप (जिसके भूमिगत जल पर इतना अधिक दबाव होता है कि वह भूतल तक स्वत: ही आ जाता है) के अलावा सभी प्रकार के कुओं में कुछ न कुछ ऊर्जा की आवश्यकता होती है। सतही जल पर आधारित कुछ लघु सिंचाई कार्यों में भी प्राकृतिक झील, तालाब, नदी तथा जलाशयों से पानी लिफ्ट किया जाता है। चूँकि ऊर्जा एक महँगा संसाधन है, लघु सिंचाई कार्यों में पानी लिफ्ट करने के लिए प्रयुक्त विद्युत पम्प, डीज़ल पम्प, पशुचालित रहट तथा मानव चालित प्राचीन जल उद्धाहकों (जैसे – शदूफ़, पिकोटा, चेनपम्प आदि) की इकाई परिचालन लागत का पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखना आवश्यक है।

निर्जीव स्रोत जैसे – कोयला, पेट्रोलियम तथा जल से प्राप्त ऊर्जा की तुलना में सजीव स्रोत जैसे – बैल तथा मानव से प्राप्त ऊर्जा महँगी होती है। अत: पम्पसेट के उपयोग पर आधारित **आधुनिक जल उद्धाहकों** की तुलना में मानव व पशु चालित परंपरागत जल उद्धाहकों की इकाई परिचालन लागत अधिक होती है। यह खासतौर पर इसलिए भी सही है कि भारत में विद्युत पम्पसेट का इस्तेमाल करने वाले किसानों को अत्यधिक **सस्ती** दर पर (उत्पादन लागत से भी कम) विद्युत आपूर्ति की जाती है। अत: हमारे देश में विद्युत चालित लघु सिंचाई कार्यों की वास्तविक संसाधन लागत उतनी कम नहीं है जितनी **मौद्रिक** लागत से प्रकट होती है।

घु सिंचाई की पूँजीगत तथा परिचालन लागतें पानी लिफ्ट करने की ऊँचाई पर निर्भर रती है। जैसे-जैसे पानी लिफ्ट करने की ऊँचाई बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ये लागतें भी बढ़ती ाती हैं। उदाहरण के लिए भूमिगत जल सतह की गहराई में वृद्धि होने के साथ-साथ कुएँ से सिंचाई करने की लागत बढ़ती जाती है। इस के साथ ही परंपरागत जल उद्धाहक जल को क सीमा से ऊँचा लिफ्ट नहीं कर सकते हैं, जैसे कि मानव-चालित जल उद्धाहक पानी को 5 फुट की ऊँचाई तक लिफ्ट कर सकते हैं, पशु-चालित रहट 35 फुट तक तथा मोट (रस्सी था बाल्टी से पानी खींचने की प्रक्रिया) 50 फुट तक। इसके विपरीत आधुनिक पम्पसेट सी भी ऊँचाई तक पानी को लिफ्ट कर सकते हैं।

ह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि किस प्रकार का जल उद्धाहक सभी किसानों के ए सर्वाधिक सस्ता होगा। इसका उत्तर खेत के प्रांचल अथवा लक्षण (जैसे – खेत का ाकार, उसका अपखण्डन, समीपस्थ विद्युत खंभे से उसकी दूरी आदि), विभिन्न ऊर्जा स्रोतों ो तुलनात्मक लागत, भूमिगत जल सतह की गहराई तथा उसमें मौसमी/चक्रीय उच्चावचन ुएँ में भूमिगत जल की उपलब्धि आदि पर निर्भर करता है। इसलिए विभिन्न प्रकार के लघु िंचाई की पानी लिफ्ट करने की लागत के बारे में साधारण कथनों को **सार्वभौमिक सत्य** के प में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इन कथनों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

) विद्युत पम्पसेट की लागत डीज़ल पम्पसेट की लागत से आधी होती है।

) मोट की तुलना में रहट बेहतर होता है।

) परंपरागत जल उद्धाहकों की तुलना में आधुनिक जल उद्धाहक सस्ते होते हैं।

हाँ तक लघु सिंचाई कार्य की पूँजीगत लागत का संबंध है यह कार्य के प्रकार, उसके आकार मैमाने), भारत में उसकी क्षेत्रीय स्थिति आदि पर निर्भर करती है। दक्षिणी, पश्चिमी तथा द्रीय भारत के पथरीली मिट्टी वाले राज्यों में कुओं की पूँजीगत लागत उत्तरी तथा पूर्वी ारत के जलोढ मिट्टी वाले राज्यों की तुलना में अधिक होती है। एक विशेष प्रकार का थला (कम गहरा) ट्यूबवैल, (जिससे संभवत: 10 हैक्टेयर फसल-क्षेत्र की सिंचाई की जा कती है) गंगा-सिंधु के मैदानी इलाकों की जलोढ मिट्टी में करीब 20,000 रुपये की ागत से खोदा जा सकता है, जबकि पत्थर की चिनाई वाले कुएँ की लागत तुलनात्मक रूप इससे अधिक होती है। यही कारण है कि इन मैदानी इलाकों में कुओं से सिंचाई का कार्य जी से कम हो रहा है। गहरा ट्यूबवैल (जिससे 50 से 80 हैक्टेयर फसल क्षेत्र की सिंचाई की ा सकती है) का निर्माण सरकारी विभाग के अंतर्गत 5 से 6 लाख रुपये की लागत में होता है बकि तीस के दशक में इसकी लागत केवल 10,000 रुपये थी।

ठोर पथरीली भूमि में ट्यूबवैल **तकनीकी रूप से** व्यवहार्य विकल्प नहीं है। अत: इन लाकों में केवल कुएँ खोदे जाते हैं, जिनकी लागत 25,000 से 30,000 रुपये तक होती है। मिगत जल सतह की गहराई अधिक होने पर इनकी लागत ज्यादा भी हो सकती है, जैसे कि मिलनाडु के कुछ इलाकों में है। इन इलाकों में भूमिगत जल की उपलब्धि की स्थिति यनीय होने के कारण इस प्रकार के कुओं की सिंचाई क्षमता करीब एक हैक्टेयर ही होती है। सकी तुलना में कमाण्ड क्षेत्र में स्थित कुओं की सिंचाई क्षमता 2 से 4 हैक्टेयर होती है, योंकि यहाँ जल-रिसाव के कारण भूमिगत जल की उपलब्धि अधिक होती है।

ाल ही में अधिक गहराई में उपलब्ध भूमिगत जल के उपयोग के लिए कुओं में बोरिंग रवाये जाने लगे हैं, जिससे कुओं की लागत बढ़कर 50,000 से 60,000 रुपये हो गई है। स प्रकार के कुओं से साधारण कुओं की तुलना में अधिक भूमि की सिंचाई की जा सकती है, न्तु दीर्घकाल में इन कुओं की उपादेयता संदिग्ध है। इस प्रकार के कई कुएँ कुछ साल बाद ी सूख गये, जबकि कई कुओं में पानी की मात्रा बहुत कम हो गई।

रिस्रवण तालाबों (percolation tank) की लागत सामान्यत: 5 लाख रुपये होती है। नका निर्माण खेतों की सिंचाई के लिए नहीं किया जाता है। इनसे होने वाले जल-रिसाव के नुप्रवाह में आने वाले कुओं में जल की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप श्चिमी महाराष्ट्र जैसे कम वर्षा व पथरीले क्षेत्र के **मौसमी** कुएँ **बारहमासी** कुओं में बदल ाते हैं। इन बारहमासी कुओं से उस क्षेत्र में न केवल साल-भर खेती होती है, वरन् ोष्मकाल में भी सिंचाई होने से महँगी फसलों की पैदावार होने लगी है। परंतु इस प्रकार के पयोगी तालाब पथरीले इलाकों में हर जगह नहीं बनाए जा सकते हैं। इनका निर्माण केवल न इलाकों में ही हो सकता है जहाँ अपक्षीण व भेद्य चट्टानें (जिन्हें मुरुम कहते हैं) पायी ाती हैं।

हाँ तक सिंचाई की प्रति इकाई लागत का संबंध है, योजना दस्तावेजों में उपलब्ध लघु

सिचाइ पारव्यय एव सिचाइ सभाव्य क आकड़ा क आधार पर इसका अनुमान लगाना बहुत कठिन कार्य है। इन आँकड़ों से प्राप्त सिंचाई की लागत वास्तविक लागत से काफी कम होगी, क्योंकि इसमें किसानों के स्वयं के साधनों से किए गए सिंचाई विनियोग को शामिल नहीं किया गया है। यह विनियोग लघु सिंचाई कार्यों के कुल विनियोग का 25 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक है। जो भी हो, सातवीं पंचवर्षीय योजना में सृजित 8.44 मिलियन हैक्टेयर लघु सिंचाई संभाव्य की ऊपर वर्णित विधि से परिगणित इकाई पूँजीगत लागत करीब 7,750 रुपये है, जिसका मूल्य वर्तमान कीमतों पर 10,000 रुपये है।

सीधे सिंचाई के काम में आने वाले तालाबों की लागत तालाब के आकार पर निर्भर करती है।

10.6 कृषि में लाभ

लघु सिंचाई इस रूप में प्रशंसनीय है कि इसकी निर्माण अथवा परिपक्व अवधि बहुत कम होती है। इससे राष्ट्र को कृषि उत्पादन एवं आय में वृद्धि के लाभ बहुत कम समय में ही मिलने लगते हैं। एक ट्यूबवैल के खोदने में बहुत कम समय लगता है। यदि आधुनिक रिग (rig) मशीनों का इस्तेमाल किया जाय तो यह दो सप्ताहों का कार्य है। अतः जलोढ क्षेत्र में सूखे के समय खाद्यान्न के उत्पादन के कमी की समस्या को दूर करने के लिए तथा पीने के पानी की पूर्ति के लिए इस अत्यधिक आधुनिक तकनीक को पुरज़ोर योजना के रूप में अपनाया जा सकता है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा कि तालाब तथा ट्यूबवैल जैसे लघु सिंचाई कार्यों के फ़ायदों में काफी अंतर है। वास्तव में भारत में तालाबों से सिंचाई के फायदे कम तथ अत्यधिक अनिश्चित हैं। अकाल के समय तालाब के सूखने के कारण ये लाभ खत्म हो जाते हैं, अगर तालाब को नहर से न जोड़ा गया हो। 1977-79 की अवधि में तमिलनाडु में तालाबों से कृषि उत्पादकता प्रति हैक्टेयर 0.8 टन से बढ़कर 2.1 टन हो गयी तथा आंध्र प्रदेश में 0.8 टन से बढ़कर 1.7 टन।

यह सर्वमान्य विचार है कि जल-स्रोत पर किसान का नियंत्रण होने से निजी कुओं से सिंचाई के लिए पर्याप्त मात्रा में और समय पर पानी मिलता है, जिससे आय व उत्पादन प्रभाव की मात्रा अधिक होती है। पंजाब और हरियाणा के किसानों ने सत्तर के दशक के अंत में ट्यूबवैल की सहायता से सिंचाई करके प्रति हैक्टेयर 5.5 टन खाद्यान्न की पैद्दावार प्राप्त की, जबकि इससे पूर्व वर्षा पर निर्भर खेती में वे प्रति हैक्टेयर 0.6 से 0.7 टन खाद्यान्न ही पैदा कर पाते थे। इसी प्रकार तमिलनाडु तथा आंध्र प्रदेश के गहरे तथा पर्याप्त जल आपूर्ति वाले ट्यूबवैल से प्राप्त उत्पादन का स्तर प्रति हैक्टेयर शुद्ध सिंचित भूमि में 5 से 6 टन तथा सकल सिंचित भूमि में 4 टन है। परन्तु कम वर्षा वाले क्षेत्रों में स्थित अथवा कम गहरे कुओं से प्राप्त आय तथा उत्पादन प्रभाव का स्तर कम होता है, जैसे कि मध्य प्रदेश में कुओं की उत्पादकता बमुश्किल 1.5 टन प्रति हैक्टेयर है। अतः भूमिगत सिंचाई के प्रत्येक स्रोत से उच्च उत्पादन प्रभाव का प्राप्त होना आवश्यक नहीं है। सिंचाई के प्रभाव की मात्रा कुएँ में पानी की उपलब्धि तथा किसानों को फसल-ऋण, विस्तार सेवा, नियमित मण्डी तथा अन्य सुविधाओं व प्रोत्साहनों के मिलनें पर निर्भर करती है।

बोध प्रश्न 2

1) आप किस आधार पर यह सोचते हैं कि 'लघु सिंचाई में क्षमता के अल्प उपयोग की कोई समस्या नहीं है,' का विचार गलत है? (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) इस कथन की पुष्टी कीजिए कि लघु सिंचाई की लागत वृहद् सिंचाई की लागत से बहुत कम नहीं है। (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बताइए निम्नांकित सही है या गलत :

अ) उथला ट्यूबवैल पहाड़ी इलाकों में सिंचाई का उपयुक्त तरीका है।

ब) बंब कूप के अलावा सभी प्रकार के कुओं से सिंचाई में कुछ न कुछ ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

स) छोटी तथा अपखण्डित जोतों से लघु सिंचाई में कोई रुकावट नहीं आती है।

10.7 सारांश

लघु सिंचाई कार्यों को दो श्रेणियों में बाँटा जाता है: सतही जल पर आधारित लघु सिंचाई कार्य तथा भूमिगत जल पर आधारित लघु सिंचाई कार्य। ये कार्य लघु पैमाने के होते हैं तथा इनका **कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र** 2,000 हैक्टेयर से कम होता है। भूमिगत जल पर आधारित सभी परियोजनाओं को लघु सिंचाई के अंतर्गत शामिल किया जाता है। देश में लघु सिंचाई क्षमता में हुई अधिकांश वृद्धि कुओं से सिंचाई के कारण हुई है। सतही जल पर आधारित लघु सिंचाई कार्यों में तालाब का महत्वपूर्ण स्थान है।

यद्यपि अधिकांश सिंचाई कार्य निजी क्षेत्र में है, फिर भी कई कारणों से सिंचाई क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है। यह सामान्य राय है कि लघु सिंचाई सस्ती पड़ती है, परंतु यह बात जनसंख्या बहुल एवं परंपरागत कृषि तकनीक का उपयोग करने वाली निर्वाह अर्थव्यवस्था के लिए सही हो सकती है, आधुनिक कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था के बारे में नहीं।

लघु सिंचाई कार्यों का यह फायदा है कि इनकी निर्माण अवधि परिपक्व अवधि कम होती है। चूँकि लघु सिंचाई के अंतर्गत कई प्रकार की योजनाएँ शामिल हैं और तालाब से लेकर ट्यूबवैल तक से होने वाले फ़ायदे में भारी अंतर है।

10.8 शब्दावली

लघु सिंचाई परियोजना: जिस सिंचाई कार्य का कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र 2,000 हैक्टेयर से कम होता है, उसे लघु सिंचाई परियोजना कहते हैं। इस मापदण्ड के आधार पर वर्गीकृत सतही जल पर आधारित योजनाओं के अलावा भूमिगत जल पर आधारित सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की सभी सिंचाई योजनाओं को भारत में लघु सिंचाई परियोजना कहा जाता है।

गाद निकालना: झील या जलाशय के पैंदे में मिट्टी के महीन कणों के जमा होने को गाद भरना कहते हैं। इस जमाव को बाहर निकलने की प्रक्रिया गाद निकालना कहलाती है।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

धवन बी.डी. 1990, *स्टडीज इन माइनर इरिगेशन विद स्पेशल रेफरेन्स टू ग्राउंडवाटर,* कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, अध्याय 1.

धवन बी.डी. 1988, *इरिगेशन इन इंडियाज एग्रीकल्चरल डिवेलपमेंट,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, अध्याय 5.

धवन बी.डी. 1986, *ईकानामिक्स ऑफ़ ग्राउंडवाटर इरिगेशन इन हाई रॉक रीजन्स,* एग्रिकोल पब्लिशिंग एकेडमी, नई दिल्ली, अध्याय 5.

धवन बी.डी. 1982, *डिवलेपमेंट ऑफ़ ट्यूबवैल इरिगेशन इन इण्डिया,* एग्रिकोल पब्लिशिंग एकेडमी, नई दिल्ली, अध्याय 1, 4 व 8.

10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) देखिए खंड 10.2 व उत्तर दीजिए।
2) देखिए खंड 10.3 व उत्तर दीजिए।
3) अ) गलत ब) सही स) सही

बोध प्रश्न 2

1) देखिए खंड 10.4 व उत्तर दीजिए।
1) देखिए खंड 10.5 व उत्तर दीजिए।
3) अ) गलत ब) सही स) सही

इकाई 11 वृहद् एवं लघु सिंचाई : तुलनात्मक अर्थशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 वृहद् बनाम लघु सिंचाई
11.3 सिंचाई का मूल्य निर्धारण
11.4 सिंचाई के लाभ
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने पर आप निम्नलिखित जानकारी प्राप्त करेंगे:

- भारत में वृहद् तथा लघु सिंचाई कार्यों का तुलनात्मक विवेचन,
- सिंचाई सुविधाओं की कीमत निर्धारण के नीतिगत मुद्दे,
- सिंचाई में विनियोग के सामाजिक लाभ।

11.1 प्रस्तावना

इकाई 9 व 10 में क्रमशः बृहद् एवं लघु सिंचाई परियोजनाओं की महत्वपूर्ण विशेषताओं का अध्ययन करने के बाद अब हम भारत में सिंचाई-अर्थशास्त्र के कुछ मुद्दों की चर्चा करेंगे। हम वृहद् एवं लघु सिंचाई कार्यों के बीच चयन के मुद्दे से प्रारंभ करते हैं। वृहद् सिंचाई योजनाओं के स्थान पर लघु सिंचाई परियोजनाओं को वरीयता देने की बात योजना अधिकारियों एवं अन्य लोगों के मस्तिष्क में लंबे समय से चल रही थी, जिसने बाद में जाकर बड़े बाँधों के विवाद का रूप ले लिया। सारी दुनियाँ के जल-विशेषज्ञों में सिंचाई के सभी स्रोतों के संतुलित विकास के बारे में विचार उभरने के बावजूद भी इस बारे में कपोल कल्पनाओं तथा अर्द्धसत्यों की ओर इंगित करने की अब भी आवश्यकता है।

सिंचाई संसाधनों की कीमत का निर्धारण एक अन्य नीतिगत मुद्दा है। क्या भारत में सार्वजनिक सिंचाई सुविधाओं की कीमतों को कम स्तर पर निर्धारित करना न्याय संगत है? क्या पम्प सेटों को ऊर्जा की पूर्ति पर भारी आर्थिक सहायता देना हमारे बहुमूल्य भूमिगत संसाधनों के संरक्षण की दृष्टि से हानिकारक नहीं है? हम सार्वजनिक नहरों से दिए जाने वाले पानी की मात्रा के आधार पर किसानों से कीमत क्यों नहीं वसूल कर सकते?

अंत में, सिंचाई में किए गए विनियोग से मिलने वाले प्रतिफल या लाभ के विश्लेषण से हम इस खंड को समाप्त करेंगे। सिंचाई के विकास की बढ़ती लागतों तथा सृजित सिंचाई के उपयोग में होने वाली कमी को देखते हुए कुछ लोगों ने भारत में सिंचाई तथा विशेषतः वृहद् सिंचाई की व्यावहार्यता पर प्रश्न किया है।

11.2 वृहद् बनाम लघु सिंचाई

पिछली 9 व 10 इकाइयों के अध्ययन से अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि वृहद् एवं लघु सिंचाई कार्यों के अपने लाभ एवं हानियाँ हैं तथा लघु सिंचाई को कम से कम दो मुख्य उपवर्गों

– भूमगत जल पर आधारित लघु सिचाइ तथा सतही जल पर आधारित लघु सिचाइ काया में विभाजित करना चाहिए। पहले बड़े बांधों तथा भूमिगत जल पर आधारित सिंचाई के बीच चुनाव का मुद्दा ही प्रमुख था। अब विवाद सतही जल संसाधनों पर आधारित बड़े पैमानों के सिंचाई कार्यों एवं लघु पैमाने के बीच सिंचाई कार्यों के चुनाव पर केंद्रित हो गया है।

बड़े बांधों का विरोध अनेक कारणों से किया जाता है: जैसे कि वन एवं ग्रामीण भूमि का जल मग्न होना, आबाद जनसंख्या का विस्थापित होना तथा बाँध से बेदखल जनसंख्या के पुनर्वासन में विलंब, जलाक्रांति (waterlogging) द्वारा उपजाऊ भूमि का ह्रास, नहर सिंचाई से उत्पन्न लवणता की समस्या, भूकम्प के खतरे, जलवाहित रोगों जैसे मलेरिया से उत्पन्न स्वास्थ्य संकट, आदि। बड़े बाँधों से इनके अलावा भी अनेक खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। दुर्भाग्य से सिंचाई इंजीनियर इन आलोचनाओं को अस्वीकार करने की मनोवृत्ति रखते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति इसलिए उत्पन्न हुई है, क्योंकि या तो ये आलोचनाएँ अतिश्योक्तिपूर्ण हैं, अथवा इन्हें बढ़ा-चढ़ा कर प्रकट किया गया है अथवा इनमें बड़े बाँधों के उचित विकल्प का भयंकर अभाव है।

सिंचाई इंजीनियर, अर्थशास्त्री तथा नियोजक हमारी जनसंख्या की बढ़ती हुई खाद्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए **सिंचाई के विकास की अनिवार्यताओं को** उचित ही अनुभव करते हैं। वे इस संदर्भ में शुष्क कृषि तकनीक की सीमाओं को भी जानते हैं। अतः सिंचाई का विकास लघु अथवा वृहद् सिंचाई दोनों कार्यों के द्वारा होना चाहिए। वृहद् सिंचाई के आलोचक विश्वास करते हैं कि आवश्यक सिंचाई क्षमता के सृजन के लिए केवल लघु सिंचाई कार्यों पर निर्भर रहा जा सकता है। लघु सिंचाई कार्यों की यह महिमा वृहद् सिंचाई योजना के अधिकारियों को निरुत्साहित तो करती ही है, साथ ही उनके इस विश्वास को भी मजबूत करती है कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं, देश के हित के लिए कर रहे हैं। अब यह समय है कि इस विवाद के दोनों पक्षों के बारे में **व्यावहारिक** दृष्टिकोण अपनाएँ। जहाँ बड़े बाँधों के आलोचकों को लघु सिंचाई के बारे में अपने एक पक्षीय विचारों को त्यागना होगा, वहीं बड़े बाँधों के निर्माताओं को भी इन आलोचनाओं को स्वीकार करके चुने हुए स्थानों पर थोड़े छोटे बाँध बनाने चाहिए, ताकि जलाशयों से भूमि के जलमग्न होने से उत्पन्न समस्याएँ कम से कम हों। **बाँध की ऊँचाई** कम करके इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है, जिससे जलाशयों से उत्पन्न भूकंपीय खतरे भी कम होंगे। इसी प्रकार नहरी क्षेत्र में संयुक्त सिंचाई को प्रोत्साहन देकर तथा जल निकास एवं जल-रिसाव की समस्याओं पर बेहतर ध्यान देकर वृहद् सिंचाई कार्यों से उत्पन्न होने वाले पर्यावरण संबंधी खतरों को टाला जा सकता है। बाँध के निर्वासितों के पुनर्वास कार्य को यथोचित सावधानी से क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। आलोचकों को भी लघु सिंचाई कार्यों के बारे में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। अब हम आगे इस संबंध में तीन गंभीर शंकाओं को दूर करने का प्रयास करेंगे।

यह सामान्य अवधारणा है कि योजना ने लघु सिंचाई कार्यों की अपेक्षा की है, क्योंकि उसने वृहद् सिंचाई योजनाओं के लिए बहुत अधिक संसाधन आवंटित किये हैं। एक अनुमान के अनुसार वृहद् एवं लघु सिंचाई कार्यों को आवंटित संसाधनों का अनुपात 5:1 है। यह धारणा इस संबंध में हमारे वित्तीय आँकड़ों के गलत ढंग से प्रस्तुत करने से उत्पन्न हुई है। लघु सिंचाई कार्यों का बजट परिव्यय केवल सार्वजनिक क्षेत्र से संबंधित है, जबकि लघु सिंचाई के अनेक कार्यक्रम निजी क्षेत्र में क्रियान्वित हुए हैं। इन पर किसानों द्वारा स्वयं के साधनों से किया गया व्यय सम्मिलित नहीं किया जाता है। निजी विनियोग की इस राशि के सम्मिलित नहीं करने के कारण बजट दस्तावेजों में वृहद् सिंचाई की अपेक्षा लघु सिंचाई योजनाओं की राशि कम दर्शायी गई है। भारतीय सिंचाई योजनाओं में निजी क्षेत्र द्वारा किए गए व्यय को कुल विनियोग में सम्मिलित करके (ये आँकड़े विभिन्न योजनाओं में लघु सिंचाई के संबंध में गठित कार्य समितियों की रिपोर्टों से प्राप्त किये जा सकते हैं) लघु सिंचाई पर किए गए कुल व्यय का स्पष्ट चित्र प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आठवीं योजना में वृहद् सिंचाई के लिए विनियोग के 26,430 करोड़ रुपये के प्रावधानों की तुलना में लघु सिंचाई के लिए 14,145 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया है।

दूसरी सामान्य विचारधारा (जिसका पहले भी वर्णन किया गया है) यह है कि लघु सिंचाई की साधन लागत वृहद् सिंचाई की तुलना में बहुत कम (एक चौथाई से एक दसवाँ भाग) है। स्पष्ट रूप से, यदि बजट या योजना दस्तावेजों में दी गई लघु सिंचाई के विनियोजन परिव्यय राशि को सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की लघु सिंचाई कार्यों की कुल क्षमता से विभाजित किया जाए तो लघु सिंचाई कार्यों द्वारा एक हैक्टेयर सिंचित क्षेत्र क्षमता की इकाई विनियोग लागत

का जो आकलन प्राप्त होगा वह वास्तविक लागत से कम होगा। यदि विनियोग के सही एवं संपूर्ण आंकड़े प्राप्त हो जाएँ तो भूमिगत जल पर आधारित सिंचाई के लिए किए गए विशाल **सहायक विनियोग** की गणना नहीं की जा सकती। इस सहायक विनियोग में विद्युत उत्पादन और इससे दूरदराज के गाँवों में लगे पम्पसेटों को वितरित की जाने वाली विद्युत पर हुई लागत मुख्य है। विद्युत उत्पादन और ग्रामीण क्षेत्रों के पम्पसेटों को इसकी आपूर्ति के लिए बड़ी मात्रा में विनियोग की आवश्यकता होती है और यह संभवतया विद्युत चालित पम्पसेटों पर किए गए प्रत्यक्ष विनियोग से कहीं अधिक है। उदाहरणार्थ, ग्रामीण क्षेत्र में एक पम्पसेट के विद्युतीकरण की वर्तमान लागत 20,000 से 30,000 रुपये के बीच आती है।

तृतीय, लघु सिंचाई कार्यों की क्षमता के उपयोग के बारे में भी भ्रांति है। लघु सिंचाई संभाव्य के पूर्ण उपयोग के बारे में यह भ्रम कदाचित नियोजकों की एक कार्यकारी मान्यता के कारण उत्पन्न हुआ है। अब क्योंकि इस मान्यता को त्याग दिया गया है, योजना दस्तावेजों में लघु सिंचाई कार्यों की क्षमता के कम उपयोग की स्थिति का जिक्र नहीं होता है। परंतु यह सभी स्वीकार नहीं करते कि लघु सिंचाई भी क्षमता के कम उपयोग की समस्या से ग्रसित है, विशेषतः सूखे के वर्षों में ही सिंचाई की सर्वाधिक आवश्यकता होती है।

ये कटु सत्य वृहद् तथा लघु सिंचाई कार्यों के बीच चुनाव का मुद्दा गौण बना देते हैं। प्रथम, वृहद् एवं लघु सिंचाई कार्यों में आर्थिक **अंतः संबंध** पाये जाते हैं। सतही जल पर आधारित सिंचाई कार्य (तालाब एवं नहरों) कुओं से सिंचाई में किए गए विनियोग के प्रतिफल की वृद्धि में सहायक होते हैं, विशेषतः जहाँ भूमिगत जल की उपलब्धि कम होती है। इसी प्रकार, कूप सिंचाई के विकास से नहरी पानी के रिसाव की निकासी में सहायता मिलती है, जिससे जल रिसाव को रोकने के लिए नहरों की लाइनिंग तथा उदग्र जल निकासी की व्यवस्था पर होने वाले भारी खर्चों से बचा जा सकता है।

द्वितीय, हमारे जल संसाधन बहुत अधिक नहीं हैं। इन संसाधनों के पूर्ण विकास के बावजूद भी हमारी कृषि भूमि का बहुत बड़ा भाग असिंचित ही रहेगा। उदाहरणार्थ, हमारा वर्तमान **शुद्ध कृषित क्षेत्र** 180 मिलियन हैक्टेयर है। वर्तमान आकलनों के अनुसार हमारे जल संसाधनों के पूर्ण विकास से **कुल सिंचाई संभाव्य** केवल 113 मिलियन हैक्टेयर तक बढ़ाया जा सकता है। इसमें से 55 मिलियन हैक्टेयर लघु सिंचाई स्रोतों से प्राप्त होगी तथा बाकी वृहद् सिंचाई कार्यों से। हो सकता है कि किसी को इन अनुमानों पर आपत्ति हो, परन्तु इसमें कोई संशय नहीं है कि अंत में हमें अपने सभी जल संसाधनों का विकास करना होगा। इसलिए हमें दोनों श्रेणियों की सिंचाई की तुलनात्मक लागतों एवं लाभों के बारे में अधिक विवाद नहीं करना चाहिए।

) वृहद् सिंचाई परियोजनाओं से संबंधित समस्याएँ कौन-कौन सी हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

) वृहद् सिंचाई परियोजनाओं से संबंधित समस्याओं को कैसे कम किया जा सकता है? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

) इस कथन की पुष्टि कीजिये कि यह सही नहीं है कि योजना आयोग ने लघु सिंचाई के विकास की उपेक्षा की है। (लगभग 50 शब्दों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) क्या आप ऐसा मानते हैं कि लघु एवं वृहद् सिंचाई एक दूसरे की पूरक हैं, प्रतिस्पर्धी नहीं? (लगभग 50 शब्दों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.3 सिंचाई का मूल्य निर्धारण

भारत में अर्थशास्त्री तथा सिंचाई प्रशासक सार्वजनिक सिंचाई के मूल्य निर्धारण के बारे में लंबे समय से चिन्तित रहे हैं। इसी प्रकार अर्थशास्त्री तथा भूमिगत जल विशेषज्ञ कृषि में पम्पसेटों के विद्युत प्रशुल्क के बारे में हाल में चिन्तित होने लगे हैं। इन दोनों परिस्थितियों में मुख्य चिंता दो मुद्दों के बारे में है: सिंचाई दरों का स्तर तथा उनके निर्धारण का **आधार**। दूसरे शब्दों में, कृषकों द्वारा सिंचाई के लिए उपयोग किये जाने वाले नहरी जल की मात्रा को ध्यान में न रखते हुए सिंचाई की दर के कम स्तर पर निर्धारण करने पर चिन्ता व्यक्त की जाती है। इसी प्रकार विद्युत पम्पसेट धारक कृषकों द्वारा उपयोग की गई विद्युत की इकाइयों को ध्यान में न रखते हुए विद्युत की दर को कम स्तर पर निर्धारण करने के बारे में भी चिन्ता व्यक्त की जा रही है।

हम विद्युत की दर को पहले लेते हैं। एक भारतीय पम्पसेट धारक किसान विद्युप उपभोग के लिए प्रतिकिलो वाट 15 पैसे अदा करता है। यह दर पम्पसेट को विद्युत आपूर्ति की साधन लागत का छआ या सातवाँ भाग है। एक भारतीय कृषि विशेषज्ञ के अनुसार भारत में कृषि पम्पसेटों को 1989-90 में दी जाने वाली अनुदान की मात्रा 3,500 करोड़ रुपये यानि प्रति पम्पसेट 5,000 रुपये थी।

चूँकि विद्युत पम्पसेटों की मात्रा तेजी से बढ़ रही है, अतः अस्सी के दशक के दौरान अनुदान की मात्रा लगभग दस गुणा बढ़ गई। अनुदान की इस बढ़ती हुई मात्रा से जहाँ एक तरफ राज्य विद्युत मंडलों की वित्तीय स्थिति तथा राज्य सरकारों के बजट संसाधनों पर दबाव पड़ रहा है, वहीं दूसरी तरफ बूमिगत जल सिंचाई की कम कीमतों के कारण फसलों का ढाँचा अधिक पानी का उपयोग करने वाली फसलों के पक्ष में परिवर्तित हो गया है। स्पष्ट रूप से इससे कम वर्षा वाले प्रदेशों के सीमित भूमिगत जल संसाधनों पर दबाव बढ़ रहा है, जिससे भूमिगत जल के अतिशोषण का डर उत्पन्न हो गया है। इससे जल सतह में स्थाई रूप से कमी हो रही है और कुओं से सिंचाई की पूँजीगत तथा परिचालन लागतों में वृद्धि हो रही है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि भूमिगत जल भण्डारों के खत्म होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई है। इस प्रकार सस्ती ऊर्जा की वर्तमान नीति दीर्घ काल में भूमिगत जल पर आधारित कृषि को प्रोत्साहित करने के स्थान पर खतरे में डाल रही है।

ऊर्जा परिशुल्क के कम स्तर के अलावा इसकी संरचना में भी हानिकारक परिवर्तन हुए हैं। अब परिशुल्क का आधार विद्युत इकाइयों (किलो वाट ऑवरस) के स्थान पर बदलकर पम्पसेट की क्षमता या हार्सपावर (एच पी) कर दिया गया है (1 KW = 1.34 HP)। इससे परिवर्तनशील लागतें स्थिर लागतों में बदल गई हैं। इससे रूप सिंचाई के विनियोग की अविभाज्यता बढ़ गई है। अब पम्पसेट धारक प्रति वर्ष एक निश्चित शुल्क अदा करता है, चाहे वर्ष में विद्युत के उपभोग की उसकी वास्तविक मात्रा कुछ भी क्यों न हो। इस प्रकार, व्यवहार में विद्युत उपभोग की सीमान्त लागत शून्य हो गई है, जो कि दुर्लभ संसाधनों की कीमत निर्धारण का सर्वाधिक आपत्तिजनक पहलू है। इससे अधिक जल का उपयोग करने वाली फसलों के उत्पादन की प्रकृति पैदा हो गई है कि पंजाब और हरियाणा में धान का उत्पादन। इस प्रवृति से भूमिगत जल संसाधनों का अति उपयोग व

कभी-कभी दुरुपयोग भी होने लगा है। यह सही है कि नवीन शुल्क नीति से भूमिगत जल की कीमत कम हुई है, जिससे लघु तथा सीमांत किसानों को फायदा होगा। तथापि, इससे भूमिगत जल संसाधनों पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए, सौराष्ट्र तथा मालाबार के कुछ तटीय क्षेत्रों में विद्युत पम्पसेटों के व्यापक उपयोग से भूमिगत जल सतह इतना गिर गया है कि समीपस्थ समुद्र का सारा पानी मीठे भूमिगत जल में पहुँचने लगा है, जिससे भूमिगत जल सिंचाई के अनुपयुक्त हो गया है।

नहरी सिंचाई भी अत्यधिक अनुदानित (subsidised) है। किसानों द्वारा नहरी सिंचाई के लिए अदा की जाने वाली कीमत उसकी लागत का मुश्किल से दसवाँ हिस्सा है। नहरी सिंचाई से मिलने वाली वास्तविक राजस्व प्राप्तियाँ नहरों के **कार्यकारी व्यय** (परिचालन तथा रख-रखाव खर्च) के साठ प्रतिशत भाग को भी पूरा नहीं करती है। आन्तरिक संसाधनों की ऐसी कमी से नहर प्रशासन की नहर को समय पर मरम्मत और रख-रखाव की क्षमता पर विपरीत असर पड़ता है तथा उनके पास संस्थापन व्यय (वेतन, मजदूरी आदि) के लिए भी पर्याप्त कोष उपलब्ध नहीं होता है।

सन् 1989-90 में भारत के प्रमुख सिंचाई कार्यों की प्राप्तियों एवं कार्यकारी व्यय का राजस्व अन्तराल करीब 300 करोड़ रुपये था। यह अन्तराल समय के साथ-साथ बढ़ रहा है। इसकी राज्यवार स्थिति भी करीब-करीब ऐसी ही है।

अगर ब्याज तथा घिसावट व्यय को भी शामिल कर लिया जाए, तो हम भारत में नहरी सिंचाई के आर्थिक अनुदान का सही आंकलन कर सकते हैं। दस प्रतिशत ब्याज दर मान कर पूँजीगत व्यय की वास्तविक घिसावट को शामिल किया जाए तो 1989-90 में आर्थिक अनुदान की राशि करीब 2,600 करोड़ रुपये थी। यदि पूँजी पर निर्माण की अवधि के लिए भी ब्याज शामिल किया जाए तो यह राशि और बढ़ जायेगी। इस ब्याज को पूर्ण या आंशिक रूप से लाभ-भोगी किसानों से वसूल किया जा सकेगा या नहीं, यह विवाद का विषय है।

नहरी सिंचाई की दर बोई जाने वाली फसलों पर निर्भर करती है। गन्ना तथा धान जैसी अधिक सिंचाई वाली फसलों के लिए यह दर अधिक है तथा कम सिंचाई वाली फसलों के लिए कम। सिंचाई की दर में फसल के अनुसार इस अंतर के बारे में भारतीय अर्थशास्त्रियों ने कोई टिप्पणी नहीं दी है। इस संबंध में उनकी आपत्ति क्षेत्र पर आधारित सिंचाई की दरों के बारे में हैं। जब सिंचाई की दर को केवल सिंचित क्षेत्र से ही जोड़ दिया जायेगा, तो किसान को पानी के उपयोग में मित्तव्ययता के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि इस स्थिति में नहरी सिंचाई का उसका बिल निश्चित होगा, चाहे वह जल की कितनी भी मात्रा का उपयोग क्यों न करें। दुर्भाग्य से नहरी जल की मात्रा पर आधारित सिंचाई की कीमत निर्धारण का विकल्प भारतीय परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि यहां भू-जोतें बहुत छोटी हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों की प्रवर्तन मशीनरी बहुत अक्षम है। प्रवर्तन मशीनरी की हालत का अन्दाज़ इस कटु सत्य से लगाया जा सकता है कि विद्युत प्रशासकों ने विद्युत पम्पसेटों पर वसूल की जाने वाली प्रशुल्क की नई समान (flat) दरों को समर्थन इस आधार पर किया है कि किसान विद्युत मीटरों के साथ बहुत ज्यादा छेड़खानी करते हैं (अक्सर विद्युत विभाग के छोटे अधिकारियों की सहमति से)। यद्यपि इस अव्यावहार्यता को सिंचाई विभाग के इंजीनियर तुरंत समझ जाते हैं, जबकि यह आश्चर्यजनक है कि भारतीय परिस्थितियों की इस कटु वास्तविकता को अर्थशास्त्री सहज रूप से स्वीकार नहीं करते हैं।

यद्यपि सिंचाई तथा ऊर्जा की दरों को बढ़ाने के लिए प्रबल आधार है, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही इस संबंध में राजनैतिक इच्छाशक्ति का अभाव रहा है। राज्यों के नेताओं में दूरदृष्टि का अभाव है तथा वे इस बात को समझ नहीं रहे हैं कि सिंचाई की कम दरों से

किसानों को दीर्घकाल में अन्य बातों के अलावा ये हानियाँ हो सकती हैं: अ) सिंचाई कार्यों के अपर्याप्त मरम्मत तथा रख-रखाव से अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएँ मिलना, ब) भूमिगत जल संसाधन का समाप्त होना अथवा उन्हें क्षति पहुँचाना। हाल ही के किसान-आंदोलनों ने कृषि आगतों की कीमतों को बढ़ाकर उनकी लागतों के अनुरूप करने की राजनैतिक इच्छा शक्ति को और दुर्बल कर दिया है। इससे भारत में भूमिगत एवं सतही जल पर आधारित सिंचाई संसाधनों के कुशल उपयोग की संभावनाएँ और कम हो गई हैं।

बोध प्रश्न 2

1) वे दो आधारभूत मुद्दे कौन से हैं, जिन पर सिंचाई का मूल्य निर्धारण निर्भर करता है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) विद्युत ऊर्जा के उपभोग का कम कीमत निर्धारण करने से भूमिगत जल संसाधन किस प्रकार प्रभावित होते हैं? (दो वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

3) क्षेत्र पर आधारित नहरी सिंचाई कीमत निर्धारण की अपेक्षा मात्रा पर आधारित कीमत निर्धारण करने से क्या लाभ हैं? (दो वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

11.4 सिंचाई से लाभ

सिंचाई में किए गए विनियोग से समाज को मिलने वाले लाभों को **सिंचाई पर प्रतिफल** अथवा **सिंचाई में विनियोग से प्रतिफल** कहते हैं। इनको **प्रत्यक्ष** एवं **अप्रत्यक्ष लाभों** में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्यक्ष लाभ वे लाभ हैं, जो किसानों को सिंचाई के उपयोग करने से कृषि आय में वृद्धि के रूप में प्राप्त होते हैं। इन्हें सिंचाई-साहित्य में **कृषि आय** के लाभों के रूप में जाना जाता है। अप्रत्यक्ष लाभ संपूर्ण समाज, राज्य अथवा राष्ट्र को प्राप्त होते हैं। इन्हें **सहायक लाभ** भी कहते हैं। ये लाभ अनेक प्रकार के होते हैं तथा इनकी गणना करना मुश्किल काम है। फिर भी इनके कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं, जैसे खेतीहर परिवारों को तथा कृषि मजदूरों को अधिक रोजगार के अवसर, अतिरिक्त कृषि उत्पादन के विपणन एवं परिशोधन से अधिक आर्थिक क्रिया तथा समय-समय पर पड़ने वाले अकालों से सुरक्षा।

यह सामान्य अवधारणा है कि आजादी के बाद से सार्वजनिक सिंचाई में किए गए भारी विनियोग की तुलना में उनसे मिलने वाले प्रत्यक्ष लाभ अपर्याप्त रहे हैं। यह निजी सिंचाई के पक्ष में प्रचलित अनुकूल मत के सर्वथा विपरीत है। यह कहाँ तक सही है, इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। इसका कारण मुख्यरूप से इस क्षेत्र में शोध की कमी है। शोध का यह क्षेत्र बेशक बहुत कठिन है।

जो भी हो, यह राय साधारण तथा अन्य बातों के अलावा इन दो प्रकार की सूचनाओं से भी हुई है: i) वृहद् सिंचाई से संबंधित वे आँकड़े जो घटिया वित्तीय परिणाम, प्रत्याशा से कम फसल की पैदावार, योजना के पूरा होने में आवश्यकता से अधिक समय एवं लागत लगना जैसे प्रतिकूल सूचनाएँ प्रदान करते हैं, तथा ii) सिंचाई कार्यों तथा उनके हिताधिकारियों के बहुत छोटे प्रतिदर्श पर आधारित प्रतिफल की दर के बारे में बहुत कम साहित्य का उपलब्ध होना तथा उनमें से अधिकांश का पहुँच से परे होना।

इन सूचनाओं में दूसरी सूचना अधिक उपयोगी है, परन्तु इतनी पर्याप्त नहीं है कि महाद्वीपीय आकार के देश के बारे में व्यापक अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त हो। इस साहित्य के विशेषज्ञ इस सर्वेक्षण की रूपरेखा, आँकड़ों के संकलन, विश्लेषण तथा व्याख्या में अक्सर भयंकर कमियाँ पाते हैं। इस प्रकार की कमियों से लघु सिंचाई कार्यों की अनुमानित प्रतिफल दर अतिरंजित प्रतीत होती है।

समीक्षक जब सिंचाई के कम प्रत्यक्ष प्रतिफलों के बारे में शिकायत करते हैं, तो सिंचाई इंजीनियर अक्सर वृहद् सिंचाई कार्यों के निर्माण से मिलने वाले व्यापक स्तर के सहायक लाभों को गिनाने लगते हैं। चूँकि कुछ प्रतिफलों को मुद्रा में मापना कठिन होता है, अत: सिंचाई में होने वाले सार्वजनिक विनियोग के कुल लाभों की पर्याप्तता के बारे में प्रश्न चिन्ह लग जाता है। जब आलोचक वृहद् सिंचाई के **ऋणात्मक लाभों** जैसे जलाक्रांति, लवणीकरण, जल-जन्य बीमारियाँ, उपजाऊ भूमि एवं वन क्षेत्र के जलमग्न होने, बाँध के निर्माण से जनसंख्या के बेदखल होने, ग्रामीण क्षेत्र में आय एवं संपत्ति के असमान वितरण आदि के बारे में बताते हैं, तो इन विनियोगों की व्यवहार्यता पर शंका उत्पन्न होने लगती है। ये योजना आकलन रिपोर्ट में जलप्लावित भूमि (submerged land) तथा वन क्षेत्र की दरों पर लागतों की गणना-प्रक्रिया के बारे में भी प्रश्न उठाते हैं, जिससे कि किसी सिंचाई परियोजना के प्रत्याशित लाभ-लागत अनुपात को जान-बूझकर बढ़ा दिया जाता है।

भारत में सिंचाई के न्यायपूर्ण उपयोग से संबंधित विभिन्न पहलुओं के विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता है, क्योंकि यह सीमित सिंचाई संसाधनों से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने की दृष्टि से प्रासंगिक है। आर्थिक विकास की समानता के दो आयाम हैं – प्रथम, स्थानिक तथा द्वितीय, अंत: व्यक्तिगत। नहरी कमाण्ड में सिंचाई के लाभों के न्यायपूर्ण वितरण का प्रश्न सिंचाई नियोजकों का पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया है, जिन्होंने नहरों के अंतिम छोर के किसानों की लागत पर प्रारंभिक छोर के किसानों के अधिक पानी लेने पर चिन्ता व्यक्त की है। यह निश्चित ही नहरी पानी के पूर्व नियोजित कार्यक्रम के ठीक से न लागू करने को दर्शाता है। कारण कुछ भी हो, इससे नहरी कमाण्ड के ऊपरी खण्ड में अधिक उत्पादकता तथा निचले खण्डों में कम उत्पादकता प्राप्त होती है।

भूमि की उत्पादकता में यह अन्तर इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि ऊपरी खण्डों के किसान गन्ना व धान जैसी अधिक सिंचाई वाली व अत्यधिक लाभदायक फसलों का उत्पादन बड़े पैमाने पर करने लगे हैं, जिससे निचली खण्डों के किसानों को सिंचाई के लिए कम पानी उपलब्ध होता है। इससे एक हानिकारक परिणाम यह भी होता है कि नहरी कमाण्ड के ऊपरी खण्ड में बहुत जल्दी जलाक्रांति एवं लवणता की समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं। इन खण्डों के किसानों को अपनी स्थिति के कारण अधिक पानी मिलने से स्वयं के कुओं में बहुत कम विनियोग करना होता है। इसके विपरीत निचले खण्डों के किसानों को नहरों से पर्याप्त एवं समय पर जलापूर्ति न होने से स्वयं के कुओं में भारी विनियोग करना पड़ता है।

दूसरा हानिकारक परिणाम यह होता है कि निचले खण्डों के किसानों को कम पानी मिलने से उनकी **आय/उत्पत्ति में होने वाली कमी** की तुलना में ऊपरी खण्डों के किसानों को अधिक पानी मिलने से **आय/उत्पत्ति** के कम अतिरिक्त लाभ प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, जल के न्यायोचित वितरण की तुलना में ऐसी प्रयोजनाओं के कुल उत्पादन/आय प्रभाव कम होते हैं। इस प्रकार नहरी जल उपयोग की **प्रति इकाई** उत्पादकता में कमी होती है, जो दुर्लभ जल संसाधनों से प्रति इकाई अधिकतम कृषि उत्पादन की प्राप्ति के घोषित लक्ष्य के विपरीत है।

विभिन्न वर्गों केबीच व्याप्त श्रेणी असमानता की समस्या कूप सिंचाई विशेषत: निजी नलकूप सिंचाई की स्थिति में सबसे गंभीर है। इसका कारण कुओं में **विनियोग की अविभाज्यता** का होना है। विनियोग की इस अविभाज्यता के दो आर्थिक आशय हैं। पहला यह है कि जिन किसानों के पास भू-जोत बहुत छोटी होती है, उनके लिए स्वयं का कुआँ बनाना अनार्थिक है, क्योंकि इनके लिए कुओं की लागत सिंचाई के लाभों से अधिक होती है। चूँकि लघु तथा

सीमान्त किसान इस श्रेणी में आता है, अतः उन्हें स्वयं के कूपों से वंचित होना पड़ता है। इससे भूमिगत जल पर आधारित सिंचाई से लाभान्वित होने की उनकी एकमात्र आशा है सार्वजनिक एवं सामुदायिक नलकूप अथवा अन्य कूप धारकों से अतिरिक्त जल खरीदना। यह सर्वविदित तथ्य है कि सार्वजनिक नल कूपों की सिंचाई सेवा सरकारी विभागों के कुप्रबन्ध के कारण बहुत खराब है। भूमिगत जल के क्रय करने का विकल्प भूमिगत जल बाजार के अस्तित्व तथा वहाँ पर उचित शर्तों पर लेन-देन होने पर निर्भर करता है। इस प्रकार के बाजार भारत में धीरे-धीरे पनप रहे हैं। यद्यपि, कभी-कभी यह भय भी व्यक्त किया जाता है कि इससे ऐसे जल-पति (waterlords) उत्पन्न हो जाएगें जो लघु तथा सीमान्त किसानों की भूमि एवं श्रम की उत्पत्ति को हड़पने के लिए जल जैसे महत्वपूर्ण उत्पादन के साधन पर अपने अधिकार का दुरुपयोग करेंगे।

इस अविभाज्यता का अन्य प्रभाव यह है कि बड़ी भू-जोतों के मालिक कुओं से सिंचाई में विनियोग करके अधिक लाभ अर्जित कर रहे हैं। उदाहरण के लिए नलकूपों से विनियोग उन किसानों के लिए व्यवहार्य होगा जो दो हैक्टेयर भू-क्षेत्र के मालिक हैं। परन्तु इस प्रकार का नलकूप दोहरी फसल वाली छः हैक्टेयर भूमि को सिंचित करने में भी तकनीकी रूप से सक्षम होता है। अतः प्रतिफल की दर में अन्य बातें समान रहने पर, खेतों के आकार के दो से छः हैक्टेयर तक बढ़ने पर, वृद्धि होगी। यह उदाहरण यह भी दर्शाता है कि यदि तीन हैक्टेयर भू-जोत का मालिक नलकूप लगवाता है तो उसके पास काफी **अतिरिक्त नलकूप क्षमता** बचेगी, जिससे वह भूमिगत जल बाजार में प्रवेश कर सकेगा।

निष्कर्श रूप में यह कहा जा सकता है कि यह एक खुला प्रश्न है कि सिंचाई के विकास के लाभ इसके लिए किए गए भारी विनियोग (जिसमें सत्तर के दशक के प्रारंभ से ही कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम में किए गए विनियोग भी शामिल हैं) के अनुरूप हैं या नहीं। यह निश्चित रूप से स्पष्ट है कि वृहद् सिंचाई एक मिश्रित वरदान है, जिसके लाभ भी हैं और हानियाँ भी। यह समाज और उसके नेताओं (सिंचाई नियोज्ञाकों और प्रशासकों सहित) की कुशलता पर निर्भर है कि वे सिंचाई के हानिकारक प्रभावों को कम करें और लाभदायक प्रभावों को बढ़ाएँ। क्या भारत में हमने ऐसा किया है तथा क्या हम भूतकाल में की गई अपनी गलतियों से ईमानदारी से शिक्षा ले रहे हैं?

बोध प्रश्न 3

1) वृहद् सिंचाई के सहायक लाभ क्या हैं? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

2) लघु सिंचाई के न्यायपूर्ण वितरण से क्या आशय है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्या आप भूमिगत जल बाजार को प्रारंभ करने का सुझाव देंगे? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-04
अर्थशास्त्र में चतुर्थ एच्छिक पाठ्यक्रम : भारत में कृषि विकास

ौद्योगिकी परिवर्तन, हरित क्रांति तथा लाभों का वितरण

खण्ड 12

हरित क्रांति : स्वरूप एवं विस्तार 5

खण्ड 13

प्रौद्योगिकी और उसके लाभों का वितरण 24

खंड 5 तकनीकी परिवर्तन, हरित क्रांति तथा लाभों का वितरण

इस खंड का संबंध भारतीय कृषि में तकनीकी परिवर्तन (जिसे हरित क्रांति के नाम से जाना जाता है) के स्वरूप व विस्तार से है। इसके साथ ही इस पहलू पर भी विचार किया जाएगा कि हरित क्रांति के लाभ का कृषि से संबंधित विभिन्न वर्गों एवं देश के विभिन्न क्षेत्रों पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस खंड में दो इकाइयाँ हैं — इकाई 12 और इकाई 13।

इकाई 12 में हरित क्रांति के स्वरूप व विस्तार तथा उसकी विभिन्न फसलों एवम् क्षेत्रों में सफलता/असफलता की स्थितियों का वर्णन किया गया है।

इकाई 13 में कृषि के विभिन्न वर्गों एवम् देश के विभिन्न क्षेत्रों में हरित क्रांति के लाभों के वितरण का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही आय, रोज़गार तथा मज़दूरी पर हरित क्रांति के प्रभाव का विवेचन भी किया गया है।

इकाई 12 हरित क्रांति : स्वरूप एवं विस्तार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 पृष्ठभूमि
  12.2.1 खाद्यान्नों का आयात
  12.2.2 खाद्यान्नों का उत्पादन, जनसंख्या वृद्धि तथा पोषण आवश्यकताएँ
  12.2.3 भारतीय कृषि की समस्याएँ
  12.2.4 गहन कृषि जिला कार्यक्रम
  12.2.5 साठ के दशक का मध्य
12.3 हरित क्रांति
  12.3.1 पैकेज कार्यक्रम
  12.3.2 नई कृषि प्रक्रियाएँ
12.4 नई आगतें : परिवर्तन का स्वरूप तथा विस्तार
  12.4.1 अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीज़
  12.4.2 उर्वरक
  12.4.3 सिंचाई
  12.4.4 यंत्रीकरण
12.5 उत्पादन, बिक्रीत आधिक्य तथा प्रतिफल
  12.5.1 उत्पादन
  12.5.2 बिक्रीत आधिक्य
  12.5.3 प्रतिफल
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर संकेत

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे :

- नई तकनीक के लागू होने से पूर्व कृषि क्षेत्र की समस्याएँ,
- साठ के दशक के मध्य में भारत के कुछ भागों में प्रारंभ किए गए तकनीकी परिवर्तन, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण और अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज हैं, तथा
- उत्पादन, बिक्रीत आधिक्य तथा प्रतिफल पर नई तकनीक का प्रभाव।

12.1 प्रस्तावना

कृषि, भारतीय अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण भाग है। कृषि से देश की 70 प्रतिशत श्रमशक्ति को रोज़गार मिला हुआ है तथा देश की राष्ट्रीय आय का करीब 40 प्रतिशत भाग इस क्षेत्र से प्राप्त होता है। अतः इस क्षेत्र में होने वाले किसी भी परिवर्तन से बड़ी संख्या में लोगों की जिंदगी तथा संपूर्ण अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है।

पचास के दशक में भूमि सुधार संबंधी कानूनों के लागू करने के पश्चात् भारतीय कृषि में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन देश के कुछ भागों में हुआ, जो तकनीकी परिवर्तन है, जिसका आरंभ साठ के दशक के मध्य में हुआ। इस नई तकनीक की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता — अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीज हैं। इन नई बीजों तथा सिंचाई, रासायनिक खाद व कृषि कार्यों के यंत्रीकरण के सम्मिश्रण से भारत के कई भागों में कुछ फसलों की उत्पादकता में भारी वृद्धि हुई है। इस पाठ के तीसरे खंड में हम इनमें से कुछ परिवर्तनों का देश के विभिन्न क्षेत्रों व राज्यों में खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि तथा अस्थिरता के संदर्भ में मूल्यांकन कर चुके हैं। इन परिवर्तनों ने विभिन्न फसलों, क्षेत्रों तथा किसानों के विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित किया है। नई कृषि तकनीक से संबंधित कुछ अन्य प्रश्न इस खंड की वर्तमान तथा अगली इकाइयों की विषय-वस्तु है।

12.2 पृष्ठभूमि

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही भारत में कृषि विकास की समस्या उभर कर सामने आई। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय कृषि पिछड़ी हुई तथा गतिहीन थी। उस समय कृषि को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता था, उनमें प्रमुख थी — भूमि तथा श्रम की निम्न उत्पादकता, श्रम तथा अन्य साधनों का अल्प उपयोग, भूमि का असमान वितरण तथा गरीबों की बड़ी संख्या, भूमि के लिए लालायित व जीविकोपार्जन में असमर्थ कृषकों की उपस्थिति। इस स्थिति का सामना करने के लिए सरकार ने कई कदम उठाए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कदम था — भूमि सुधारों के बारे में विभिन्न कानून बनाकर कृषि-संबंधों की पुनर्रचना का प्रयास। परंतु साठ के दशक में संस्थागत परिवर्तनों के स्थान पर तकनीकी परिवर्तनों पर अधिक बल दिया जाने लगा। साठ के दशक के मध्य में नई कृषि तकनीक अपनाई गई, जिसके कारण कृषि क्षेत्र के साथ-साथ संपूर्ण भारतीय अर्थव्यवस्था पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा।

12.2.1 खाद्यान्नों का आयात

1937 में चावल बहुल बर्मा का भारत से अलग हो जाने के बाद भारत खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर रहा है। खाद्यान्न के आयात की मात्रा तथा प्रतिशत में अच्छी या खराब फसल के अनुसार वर्ष-दर-वर्ष भारी परिवर्तन होते रहे हैं (तालिका 12.1)।

तालिका 12.1

खाद्यान्न का उत्पादन तथा आयात (1946—1983)

(मिलियन टन)

वर्ष	उत्पादन	आयात	उत्पादन के प्रतिशत के रूप में आयात
1946	—	2.25	—
1950	—	2.13	—
1955	70.74	0.51	0.72
1960	77.12	5.12	6.64
1965	89.37	7.46	8.35
1866	72.35	10.36	14.32
1967	74.23	8.67	11.68
1972	105.17	0.45	0.43
1974	104.66	4.87	4.65
1978	126.41	(-) 0.60	(-) 0.47
1979	131.90	(-) 0.20	(-) 0.15
1980	109.70	(-) 0.34	(-) 0.31
1983	129.52	4.07	3.14

स्रोत : 1) भारत सरकार, *प्रथम पंचवर्षीय योजना*, योजना आयोग, नई दिल्ली, 1953, पृ. 175

2) बिप्लब दास गुप्ता, *द न्यू एग्रेरियन टेक्नोलॉजी एण्ड इण्डिया*, संयुक्त राष्ट्र, जिनेवा, 1977, पृ. 3

3) भारत सरकार, *इकोनमिक सर्वे 1984-85*, वित्त मंत्रालय, पृ. 103, 107-08

पचास के दशक में जब खाद्यान्न की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी थी, तब खाद्यान्न के आयात की मात्रा आंतरिक उत्पादन का करीब 5 प्रतिशत थी। परंतु साठ के दशक में स्थिति खराब हो गई तथा 1966 में यह स्थिति और अधिक गंभीर हो गई, ऐसी स्थिति में संकट से उबरने के लिए 10.36 मिलियन टन खाद्यान्न (देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन का 14.32 प्रतिशत) का आयात करना पड़ा।

प्रारंभिक अवधि में भी खाद्यान्न के आयात का बोझ काफी अधिक था। 1946-52 की अवधि में औसतन प्रति वर्ष 3 मिलियन टन के करीब खाद्यान्न का आयात किया गया। 1951 में खाद्यान्न के आयात की मात्रा बढ़कर 4.80 मिलियन टन हो गई, जो देश के घरेलू उत्पादन का करीब 9 प्रतिशत थी तथा इस पर देश की निर्यात प्राप्तियों का 20 प्रतिशत से भी अधिक भाग खर्च हुआ। 1948-52 की अवधि में खाद्यान्न के आयात की कुल लागत 750 करोड़ रुपये से भी अधिक हो गई। इस रकम का महत्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) के पाँच वर्षों के लिए 1493 करोड़ रुपये के कुल योजना परिव्यय का लक्ष्य रखा गया था। यह स्थिति उस समय थी, जब स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में उद्योगों तथा अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के विकास की योजना बनाई जा रही थी। निर्यात के लिए पर्याप्त मात्रा में गैर-कृषि पदार्थों (जैसे औद्योगिक वस्तुओं) के आधिक्य की अनुपस्थिति में खाद्यान्न के आयात पर भारी निर्भरता के कारण औद्योगिक विकास के लिए मशीनों तथा अन्य आवश्यक सामग्री के आयात

क्षमता सीमित हो गयी। खाद्यान्न की बढ़ती हुई माँग के दो निर्धारक घटक थे — बढ़ती हुई जनसंख्या तथा नियोजित नियोग की बढ़ती हुई दर, जिससे अतिरिक्त क्रय शक्ति का सृजन हो रहा था तथा उसका अधिकांश भाग माँग की द्धि में सहायक हो रहा था।

ः यह महसूस किया गया कि किसी भी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में खाद्यान्न के उत्पादन का विनियोग कार्यक्रम सीधा प्रभाव पड़ता है। योजना आयोग का कहना था कि किसी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का विकास मूख्यतः ी निर्माण की दर पर निर्भर करता है तथा रोज़गार प्राप्त नए लोगों को अधिक खाद्यान्न उपलब्ध करवा करके पूँजी र्माण की दर को बढ़ाया जा सकता है। यह भी कहा गया कि खाद्य नीति का लक्ष्य आंतरिक उत्पादन को बढ़ाना ा विपण्य आधिक्य में वृद्धि को निश्चित करना चाहिए। इसके साथ ही, भारत जैसे देश में, जहाँ करीब 70 प्रतिशत संख्या कृषि पर निर्भर है, वहाँ अधिसंख्यक जनसंख्या की आय का स्तर औद्योगिक वस्तुओं की माँग के निर्धारण महत्वपूर्ण घटक है। परंतु दीर्घकालीन औपनिवेशिक शोषण, भूमि की ऊँची लगान, ऋणग्रस्तता व व्यापारियों द्वारा षण के कारण भारत के किसानों का बहुत बड़ा भाग कंगाल हो गया था। किसानों की इस दरिद्रता के कारण औद्योगिक कास की संभावनाएँ सीमित हो गई। इसी संदर्भ में भूमि सुधार के विभिन्न कानून बनाकर कृषि संबंधों की पुनर्रचना प्रयास किए गए।

2.2.2 खाद्यान्नों का उत्पादन, जनसंख्या वृद्धि तथा पोषण आवश्यकताएँ

949-50 से 1959-60 तक तथा 1960-61 से 1970-71 तक की अवधियों में खाद्यान्न के उत्पादन की विकास दरें मशः 3.3 तथा 2.5 प्रतिशत रहीं, जो बहुत कम नहीं है। इस पाठ्य के तीसरे खंड में हमने देखा था कि स्वतंत्रता प्ति के बाद के प्रथम डेढ़ दशक में हमारे देश के खाद्यान्न उत्पादन की विकास दरें पिछली अर्ध-शताब्दी की विकास रों से काफी अधिक थी, तथा ये दरें जापान जैसे विकसित देशों के कृषि उत्पादन की दीर्घकालीन विकास दरों में ाफी समकक्ष थी फिर भी, इस तथ्य को देखने से कि जनसंख्या की वृद्धि दर 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक रही, ह स्पष्ट होता है कि खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर बमुश्किल जनसंख्या की वृद्धि दर के बराबर रही। खाद्यान्न की ावश्यकता की तुलना में इसके उत्पादन की अपर्याप्तता विभिन्न राज्यों के अनुभवों से भी प्रकट होती है। 1950 के ाक म 14 प्रमुख राज्यों में से केवल 8 राज्यों में खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि जनसंख्या वृद्धि से अधिक रही। 1960-61 1967-68 की अवधि में 12 राज्यों में जनसंख्या (गुजरात व पंजाब को छोड़कर) खाद्यान्न उत्पादन की तुलना में ती से बढ़ी।

ाधारभूत खाद्य पदार्थों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता के आँकड़े इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि इन पदार्थों के उत्पादन ; स्तर में न केवल निरपेक्ष रूप में वरन् बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण की आवश्यकता तथा उसके उपभोग ; निम्न स्तर में वृद्धि करने की दृष्टि से भी गतिहीनता थी। 1951 की 1974 से तुलना करने से ज्ञात होता है कि अनाज़ था दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता 1951 व 1974 में क्रमशः 395 और 448 ग्राम थी, अर्थात् 23 वर्षों में केवल 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किंतु इस अवधि में जहाँ अनाज़ की उपलब्धता में 22 प्रतिशत वृद्धि हुई, वहीं दालों की पलब्धता में 34 प्रतिशत की कमी हुई। वास्तव में 1974 में अनाज़ की प्रति व्यक्ति उपलब्धता 1965 की तुलना में म्म थी तथा दालों की उपलब्धता तो 1965 की तुलना में एक-तिहाई से भी कम थी। अतः खाद्यान्न के आंतरिक त्पादन में तेजी से वृद्धि न केवल खाद्यान्न के घाटे को पूरा करने के लिए जरूरी थी वरन् तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता को पूरा करने के लिए भी जरूरी थी। सुखात्मे के अनुसार भारत की जनसंख्या में प्रति एक करोड़ द्धि के लिए करीब 4.5 मिलियन टन खाद्यान्न (2 मिलियन टन अनाज, 0.5 मिलियन टन फल व सब्जियाँ तथा .8 मिलियन टन पशु-उत्पाद, जिसमें मुख्यतः दूध शामिल है) की आवश्यकता होती है। साठ के दशक के मध्य में गातार खराब फसलों के कारण हुई पोषाहार की कमी की पूर्ति के लिए आवश्यक 60 मिलियन टन खाद्यान्न इसके तिरिक्त है।

ह सुविज्ञ तथ्य है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या को पर्याप्त तथा संतुलित भोजन उपलब्ध नहीं होता है। पोषाहार ी कमी का कृषि कार्यों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है, जिससे और अधिक दरिद्रता व कुपोषण की समस्याएँ उत्पन्न होती ं। इस प्रकार यह कुचक्र चलता रहता है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों का यह सामान्य अनुभव है कि गरीब किसानों को अपने विभिन्न वित्तीय दायित्वों की पूर्ति के लिए फसल के तुरंत बाद अपने उत्पादन के अधिकांश भाग को "आपात विक्रय" करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उन्हें खेती के मौसम के आरंभ में खाद्यान्न के अभाव का सामना करना ड़ता है, जब भूमि को जोतने तथा अन्य श्रम-साध्य कृषि कार्यों को करने के लिए भारी मात्रा में मानवीय ऊर्जा की आवश्यकता होती है तथा खाद्य पदार्थों की आवश्यकता सर्वाधिक होती है। आनुभविक अध्ययन यह दर्शाते हैं कि भारतीय किसानों की अकर्मण्य प्रवृत्ति के लिए जीवन के प्रति उनके दार्शनिक व अन्य सांसारिक दृष्टिकोण उतने उत्तरदायी नहीं जितने कुपोषण के परिणाम। सुखात्मे के अनुसार दुग्ध की थोड़ी सी मात्रा जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को खत्म करने के लिए चमत्कारिक रूप से कार्य करती है। यह तथ्य इस बात को और स्पष्ट करता है कि पोषाहार की कमी को पूरा करने के लिए भी खाद्य उत्पादन की ऊँची वृद्धि दर आवश्यक है।

ोध प्रश्न 1

।) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय कृषि क्षेत्र की क्या समस्याएँ थी? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्न वाक्यों में सही के लिए (√) और गलत के लिए (×) का निशान लगाइए।

अ) स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भी भारत को खाद्यान्न के आयात का सामना करना पड़ता था। ( )

ब) विकासशील अर्थव्यवस्था में खाद्यान्न के उत्पादन का उस अर्थव्यवस्था के विनियोग कार्यक्रम से कोई संबंध नहीं होता है। ( )

स) पचास के दशक में सभी प्रमुख राज्यों में खाद्य उत्पादन की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि से काफी अधिक थी। ( )

द) भारत की अधिकांश जनसंख्या को पोषक तथा संतुलित भोजन सुलभ है। ( )

3) साठ के दशक के मध्य में खाद्यान्न के आयात में वृद्धि क्यों हुई थी? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

4) खाद्यान्न के उत्पादन की ऊँची वृद्धि दर के बाद भी खाद्यान्न की उपलब्धता अपर्याप्त थी। टिप्पणी कीजिए। पचास के दशक में खाद्यान्न के उत्पादन के लिए और अधिक ऊँची वृद्धि दर की आवश्यकता क्यों थी? (पाँच वाक्यों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

12.2.3 भारतीय कृषि की समस्याएँ

खाद्यान्न के उत्पादन में तेजी से वृद्धि की आवश्यकता का अनुभव करने के पश्चात् अब हमें अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीजों को अपनाए जाने के समय भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याओं का संक्षेप में उल्लेख करना चाहिए। इन समस्याओं में से एक समस्या कृषि में प्रयुक्त तकनीक का निम्न स्तर तथा परिणामस्वरूप निम्न उत्पादकता थी। भारतीय कृषि में प्रयुक्त तकनीक का निम्न स्तर इस तथ्य से दृष्टिगोचर होता है कि उस समय कृषि के प्रमुख साधनों में पारिवारिक श्रम के अतिरिक्त बैलों की जोड़ी तथा लकड़ी का हल भी सम्मिलित था। कृषि मानसून पर बहुत अधिक निर्भर थी तथा भू-क्षेत्र का केवल पाँचवा हिस्सा ही सिंचित था। यहाँ तक कि सिंचित क्षेत्रों में भी जल की उपलब्धि में वर्षा की मात्रा के साथ-साथ वर्ष-दर-वर्ष उतार-चढ़ाव आते रहते थे। किसान ज्यादातर स्वयं पैदा किए गए बीजों पर निर्भर रहते थे तथा रासायनिक खाद व मशीनरी का उपयोग बिल्कुल नगण्य था। परिणामस्वरूप भारत की प्रति हैक्टेयर पैदावार यूरोप व उत्तरी अमेरिका के देशों, तथा यहाँ तक कि अफ्रीका, एशिया व लैटिन अमेरिका के कई देशों की तुलना में भी कम थी।

आधुनिक साधनों के कम उपयोग का सुविदित कारण यह था कि ये साधन महँगे थे व परंपरागत किसानों का स्वयं-उत्पादित साधनों के उपयोग करने की आदत के विपरीत इन आधुनिक साधनों को बाज़ार से खरीदना था। मानसून की अनिश्चितता के कारण पैदावार भी अनिश्चित रहती थी। इसके साथ ही, यदि पैदावार किसान की आवश्यकता से काफी अधिक हो जाती थी तो भी जिस कीमत पर आधिक्य की बिक्री होनी चाहिए, उस पर उसका बहुत कम नियंत्रण रहता था। हमेशा ऋण के दबाव में रहने के कारण गरीब किसान अपनी पैदावार का अधिकांश भाग फसल के तत्काल बाद मध्यस्थ के हाथों बेच देता था, जो इसे संग्रह करके उस पर बैंकों से ऋण प्राप्त कर लेता था और उसे उस समय बेचता था जब उसकी कीमतें बहुत ऊँची होती थी।

द्वितीय, भूमि की सीमित उपलब्धता भी एक समस्या थी। 1968-69 में प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि की अनुमानित मात्रा 0.28 हैक्टेयर थी। पचास के दशक के आरंभ में फसली क्षेत्रों में विस्तार की कुछ संभावनाएँ थी तथा खाद्यान्न के उत्पादन में हुई वृद्धि (3.3 प्रतिशत प्रति वर्ष) का दो-तिहाई भाग फसली क्षेत्रों में विस्तार के कारण हुआ। परंतु साठ के दशक में जब खाद्यान्न के उत्पादन में 2.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई, तब उस समय भू-क्षेत्र में विस्तार का योगदान 0.6 प्रतिशत तक ही सीमित रहा (पचास के दशक के 2.1 प्रतिशत की तुलना में) तथा बाकी वृद्धि (1.9 प्रतिशत) उत्पादकता में वृद्धि के कारण संभव हुई। खेती के लिए सुलभ भूमि को पहले ही कृषि के अंतर्गत लिया जा चुका था तथा जब तक मरुस्थलीय एवं अर्ध-मरुस्थलीय भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए भारी मात्रा में पूँजी विनियोग नहीं किया जाता, भू-क्षेत्र में विस्तार करके उत्पाद में वृद्धि की भावी संभावनाएँ बहुत क्षीण थी।

तृतीय, कृषि के आधुनिकीकरण में बहुत बड़ी बाधा पिछड़ी काश्तकाराव्यवस्था थी। जैसा कि हमने दूसरे खंड में बताया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हमें प्रतिगामी कृषि संरचना प्राप्त हुई, जिसमें भूमि का वितरण बहुत असमान था। एक तरफ बड़े जमींदार तथा दूरस्थ भू-स्वामी थे, जिनका कृषि भूमि के बहुत बड़े भाग पर एकाधिकार था तथा दूसरी तरफ गरीब काश्तकार थे, जिनके काश्तकारी अधिकार असुरक्षित थे और वे भारी लगानों से दबे हुए थे। आमतौर पर काश्तकार अत्यधिक ऋणग्रस्त थे तथा जमींदारों को लगान के रूप में मिलने वाले आर्थिक अतिरेक का बहुत बड़ा भाग विलासितापूर्ण रहन-सहन पर खर्च होता था। लघु तथा असुरक्षित काश्तकारों को बचत करके भूमि में विनियोग करने के लिए न तो प्रेरणा ही मिलती थी और न ही उनकी ऐसी सामर्थ्य थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि कार्य लगभग गतिहीन हो गया तथा लघु किसान कंगाल बन गए। पचास तथा साठ के दशक के आरंभ में मध्यस्थों व बड़े भू-स्वामियों की समाप्ति तथा काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कई वैधानिक कदम उठाए गए। इन उपायों से असली काश्तकारों को भूमि तो उपलब्ध हो सकी परंतु, देश के कई भागों में काश्तकारों की असुरक्षा घटने की बजाए बढ़ गई। अभी भी खेती का बहुत बड़ा भाग उन काश्तकारों द्वारा किया जाता था, जो अपने आपको असुरक्षित महसूस करते थे तथा जो संस्थागत साख सुविधाओं (जो केवल उन काश्तकारों को मिलती थी, जो भूमि के मालिक थे) का उपयोग करने में असमर्थ थे। इससे कृषि के आधुनिकीकरण के लिए किसानों को बहुत कम प्रेरणा मिलती थी। आधुनिक साधनों में विनियोग करने के मार्ग में कुछ अन्य बाधाएँ भी थीं — लघु तथा सीमांत कृषकों की बहुलता तथा भू-जोतों का अपखण्डन। दूसरी तरफ हाल ही के सैद्धांतिक तथा आनुभविक अध्ययन यह भी बताते हैं कि उन्नत कृषि तकनीक में विनियोग करने की अपेक्षा भूस्वामियों को कठोर लगान, साहूकारी तथा सट्टेबाजी से आय तथा लाभ कमाने की आसान सुविधाएँ उपलब्ध थीं।

भूमि सुधार के अतिरिक्त दो अन्य संस्थागत उपायों की ओर पचास तथा साठ के दशक में काफी ध्यान दिया गया। ये उपाय सहकारी आंदोलन तथा सामुदायिक विकास थे। यह सोचा गया कि सहकारी आंदोलन से उपविभाजन तथा अपखण्डन की कमियों तथा साधनों के अभावों को दूर किया जा सकेगा एवम् बड़े पैमाने पर खेती से लाभ प्राप्त होंगे। सहकारी आंदोलन ने साख के क्षेत्र में केवल मामूली सफलता हासिल की तथा विपणन एवं ग्रामीण क्षेत्रों में संसाधन (Processing) उद्योगों के विकास में इसे कुछ सीमा तक सफलता मिली। परंतु असंख्य लघु किसानों की भूमि एवं अन्य साधनों को मिलाकर उत्पादक सहकारी समितियों के गठन तथा उत्पादन एवं विपणन को संयुक्त रूप से संगठित करने में यह आंदोलन पूर्ण रूप से असफल रहा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के पीछे यह भावना थी कि ग्रामीण जनता को सड़क अथवा कुएँ-निर्माण जैसी सामुदायिक कार्यों के लिए प्रेरित किया जाए, ताकि राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन में उनकी भागीदारी सुनिश्चित की जा सके तथा खाद, सिंचाई व उन्नत बीजों का उपयोग करके गहन कृषि को भी प्रोत्साहित किया जा सके। सहकारी आंदोलन तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम, दोनों ही देश के कई भागों में अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में मुख्यतः इसीलिए असफल रहे क्योंकि ग्रामीण जीवन में कुछ ही परिवारों का प्रभुत्व था, और उन्होंने गरीबों के लिए निर्धारित अधिकांश लाभों को स्वयं ही हड़प लिया।

2.2.4 गहन कृषि जिला कार्यक्रम

कृषि विकास की रणनीति में साठ के दशक के आरंभ में उस समय महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जब संस्थागत परिवर्तनों के स्थान पर तकनीकी सुधारों पर बल दिया जाने लगा। 1959 में फोर्ड फाउंडेशन के एक दल ने चेतावनी दी कि यदि जनसंख्या की बढ़ती हुई दर को देखते हुए 1965-66 तक खाद्यान्न के उत्पादन को 110 मिलियन टन (दूसरी पंचवर्षीय योजनावधि के वार्षिक औसत 68 मिलियन टन की तुलना में) तक बढ़ाने के लिए आवश्यक कदम नहीं उठाए गए तो भारत सरकार को भयंकर संकट का सामना करना पड़ेगा। दल का एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी था कि आधुनिक साधनों की सीमित आपूर्ति को बहुत बड़े भू-भाग पर फैलाने की अपेक्षा इनके उपयोग को उन सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्रों में केंद्रित करना चाहिए, जहाँ अच्छे परिणाम प्राप्त होने की अधिक संभावनाएँ हों। इन सुझावों से प्रेरित होकर सरकार ने 1960 में गहन कृषि जिला कार्यक्रम शुरू किया। आरंभ में ऐसे छह जिले चुने गए, जहाँ पानी की सुनिश्चित पूर्ति तथा अन्य आधारभूत सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इसके बाद इस कार्यक्रम का कुछ और जिलों में विस्तार किया गया था 1967-68 तक देश के कुल 300 से अधिक जिलों में से 18 जिलों में यह कार्यक्रम लागू किया जा चुका था। ये जिले ऐसे भी थे, जहाँ खाद तथा ट्रैक्टर के उपयोग का स्तर देश में सर्वाधिक था। जहाँ तक चुने गए जिलों का संबंध है, यह कार्यक्रम कुछ सीमा तक सफल रहा, परंतु देश के कुल कृषि उत्पादन पर इसका प्रभाव नगण्य रहा। कृषि में महत्वपूर्ण परिवर्तन साठ के दशक के मध्य में गेहूँ की अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों के उपयोग के साथ आया। यह तकनीकी परिवर्तन सबसे पहले पंजाब में शुरू हुआ तथा जल्दी ही हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य सिंचित क्षेत्रों में फैल गया।

2.2.5 साठ के दशक का मध्य

साठ के दशक के मध्य में अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों के उपयोग के समय भारत की स्थिति का संक्षिप्त आवरण इस प्रकार है :

) 1965 में भारत-पाक युद्ध तथा 1965-67 में लगातार दो वर्षों तक खराब फसल होने के कारण भारत की आर्थिक स्थिति स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की किसी भी अवधि की तुलना में बहुत अधिक खराब थी। चारों तरफ गरीबी, कुपोषण तथा भुखमरी की स्थिति फैली हुई थी, बेरोज़गारी तेजी से बढ़ रही थी तथा भयंकर मंदी के कारण उद्योगों

की प्रगति थम गई थी। यदि खाद्यान्न की स्थिति में सुधार नहीं होता, तो उस समय की सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था के चरमराने का भीषण खतरा उत्पन्न हो गया था।

2) हमारा देश खाद्यान्न के आयात पर लंबे समय तक निर्भर नहीं रह सकता था, क्योंकि खाद्यान्न की कमी वाले दूसरे देशों की खाद्यान्न की बढ़ती हुई माँगों के कारण विश्व में खाद्यान्न की पूर्ति अनिश्चित हो गई थी। इसके साथ ही, विश्व बाजार में खाद्यान्न की कीमतें बहुत ऊँची तथा लगातार बढ़ रही थी, जबकि देश की आयात क्षमता सीमित थी।

3) भूमि उद्धार (reclamation) के उपायों तथा कृषि योग्य पड़ती भूमि के उपयोग द्वारा और अधिक भूमि को खेती के अंतर्गत लाकर खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि की संभावनाएँ सीमित थीं। अतः भविष्य में उत्पादन में वृद्धि का बहुत बड़ा भाग भूमि की उत्पादकता में वृद्धि द्वारा ही प्राप्त हो सकता था।

4) उत्पादकता में वृद्धि का एक तरीका — दी हुई तकनीक के अंतर्गत भूमि का और अधिक समान वितरण था, क्योंकि साठ के दशक में किए गए आनुभविक अध्ययनों से यह पता चला कि बड़े खेतों की तुलना में छोटे खेतों की प्रति एकड़ उत्पादकता अधिक है। परंतु इस प्रकार की नीति सरकार के लिए अधिक व्यावहारिक नहीं थी, क्योंकि सरकार राजनैतिक शक्ति के लिए बड़े भू-स्वामियों पर निर्भर थी तथा इस प्रकार के भूमि सुधारों से इन भू-स्वामियों को हानि उठानी पड़ सकती थी।

5) सरकार के विचार से मौजूदा कृषि संरचना में बिना किसी परिवर्तन किए, केवल भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करके आंतरिक खाद्यान्न उत्पादन में बढ़ोतरी की जरूरत थी।

बोध प्रश्न 2

1) अधिक उपज देने वाली तकनीक के आरंभ के समय भारतीय कृषि किन समस्याओं का सामना कर रही थी? (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) पचास तथा साठ के दशक में भूमि सुधारों के अतिरिक्त उठाए गए अन्य संस्थागत उपाय कौन-कौन से थे? सामुदायिक विकास कार्यक्रम से आप क्या समझते हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

3) फोर्ड फाउंडेशन के दल ने क्या सुझाव दिए थे? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

12.3 हरित क्रांति

इन सुझावों के बाद सरकार के समक्ष केवल यही विकल्प था कि मौजूदा कृषि संबंधों को बिना बदले खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि की जाए। 1965 में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि के लिए नई रणनीति की घोषणा की गई, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित थे :

अ) कृषि उत्पादन के सभी स्तरों, विशेषकर खेतों में वैज्ञानिक तकनीक एवम् ज्ञान का उपयोग करना,

ब) रासायनिक खाद तथा अन्य आधुनिक साधनों की भारी मात्रा के प्रति संवेदनशील उन्नत किस्म के बीजों पर आधारित साधनों के पैकेज के संकेन्द्रित उपयोग के लिए सुनिश्चित वर्षा तथा सिंचाई वाले क्षेत्रों का चयन करना।

स) सघन उत्पादन कार्यक्रमों तथा समग्र विकास द्वारा सहायक खाद्य सामग्री के उच्च उत्पादन स्तर को प्राप्त करना।

।.3.1 पैकेज कार्यक्रम

तकनीक की मुख्य विशेषता कम उपज देने वाले किस्मों के परंपरागत बीजों को तथाकथित अधिक उपज देने वाली स्मों (HYV) के बीजों से प्रतिस्थापित करने में निहित है। इन बीजों की क्रियात्मक विशेषता यह है कि ये मिट्टी अधिकांश पोषण तत्वों को पत्तों की बढ़ोतरी की अपेक्षा अन्न में परिवर्तित करते हैं। इससे पौधे अधिक पैदावार देने उस समय सक्षम होते हैं, जब मिट्टी में पोषक तत्वों की आपूर्ति बढ़ाई जा सके। इससे आगे जाकर मिट्टी की प्राकृतिक रता को बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद की माँग होती है। चूँकि इस प्रकार की खाद में पोषक तत्व संकेंद्रित रूप ोते हैं, अतः इनका उपयोग पर्याप्त जलापूर्ति के साथ करना होता है, ताकि पौधे इन्हें सोख लें और साथ ही उन्हें ई क्षति भी न पहुँचे। जल की अपर्याप्त पूर्ति की स्थिति में उत्पादन में भारी मात्रा में कमी होती है। अधिकांश नए ों की दूसरी विशेषता परिपक्वता अवधि का कम होना है, जिससे साल-भर में दो या अधिक फसलें बोयी जा ती हैं। परंतु इससे कृषि प्रक्रियाओं को समय पर पूरा करने की महत्ता बढ़ गई है। अब फसल की कटाई का कार्य ा पूरा करना होता है ताकि बीजों के लिए क्यारियाँ बनाने में पर्याप्त समय मिल सके। इसे भी कम अवधि में पूरा ना होता है ताकि अगली फसल के लिए पर्याप्त समय मिल सके। ट्रैक्टर, थ्रैसर तथा अन्य यांत्रिक साधनों से समय इस सीमा को दूर किया जा सकता है। अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीज-खाद-सिंचाई के आरंभिक सम्मिश्रण प्रायः कृषि क्रियाओं के बड़े पैमाने पर यंत्रीकरण से जोड़ दिया जाता है। अतः नई कृषि तकनीक की मौलिक विशेषता कई साधनों का सम्मिलित उपयोग है, जो एक दूसरे के पूरक हों।

।.3.2 नई कृषि प्रक्रियाएँ

तकनीक केवल साधनों का पैकेज ही नहीं है, बल्कि इसमें नई कृषि प्रक्रियाओं का पैकेज भी समाविष्ट होता है। न तकनीक में फसलों का नया वर्ष अपनाया जाता है, जिसमें नए किस्म के बीजों की परिपक्वता अवधि कम होने बहु-फसलीकरण व फसल-परिवर्तन की संभावनाएँ अधिक होती हैं। किसान को यह ज्ञात होना चाहिए कि उसे स प्रकार की मिट्टी में कितनी खाद, कब तथा नाइट्रोजन, फास्फेट तथा पोटाश को किस अनुपात में डालनी है। च्छी पैदावार प्राप्त करने के लिए खास ऊँचाई तक पौधों के बढ़ने पर उनमें खाद तथा पानी देने की आवश्यकता होती है। चूँकि पौधों के साथ-साथ खरपतवार भी खाद को सोख लेते हैं, अतः कीमती खाद के दुरुपयोग को ने के लिए अच्छी तरह निराई-गुड़ाई करने की भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार किसान को यह भी ज्ञात होना हिए कि किस प्रकार के बीजों को किस प्रकार के कीट लग सकते हैं तथा कीट-नियंत्रण के बारे में क्या-क्या विकल्प लब्ध हैं और रसायनों के उपयोग के समय, मानवीय श्रम, फसल के ढाँचे व फसल के हेर-फेर पर उसके क्या ाव पड़ेंगे। इसके साथ ही कुछ छोटे तने वाली बौनी किस्म की फसलों से अधिक पैदावार तो होती है, परंतु ज्यादा ी देने या अधिक बरसात होने पर इनमें पानी जमा होने की संभावना भी बनी रहती है। अतः इनमें समुचित जल त्रण एवं बेहतर जल निकास की आवश्यकता होती है। मुख्य आवश्यकता नियंत्रित एवं समुचित जल आपूर्ति की इनसे भी ज्यादा जरूरी यह है कि यांत्रिक उपकरणों का इस्तेमाल करने वाले किसान इनके उपयोग व रख-रखाव ारे में शिक्षा प्राप्त करें। अतः नई तकनीक के समुचित उपयोग के लिए बेहतर कृषि प्रक्रियाओं की जरूरत होती है।

। प्रश्न 3

एक वाक्य में अधिक उपज देने वाली किस्मों के पैकेज का वर्णन कीजिए।

.....

.....

अधिक उपज देने वाली किस्मों की तकनीक की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

।.4 नई आगतें : परिवर्तन का स्वरूप तथा विस्तार

। कि पिछले खंड में बताया जा चुका है कि नई तकनीक में ऐसे अनेक साधनों का उपयोग होता है, जो एक दूसरे ूरक होते हैं। परंपरागत कृषि में श्रम महत्वपूर्ण साधन होता है। भारत जैसी श्रम-बहुल अर्थव्यवस्था में प्रायः श्रम लागत बहुत कम है। देश के अधिकांश खेतों में पारिवारिक श्रम अथवा काफी सस्ते भाड़े के श्रमिकों से काम ा जाता है, जिनकी वैकल्पिक आय अधिक नहीं होती है। परंपरागत कृषि में भूमि के अतिरिक्त सर्वाधिक महँगा न बैलों की जोड़ी होती है। दूसरी तरफ खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, पंपसेट आदि नवीन साधन अधिक महँगे होते नई तकनीक के उपयोग से साधन लागत संरचना में निम्नलिखित तीन प्रकार के परिवर्तन होते हैं :

1) जैसे-जैसे किसान परंपरागत तकनीक के स्थान पर अधिक उपज देने वाली किस्म की तकनीक अपनाता है, वैसे-वैसे प्रति हैक्टेयर उत्पादन लागत में वृद्धि होती है। इसके बारे में यह तर्क दिया जाता है कि नई तकनीक से मिलने वाले अतिरिक्त प्रतिफल की तुलना में इसकी अतिरिक्त लागत कम होती है।

2) नई तकनीक में कुछ साधनों का सापेक्षिक महत्व बढ़ जाता है, जबकि अन्य साधनों का महत्व कम हो जाता है। उदाहरण के लिए नई तकनीक की लागत संरचना में खाद, कीटनाशक दवाइयों तथा यंत्रों का तुलनात्मक महत्व तेजी से बढ़ जाता है, जबकि बैलों तथा कभी-कभी मानवीय श्रम का तुलनात्मक महत्व कम हो जाता है।

3) साधनों की पूर्ति के लिए किसान को उत्तरोत्तर बाज़ार पर निर्भर रहना पड़ता है। कृषि की परंपरागत पद्धति में गत वर्ष के बीज़, गोबर की खाद अथवा बिना उर्वरक के पारिवारिक श्रम से खेती की जाती है। इसके विपरीत नई तकनीक के अंतर्गत किसान को नए बीज़ों, रासायनिक खादों, कीटनाशक तथा शाकनाशक दवाइयों एवं प्रायः फसल की बुवाई, कटाई व अन्य प्रक्रियाओं के लिए श्रमिकों की पूर्ति के लिए बाज़ार पर निर्भर रहना पड़ता है।

आधुनिक साधनों का अन्य महत्वपूर्ण पहलू आयात पर इनकी निर्भरता है। आधुनिक साधनों की पूर्ति न केवल बाज़ार-केंद्रित है वरन् अक्सर यह विदेशी बाज़ार पर भी निर्भर करती है। उर्वरक इसी प्रकार का साधन है। यद्यपि गत दो दशकों से इसके घरेलू उत्पादन में वृद्धि हुई है तथा आयातित उर्वरक पर निर्भरता काफी हद तक कम हुई है, तथापि उर्वरक के घरेलू उत्पादन में आयातित कच्चे माल आदि के रूप में आयात का काफी बड़ा अंश होता है। यही बात ट्रैक्टर, पंपसेट तथा अन्य कृषि यंत्रों के लिए आवश्यक पेट्रो-रसायन तथा तेल के बारे में लागू होती है।

12.4.1 अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीज

जैसा कि हम जानते हैं कि नवीन किस्मों के इन बीजों की प्रमुख विशेषता खाद के प्रति इनकी अत्यधिक संवेदनशीलता तथा परिणामस्वरूप ऊँची उत्पादकता है। इन बीजों की अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं—कम परिपक्वता अवधि, जिससे दोहरी फसल बोयी जा सकती है तथा बौने पौधे, जो ज्यादा अनाज़ के भार को वहन करने में पर्याप्त रूप से सक्षम होते हैं।

अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज़ों का सबसे सफल उदाहरण गेहूँ है। गेहूँ की उन्नत बीजों की आरम्भिक किस्में मैक्सिको में तैयार की गई थी, इसीलिए इन्हें मैक्सिकन किस्म कहा जाता है। बाद में इन किस्मों के आधार पर भारत में कुछ और किस्में तैयार की गईं। गेहूँ की इन नई क़िस्मों की उत्पादकता देशी किस्मों की तुलना में बहुत अधिक (अकसर दो ढाई गुणा) है। भारत में गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों की नजदीकी तथा उनकी कृषि जलवायु संबंधी स्थिति में समानता के कारण गेहूँ के बारे में अनुकूल शोध करना आसान था तथा उनमें सफलता भी अधिक प्राप्त हुई।

प्रारंभ में चावल के क्षेत्र में उतनी सफलताएँ प्राप्त नहीं हुई, परंतु सत्तर के दशक में चावल की कुछ अच्छी किस्में तैयार की गई तथा कम से कम भारत के सिंचित क्षेत्रों में, जहाँ सिंचाई के स्रोत सुनिश्चित तथा नियंत्रित थे, चावल की उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई। परंतु कुल मिलाकर चावल की तुलना में गेहूँ की अधिक उपज देने वाली किस्में स्थानीय परिस्थितियों के अधिक अनुकूल तथा कीड़ों के आक्रमण के प्रति अधिक प्रतिरोधी साबित हुई। इसके विपरीत चावल, विशेषकर खरीफ में बोए जाने वाले चावल की उपज विभिन्न पारिस्थितिक स्थितियों में अनियमित रही है तथा इसकी फसल पर रोगों व कीटाणुओं का भी अधिक आक्रमण होता है।

साठ के दशक के अंत में बाजरा, मक्का तथा चरी (sorghum) सोरधम की अनेक नई किस्में विकसित की गई। इन संकर किस्मों की मुख्य समस्या यह है कि इनके बीजों को हर वर्ष बदलना पड़ता है, जब तक कि इस समस्या को दूर करने वाली मिश्रित किस्में तैयार नहीं हो जाती। तालिका 12.2 में 1966-67 से 1985-86 तक की अवधि के लिए पाँच फसलों की अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत क्षेत्र की प्रगति का विवरण दिया गया है।

तालिका 12.2

भारत में अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत क्षेत्र

(मिलियन हैक्टेयर)

वर्ष	धान	गेहूँ	मक्का	ज्वार	बाज़रा	अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत कुल क्षेत्र	खाद्यान्नों के अंतर्गत कुल क्षेत्र	अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत क्षेत्र खाद्यान्नों के अंतर्गत क्षेत्र के प्रतिशत रूप में
1966-67	0.88	0.54	0.21	0.19	0.06	1.88	115.30	1.6
1967-68	1.78	2.94	0.29	0.60	0.42	6.03	121.42	5.0
1968-69	2.60	4.80	0.40	0.70	0.70	9.20	120.43	7.6
1969-70	4.34	9.92	0.42	0.56	1.16	11.40	123.57	9.2
1970-71	5.59	6.48	0.46	0.80	2.05	15.38	124.32	12.4
1971-72	7.41	7.86	0.44	0.69	1.77	18.77	122.62	14.8

1972-73	8.11	10.18	0.61	0.87	2.50	22.32	119.28	18.7
1973-74	9.98	11.02	0.87	1.15	3.00	26.04	126.54	20.6
1974-75	11.21	11.29	1.09	1.30	2.50	27.33	121.08	22.6
1975-76	12.74	13.45	1.13	1.95	2.89	31.89	128.18	24.9
976-77	13.73	14.69	1.06	2.65	2.21	33.56	124.36	27.0
977-78	16.12	15.80	1.24	3.14	2.63	38.93	127.51	30.5
978-79	16.90	16.10	2.10	3.10	2.90	41.10	129.01	31.8
979-80	15.99	15.03	1.35	3.05	2.96	38.38	125.21	30.7
980-81	18.51	17.39	1.40	4.18	3.80	45.28	125.79	36.0
982-83	18.84	17.84	1.72	4.37	4.71	47.48	125.09	38.0
983-84	21.74	19.39	1.91	5.28	5.42	53.74	131.16	41.0
984-85	22.78	19.09	2.03	5.07	5.17	54.14	126.67	42.7
985-86	23.47	19.08	1.80	6.08	4.99	55.42	128.02	43.4

ोत : आर्थिक समीक्षा : 1974-75, 1978-79, 1981-82 तथा 1988-89

ाँचों प्रमुख फसलों की अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि हुई, परंतु गेहूँ के मामले में यह वृद्धि भूतपूर्व रही। 1985-86 में गेहूँ के कुल कृषित क्षेत्र का करीब 84 प्रतिशत अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत ा। धान के मामले में यह क्षेत्र 57 प्रतिशत था। अन्य तीनों फसलों के मामले में अधिक उपज देने वाली किस्मों के पनाने के दो दशक बाद भी इन फसलों के कृषित क्षेत्र का आधे से भी कम भाग उन्नत किस्मों के अंतर्गत है।

ाशा से कम उत्पादकता तथा उत्पादकता में कमी-बेशी से होने वाली अनिश्चितता नई किस्मों के विस्तार में प्रमुख धाएँ हैं। इन नई बीजों की निष्पत्ति में अंतर का कारण मुख्यतः भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टियों में पाए जाने वाली कीड़ों था नमी व जलवायु की स्थिति में परिवर्तन के प्रति इन बीजों की प्रतिरोधक क्षमता में अंतर होना है। इन नए बीजों सन्निहित उच्च जोखिम तत्व के कारण किसान अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए उन बीजों का उपयोग रने को प्रवृत्त होंगे, जिनका उत्पादन अधिक सुनिश्चित हो, चाहे उत्पादन की मात्रा कुछ कम ही क्यों न हो। इसके थ ही, नई तकनीक के उपयोग के लिए उसे काफी नकद व्यय भी करना पड़ता है। अतः उसे नकदी के अभाव की मस्या का सामना करना पड़ता है। इस जोखिम में इस कारण भी वृद्धि होती है कि किसान को खेती की अतिरिक्त गतों को पूरा करने के लिए बहुधा ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। फसल की बर्बादी होने से वह ऋण के र से दब जाता है। इन कारणों से गेहूँ के अतिरिक्त अन्य फसलों की अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों के तर्गत क्षेत्र में तुलनात्मक रूप से कम वृद्धि हुई है।

2.4.2 उर्वरक

ा कि पहले भी बताया जा चुका है कि अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीजों की एक विशेषता यह है कि ये ट्टी के पोषक तत्वों की प्रचुर मात्रा को अन्न में परिवर्तित करते हैं। इससे पौधे अधिक उपज देने में सक्षम होते हैं, शेषकर उस समय, जब मिट्टी के पोषक तत्वों की पूर्ति को बढ़ाया जा सके। इससे आगे जाकर मिट्टी की प्राकृतिक रता को बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद की माँग होती है। उर्वरक की बढ़ती हुई मात्रा से परंपरागत किस्म के बीजों उत्पादन में एक निश्चित सीमा तक ही वृद्धि की जा सकती है, जबकि नई किस्म के बीजों से खाद की अधिक ा के उपयोग से भी उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। इस कारण कई लोग उर्वरक की पूर्ति की पर्याप्तता को अधिक ज देने वाले तकनीक की सफलता की पूर्व शर्त मानते हैं।

त में उर्वरक के उपयोग में उत्तरोतर वृद्धि हो रही है। जैसा कि तालिका 12.3 में दर्शाया गया है, उर्वरक के उपयोग मात्रा 1966-67 में 1.20 मिलियन टन से बढ़कर 1985-86 में 8.5 मिलियन टन हो गई है।

ा हैक्टेयर उर्वरक के उपयोग की मात्रा हरित क्रांति के आरंभ में 5 किलोग्राम के नगण्य स्तर से बढ़कर 1985-86 43 किलोग्राम के करीब हो गई। किंतु प्रति हैक्टेयर उर्वरक के उपयोग में इतनी वृद्धि होने के बावजूद भी अधिक ज देने वाली किस्मों के बीजों के बोने से मिट्टी के पोषक तत्वों में होने वाली कमी की क्षतिपूर्ति करना बहुत कठिन ा है। भारत के अधिकांश भागों में उर्वरक का उपयोग इसकी अपेक्षित मात्रा से बहुत कम है।

ा हैक्टेयर उर्वरक के उपयोग की मात्रा में भारी अंतर है। सामान्यतः जहाँ किसान ने उर्वरक का उपयोग लाभप्रद ा वहाँ उसका उपयोग अधिक हुआ। उसका उपयोग सिंचाई, साख सुविधा व कुशल वितरण प्रणाली जैसे पूरक ों की उपलब्धि पर भी निर्भर [illegible] है। [illegible] पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु में अधिक जहाँ कुओं तथा नलकूपों में विनियोग में वृद्धि के कारण सिंचाई सुविधा में भारी [illegible] इन में प्रति हेक्टेयर [illegible] मात्रा सर्वाधिक है तथा उसके बाद [illegible]

तालिका 12.3

भारत में खाद का उपयोग (N + P + K)

(मिलियन टन)

वर्ष	नाइट्रोजन (एन)	फास्फेट (पी)	पोटाश (के)	कुल
1966-67	0.84	0.25	0.12	1.20
1967-68	0.80	0.24	0.13	1.17
1968-69	1.13	0.39	0.15	1.67
1969-70	1.36	0.42	0.21	1.99
1970-71	1.48	0.54	0.24	2.26
1971-72	1.80	0.56	0.30	2.66
1972-73	1.84	0.58	0.35	2.77
1973-74	1.83	0.65	0.36	2.84
1974-75	1.77	0.47	0.33	2.57
1975-76	2.14	0.47	0.28	2.89
1976-77	2.46	0.63	0.32	3.41
1977-78	2.91	0.87	0.51	4.29
1978-79	3.40	1.05	0.55	5.00
1979-80	3.50	1.15	0.61	5.26
1980-81	3.60	1.19	0.61	5.40
1982-83	4.22	1.44	0.73	6.39
1983-84	5.21	1.73	0.77	7.71
1984-85	5.49	1.88	0.84	8.21
1985-86	5.66	2.00	0.81	8.47

स्रोत : 1) आर्थिक समीक्षा: 1978-79 तथा 1988-89

2) छठी पंचवर्षीय योजना प्रारूप (1980-85)

12.4.3 सिंचाई

नई कृषि तकनीक के अपनाने में सिंचाई आधारभूत तत्व है। जल की पर्याप्त तथा नियंत्रित पूर्ति न केवल उत्पादकता की वृद्धि में सहायक होती है, वरन् इसकी उपलब्धि उत्पादकता में वृद्धि करने वाले नई कृषि तकनीक के अन्य साधनों के उपयोग की पूर्व शर्त भी है। चूँकि मानसूनी बरसात मौसमी है तथा इसके समय तथा मात्रा में परिवर्तन होते रहते हैं, अतः हरित क्रांति मुख्यतः देश के उन क्षेत्रों में ही केंद्रित रही है जहाँ सिंचाई की सुनिश्चित व्यवस्था है। यह अनुमान लगाया गया है कि विभिन्न क्षेत्रों में कृषि उत्पादन में होने वाले परिवर्तन का 54 प्रतिशत केवल सिंचाई सुविधाओं में अंतर के कारण ही होता है। साल-भर पानी की उपलब्धि होने से प्रकृति पर निर्भरता कम होने के साथ-साथ दोहरी फसल भी उगायी जा सकती है। भविष्य में परती भूमि के अतिरिक्त क्षेत्र को खेती के अंतर्गत लाने की सीमित संभावनाओं को देखते हुए भारत में सिंचाई की भू-संवर्धन के तरीके के रूप में भी उपयोगी भूमिका हो सकती है।

जैसा कि हमने खंड 4 में देखा है कि पचास के दशक के आरंभ से सिंचाई सुविधाओं के विकास में बहुत कुछ प्रगति हो रही है। शुद्ध सिंचित क्षेत्रों का प्रतिशत कुल कृषित क्षेत्र के पाँचवे हिस्से से बढ़कर करीब एक-तिहाई हो गया है। निवल सिंचित क्षेत्र की मात्रा 1950-51 के 22.6 मिलियन हैक्टेयर से बढ़कर 1985-86 में 62.4 मिलियन हैक्टेयर हो गई है। किंतु 62.4 मिलियन हैक्टेयर सिंचित क्षेत्र की मात्रा देश के उपलब्ध जल संसाधनों की सिंचाई क्षमता 107 मिलियन हैक्टेयर की तुलना में काफी कम है। इसके साथ ही जल उपयोग के उपलब्ध आँकड़े संतोषप्रद नहीं हैं बहुत बड़ी मात्रा में जल वितरण व्यवस्था में बर्बाद हो जाता है। कुछ अनुमानों के अनुसार गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्वारा भण्डारण से निकलकर नहरों व नालियों में जल-प्रवाह के समय वाष्पीकरण तथा जल-रिसाव के कारण होने वाली जल की क्षति की मात्रा 70 से 80 प्रतिशत तक है। जल क्रांति तथा क्षारीयता भारतीय सिंचाई की अन्य दो प्रमुख समस्याएँ हैं।

देश के कई क्षेत्रों में आजकल नलकूप के उपयोग में वृद्धि को ही नई तकनीक का प्रतीक माना जाने लगा है। जिन किसानों के पास नलकूप के निर्माण की क्षमता है, वे अपने खेतों में नहरी सिंचाई की तुलना में जल की पूर्ति पर अधिक नियंत्रण रख सकते हैं। नलकूप के स्वामित्व से उन स्थानों में साल-भर जल की सुनिश्चित पूर्ति की गारण्टी मिल सकती है, जहाँ लवण रहित भूमिगत जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। यह तर्क दिया जाता है कि वृहत् सिंचाई कार्यों की तुलना में भूमिगत जल सिंचाई द्वारा वाष्पीकरण तथा जल-रिसाव के कारण जल की क्षति को काफी हद तक रोका जा सकता है। साथ ही भूमिगत जल का संचालन सुगम व सस्ता है। इसमें सीमित साधनों की आवश्यकता कम होती है तथा इसे बहुत कम समय में निर्मित किया जा सकता है।

12.4.4 यंत्रीकरण

हम यह जानते हैं कि बहुतायत में उपलब्ध सिंचाई तथा उसकी नियंत्रित पूर्ति से अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों तथा खाद के उपयोग को बढ़ावा मिलता है। सिंचाई की उपलब्धता तथा अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों के जल्दी पकने से फसल की गहनता में वृद्धि हुई है। परंतु इससे कृषि प्रक्रियाओं को समय पर पूरा करने का महत्व बढ़ गया है। ट्रैक्टर तथा अन्य मशीनों का यह लाभ है कि इनसे समय की बचत होती है तथा कोई भी कृषि प्रक्रिया दी हुई समय-सीमा में पूर्ण की जा सकती है। ट्रैक्टर के उपयोग से बैलों के पालने, उनके लिए चारे की व्यवस्था करने तथा कीचड़ युक्त खेतों में उनसे काम लेने की समस्याओं से छुटकारा मिल जाता है। यंत्रीकरण के विरोधाभास का सी.एच. हनुमंथ राव ने यह स्पष्टीकरण दिया है कि जनसंख्या में वृद्धि होने तथा भूमि पर जन-भार बढ़ने से ऊर्जा की जैविक लागत बढ़ गई है, जिससे बैल तथा उसके पूरक साधन मानवशक्ति के वर्ष पर्यंत रख-रखाव की लागत ट्रैक्टर के क्रय करने तथा रख-रखाव की लागत से अधिक हो गई है। उन्होंने यह भी बताया है कि जनसंख्या में वृद्धि होने से श्रम की पूर्ति बढ़ने के साथ-साथ खाद्य तथा अन्य कृषि पदार्थों की माँग में भी वृद्धि होती है तथा परिणामस्वरूप खाद्यान्नों की कीमत व मौद्रिक मजदूरी में भी वृद्धि होती है। भूमि की मात्रा सीमित होने से बैलों के लिए चारे तथा अन्य फसलों के उत्पादन में प्रतिस्पर्धा होने लगती है। इससे चारे की कीमत तथा तदनुरूप बैलों की कीमत में वृद्धि होती है। दूसरी तरफ ट्रैक्टर खरीदने तथा उसके रख-रखाव की लागत की तुलना में पैदावार की लागत में कमी तथा उत्पादन में वृद्धि के फायदे अधिक हैं। ये फायदे बड़े किसानों के मामलों में अधिक है। पंजाब के बारे में किए गए एक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बैलों से जोते जाने वाले खेतों की तुलना में ट्रैक्टर से बोए जाने वाले खेतों में फसलों की गहनता अधिक होती है। हरियाणा के बारे में किए गए एक अन्य अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ट्रैक्टर से बोए जाने पर खेतों में प्रति हैक्टेयर अधिक पैदावार होती है। परंतु इनमें से अधिकांश अध्ययनों में ट्रैक्टर व अन्य साधनों जैसे — सिंचाई तथा फसल की गहनता के प्रभावों को अलग-अलग नहीं किया जा सका है।

पचास के दशक से पूर्व भारतीय कृषि में मशीनों का उपयोग अधिक नहीं था। प्रमुख मशीनों जैसे — ट्रैक्टर, पंपसेट तथा इंजन के उपयोग की प्रवृत्ति तालिका 12.4 में दर्शायी गई है।

तालिका 12.4

भारत में कृषि का यंत्रीकरण : 1951-80

वर्ष	ट्रैक्टर		तेल इंजन		विद्युत पंपसेट		प्रति हैक्टेयर शक्ति का उपयोग (किलोवाट)
	अ	ब	अ	ब	अ	ब	
1951	0.09	7	0.82	62	0.26	20	1.5
1956	0.21	14	1.23	84	0.47	32	2.1
1961	0.30	20	2.30	154	1.60	105	5.5
1966	0.53	34	4.71	303	4.15	267	12.2
1970	1.17	72	—	—	13.54	829	23.0
1971	1.35	81	—	—	16.20	976	27.1
1972	1.56	94	—	—	19.00	1150	34.4
1973	1.80	111	—	—	21.05	1303	39.1
1974	2.08	123	17.54	1038	24.00	1416	45.8
1975	2.42	147	—	—	26.63	1555	50.0
1976	2.79	164	—	—	27.86	1606	—
1977	3.14	186	—	—	—	—	—
1978	3.67	213	—	—	—	—	—
1980	4.73	270	29.00	1657	40.00	2286	71.0

अ = संचयी समंक (लाखों में)

ब = प्रति एक लाख हैक्टेयर सकल कृषित क्षेत्र

(—) = अनुपलब्ध

स्रोत : 1) आर्थिक तथा सांख्यिकी निदेशालय, कृषि तथा सिंचाई मंत्रालय, *भारत में प्रमुख फसलों के क्षेत्र तथा उत्पादन के अनुमान*, 1976-77

2) ऊर्जा मंत्रालय, *पब्लिक इलेक्ट्रिसिटी सप्लाई, आल इंडिया स्टेटिस्टिक्स, जनरल रिव्यू*, 1975-76, जून 1977

3) औद्योगिक विकास विभाग, उद्योग तथा नागरिक आपूर्ति मंत्रालय, *गाइडलाइंस फॉर इण्डस्ट्री*, 1976-77, मई 1976

4) योजना आयोग, *वार्षिक योजना 1976-77*, मई 1976 तथा *बेसिक स्टेटिस्टिक्स रिलेटिंग टू इंडियन इकॉनमी 1950-51 टू 1975-76*

5) योजना मंत्रालय, सांख्यिकी विभाग, *मंथली एब्सट्रैक्ट ऑव स्टेटिस्टिक्स*, वॉल्यूम 31, नं. 12, दिसम्बर 1978

6) भारत सरकार, *आर्थिक समीक्षा, 1978-79*

7) 1980 के आँकड़े सेंटर फॉर मोनिटरिंग इंडियन इकॉनमी, *बेसिक स्टेटिस्टिक्स रिलेटिंग टू इंडियन इकॉनमी*, वाल्यूम 1, ऑल इंडिया, अक्टूबर 1980

1966 से इन मशीनों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। 1966 में एक लाख हेक्टेयर सकल कृषित क्षेत्र पर 34 ट्रैक्टर थे, जिसकी संख्या बढ़कर 1978 में 213 तथा 1980 में 270 हो गई। तेल इंजिन तथा विद्युत पंपसेटों के बारे में इसी प्रकार की प्रवृत्ति रही है। विभिन्न राज्यों में यांत्रिक साधनों का उपयोग समान नहीं रहा। अधिकांश मशीनों के उपयोग में पंजाब सबसे अग्रणी है तथा उसके बाद हरियाणा, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश के स्थान हैं।

बोध प्रश्न 4

1) नई तकनीक से कृषि की साधन लागत संरचना में क्या परिवर्तन हुए हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

2) अधिक उपज देने वाली किस्मों के मामले में किस फसल में सर्वाधिक सफलता मिली और क्यों? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

3) सही वाक्यों पर (√) और गलत वाक्यों पर (×) का निशान लगाइए।

1) प्रत्याशा से कम उत्पादकता तथा उत्पादकता में कमी-बेशी से होने वाली अनिश्चितता अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों के सीमित विस्तार के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी तत्व है। ( )

2) अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज बहुत बड़ी मात्रा में मिट्टी के पोषण तत्वों को अन्न में परिवर्तित करने में सक्षम नहीं हैं। ( )

3) खाद तथा जल की पर्याप्त पूर्ति अधिक उपज देने वाली तकनीक की सफलता की पूर्व-शर्त है। ( )

4) भारतीय कृषि में मशीनों का इस्तेमाल स्वतंत्रता प्राप्ति से ही हो रहा है। ( )

12.5 उत्पादन, बिक्रीत आधिक्य (Marketed Surplus) तथा प्रतिफल

तकनीकी परिवर्तन के विस्तार का दो प्रकार से मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रथम, आधुनिक साधनों के उपयोग में वृद्धि को माप कर तथा द्वितीय, आधुनिक साधनों के कारण उत्पादन में वृद्धि को माप कर। पिछले खण्डों में हमने नई तकनीक के कारण साधनों के ढाँचे में हुए परिवर्तन के विस्तार का परीक्षण किया था। अब हम नई तकनीक से उत्पादन, बिक्रीत आधिक्य तथा प्रतिफल में हुए परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे।

12.5.1 उत्पादन

उत्पादन में वृद्धि का विश्लेषण करते समय दो प्रश्नों को ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम, क्या साठ के दशक के मध्य के बाद से कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि हुई है? द्वितीय, क्या इस बात का कोई सकारात्मक प्रमाण है कि यह वृद्धि उच्च तकनीक के कारण हुई है? प्रारंभ में इस तकनीक के उत्पादन प्रभाव के बारे में बड़े-बड़े दावे किए गए, जो प्रायोगिक खेतों में परीक्षण के अंतर्गत प्राप्त उपज के आँकड़ों पर आधारित थे। किंतु हरित क्रांति के बाद की अवधि में उत्पादन के वास्तविक आँकड़ों से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि साठ के दशक के मध्य के बाद से कृषि उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ा है।

श्रीनिवासन के अनुसार नई तकनीक के आरंभ के पश्चात् गेहूँ के अलावा अन्य खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि दर में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। देसाई का भी यही निष्कर्ष है कि नई तकनीक का उपयोग करने वाले किसानों की उपज इस तकनीक का उपयोग नहीं करने वाले किसानों की उपज से अधिक नहीं थी। फिर भी, इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि 1960 के दशक में कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है। अपितु इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दशक तथा हरित क्रांति से पूर्व की अवधि में कृषि उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति समान रही है। फिर भी हनुमंथ राव का तर्क है कि अब भूमि तथा श्रम जैसे परम्परागत साधन भारतीय कृषि के विकास के प्रमुख स्रोत नहीं रहे हैं।

1961-71 की अवधि में कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि में पूँजी तथा ज्ञान के विकास का योगदान 63 प्रतिशत था। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कृषि उत्पादन चरम तथा अवसाद वर्षों के बीच घटता-बढ़ता रहता है, उन्होंने यह बताया कि कृषि उत्पादन की वृद्धि में नई तकनीक का वास्तविक योगदान नगण्य नहीं है, परंतु यह बहुत ज्यादा भी नहीं है। उसके अनुसार 1964-65 से 1970-71 की अवधि में हुए अतिरिक्त उत्पादन का 27 से 41 प्रतिशत तक 'हरित क्रांति' के कारण हुआ। इसके साथ ही उनके अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गेहूँ के मामले में नई तकनीक का योगदान उत्पादन की वृद्धि में आधे से दो-तिहाई तक है।

इन अध्ययनों में प्रयुक्त आँकड़े हरित क्रांति के आरंभिक वर्षों से संबंधित हैं, परंतु ऐसा लगता है कि उसके बाद भी स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। तालिका 12.5 से 12.7 में 1985-86 तक की अवधि के लिए खाद्यान्न के उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता के बारे में सूचनाएँ दी हुई हैं। तालिका 12.5 में दिए गए कृषि उत्पादन के आँकड़ों को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्पादन की प्रवृत्ति में साठ के दशक के बाद कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल गेहूँ के मामले में उत्पादन में वृद्धि काफी अधिक है। 1985-86 में गेहूँ का उत्पादन साठ के दशक के आरंभ के उत्पादन की तुलना में करीब साढ़े चार गुणा था। इसी अवधि में चावल का उत्पादन केवल दुगुना हुआ। खाद्यान्न के क्षेत्र में कम महत्वपूर्ण फसलें जैसे — दाल, ज्वार व बाजरा के उत्पादन में वृद्धि अधिक उत्साहवर्धक नहीं रही।

तालिका 12.5

खाद्यान्न फसलों का उत्पादन

(मिलियन टन)

फसल	50-51	55-56	60-61	65-66	68-69	70-71	74-75	75-76	76-77	77-78	78-79	79-80	80-81	82-83	83-84	84-85	85-86
चावल	20.6	27.6	34.6	30.6	39.8	42.2	39.6	48.8	41.9	52.7	53.8	42.2	53.2	47.1	60.1	58.3	63.8
गेहूँ	6.4	8.8	11.0	10.4	18.6	24.0	24.1	28.8	29.0	31.8	35.5	31.6	36.5	42.8	45.5	44.1	47.1
ज्वार	5.5	6.7	9.8	7.6	9.8	8.0	10.4	9.5	10.5	12.0	11.4	11.3	10.0	10.8	11.9	11.4	10.2
बाजरा	2.6	3.5	3.3	3.8	3.8	8.0	3.0	5.7	5.9	4.7	5.6	4.0	5.4	5.1	7.7	6.1	3.7
मक्का	1.7	3.1	4.1	4.8	5.7	7.0	5.6	7.3	6.4	6.0	6.2	5.6	7.0	6.6	7.9	8.4	6.6
अन्य अनाज़	6.1	6.8	6.4	5.2	5.9	7.4	6.9	7.9	6.1	7.3	7.2	5.8	6.3	5.3	6.4	5.3	5.7
दालें	8.4	11.7	12.8	9.9	10.4	11.8	10.0	13.0	11.4	12.0	12.2	8.4	11.2	11.9	12.9	12.0	13.4
कुल खाद्यान्न	50.8	69.3	82.0	72.3	94.0	108.4	99.8	121.0	111.2	126.4	131.9	108.9	129.9	129.5	152.4	145.5	150.4

स्रोत : 1) छठी योजना प्रारूप (1980-85)

2) आर्थिक समीक्षा : 1980-81 तथा 1988-89

तालिका 12.6

खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्र

(मिलियन हैक्टेयर)

फसल	50-51	55-56	60-61	65-66	66-69*	70-71	74-75	75-76	76-77	77-78	78-79	79-80	80-81	82-83	83-84	84-85	85-86
चावल	30.8	31.5	34.1	35.5	36.2	37.8	37.9	39.4	33.5	40.3	40.5	39.0	39.8	38.26	41.24	41.16	41.14
गेहूँ	9.7	12.4	12.9	12.6	14.6	19.1	18.0	20.5	20.9	21.5	22.6	22.0	22.1	23.57	24.67	23.56	23.00
ज्वार	15.6	17.4	18.4	17.6	18.4	16.8	16.2	16.1	15.8	16.3	16.1	16.5	15.8	16.37	16.43	15.94	16.10
बाजरा	9.0	11.3	11.5	11.6	12.5	11.8	11.3	10.6	10.7	11.1	11.4	10.6	11.6	10.94	11.83	10.62	10.65
मक्का	3.2	3.7	4.4	4.5	5.5	5.7	5.9	6.0	6.0	5.7	5.8	5.8	6.0	5.72	5.86	5.80	5.80
अन्य अनाज़	10.8	11.1	10.7	10.6	10.0	9.4	9.8	10.1	9.4	9.2	8.2	8.4	8.1	7.40	7.59	6.85	6.92
दालें	19.1	23.2	23.6	22.7	22.0	22.2	22.0	24.4	23.0	23.5	23.7	21.8	22.6	22.83	23.54	22.74	24.42
कुल खाद्यान्न	97.3	110.56	115.6	115.1	119.0	122.6	121.0	128.2	124.4	127.5	129.0	123.9	125.8	125.09	131.16	126.67	128.02

स्रोत : * **औसत समंक**

1) छठी योजना प्रारूप (1980-85)

2) आर्थिक समीक्षा : 1980-81 तथा 1988-89

* औसत समंक

तालिका 12.7

खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता

(किलोग्राम/हैक्टेयर)

सल	50-51	55-56	60-61	65-66	70-71	74-75	75-76	76-77	77-78	78-79	79-80	80-81	82-83	83-84	84-85	85-86
ावल	668	874	1013	862	1123	1045	1235	1088	1308	1328	1082	1338	1231	1457	1417	1552
हूँ	655	708	851	827	1307	1338	1410	1387	1480	1571	1436	1648	1816	1843	1870	2046
ार	353	387	533	500	466	643	591	667	739	708	685	673	657	725	715	633
जरा	288	302	286	410	622	290	496	544	491	491	377	466	469	653	569	344
क्का	547	704	926	1111	1279	948	1203	1060	1051	1069	966	1137	1145	1352	1456	1146
ले	441	476	539	438	524	455	553	494	510	515	385	493	519	548	526	547
ल खाद्यान्न	552	605	710	629	872	824	944	894	991	1022	879	1033	1035	1162	1149	1175

त : 1) छठी योजना प्रारूप (1980-85)

2) आर्थिक समीक्षा : 1980-81 तथा 1988-89

किसी भी फसल के उत्पादन में वृद्धि उस फसल के अंतर्गत क्षेत्र तथा उसकी उत्पादकता में वृद्धि का संयुक्त परिणाम होती है। तालिका 12.6 में विभिन्न खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्र में परिवर्तन को दर्शाया गया है। खाद्यान्न के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि बाद के दशकों की तुलना में पचास के दशक में अधिक थी। केवल गेहूँ तथा मक्का की फसलों के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि बाद की अवधि में भी अधिक थी। इसी प्रकार उत्पादकता के मामले में केवल गेहूँ की उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, जहाँ प्रति एकड़ उत्पादकता 1960-61 के बाद से बढ़कर करीब-करीब ढाई गुणा हो गयी (तालिका 12.7)।

तालिका 12.8 में 1949-50 से 1980-81 के बीच की तीन अवधियों में प्रमुख खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र, उत्पादन तथा प्रति एकड़ उत्पादकता की चक्रवृद्धि दरों को दर्शाया गया है। तालिका से स्पष्ट है कि सभी खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्र की वार्षिक वृद्धि दर 1950 के दशक में 2.1 प्रतिशत से कम होकर 1960-61 से 1970-71 की अवधि में 0.6 प्रतिशत तथा 1960-61 से 1980-81 में 0,4 प्रतिशत हो गयी। यद्यपि गेहूँ तथा मक्के की फसलों के अंतर्गत क्षेत्र में 1970 तथा 1980 के दशक में काफी अधिक वृद्धि हुई परंतु यह वृद्धि पचास के दशक से कम थी। इसी प्रकार उत्पादन की वृद्धि दर में कमी हुई। 1949-50 से 1960-61 की अवधि में सभी खाद्यान्न फसलों के लिए यह वृद्धि दर 3.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, जो कम होकर 1960-61 से 1970-71 की अवधि में 2.5 प्रतिशत तथा 1960-61 से 1980-81 की अवधि में 2.4 प्रतिशत हो गई। किंतु गेहूँ के मामले में उत्पादन की वृद्धि दर पचास की तुलना में साठ तथा सत्तर के दशकों में अधिक रही। यहाँ तक कि बाजरे तथा मक्के के उत्पादन की वृद्धि दर 1960-61 से 1970-71 की अवधि में इससे पूर्व की अवधि की तुलना में अधिक थी। यद्यपि इन दरों में बाद की अवधि में गिरावट आई। जहाँ कृषित क्षेत्र के बारे में पचास के दशक की स्थिति, साठ तथा सत्तर के दशकों की तुलना में बेहतर थी, वहीं उत्पादकता के बारे में स्थिति बिल्कुल उल्टी है। सभी खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता की वार्षिक वृद्धि दर पचास के दशक में 1.4 प्रतिशत से बढ़कर साठ के दशक में 2.0 प्रतिशत हो गई, परंतु 1960-61 से 1980-81 की अवधि में यह कम होकर 1.6 प्रतिशत हो गई। इसके साथ ही गेहूँ की उत्पादकता की वृद्धि दर में पचास के दशक की तुलना में बाद की अवधि में भारी वृद्धि हुई। बाजरा तथा मक्का की स्थिति पचास के दशक की तुलना में कम से कम साठ के दशक से बेहतर रही। यह स्पष्ट है कि साठ तथा सत्तर के दशक में खाद्यान्न के उत्पादन में जो कुछ भी वृद्धि हुई, वह मुख्यतः उत्पादकता में वृद्धि के कारण हुई, जबकि पचास के दशक में उत्पादन में वृद्धि का मुख्य कारण कृषित क्षेत्र का विस्तार था।

उपर्युक्त विश्लेषण से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं :

1) महत्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तनों के बावजूद भी कृषि उत्पादन की विकास दर में वृद्धि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं हुई। वास्तव में वृद्धि दर में गिरावट दर्ज की गई।

2) फसलों की गहनता में वृद्धि के बावजूद भी कृषित क्षेत्र की वृद्धि दर में तेजी से गिरावट आई, परंतु उत्पादकता में वृद्धि होने से इसकी करीब-करीब क्षतिपूर्ण हो गई।

3) विभिन्न फसलों की उत्पादकता में वृद्धि की दर काफी असमान रही। जहाँ कुछ फसलों, विशेषतः गेहूँ की उत्पादकता की वृद्धि दर काफी अधिक तथा वर्धमान रही, वहीं दाल तथा मोटे अनाजों जैसी फसलों की स्थिति ऐसी नहीं रही। अधिक उपज देने वाले किस्मों की तकनीक का चावल की उत्पादकता पर उस प्रकार का चमत्कारिक प्रभाव नहीं हुआ, जैसा कि गेहूँ की उत्पादकता पर हुआ।

सामान्य रूप से चमत्कारी लगने वाली नई तकनीकों का उत्पादन पर प्रभाव सीमित तथा निराशाजनक क्यों रहा? इसका आंशिक उत्तर यह हो सकता है कि आरंभिक प्रत्याशाएँ बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश की गई थी, जो परीक्षण की स्थितियों में प्राप्त अत्यधिक ऊँची उपज पर आधारित थीं। परंतु इस निराशाजनक स्थिति के लिए कुछ अन्य तत्व भी उत्तरदायी हैं।

तालिका 12.8

चुनी हुई फसलों के अंतर्गत क्षेत्र, उत्पादन तथा प्रति एकड़ उत्पादकता की चक्रवृद्धि दर

(प्रतिशत)

फसल	क्षेत्र			उत्पादन			उत्पादकता		
	1949-50 से 1959-60	1960-61 से 1970-71	1960-61 से 1980-81	1949-50 से 1959-60	1960-61 से 1970-71	1960-61 से 1980-81	1949-50 से 1959-60	1960-61 से 1970-71	1960-61 से 1980-81
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
चावल	1.1	0.8	0.7	3.2	1.6	1.9	2.2	0.8	1.2
ज्वार*	1.2	-0.1	-1.0	2.8	0.0	-0.5	1.6	0.1	0.6
बाजरा	2.0	1.5	0.6	2.6	5.9	2.8	0.7	4.4	2.5
मक्का*	3.0	3.3	2.3	4.3	4.7	2.7	1.3	1.4	0.4
गेहूँ	3.7	2.8	3.3	4.5	4.7	7.2	0.9	4.7	3.8
दालें	3.0	-1.1	-0.4	3.1	-0.9	-0.6	0.1	0.2	-0.1
खाद्यान्न	2.1	0.6	0.4	3.3	2.5	2.4	1.4	2.0	1.6

स्रोत : सी.एच. हनुमंथ राव : *टेक्नोलोजिकल चेंज एण्ड डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ गेन्स इन इंडियन एग्रीकल्चर;* नीलकण्ठ रथ, ए नोट ऑन एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन इन इंडिया डयूरिंग 1955-78, *इंडियन जनरल ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनोमिक्स*, वाल्यूम XXXV, नं. 2, 1980, तथा आर्थिक तथा सांख्यिकी निदेशालय, भारत सरकार

* ज्वार तथा मक्का के समंक 1960-61 से 1975-76 से संबंधित हैं।

प्रथम, इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि अधिक उपज देने वाले किस्मों के बीज केवल गेहूँ के मामले में ही सर्वाधिक सफलतापूर्वक तरीके से विकसित कि जा सके। यद्यपि चावल (जो भारत की प्रमुख खाद्य-फसल है) की नवीन किस्में विकसित की गई, परंतु उनसे बहुत अधिक आशाजनक परिणाम प्राप्त नहीं हुए। चावल के उत्पादन की वृद्धि के प्रयासों में असफलता का आंशिक कारण चावल के उत्पादन को प्रभावित करने वाली स्थानीय परिस्थितियों में व्यापक विभिन्नता का पाया जाना है। द्वितीय, कई अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि जहाँ नई तकनीक अपनाई गई, वहाँ किसान अब भी उर्वरक तथा अन्य साधनों का निर्धारित स्तर से कम मात्रा का उपयोग करते हैं। खाद जैसे साधनों की सीमित उपलब्धता भी कुछ समय के लिए इन साधनों के कम उपयोग के लिए उत्तरदायी रही। इन साधनों के सीमित उपयोग का अन्य कारण जोखिम टालना भी हो सकता है। किंतु सर्वाधिक महत्व सिंचाई के लिए नियंत्रित जलापूर्ति की पर्याप्त उपलब्धि का अभाव था। चूँकि मानसूनी वर्षा मौसमी है तथा उसके समय व मात्रा में परिवर्तन होता रहता है, अतः हरित क्रांति देश के उन क्षेत्रों में ही केंद्रित रही, जहाँ सुनिश्चित सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसके साथ ही चावल मुख्यतः वर्षा पर आधारित खरीफ की फसल है, जिसमें अधिक उपज देने वाली किस्मों का उपयोग सीमित ही रहा है।

12.5.2 बिक्रीत आधिक्य (Marketed Surplus)

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि विक्रेय आधिक्य का आर्थिक विकास से विशेष संबंध है। अतः नई तकनीक की निष्पत्ति के मूल्यांकन की एक अन्य कसौटी विक्रेय आधिक्य में परिवर्तन है। परंतु इस क्षेत्र में हमें जिस समस्या का सामना करना पड़ता है उसका संबंध उपलब्ध सूचनाओं से है। वस्तुतः हमें बिक्रीत आधिक्य अर्थात् किसान द्वारा बाज़ार में वास्तव में बेचे गए आधिक्य के बारे में जानकारी है न कि विक्रय के लिए उपलब्ध आधिक्य (marketable surplus) के बारे में।

इस बात की पूरी संभावना है कि वास्तव में बेचे गए उत्पादन (बिक्रीत आधिक्य) की मात्रा परिवार के उपयोग की आवश्यकता को पूरा करने के बाद विक्रय के लिए उपलब्ध (विपण्य आधिक्य) से अधिक हो, विशेष रूप से लघु कृषकों के मामले में। विपण्य आधिक्य के आँकड़े उपलब्ध न होने की स्थिति में हम नई तकनीक के प्रभाव को देखने के लिए बिक्रीत आधिक्य के आँकड़ों का उपयोग करेंगे।

अधिकारिक प्रकाशनों में केवल सरकारी अधिकरणों द्वारा की गई खरीद से संबंधित आँकड़े ही उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक सरकारी खरीद का संबंध है, खाद्यान्न की वसूली में सतत् वृद्धि हो रही है, यद्यपि इसमें कुछ कमी-बेशी भी होती रहती है। औसतन इसकी मात्रा साठ के दशक के अंत में 5 मिलियन टन थी, जो बढ़कर 1985-86 में 20 मिलियन

टन के करीब हो गई। कुछ निजी शोध कर्ताओं ने खेतों के आकार के अनुसार बिक्रीत आधिक्य का आकलन किया है। धर्मनारायण (1950 के आँकड़े) व उत्सा पटनायक (1960 के आँकड़े) तथा स्वयं के आँकड़ों (1971 के लिए) का इस्तेमाल करते हुए अशोक गुलाटी ने तीन समयावधियों के लिए खेत के आकार के अनुसार बिक्रीत आधिक्य के बारे में सूचनाएँ दी हैं, जो तालिका 12.9 में प्रदर्शित की गई है।

तालिका 12.9

कार्यशील जोत—समूहों के अनुसार उत्पादन के प्रतिशत के रूप में बिक्रीत आधिक्य

जोत समूह (एकड़ में)	1950	1960	1971
0-5	34	23	26
5-10	27	27	45
10-15	23	31	52
15-20	30	36	55
20-25	32	45	60
25-30	40	49	64
30 तथा अधिक	47	58	78

इस तालिका से स्पष्ट है कि सामान्यतः समय के साथ-साथ बिक्रीत आधिक्य में वृद्धि हो रही है। इसी प्रकार के निष्कर्ष ए.एस. कहलो तथा जी. सिंह द्वारा पंजाब के फिरोजपुर जिले के लिए गेहूँ के बारे में किए गए अध्ययन से प्राप्त हुए हैं (तालिका 12.10)।

तालिका 12.10

फिरोजपुर में खेतों के आकार के अनुसार उत्पादन के प्रतिशत के रूप में बिक्रीत आधिक्य

	1967-68	1971-72
6 हैक्टेयर से कम	23.4	65.1
6 से 15 हैक्टेयर	51.1	66.9
15 हैक्टेयर से अधिक	80.0	81.4

उत्पादन के बढ़ते प्रतिशत को बेचने का एक कारण आधुनिक साधनों के उपयोग से किसानों की नकदी की बढ़ती हुई आवश्यकता भी हो सकती है। इसके साथ ही बड़े किसानों के मामले में खाद्यान्न के उत्पादन के विक्रय की प्रवृत्ति अधिक तथा जीवन निर्वाह की आवश्यकता सापेक्षिक रूप से कम होती है। इन किसानों द्वारा नई तकनीक का इस्तेमाल व्यापक रूप से किया जाता है। अन्य बातों के समान रहने पर नई तकनीक के अंतर्गत खाद्यान्न उत्पादन के बढ़ते संकेंद्रण के साथ-साथ बिक्रीत आधिक्य का स्तर बढ़ता जाता है। भारत के उन भागों में, जहाँ 'हरित क्रांति' सफल रही है, इस बात की संभावना है कि नई क्रांति से भूमि की उत्पादकता तथा फसल की गहनता में वृद्धि होने से वहाँ किसान अपनी आवश्यकता से काफी अधिक खाद्यान्न उत्पादन करते हैं, जिससे बिक्रीत आधिक्य में भी वृद्धि हो रही है।

12.5.3 प्रतिफल

यह स्पष्ट है कि परंपरागत किस्मों की तुलना में नई किस्मों के लिए अधिक साधनों की आवश्यकता होती है, जिनकी लागतें अधिक होती है तथा जिनसे उपज भी अधिक प्राप्त होती है। परंतु लागत तथा उपज में वृद्धि की मात्रा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती है। कुछ मामलों में उपज की मात्रा पुराने स्तर से तीन या चार गुना हो सकती है जबकि कई मामलों में लागतें भी बढ़कर पुराने स्तर की तुलना में तीन या चार गुना बढ़ जाती हैं। प्रश्न यह है कि नई किस्में पुरानी किस्मों की तुलना में कितनी अधिक सफल रही हैं? प्रति एकड़ उपज को सफलता के माप के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। चूँकि नई किस्मों की उत्पादकता अधिक होती है, अतः उन्हें अधिक सफल कहा जा सकता है। किंतु नई तकनीक के प्रतिफल के रूप में एक अन्य माप भी प्रयुक्त हो सकता है — "प्रति इकाई उत्पादन की लागत" (प्रति इकाई उत्पादन की कम लागत का तात्पर्य है अधिक प्रतिफल) उदाहरण के लिए प्रश्न है कि नई तकनीक के अंतर्गत एक किलोग्राम गेहूँ अथवा चावल के उत्पादन की लागत कितनी आती है तथा परंपरागत तकनीक के अंतर्गत कितनी लागत आती थी। संयुक्त राष्ट्र सामाजिक विकास शोध संस्थान में सत्तर के दशक के आरंभ में भारत के विभिन्न भागों के अध्ययनों के आधार पर एकत्र की गई सूचनाएँ इस प्रकार हैं। गेहूँ के बारे में यह निष्कर्ष प्राप्त हुए कि नई तकनीक के अंतर्गत प्रति इकाई गेहूँ के उत्पादन की लागत तुलनात्मक रूप से कम आती है। नई किस्म की अतिरिक्त उपज इसकी लागत की तुलना में आनुपातिक रूप से अधिक होती है। चावल के लिए सात में से चार मामलों में अधिक उपज देने वाली किस्मों के प्रति इकाई उत्पादन का निवल प्रतिफल परंपरागत किस्मों की तुलना में कम तथा तीन मामलों में अधिक था। साथ ही, अधिक उपज देने वाले किस्मों का प्रति एकड़ निवल प्रतिफल एक के अतिरिक्त

अन्य सभी मामलों में अधिक था। बाजरे के मामले में स्थानीय किस्मों की प्रति इकाई उत्पादन लागत कम थी, परंतु यह लाभ इस तथ्य से निष्प्रभावी हो गया कि अधिक उपज देने वाले किस्मों के बाजरे की कीमत अधिक है। इसी प्रकार मक्का के मामले में स्थानीय किस्में लागतों की दृष्टि से अधिक कुशल हैं, परंतु नई किस्मों से प्रति इकाई उत्पादन तथा प्रति हैक्टेयर भूमि दोनों दृष्टिकोणों से अधिक निवल प्रतिफल (अधिक कीमतों के कारण) प्राप्त होता है।

संक्षेप में, इन अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गेहूँ की परंपरागत किस्मों की तुलना में अधिक उपज देने वाली किस्मों को बोना अधिक लाभदायक तथा सफल प्रतीत होता है। परंतु अन्य फसलों के बारे में स्थिति अस्पष्ट है।

बोध प्रश्न 5

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

   1) साठ तथा सत्तर के दशक के तुलना में पचास के दशक में खाद्यान्न की .....(कृषित क्षेत्र/उत्पादन) की वृद्धि दर अधिक थी।

   2) यह कहा जाता है कि .....(गेहूँ/चावल) की परंपरागत किस्मों की तुलना में अधिक उपज देने वाली किस्मों को बोना अधिक लाभदायक तथा सफल रहा है।

2) 'नई तकनीक' का उत्पादन पर सीमित तथा निराशाजनक प्रभाव रहा है। (50 शब्दों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नई तकनीक के अंतर्गत क्या खेतों के आकार तथा बिक्रीत आधिक्य मे धनात्मक संबंध है, यदि हैं तो क्यों? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

12.6 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको भूमि सुधार से लेकर साठ के दशक तक भारत की कृषि अर्थव्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। साठ के दशक में संस्थागत सुधारों के स्थान पर तकनीकी परिवर्तनों पर जोर दिया जाने लगा था। जैसा कि हम जानते हैं कि 1965 के भारत-पाक युद्ध तक 1965 से 1967 तक लगातार दो वर्षों की फसल की बर्बादी के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की किसी भी अवधि की तुलना में साठ के दशक के मध्य में भारत की स्थिति बहुत खराब थी। खाद्यान्नों का आयात बढ़ रहा था तथा भू-क्षेत्र में वृद्धि करके उत्पादन बढ़ाने की संभावनाएँ सीमित थीं। अतः सरकार के समक्ष यही विकल्प था कि वह बिना वर्तमान कृषि संबंधों को बदले खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करे। इसीलिए अधिक उपज देने वाली किस्मों अथवा बीज, जल, उर्वरक पैकेज की घोषणा की गई। इस रणनीति से कुछ परिवर्तन हुए। इससे फसलों के तैयार होने की अवधि में कमी हुई। जैसे-जैसे किसान परंपरागत तकनीक के स्थान पर अधिक उपज देने वाली तकनीक को अपनाता है, वैसे-वैसे प्रति हैक्टेयर उत्पादन लागत बढ़ती जाती है। कुछ साधनों के स्थान पर कुछ विशिष्ट साधनों का महत्व बढ़ता जाता है तथा किसान की बाज़ार पर निर्भरता बढ़ती जाती है।

दूसरी तरफ यदि हम उत्पादन की वृद्धि, बिक्रीत आधिक्य तथा आधुनिक साधनों के प्रतिफल के आधार पर तकनीकी प्रतिफल के विस्तार का मूल्यांकन करें तो हम पाते हैं कि कृषि उत्पादन की वृद्धि दर में गिरावट आई है अथवा उसमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके साथ ही कुछ फसलों विशेषकर गेहूँ की उत्पादकता में वृद्धि दर्ज की गई, जबकि दाल तथा मोटे अनाज़ सहित कई अन्य फसलों की उत्पादकता में वृद्धि नहीं हुई। इसलिए परंपरागत किस्मों की तुलना में गेहूँ की अधिक उपज देने वाली किस्मों को बोना अधिक लाभप्रद तथा सफल प्रतीत होता है। परंतु अन्य फसलों के मामलों में ऐसी स्थिति नहीं है। परंतु इसके साथ ही भारत के उन क्षेत्रों में, जहाँ हरित क्रांति अधिक सफल हुई है,

ऐसा देखा गया है कि नवीन तकनीक से भूमि की उत्पादकता तथा फसलों की गहनता में वृद्धि होने के कारण किसान (विशेषतः बड़े किसान) अपनी न्यूनतम आवश्यकता से भी अधिक खाद्यान्न का उत्पादन कर रहे हैं, जिससे बिक्रीत आधिक्य में वृद्धि हुई है।

12.7 शब्दावली

आपात बिक्री (Distress sale) : उत्पादन का वह भाग, जो अतिरेक उत्पादन नहीं है, परंतु जिसे गरीब किसान द्वारा अपनी वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के लिए बेचा जाता है।

विक्रेय (विपण्य) आधिक्य (Marketable surplus) : बिक्री के लिए उपलब्ध न्यूनतम आवश्यकताओं से अधिक अतिरेक उत्पादन।

बिक्रीत आधिक्य (Marketed surplus) : बिक्री के लिए उपलब्ध होने की बजाए किसान द्वारा वास्तव में बेचा गया उत्पादन। आपात बिक्री की स्थिति में वास्तव में बेचा गया उत्पादन विक्रेय आधिक्य से अधिक होगा।

प्रतिगामी कृषि संरचना (Retrogressive agrarian structure) : वह काश्तकारी प्रणाली, जिसमें काश्तकार को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा नहीं मिलती है।

फसल की गहनता (Cropping intensity) : सकल कृषित क्षेत्र तथा निवल कृषित क्षेत्र का अनुपात।

प्रतिफल (Returns) : उत्पादन के मूल्य में से पैदावार की लागत घटाने पर हुई मूल्य-वृद्धि (value added)। जब इस मूल्य-वृद्धि को विभिन्न साधनों में बाँट दिया जाता है, तो उसे प्रतिफल कहते हैं।

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दासगुप्ता, बिप्लब (1977), *दि न्यू एग्रेरियन टेक्नोलोजी एण्ड इंडिया,* मैकमिलन, दिल्ली।

हनुमंथ राव, सी.एच. (1975), *टेक्नोलोजिकल चेंज एण्ड डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ गेन्स इन इंडियन एग्रिकल्चर,* मैकमिलन, दिल्ली।

चौधरी, प्रमित (1978), *दि इंडियन ईकोनोमि : पॉवर्टी एण्ड डिवेल्पमेंट,* विकास, नई दिल्ली।

अग्रवाल, बीना (1983), *मैकेनाइजेशन इन इंडियन एग्रिकल्चर : एन एनेलिटिकल स्टडी बेस्ड ऑन पंजाब,* एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

सांधु, ए.एन. तथा आर.के. महाजन (1985), *टेक्नोलोजिकल चेंज एण्ड एग्रिकल्चरल डिवेल्पमेंट इन इंडिया,* हिमालय पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, अध्याय 1 व 2।

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 12.2 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

2) अ) सही
   ब) गलत
   स) गलत
   द) गलत

3) भाग 12.2 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

4) भाग 12.2.2 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 12.2.3 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

2) उप-भाग 12.2.3 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

3) उप-भाग 12.2.4 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 12.3.1 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

2) उप-भाग 12.3.2 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 12.4 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

2) उप-भाग 12.4.1 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

3) i) सही
   ii) गलत
   iii) सही
   iv) गलत

बोध प्रश्न 5

1) i) कृषित क्षेत्र
   ii) गेहूँ

2) उप-भाग 12.5.1 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

3) उप-भाग 12.5.2 पढ़िए तथा प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

इकाई 13 नई प्रौद्योगिकी और उसके लाभों का वितरण

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 फार्म का आकार और उत्पादिता
  13.2.1 प्रारंभिक विवाद
  13.2.2 नई प्रौद्योगिकी और फार्म का आकार
  13.2.3 नई प्रौद्योगिकी और उत्पादन प्रक्रिया
  13.2.4 नए प्रमाण
13.3 नई प्रौद्योगिकी और कृषिक संरचना
  13.3.1 हरित क्रांति से पहले की कृषिक संरचना
  13.3.2 नई प्रौद्योगिकी, कृषक वर्ग का विभेदीकरण और सर्वहारीकरण
13.4 आय का वितरण
  13.4.1 छोटे बनाम बड़े कृषक
  13.4.2 मज़दूरी
13.5 नई प्रौद्योगिकी और रोज़गार
  13.5.1 नई प्रौद्योगिकी का स्वरूप और श्रम की मांग
  13.5.2 यंत्रीकरण क्यों?
  13.5.3 यंत्रीकरण और रोज़गार
13.6 क्षेत्रीय असमानताएं
  13.6.1 नई प्रौद्योगिकी का क्षेत्रीय विस्तार : जल की भूमिका
  13.6.2 असमान क्षेत्रीय संवृद्धि
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर संकेत

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप बता पाएंगे कि :

- फार्म के आकार और उत्पादिता के बीच क्या संबंध होता है,
- नई प्रौद्योगिकी के आने के साथ कृषि संरचना में क्या परिवर्तन हुए हैं,
- आय वितरण पर नई प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव पड़ता है,
- नई प्रौद्योगिकी और रोज़गार के बीच क्या संबंध है,
- क्षेत्रीय असमानता पर नई प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव पड़ा है।

13.1 प्रस्तावना

सातवें दशक के मध्य से भारतीय कृषि के कम से कम कुछ भागों में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन हुए हैं। परंपरागत प्रौद्योगिकी के स्थान पर नई प्रौद्योगिकी आ रही है। इस खंड की पहली इकाई में हमने देखा है कि इस परिवर्तन के फलस्वरूप भूमि की प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ी है। नई प्रौद्योगिकी के चलते कुछ आगतों का महत्व कम हुआ है और उनके स्थान पर कुछ अन्य आगतों का सापेक्षिक महत्व बढ़ गया है। आगतों की पूर्ति के संबंध में कृषक बाज़ार पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। इस बात के सबूत हैं कि कृषि की नई प्रौद्योगिकी ने कृषि उत्पादन को पूंजी प्रधान बना दिया है और इस कार्य में कृषिगत पूंजी की मात्रा और उसके अंश बढ़ते जा रहे हैं। कम समय में ही तैयार होने वाली अधिक उपज देने वाली किस्म की (HYV) बहु-फसली प्रणाली ने फसलों की सामयिकता के महत्व को बढ़ा दिया है। समय से संबंधित इन बाधाओं को कम करने की दृष्टि से भारत के कुछ उन भागों में ट्रैक्टर, थ्रेशर तथा कुछ अन्य यंत्रों का बहुत बड़े पैमाने पर प्रयोग होने लगा है, जिन्हें हरित क्रांति का क्षेत्र कहते हैं।

इस पाठ्यक्रम के खंड 3 में हमने देखा है कि हरित क्रांति के चलते फसलों के संबंध में अस्थिरता बढ़ी है और इसका अपवाद संभवतः केवल गेहूँ ही है। इस प्रकार के प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ग्रामीण समाज के विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों को

भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। चूंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से कृषि नीति का एक मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में समानता को बढ़ावा देना रहा है, इसलिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि ग्रामीण समाज और इस देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच लाभों के वितरण पर नई प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव रहा है।

13.2 फार्म का आकार और उत्पादिता

विभिन्न आकार के फार्मों पर नई प्रौद्योगिकी को लागू करने का प्रश्न वाद-विवाद का विषय बन गया। अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान इस ओर गया कि विभिन्न आकार के फार्मों की उत्पादिता पर नई प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव पड़ेगा। नई प्रौद्योगिकी के समर्थकों का कहना है कि फार्मों के आकार के साथ नई प्रौद्योगिकी का कोई संबंध नहीं होता अतः छोटे आकार के फार्मों के कृषक इनका यदि प्रयोग करते हैं तो उन्हें कोई हानि नहीं होगी। लेकिन बहुत से अन्य लोगों का मत है कि नई प्रौद्योगिकी की कुछ आगतें अविभाज्य होती हैं। अतः इनका इष्टतम उपयोग केवल बड़े फार्मों पर ही किया जा सकता है। इस परिच्छेद में इन्हीं के संबंध में विचार किया गया है।

13.2.1 प्रारंभिक विवाद

नई प्रौद्योगिकी के प्रादुर्भाव के पूर्व से ही फार्मों के आकार और उनकी उत्पादिता के संबंध में वाद-विवाद चलते रहे हैं। छठे दशक में कई राज्यों में अनेक "फार्म प्रबंध सर्वेक्षण" किए गए थे। सातवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में इन्हीं सर्वेक्षणों को आधार बनाकर अनेक अध्ययन किए गए जिनसे पता चला कि फार्म के आकार और प्रति एकड़ उत्पादन के बीच विपरीत संबंध होता है। फार्म का आकार जितना ही बड़ा होगा प्रति इकाई भूमि पर पैदावार उतनी ही कम होगी। तुलनीयता और महत्व की दृष्टि से इन अध्ययनों के परिणामों के बीच अंतर तो था, फिर भी कुल मिलाकर आंकड़ों से यही पता चला कि फार्म के आकार और भूमि की प्रति इकाई के बीच विपरीत संबंध होता है।

इस संबंध का एक प्रमुख स्पष्टीकरण यों दिया जाता है कि छोटे आकार की जोतों पर अधिक मात्रा में श्रम लगाना होता है। आम तौर पर छोटे-छोटे फार्मों पर मुख्यतः परिवार के सदस्य ही काम करते हैं, जबकि बड़े फार्मों पर मज़दूरी देकर बहुत बड़ी मात्रा में श्रमिकों से काम कराया जाता है। जैसा कि प्रोफेसर ए.के. सेन ने दलील दी है, चित्र 13.1 के अनुसार भूमि के एक टुकड़े पर श्रम का सीमांत उत्पाद वक्र MP है और श्रमिकों की मज़दूरी की दर OW है।

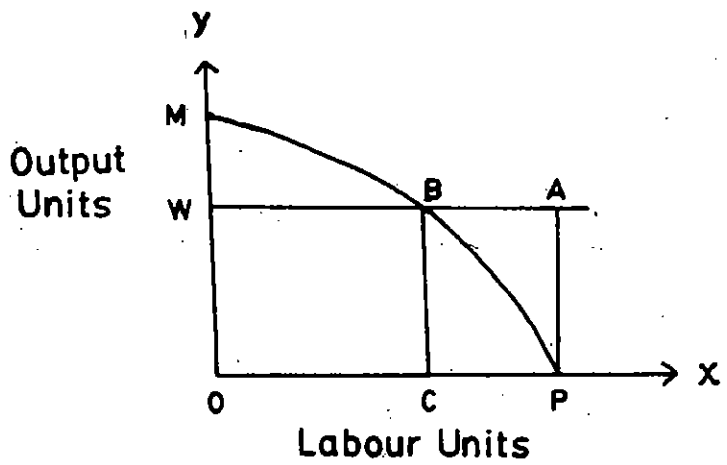

चित्र 13.1

इस स्थिति में एक बड़ा कृषक श्रमिकों को उस बिन्दु तक काम पर लगाएगा जब तक कि मज़दूरी की दर श्रम के सीमांत उत्पाद के बराबर नहीं हो जाती। उसका उत्पादन OMBC होगा तथा उसे MWB लाभ होगा। लेकिन जिस फार्म पर परिवार के सदस्य ही श्रम कार्य करते हैं, उस पर तब तक उत्पादन कार्य होगा जब तक कि सीमांत उत्पादिता शून्य तक नहीं पहुंच जाती। इसका अर्थ यह है कि वह OP श्रम लगाएगा। यदि पारिवारिक श्रम की आरोपित मज़दूरी (imputed wage) OW है तब परिवार की कुल श्रम लागत OWAP होगी और कुल उत्पादन OMP होगा (जो OMBC से अधिक है) और लाभ OMP—OWAP = MWB—BAP होगा। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मज़दूरी वाले श्रम पर आधारित फार्म की तुलना में पारिवारिक फार्म का उत्पादन BCP [illegible] और उसका लाभ BAP कम होगा। यह कहा जाता है कि छोटे परिवार के श्रम पर आधारित उत्पादन लाभ [illegible] करने से नहीं बल्कि उत्पादन को अधिकतम करने से प्रेरित होगा जिससे कि वह परिवार अपने जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इसके अतिरिक्त भारत में छोटे-छोटे कृषकों की बहुत बड़ी संख्या जातिगत प्रतिबंधों के कारण [illegible] नहीं करती, जिसके फलस्वरूप उनकी अवसर लागत शून्य हो गई है। छोटे फार्मों की उत्पादिता

के अधिक होने का एक दूसरा कारण यह है कि इनपर कार्य करने वाले कृषक उत्पादन को (बड़े फार्मों पर कार्य करने वाले श्रमिकों की तुलना में परिवार का श्रम) अधिकतम करना चाहते हैं और उनका श्रम अच्छी किस्म का होता है।

कम उत्पादिता वाला पारिवारिक श्रम अधिक उत्पादिता वाले बड़े आकार के वाणिज्यीकृत फार्मों पर कार्य करने क्यों नहीं जाता, इसका कारण है कृषि के स्वरूप का मौसमी प्रकार का होना। जब परिवार तय कर लेता है कि फसलों का स्वरूप किस प्रकार का हो उसके बाद वह कृषि कार्य उसी के अनुरूप करता रहता है। वह अलग से कोई कार्य तब तक नहीं करता जब तक कि ऐसे कार्य में लगने वाला समय उसके अपने कृषि कार्य से बचे हुए समय के अनुरूप न हो।

यह देखा गया है कि परंपरागत कृषि के अंतर्गत छोटे कृषक गहन खेती करते हैं। 1961 की जनगणना के आंकड़ों के एक समष्टिगत अध्ययन से पता चलता है कि छोटे आकार जोतों अनुपात (पांच एकड़ से कम के) तथा सिंचित भूमि और दोहरी फसल के अनुपात के बीच धनात्मक संबंध होता है।

13.2.2 नई प्रौद्योगिकी और फार्म का आकार

जैसा कि हम जानते हैं नई कृषि प्रौद्योगिकी कुछ जीव रासायनिक और यांत्रिक आगतों का मेल होती है। इन आगतों के उपयोग के संबंध में पूरकता होती है। सिंचाई सुविधाओं के बढ़ने और शीघ्र प्राप्त होने वाली अधिक उपज की फसलों के आ जाने के कारण फसलों की पैदावार अधिक होने लगी है। इसके फलस्वरूप कृषि कार्य को समय से करने का महत्व बढ़ गया है। ट्रैक्टर, थ्रेशर, फसल काटने की मशीनों और अन्य प्रकार के यंत्रों के चलते कृषि कार्य में कम समय लगने लगा है।

उर्वरक, बीज, इन्सेक्टिसाइड, पेस्टिसाइड आदि आगतें विभाज्य होती हैं और इनका उपयोग किसी भी आकार के फार्म पर किया जा सकता है। फिर भी छोटे कृषकों के पास यदि पर्याप्त साधन नहीं हैं तो वे इनका उपयोग नहीं कर सकते। इन आगतों का क्रय नकद देकर करना होता है या सहकारी समितियों या अन्य किसी बैंक के जरिए। परंतु, चूंकि छोटे कृषकों के पास नकद राशि की कमी होती है और बैंकों तथा सहकारी समितियों तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती। अतः कहा जाता है कि बड़े कृषकों के मुकाबले छोटे कृषकों को उतना लाभ नहीं हो पाता। नकद राशि की कमी और संस्थागत ऋण तक छोटे कृषकों की पहुँच न हो पाने के अतिरिक्त उनके सम्मुख दूसरी समस्या यह होती है कि बड़े कृषक अपने उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से उपर्युक्त दुर्लभ साधनों पर एकाधिकार-सा प्राप्त कर लेते हैं।

दूसरी ओर ट्रैक्टर, ट्यूबवेल, थ्रेशर आदि आगतें अविभाज्य होती हैं और उन्हें खरीदने के लिए बहुत बड़ी रकम की आवश्यकता पड़ती है। ये आगतें प्रायः बड़े-बड़े कृषकों के ही पास होती हैं। छोटे कृषक तो इनका उपयोग इन्हें किराए पर लेकर ही कर पाते हैं। ट्यूबवेलों का उपयोग तो वे और भी सीमित मात्रा में कर पाते हैं। अन्य यांत्रिक आगतों का बाज़ार अपूर्ण होता है और छोटे कृषक उनका उपयोग कम ही कर पाते हैं। कृषि कार्य जब ज़ोरों पर होता है तब बड़े कृषक यांत्रिक साधनों को अपने काम में ही लगाए रखते हैं और इस स्थिति में छोटे कृषक अत्यंत आवश्यकता पड़ने पर भी इन्हें उनसे किराए पर नहीं ले पाते। इन सबका परिणाम यह होता है कि बड़े-बड़े कृषकों को पूंजी परिसंपत्तियों और वित्तीय साधनों तक अधिक मात्रा में पहुंच हो पाती है और छोटे कृषकों की तुलना में उनकी स्थिति अच्छी होती है।

कुछ अन्य कारक भी हैं जो छोटे कृषकों के खिलाफ जाते हैं। वे प्रायः परंपरागत होते हैं और उनमें खतरा भी बहुत होता है क्योंकि उनमें बचत की गुंजाइश कम होती है। इन लोगों के पास कोष की भी कमी होती है जिसका उपयोग वे आवश्यकता पड़ने पर कर सकते। दूसरी ओर बड़े कृषकों के पास साधन और जानकारी अधिक होती है, वे अधिक उद्यमशील होते हैं, वे अपने कृषि कार्य को आधुनिक बनाने में अधिक समर्थ होते हैं और इस कार्य को वे अनेक कृषि वर्षों के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। खेती में अधिक निवेश करने से ऊँची उत्पादकता को बढ़ावा मिलता है, जिससे उनकी बचत अधिक होती है। इस बचत की सहायता से वे कृषि कार्य में और भी अधिक निवेश कर पाते हैं। यह प्रक्रिया चलती रहती है और इस प्रकार बड़े कृषकों की स्थिति अच्छी होती जाती है।

13.2.3 नई प्रौद्योगिकी और उत्पादन प्रक्रिया

कृषि उत्पादन प्रक्रिया का उद्योग की प्रक्रिया से एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि यह बहुत बड़े क्षेत्र में फैली होती है। यंत्रीकरण के अभाव में बैलों की सहायता से ऐसे क्षेत्र में जोतने-बोने का काम कठिन होता है। पशु-शक्ति पर आधारित प्रौद्योगिकी की स्थिति में श्रमिकों की कार्य-कुशलता और कार्य के प्रति उनकी रूचि कृषि उत्पादिता का प्रमुख निर्धारक होती है। परंतु किराए के मज़दूरों की सहायता से बड़े पैमाने की खेती की देखभाल का काम कठिन होता है। ऐसी स्थितियों में पारिवारिक श्रम पर आधारित फार्मों की स्थिति अच्छी होती है।

इसके विपरीत नई प्रौद्योगिकी के आने से उत्पादन प्रक्रिया बदल गई है। इस प्रौद्योगिकी का एक प्रभाव यह हुआ है कि मानवीय कौशल और प्रयास पर उत्पादन की निर्भरता घट गई है और गैर-मानवीय आगतों के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध बढ़ गया है। जीव रासायनिक परिवर्तनों के साथ-साथ जिस सीमा तक यांत्रिक परिवर्तन होते हैं, वहाँ तक श्रम पर निर्भरता कम हो जाती है। इस प्रकार अपने ही श्रम के परिणामों को प्रभावित करने के संबंध में प्रत्यक्ष उत्पादक (पारिवारिक श्रम या किराए के श्रमिक) की क्षमता कम ही होती है। क्योंकि कृषि कार्य में मशीन का प्रयोग कुछ सीमा तक कार्य का मानकीकरण कर देता है, आवश्यक कौशल की विषयकता की सीमा को घटा देता है और विस्तृत क्षेत्रों को बहुत कुछ नियंत्रित कर देता है। अतः 'सफल' अथवा 'वांछित' उत्पादन के लिए आवश्यक समय और प्रयास की

मात्रा भी घट जाती है। सच्चाई तो यह है कि स्वयं निरीक्षण भी उत्पादन प्रक्रिया का एक अंग हो जाता है। इन परिवर्तनों के कारण पुरानी प्रकार की प्रौद्योगिकी के अंतर्गत बड़े पैमाने की कृषि से होने वाले घाटे कम हो गए हैं।

13.2.4 नए प्रमाण

इस परिच्छेद में हम अनुसंधानकर्ताओं द्वारा एकत्रित उन प्रमाणों के संबंध में विचार करेंगे जो उन्होंने आनुभाविक अध्ययनों के आधार पर एकत्रित किया है और जो अध्ययन उन्होंने "हरित क्रांति" के क्षेत्रों में फार्म के आकार और उत्पादिता के बीच के संबंधों के परीक्षण के लिए किया था। विपरीत संबंध में परिवर्तन होने का पहला संकेत उन अध्ययनों से मिला जो सातवें दशक के अंतिम वर्षों में उन्नत जिलों में इंटेंसिव एग्रिकल्चरल डिस्ट्रिक्ट प्रोग्राम (IADP) के अंतर्गत किए गए थे। इन क्षेत्रों के आंकड़ों से पता चला कि अधिक पिछड़े हुए जिलों की तुलना में यहां पर विपरीत संबंध कमज़ोर था। 1967 और 1969 के बीच भारत सरकार ने पंजाब के फिरोज़पुर ज़िले में "फार्म प्रबंध सर्वेक्षण" किया। चूंकि ये सर्वेक्षण उस अध्ययन की अनुवर्ती कार्रवाई मात्र थे जो छठे दशक के मध्य में इस ज़िले में किया गया था, अतः इससे प्राप्त आंकड़ों से हरित क्रांति से पहले और उसके बाद फार्म के आकार और उत्पादिता की तुलना करने में मदद मिली। अनेक अध्ययनों से पता चला कि बाद के वर्षों में विपरीत संबंध या तो अत्यंत कमज़ोर हो गया था या वह बिल्कुल ही समाप्त हो गया था।

फिरोज़पुर ज़िले में प्राप्त प्रमाण को "हरित क्रांति" वाले अन्य ज़िलों में इसी प्रकार के अध्ययनों से प्राप्त परिणामों से पुष्टि होती है। 1969-70 के आंकड़ों के आधार पर प्रोफेसर सी.एच. हनुमंतराव ने पाया कि पश्चिमी गोदावरी में फार्म के आकार और उत्पादिता के बीच कोई महत्वपूर्ण प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ी। इसी वर्ष में मेरठ के कुछ चुने हुए फार्मों के अध्ययन से ऐसा ही पता चला।

भारत में "हरित क्रांति" के संबंध में UNRISD की रिपोर्ट में सात व्यष्टिगत अध्ययनों के परिणामों तथा भारत के अनेक कृषि आर्थिक अनुसंधान केन्द्रों (Agro-economic Research Centres) द्वारा प्रायोजित उन्नीस मूल्यांकन रिपोर्टों को संकलित किया गया। ये अध्ययन सातवें दशक के अंतिम वर्षों एवं आठवें दशक के शुरू के वर्षों में संकलित आंकड़ों पर आधारित थे। इन अध्ययनों के निष्कर्षों को संक्षेप में यों कहा जा सकता है :

क) अधिक उपज वाली किस्मों (HYVs) के प्रादुर्भाव के साथ एक ओर तो फार्म के आकार और दूसरी ओर लागत और उपज के बीच ऋणात्मक संबंध नहीं रहा। बड़े कृषकों ने अपनी भूमि पर खेती की गहनता को बढ़ा दिया है, ऐसा उन्होंने उन आगतों के उपयोग बढ़ाने के संबंध में विशेष करके किया है जो नई प्रौद्योगिकी के अंतर्गत अधिक महत्वपूर्ण है। ये आगतें हैं उर्वरक, कीटनाशक दवाइयाँ अधिक उपज देने वाले बीज और मशीनें जिन्होंने छोटे फार्मों की उपज संबंधी पहले के लाभ को निष्प्रभावी कर दिया है। गेहूँ के संबंध में यह विशेषकर लागू होता है परंतु चावल के संबंध में स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। चावल की पैदावार के संबंध में गेहूँ की अपेक्षा अधिक ध्यान देना होता है।

ख) कुछ स्थितियों में तो उपज, लागत और लाभप्रदता के साथ फार्म के आकार का संबंध बड़े आकार के फार्मों के पक्ष में पूर्णतः गया है। बड़े पैमाने पर गेहूँ के उत्पादन के संबंध में ऐसा विशेषतः हुआ है।

ग) बड़े फार्म ट्रैक्टर और पंपसेट जैसे मशीनों पर अधिकाधिक रूप में निर्भर होते जा रहे हैं, जिन्हें खरीदने में तो अधिक पैसा लगाना पड़ता है, लेकिन इनसे लागत कम हो जाती है। कहीं-कहीं तो छोटे कृषक भी इन मशीनों को बड़े कृषकों से किराए पर लेकर उनका उपयोग करने लगे हैं परंतु इन उपयोग के बदले उन्हें जो कीमत चुकानी पड़ती है वह बड़े कृषकों की मूल्यह्रास और परिचालन लागत से अधिक होती है। इस संबंध में दूसरी बात यह है कि फार्म मशीनों के उपयोग के संबंध में छोटे कृषक बड़े कृषकों पर निर्भर होते हैं परंतु समय पर तो उनका उपयोग बड़े कृषक ही कर पाते हैं क्योंकि वे उसके स्वामी होते हैं। उपर्युक्त कारणों से बड़े कृषकों की खाद्यान्न की प्रति किलोग्राम उत्पादन लागत कम होती है।

इन अध्ययनों में जिन आंकड़ों का उपयोग किया गया है, वे नई प्रौद्योगिकी के आने के शीघ्र ही बाद की अवधि से संबंधित हैं जब "हरित क्रांति" की ज़ड़ें मज़बूत नहीं हो पाई थीं। उसके बाद तो कृषि कार्यों का अत्यधिक यंत्रीकरण हुआ है और भारत के कुछ भागों में कुछ अन्य आगतों का बहुत अधिक उपयोग होने लगा है। उदाहरणार्थ पंजाब में 1960-70 से 1981 के बीच ट्यूबवेल की संख्या 87562 से बढ़कर लगभग 6.1 लाख हो गई। उसी प्रकार 1972 से 1981 के बीच ट्रैक्टर की संख्या लगभग 41,000 से बढ़कर 1,20,000 हो गई। इसके अतिरिक्त 1970-71 से 1982-83 के बीच प्रति एकड़ उर्वरक के उपयोग की मात्रा 33 कि.ग्रा. से बढ़कर 129 कि.ग्रा. हो गई। चूंकि सभी कृषक इन आगतों का उपयोग समान रूप से नहीं कर पाते, अतः विभिन्न आकार के फार्मों पर प्रौद्योगिकी का प्रभाव अलग-अलग ढंग से पड़ता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि अपेक्षाकृत अधिक विकसित क्षेत्रों से प्राप्त हाल के आंकड़ों के आधार पर इस संबंध में और गहराई से अध्ययन किया जाए।

1975-76 के आकंड़ों पर आधारित प्रोफेसर भल्ला और चढ्ढा के अध्ययन से पता चलता है कि कम से कम मध्य पंजाब के ज़िलों में इस बात के संकेत मिलते हैं कि फार्म के आकार और उत्पादिता के बीच सीधा संबंध है। पंजाब के फिरोज़पुर ज़िले के इसी अवधि से संबंधित NCAER के अध्ययन में भी देखा गया है कि इन दोनों के बीच स्पष्ट रूप से सीधा संबंध है। 1979-80 के आंकड़ों पर आधारित पंजाब से संबंधित एक अन्य अध्ययन भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुरू-शुरू में तो पैमाने से होने वाले लाभ महत्वहीन नहीं हैं परंतु समय के साथ-साथ इनका महत्व बढ़ता जाता है क्योंकि बड़े कृषक अधिकाधिक मात्रा में निवेश कर पाते हैं और अपनी संवृद्धि दर को बढ़ाते जाते हैं। इस दो अवस्था वाली प्रक्रिया का यह अर्थ है कि जिन क्षेत्रों में संक्रमण की शक्तियां हाल की हैं वहां पहला प्रभाव यह होता है कि परंपरागत विपरीत संबंध समाप्त हो जाता है। परंतु आगे चलकर जब बड़े फार्मों से होने वाले लाभ बहुत दिनों तक चलते रहते हैं तब इस संबंध में धनात्मक होने की प्रवृत्ति हो जाती है। आय वितरण और कृषि संरचना की दृष्टि से इसके आशय और भी महत्वपूर्ण हैं। अगले अनुच्छेदों में इन पक्षों के संबंध में विचार किया जाएगा।

बोध प्रश्न 1

खाली स्थानों को भरिए :

1) i) छोटे परिवार वाले कृषकों को उत्पादन की प्रेरणा प्रायः (लाभ को अधिकतम करना/कुल उत्पादन को अधिकतम करना) ..... से मिलती है।

   ii) अधिक उपज वाली किस्म (HYV) को प्रौद्योगिकी के प्रादुर्भाव के साथ उपज, लागत और लाभप्रदता के साथ फार्म के आकार का संबंध (छोटे फार्म/बड़े फार्म) ..... के पक्ष में गया है।

2) बताइए कि नई प्रौद्योगिकी ने उत्पादन की प्रक्रिया को किस प्रकार से बदल दिया है। (पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नई प्रौद्योगिकी के प्रादुर्भाव के साथ क्या परंपरागत फार्म आकार और उत्पादिता के बीच के संबंधों में कोई परिवर्तन हुआ है। (पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.3 नई प्रौद्योगिकी और कृषिक संरचना

आज आम तौर पर सभी इस बात से सहमत हैं कि कृषि के रूपांतरण की प्रक्रिया में कृषि [illegible] एक-दूसरे को प्रभावित करती है। इस प्रकार एक ओर तो प्रौद्योगिकी कृषि संरचना से प्रभावित होती है और दूसरी ओर जब किसी दिए हुए संस्थागत ढांचे में नई प्रौद्योगिकी को लाया जाता है तब वह उस संस्थागत ढांचे को भी प्रभावित करती है। पूर्वी भारत के आनुभविक प्रमाणों के आधार पर अनुसंधानकर्ताओं के एक वर्ग ने यह दलील दी है कि कृषि में अर्ध-सामंती उत्पादन संबंध उत्पादन-निवेश में रुकावटें डालकर कृषि-पिछड़ेपन को बनाए रखता है। इसके विपरीत विकसित विश्व के ऐतिहासिक अनुभवों को आधार बनाकर कुछ अन्य अध्ययनों में इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि पूंजीवादी संचयन के सहयोग से उत्पादन की शक्तियां श्रम की उत्पादिता में क्रांतिकारी परिवर्तन ला देती हैं और उन्हें उत्पादन के ऐसे पैमाने और निवेश के स्तर की आवश्यकता होती है जिनमें छोटे कृषकों वाली वर्तमान कृषिक संरचना बाधक सिद्ध होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पूंजीवादी कृषि प्रणाली के आगमन के साथ बटाईदार कृषक मज़दूर हो जाता है और छोटे कृषक सर्वहारा वर्ग में आ जाते हैं। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अब हम यह विचार करेंगे कि "हरित क्रांति" प्रौद्योगिकी ने भारत में कृषिक संरचना को किस प्रकार प्रभावित किया है।

13.3.1 हरित क्रांति से पहले की कृषिक संरचना

हम जानते ही हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय कृषि संरचना प्रतिगामी थी जिसमें भूमि का वितरण अत्यंत असमान था जिसके फलस्वरूप बड़े भूस्वामी भूमिहीनों को सताते थे जिससे उत्पादन कार्य में बाधाएं आती थीं। एक ओर बड़े-बड़े ज़मींदार और दूरवासी ज़मींदार होते थे जिनका कुल भूमि के बहुत बड़े भाग पर स्वामित्व होता था और दूसरी ओर भूमिहीन कृषक तथा निर्धन किसान और रैयत होते थे जिनकी भूमि के काश्त के संबंध में कोई सुरक्षा नहीं होती थी और जिनपर लगान का बोझ सदा बना रहता था। इस स्थिति से निपटने के लिए अनेक भूमि सुधार कानूनों को बनाकर भू-संबंधों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। यह महसूस किया गया कि मध्यस्थों के उन्मूलन, कृषकों को भू-स्वामित्व देने, भू-धारण पद्धति को सुरक्षा प्रदान करने और लगान को कम करने से अधिक उत्पादन करने के संबंध में कृषकों को प्रेरणा मिलेगी। असमानता को दूर करने के लिए भू-स्वामित्व की उच्चतम सीमा भी निर्धारित कर दी गई।

छठे दशक के प्रारम्भ और सातवें दशक के मध्य की अवधि में भारतीय कृषि संरचना में कुछ परिवर्तन आए। भूमि सुधार कानूनों के मार्ग में अनेक रुकावटों के आने के बावजूद ज़मींदारों, बड़े-बड़े दूरवासी ज़मींदारों और जागीरदारों को अपनी भूमि के बहुत बड़े भाग से हाथ धोना पड़ा और लगभग दो करोड़ कृषकों का सरकार के साथ सीधा संबंध हो गया। फिर भी, गैर-मौरूसी काश्तकारों (tenants at will), बटाईदारों (जिन्हें बहुत अधिक लगान देना होता है और उन्हें भूमि से कभी भी बेदखल किया जा सकता है) को संरक्षण प्रदान करने से संबंधित कानून तथा जोतों के आकार पर अधिकतम सीमा संबंधी कानून कागजी कार्रवाई मात्र रह गए और उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सका। मध्यम और छोटे आकार के जो प्रायः रैयतवारी और महलवारी क्षेत्रों में रहते थे और जो प्रायः स्वयं ही कृषि कार्य करते थे उन्हें इस प्रकार के कानूनों की परिधि में नहीं लाया गया। काश्तकारी (tenancy) उन्मूलन का प्रयास असफल रहा और छोटे-छोटे ज़मींदारों और कुछ बड़े ज़मींदारों ने काश्तकारी को ऐसा रूप दिया (प्रच्छन्न और कभी-कभी मौखिक काश्तकारी) कि कानून से बचा जा सके। काश्तकारी प्रणाली को हटाने के प्रयास का एक अन्य प्रभाव यह हुआ कि अनेक मध्यम और छोटे आकार के ज़मींदार जो पहले खेती नहीं करते थे अब स्वयं ही खेती करने लगे जिसके फलस्वरूप उनके रैयतों को भूमि से बेदखल होना पड़ा और उनका स्थान मज़दूरी पर काम करने वाले श्रमिकों ने ले लिया। हालाँकि कुल मिलाकर देखा जाए तो हम पाएंगे कि भूमि सुधार कानूनों के चलते भूमि के संकेंद्रण में कुछ कमी तो आई, फिर भी भूमि के वितरण की समस्या टेढ़ी ही बनी रही। जब नई प्रौद्योगिकी को लागू किया गया उस समय भी अनेक कृषक थे जिनके पास भूमि का बहुत बड़ा भाग था। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे और सीमांत कृषकों की भी बहुत बड़ी संख्या थी।

सातवें दशक के मध्य तक सिंचाई के अंतर्गत आनेवाले क्षेत्रों का विस्तार हुआ था और कुछ क्षेत्रों में तो यंत्रीकरण को भी बढ़ावा मिला था। कृषि उत्पादन में वृद्धि 3 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से होने लगी थी और वाणिज्यीकरण में भी कुछ वृद्धि हुई थी। इन परिवर्तनों और भूमि सुधारों से सबसे अधिक लाभ सम्पन्न कृषकों (कृषकों का एक वर्ग जिनका उदय स्वतंत्रता पूर्व काल में ही हो गया था परंतु जिन्हें प्रोत्साहन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही मिला) को हुआ। संभवतः "हरित क्रांति" से भी सबसे अधिक लाभ इसी वर्ग को हुआ। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में भूतपूर्व बड़े-बड़े ज़मींदार "कृषक" (अर्थात् पूंजीपति ज़मींदार) बन गए। ऐसा उन्होंने भूमि की अधिकतम सीमा कानूनों में "स्वतः कृषि" संबंधी प्रावधान से लाभ उठाकर किया।

13.3.2 नई प्रौद्योगिकी, कृषक वर्ग का विभेदीकरण और सर्वहारीकरण

पूर्व-पूंजीवादी कृषि व्यवस्था के अंतर्गत सभी कृषक प्रायः एक ही समान होते हैं जो अपने परिवार के सदस्यों की मदद से ही जीवन निर्वाह स्तर मात्र की कृषि करते हैं। वस्तुओं के उत्पादन के साथ-साथ धीरे-धीरे कृषक विभिन्न वर्गों में बंटने लगे। इनमें से कुछ की पैदावार उनकी आवश्यकता से अधिक होती है जिससे वे अपनी खेती में और धन लगाते हैं, श्रमिकों को मज़दूरी देकर काम पर रखते हैं और इस प्रकार वे और भी सम्पन्न होते जाते हैं। इस प्रक्रिया में कुछ कृषकों को अपने उत्पादन के साधनों (जैसे भूमि और/अथवा बैल) को खोना पड़ता है और वे खेतिहर मज़दूर हो जाते हैं। इसके बावजूद मध्यम श्रेणी और निर्धन किसानों का एक ऐसा वर्ग भी होता हैं (जिनकी संख्या घटती जा रही है) जो अपने खेतों में स्वयं ही काम करते हैं या जो सम्पन्न पड़ोसी कृषकों के यहां मज़दूरी पर काम करते हैं। इस प्रकार कृषकों का विभिन्न वर्गों में विभेदीकरण हो जाता है। अतः यह प्रक्रिया जिसके अंतर्गत छोटे-छोटे या निर्धन कृषकों के हाथ से उत्पादन के साधन जाते रहते हैं और जो मज़दूर बन जाते हैं उसे सर्वहारीकरण (proletarianisation) कहा जाता है।

इस संबंध में प्रश्न यह उठता है कि कृषि में हुई हाल की प्रगति के चलते क्या कृषकों के बीच आर्थिक विभेद आया है। पिछले अनुच्छेद में हम देख चुके हैं कि प्रौद्योगिकी में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप छोटे कृषकों की तुलना में बड़े कृषकों को अधिक लाभ पहुंचा है। ऐसा भी लगता है कि सभी सम्बद्ध राज्यों में कम से कम प्रारंभिक अवस्थाओं में जोत के आकार और उपयोग के बीच धना संबंध रहा है, यानि नई प्रौद्योगिकी का सबसे अधिक उपयोग सम्पन्न कृषक ही करते हैं। इस स्थिति में आशा की जा सकती है कि सम्पन्न कृषक कृषि योग्य अधिकाधिक भूमि को अपने स्वामित्व में लाना चाहेंगे क्योंकि वे इस बात के लिए सक्षम होंगे कि मुनाफ़ा कमाने के अवसरों से लाभ उठा सकें। यंत्रीकरण के साथ-साथ बड़े पैमाने के लाभ के अवसरों के होने के कारण ऐसा विशेषकर होता है।

जहाँ तक भूमि के अतिरिक्त अन्य परिसम्पत्तियों का संबंध है, "हरित क्रांति" वाले विभिन्न क्षेत्रों में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि सातवें दशक के मध्य और आठवें दशक के शुरू के वर्षों में इनके वितरण के संबंध में बड़ी-बड़ी

जोत वाले कृषकों को अधिक लाभ पहुंचा जबकि निर्धन और मध्यम श्रेणी के कृषकों के बीच का अंतर संभवतः घट गया। विशेषतः सम्पन्न कृषकों के पास फार्म मशीनें, साख सुविधाएं और सिंचाई की सुविधाएं अधिक थीं। परंतु यह दुर्भाग्य है कि आठवें दशक के बाद की अवधि के लिए परिसम्पत्तियों के वितरण से संबंधित सभी आंकड़े प्राप्त नहीं हैं।

टी.जे. बायर्स (T.J. Byres) के अनुसार नई प्रौद्योगिकी ने कृषक के विभेदीकरण की प्रक्रिया को बढ़ा दिया है और इसने ऐसी स्थिति ला दी है जिसमें स्व-नियोजित छोटे-छोटे कृषक अधिकाधिक मात्रा में मज़दूरी कमाने वाले श्रमिक बनते जा रहे हैं। उपर्युक्त निष्कर्षों के विपरीत हेयामी (Hayami) का मत है कि आनुभविक अध्ययन यह सिद्ध नहीं करते कि अधिक उत्पादनकारी किस्म की प्रौद्योगिकी ग्रामीण समुदाय में ध्रुवीकरण (polarisation) का कारण है। इसके विपरीत, उनका मत है कि कृषिक संरचना में परिवर्तन कृषक विभेदीकरण (stratification) की तरफ हुआ है। सम्पन्न कृषकों और सर्वहारा वर्ग के बीच होने वाले द्वि-मॉडल विभेदीकरण से भिन्न, जीवन-निर्वाह स्तर से भी बदतर स्थिति वाले कृषक "कृषक स्तरण" (peasant stratification) में बने रहेंगे, हालांकि उनमें से अधिकांश के पास कृषि के लिए पहले से भी कम भूमि बच जाएगी। ऐसा विशेषतः खरीफ चावल के क्षेत्रों में होगा, जहां चावल प्रौद्योगिकी अभी वर्षा पर ही आधारित है।

उत्पादन प्रक्रिया में उपर्युक्त परिवर्तनों के चलते बड़े पैमाने की कृषि अधिक लाभप्रद हो जाती है। इस कारण बड़े भू-स्वामी जो पहले अपनी भूमि को दूसरों को जोतने के लिए देते थे अब मज़दूरों की सहायता से स्वयं ही खेती का काम कर सकते हैं। इस प्रक्रिया की शुरुआत भूमि सुधार कानूनों के साथ ही हो गई थी तथा जिन क्षेत्रों में नई प्रौद्योगिकी का उपयोग अधिकाधिक रूप में हो रहा है वहां पर इस प्रक्रिया को और भी बल मिलेगा। अपनी भूमि पर स्वयं ही खेती वे ज़मींदार कर सकते हैं जो पहले इसे दूसरों को खेती करने के लिए देते थे या वे सम्पन्न कृषक जो पहले अपनी कुछ भूमि पर तो स्वयं ही खेती करते थे और कुछ को लगान पर दूसरों को देते थे।

अब भारत में एक नए प्रकार के काश्तकारों की श्रेणी सामने आने लगी है। ये हैं बड़े-बड़े कृषक जो दूसरों से पट्टे पर भूमि लेकर खेती करते हैं और जिसे विपरीत काश्तकारी कहते हैं। पंजाब में किए गए एक हाल के अध्ययन से पता चलता है कि मध्य पंजाब के विकसित क्षेत्रों में कृषि कार्य के लिए पट्टे पर ली गई भूमि के तीन-चौथाई भाग को उन कृषकों ने लिया है, जिनके पास अपने ट्रैक्टर हैं। अब निर्धन काश्तकारों के स्थान को सम्पन्न कृषकों ने ले लिया है। देखा गया है कि काश्तकारी की वह परंपरागत पद्धति अब समाप्त हो गई है जिसके अंतर्गत कम भूमि के स्वामी बड़े भू-स्वामियों से लगान पर भूमि लेकर खेती करते थे।

उपर्युक्त प्रकार से अपनी भूमि पर स्वयं खेती करने और काश्तकारों की स्थिति में परिवर्तन होने के अतिरिक्त एक और भी कारक सामने आ रहा है जिसके कारण कृषि भूमि के वितरण की स्थिति और भी बदतर हो गई है। वह है निर्धन कृषकों द्वारा अपनी भूमि को सम्पन्न कृषकों को खेती करने के लिए लगान पर देना। सी.एच. हनुमंतराव के अनुसार छोटे-छोटे अनेक भूस्वामी अपनी भूमि को बड़े कृषकों को पट्टे पर इसलिए देने लगे हैं कि परंपरागत रूप से चले आ रहे भूमि के उपयोग के अधिकार के समाप्त हो जाने के बाद उनके पास बहुत कम भूमि खेती के लिए बच गई है, या इसलिए कि उनके पास इतने साधन नहीं हैं कि वे अपनी भूमि के छोटे टुकड़ों पर लाभदायक ढंग से खेती कर सकें या इसलिए कि मज़दूरी की दर इतनी बढ़ गई है कि वे मज़दूरों से काम कराने में समर्थ नहीं हैं। 1960-61 और 1970-71 की अवधि में उन परिवारों का अनुपात 39 प्रतिशत से बढ़कर 54 प्रतिशत हो गया जिन्होंने खेती का काम छोड़ दिया था।

कृषि भूमि के वितरण की स्थिति के बदतर होने संबंधी नवीनतम प्रमाण पंजाब से संबंधित है। कृषि गणना संबंधी आंकड़ों (Agricultural census figures) पर आधारित तालिका 13.1 में हम देखते हैं कि 1970-71 और 1980-81 के बीच जोतों की संख्या 13,75,392 से घटकर 10,27,127 हो गई। यह कमी (निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही अर्थों में) सबसे छोटे आकार की जोतों (2.5 एकड़ तक) के संबंध में अधिक थी, जिसमें छोटी जोतों की संख्या 5.17 लाख से घटकर 1.97 लाख हो गई अर्थात् लगभग 3.2 लाख जोतें कम हो गई। इस अवधि में 10 एकड़ के आकार-वर्ग का सापेक्ष महत्व बहुत बढ़ गया। संभवतः छोटे-छोटे भूस्वामी अब कोई दूसरा पेशा (मज़दूरी

तालिका 13.1

पंजाब में कार्यशील जोतों का वितरण 1970-71 से 1980-81 के बीच

आकार वर्ग (एकड़)	1970-71		1980-81	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
0.0—2.5	5,17,560	37.63	1,97,311	19.21
2.5—5.0	2,60,086	18.91	1,99,365	19.41
5.0—10.0	2,81,130	20.44	2,87,494	27.99
10.0 और उससे अधिक	3,16,616	23.02	3,42,957	33.39
	13,75,392	100.00	10,27,127	100.00

स्रोत: पंजाब सरकार, *स्टैटिस्टिकल ऐबस्ट्रेक्ट ऑफ पंजाब*, 1985, चंडीगढ़, 1986।

पर काम करना भी इसमें शामिल है) अपनाने लगे हैं और अपनी भूमि को अन्य छोटे कृषकों या बड़े कृषकों को पट्टे पर देने लगे हैं (इस प्रकार छोटी जोतों पर भार कम होने लगा है)। उनका ऐसा करने का कारण यह है कि खरीदकर काम में लाई जाने वाली आगतों पर आधारित नई कृषि प्रौद्योगिकी के आ जाने के कारण उनकी अपनी जोतें आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं रहीं।

पर्युक्त आकड़ों को यदि हम काश्तदारों के सर्वहारीकरण के साथ मिलाकर देखें तो पाएंगे कि कृषि जोत क्षेत्रों का संकेद्रण ज़ीपति कृषकों के हाथ में होता जा रहा है। हालांकि इस बात के स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं कि छोटे कृषकों की बहुत बड़ी ख्या अपनी भूमि को सम्पन्न कृषकों को बेचती जा रही है परंतु छोटे कृषकों द्वारा सम्पन्न कृषकों को अपनी भूमि ट्टे पर देना इस दिशा में पहला कदम है।

पर्युक्त विश्लेषण का आशय यह हो सकता है कि कृषक वर्ग का सर्वहारीकरण हो रहा है। सर्वहारीकरण प्रक्रिया की क्रियाशीलता जटिल है परंतु अभी तक इसका प्रभाव आंशिक रहा है। नई प्रौद्योगिकी ने ऐसी स्थितियां ला दी हैं जिनके तर्गत दिन-प्रतिदिन निर्धन कृषकों की भूमि सम्पन्न कृषकों के हाथ में जा रही है। इतना ही नहीं, बल्कि निर्धन कृषक र्ग विभिन्न प्रकार से ग्रामीण मज़दूर होता जा रहा है। इस प्रक्रिया से गांवों में खेतिहर मज़दूरों की संख्या बढ़ती जा रही है।

स बात के भी सबूत मिल रहे हैं कि पश्चिम बंगाल के चावल उपजाने वाले क्षेत्रों में भी अधिक उपज वाली किस्म ं चावल और आलू की खेती करने की प्रणाली तेजी से फैलती जा रही है, जिसके अंतर्गत छोटे-छोटे कृषकों की ूमि को वह उद्यमी वर्ग ठेके पर लेता जा रहा है, जिनके पास इस कार्य में रुपए लगाने के लिए बैंकों तक पहुँच है।

3.4 आय का वितरण

हरित क्रांति" की अवधि से संबंधित साहित्य में कृषिक परिवर्तन के वितरण पक्षों के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया । इस संबंध में अनेक अर्थशास्त्रियों एवं अन्य समाज-शास्त्रियों ने यह प्रश्न उठाया है कि नई प्रौद्योगिकी के चलते या ग्रामीण क्षेत्रों में आय के वितरण से संबंधित असमानता की मात्रा और नहीं बढ़ गई है? पिछले अनुच्छेदों में अपने श्लेषण के संदर्भ में हमने देखा कि नई प्रौद्योगिकी ने निर्धन कृषकों और काश्तकारों के मुकाबले सम्पन्न कृषकों की थति को और अच्छा बना दिया है। आम तौर पर कहा जाता है कि "हरित क्रांति" ने छोटे कृषकों और खेतिहर ज़दूरों की उपेक्षा करके तथा सम्पन्न कृषकों को लाभान्वित करके ग्रामीण क्षेत्र में धनी और निर्धन के बीच की दूरी ने और भी बढ़ा दिया है। उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि छोटे-छोटे कृषकों और खेतिहर मज़दूरों को "नई ौद्योगिकी" से लाभ नहीं हो पाया है। ये सम्पन्न कृषकों से पीछे रह गए हैं जिन्होंने "हरित क्रांति" से होने वाले अतिरिक्त ाभ को हड़प लिया है। कुल उत्पादन में श्रम की आय या मूल्य-वृद्धि में सापेक्ष अंश घट गया है।

3.4.1 छोटे बनाम बड़े कृषक

्रेकेल (Frankel) का कहना है कि नई प्रौद्योगिकी से मुख्यतः बड़े कृषकों को ही लाभ पहुंचा है। लुधियाना, पश्चिमी ोदावरी, तन्जावूर, पालघाट और वर्दवान जैसे पांच आई.ए.डी.पी. ज़िलों के संबंध में अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष र पहुंचे कि इनमें से सभी ज़िलों में छोटे कृषकों को सीमित मात्रा में कुछ लाभ तो हुआ, लेकिन बड़े कृषकों को, श्शेषतः उन्हें जिनके पास 10 से 20 एकड़ तक या उससे अधिक कृषि भूमि है, बहुत अधिक लाभ हुआ। उनका ह भी मत था कि कुछ स्थितियों में तो छोटे कृषकों की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो गई क्योंकि उचित शर्तों र उन्हें खेती करने के लिए पट्टे पर भूमि न मिल सकी। सातवें दशक के अंतिम वर्षों से संबंधित "फार्म प्रबंध र्वेक्षण" आंकड़ों के आधार पर कुछ अन्य विद्वान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे। फिरोज़पुर और मुज्फ्फरनगर ज़िलों के ांकड़ों के आधार पर जी.आर. सैनी इस नतीजे पर पहुंचे कि 1955-57 और 1967-69 के बीच की अवधि में फार्मों । होने वाली आय में असमानता बढ़ी है। चार अन्य ज़िलों के आंकड़ों के आधार पर पी.के. वर्धन भी इसी निष्कर्ष र पहुंचे हैं। लाभ के वितरण के संबंध में सी.एच. हनुमंतराव के व्यापक अध्ययन के निष्कर्ष को संक्षेप में निम्नलिखित ाग्राफ में प्रस्तुत किया गया है।

ौद्योगिकी परिवर्तनों के कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच, छोटे और बड़े किसानों के बीच एवं भू-स्वामियों तथा खेतिहर ज़दूरों और काश्तकारों के बीच आय की असमानता बढ़ी है। फिर भी, कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रौद्योगिकीय रिवर्तनों से होने वाले लाभ सभी वर्ग के लोगों तक थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य ही पहुंचे हैं। इसका सबूत यह है कि जिन क्षेत्रों में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन हुए हैं वहां पर वास्तविक मज़दूरी, रोज़गार और छोटे कृषकों की आय में वृद्धि ुई है। व्यापार-स्थिति के कृषि के अनुकूल होने के कारण छोटे और मध्यम श्रेणी के कृषकों को भी लाभ हुआ है, ालांकि बड़े कृषकों की तुलना में उन्हें कम ही लाभ हो पाया है। फिर भी, इस देश के बहुत बड़े भाग में खेतिहर मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई है।

13.4.2 मज़दूरी

कृषि में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन से होने वाले लाभ के वितरण के संदर्भ में एक दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष कृषि में नकद और वास्तविक मज़दूरी की दरों की प्रवृत्ति से संबंधित है। मज़दूरी संबंधी आंकड़े बहुत स्पष्ट नहीं हैं। 1969 में पंजाब और

बिहार के कुछ क्षेत्रों में अपने यात्रा के दौरान लेजिंस्की (Ladejinsky) ने पाया कि मज़दूरी का स्तर अभी भी बहुत कम था। हाल के वर्षों में नकद मज़दूरी तो बढ़ गई है, विशेषतः फसलों की कटाई के समय, लेकिन वास्तविक मज़दूरी में विशेष सुधार नहीं हो पाया है। इस विषय पर किए गए एक अध्ययन में वर्धन ने पाया कि 1960-61 और 1967-68 के बीच की अवधि में पंजाब और हरियाणा के 15 ज़िलों में कृषि उत्पादन में तो 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई परंतु वास्तविक मज़दूरी बढ़ने के बजाय कुछ घट ही गई। वर्धन ने पंजाब (हरियाणा को मिलाकर) की तुलना केरल के साथ की और पाया कि पंजाब की तुलना में केरल में उत्पादन में कम वृद्धि होने के बावजूद वहां वास्तविक मज़दूरी दर में बहुत अधिक वृद्धि हुई। परंतु इस अध्ययन का विस्तार 1970-71 तक करने पर पाया गया कि पंजाब और हरियाणा में वास्तविक मज़दूरी दर में प्रारंभिक कमी अस्थायी थी तथा सातवें दशक के मध्य के बाद इसमें वृद्धि हुई। फिर भी यह वृद्धि केरल की तुलना में कम ही थी। वर्धन के अनुसार केरल के खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी की दर में वृद्धि का कारण था वहां के कृषि मज़दूर संघों का संगठित होना जिससे उनके पास सौदाकारी की शक्ति अधिक है। विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित अनेक अन्य अध्ययन भी किए गए हैं जिनमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। इन अध्ययनों का सामान्य निष्कर्ष यह रहा है कि 15 वर्षों की अवधि (जिनकी शुरुआत छठे दशक के मध्य के वर्षों से हुई) के प्रथम पांच वर्षों में वास्तविक मज़दूरी में थोड़ी बहुत वृद्धि होती रही। उसके बाद 1961-62 और 1967-68 के बीच की अवधि में केरल को छोड़कर अन्य अधिकतर राज्यों में वास्तविक मज़दरी में विभिन्न मात्रा में कमी हुई। बाद के वर्षों में उड़ीसा जैसे गतिहीन राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में वास्तविक मज़दूरी दर बढ़ने लगी, फिर भी, नवें दशक के मध्य तक यह वृद्धि उतनी नहीं हो पाई, जितनी कि पहले हुई थी।

"हरित क्रांति" की प्रारंभिक अवस्था में नई प्रौद्योगिकी में श्रम का प्रयोग करने वाला जीवरासायनिक घटक श्रम को विस्थापित करने वाले यांत्रिक घटक से अधिक प्रबल था। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक अवस्था में ट्रैक्टरों का उपयोग खेत को बीज बोने के योग्य बनाने तक ही सीमित था तथा अन्य यांत्रिक आगतों का उपयोग भी सीमित मात्रा में ही होता था। यह संभव है कि आगे चलकर विभिन्न कार्यों के लिए ट्रैक्टरों का उपयोग जितना ही अधिक होगा तथा फसल को काटने और खलिहान कार्यों में रीपरों और कम्बाइन हार्वेस्टरों का जैसे-जैसे उपयोग बढ़ेगा वैसे-वैसे श्रम के लिए मांग कम होती जाएगी। इसका प्रभाव अपेक्षाकृत हाल के वर्षों में मजदूरी संबंधी आंकड़ों द्वारा ही जाना जा सकता है।

शिला भल्ला ने 1961-77 की अवधि से संबंधित पंजाब के खेतिहर मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी दर का अध्ययन किया। उनके मतानुसार इस अवधि में एक ओर तो उत्पादिता के बढ़ने के साथ-साथ मज़दूरी की दर बढ़ रही थी और दूसरी ओर श्रम शक्ति और मुद्रा-स्फीति में वृद्धि के कारण वास्तविक मज़दूरी दर घटती जा रही थी। इन सबकी अंतिम निर्णायक तो मुद्रा-स्फीति होती थी, जिसके चलते वास्तविक मज़दूरी दर कभी-कभी 1961 के स्तर से भी नीचे चली जाती थी, जैसा कि 1965-68, 1974-75 और 1977 में हुआ। यदि हम पूरी अवधि को लेते हैं तो देखते हैं कि कृषि उत्पादन तो 1961 के स्तर के ढ़ाई गुना तक हो गया लेकिन पुरुष खेतिहर मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी दर में वृद्धि मात्र 15 प्रतिशत ही हो पाई। नवें दशक के मध्य के वर्षों से संबंधित पंजाब के आंकड़ों के आधार पर किए गए अध्ययनों में यह पाया गया कि वास्तविक मज़दूरी दर में वृद्धि आठवें दशक के शुरू के वर्षों तक ही हो पाई। उसके बाद 1984-85 तक इतनी वृद्धि नहीं हो पाई। वस्तुतः 1970-71 की तुलना में आठवें दशक तथा नवें दशक के शुरू के वर्षों में वास्तविक मज़दूरी दर में कुछ गिरावट ही आई। इसका एक कारण था पंजाब में बाहर से श्रमिकों का आना, परंतु इसके साथ ही साथ धनी कृषकों द्वारा श्रम का स्थान लेने वाली मशीनों के उपयोग के कारण भी श्रम की माँग में कमी हुई जिससे वास्तविक मज़दूरी दर घट गई। ऐसा उस राज्य में हो रहा है जहां कृषि उत्पादन में वृद्धि इस अवधि में 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष चक्रवृद्धि दर से हुई है। भारत के पूर्वी भागों में खरीफ क्षेत्रों की स्थिति बहुत बिगड़ी है, जिस कारण देश के पूर्वी भाग से पश्चिम-उत्तरी क्षेत्र की ओर श्रमिकों का मौसमी प्रवसन बढ़ता जा रहा है।

बोध प्रश्न 2

1) सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखें :

   i) एक विचारधारा के अनुसार पूर्वी भारत में कृषि के क्षेत्र में निरंतर पिछड़ेपन का कारण था अर्ध-सामंती उत्पादन संबंधों का होना। ( )

   ii) भूमि सुधार कानूनों के बनने के बाद भूमि का समान वितरण हो गया। ( )

   iii) वस्तु उत्पादन में विकास के साथ कृषक वर्ग विभिन्न श्रेणियों में बंट जाता है। ( )

   iv) भारत में कृषक वर्ग के बीच विभेदीकरण और स्तरीकरण की शुरुआत भूमि सुधार कानूनों के आने के साथ हुई, लेकिन अधिक उपज देने वाली किस्मों कीप्रौद्योगिकी के प्रदुर्भाव के साथ-साथ इनका प्रभाव जाता रहा। ( )

2) "जहां तक आय के वितरण का प्रश्न है, नई प्रौद्योगिकी से प्रमुख लाभ धनी कृषकों को ही हुआ है।" इस कथन के संबंध में अपना मत दें। (पांच वाक्यों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बताइए कि नई प्रौद्योगिकी कृषक वर्ग के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया में किस प्रकार सहायक हुई है। (छह वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.5 नई प्रौद्योगिकी और रोज़गार

नई प्रौद्योगिकी का एक दूसरा पक्ष, जिसमें अनेक अनुसंधानकर्त्ताओं की दिलचस्पी रही है, वह श्रम की मांग के संबंध में इसके अभिप्राय से है। पहले हम देख चुके हैं कि नई प्रौद्योगिकी के चलते निर्धन कृषक और काश्तकार खेतीहर मजदूर बनते जा रहे हैं। आजादी के बाद जिस गति से इस देश का औद्योगीकरण हुआ है उसे देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि इन सर्वहारा लोगों को निकट भविष्य में उद्योगों में काम मिल सकेगा। अतः उनका भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि कृषि क्षेत्र में नई प्रौद्योगिकी के प्रभाव से श्रम के लिए कितनी मांग होती है और गैर-कृषि क्षेत्रों में श्रम के लिए मांग कितनी बढ़ पाती है।

13.5.1 नई प्रौद्योगिकी का स्वरूप और श्रम की मांग

आम तौर पर नई कृषि प्रौद्योगिकी के दो घटकों के बीच भेद किया जाता है। ये हैं जीवरासायनिक घटक जिनके अंतर्गत सिंचाई-बीज-उर्वरक और नवीन प्रक्रियाएं आती है तथा यांत्रिक घटक जिनके अंतर्गत खेतों को जोतने, बोने, फसल काटने और खलिहान संबंधी कार्य करने तथा परिवहन आदि आते हैं। स्थायी सिंचाई की सुविधाएं संवृद्धि में दो प्रकार से सहायक होती हैं। इससे कई फसलें उगाना संभव हो जाता है जिससे और अधिक श्रमिकों को काम मिलता है। इसके अतिरिक्त कृषि में नई प्रक्रियाओं को लाया जा सकता है। जिससे भूमि और श्रम की उत्पादिता बढ़ जाती है।

सिंचाई-बीज-उर्वरक प्रौद्योगिकी मुख्यतः कम भूमि पर अधिकाधिक फसलों को उगाने से संबंधित होती है, इसलिए पूर्वी और दक्षिण भारत में इसका विशेष महत्व है जहां आबादी की तुलना में भूमि कम है। प्रति एकड़ पैदावार को बढ़ाकर नई प्रौद्योगिकी दी हुई भूमि पर खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाना संभव बना देती है।

जीवरासायनिक घटकों के चलते अधिक श्रमिकों को काम मिल पाता है कृषि की कुछ अच्छी विधियों, जैसे अच्छे प्रकार से पौधों को रोपने, निराई करने आदि के प्रयोग से श्रम के लिए मांग बढ़ती है। फसलों की मात्रा अधिक होने से उन्हें काटने, इकट्ठा करने आदि में भी श्रम की मांग बढ़ती है। नई प्रौद्योगिकी के चलते जहां अनेक फसलों को उगाना संभव होता है वहां वर्ष के सभी महीनों में श्रमिकों को काम मिलता है। फसलों की नई किस्मों के आने से कम श्रम प्रधान फसलों (जैसे चना, मकई आदि) का स्थान अधिक श्रम प्रधान फसलें (जैसे चावल और गेहूँ) ले लेती हैं। नई आगतों के व्यापक रूप से प्रयोग में अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। उर्वरकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा भूमि में उनका प्रयोग करने के कार्य में भी श्रम की आवश्यकता पड़ती है। यदि यंत्रीकरण के प्रयोग को और नहीं बढ़ाया गया तो कहा जा सकता है कि नई प्रौद्योगिकी और अधिक रोज़गार का सृजन करेगी। परन्तु यह भी सच है कि भारत के कृषि कार्य के यंत्रीकरण से रोज़गार के प्रश्न को अलग नहीं किया जा सकता और यंत्रीकरण में रोज़गार को घटाने की प्रवृत्ति होती है।

13.5.2 यंत्रीकरण क्यों?

टी.जे. बायर्स का कहना है कि भारतीय कृषि की वास्तविक स्थितियों में दो प्रकार की नवीन प्रक्रियाओं में द्विभागीकरण dichotomy) गलत है। उनके अनुसार प्रश्न यह नहीं है कि क्या वांछनीय और क्या अवांछनीय है बल्कि यह है कि वास्तव में क्या घटित हुआ और क्या घटित होने वाला है। वास्तविकता तो यह है कि इस बात के प्रमाण हैं कि [illegible] के दोनों घटक साथ-साथ चलते हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है सबसे पहली बात तो यह है कि नई प्रौद्योगिकी के अंतर्गत अनेक ऐसे आगतों को काम में लाना होता है जो एक दूसरे की पूरक होती है। यह पूरकता स्वयं जीवरासायनिक आगतों में भी होती हैं और विशेषकर यह सिंचाई की प्रमुख भूमिका से आती हैं। चूंकि सिंचाई की किस्म (अर्थात जल को सही समय और सही मात्रा में प्राप्त करना) का अंतिम उत्पादन पर निर्णायक प्रभाव होता है अतः निजी और शक्ति चालित (यांत्रिक) ट्यूबवेल से सिंचाई को प्रोत्साहित किया गया है। जो कृषक अपने खेतों की सिंचाई ट्यूबवेल से कर सकते हैं उन्हें नहरों से सिंचाई की प्रणाली की तुलना में जल पर अधिक नियंत्रण होता है। नई प्रौद्योगिकी के प्रादुर्भाव से बहुत पहले से ही ट्यूबवेल से सिंचाई होने लगी थी। परंतु यह भी सच है कि कृषि कार्य में उर्वरकों के साथ नई किस्म के बीजों के प्रयोग ने ट्यूबवेल और पंप के उपयोग को और भी प्रेरणा प्रदान की है।

नई प्रौद्योगिकी की दूसरी आवश्यकता है समयबद्ध कार्य और फसलों को हेर-फेर करके बोना (crop-rotation) नई किस्मों के बीजों के चलते फसलें जल्दी पक जाती हैं इसलिए वर्ष में दो तीन फसलें उगाना संभव हो जाता है। अतः खेती के कार्य का समयबद्ध होना आवश्यक हो गया है। दूसरी फसल को बोने से पहले पहली फसल को काटना, दाने निकालना तथा उन्हें दूसरे स्थान पर ले जाना आवश्यक हो जाता है। ये कार्य शीघ्रातिशीघ्र करने होते हैं ताकि खेत को बीज बोने के लिए तैयार किया जा सके। आगे भी इसी प्रकार कार्य चलता रहता है। ट्रैक्टर, थ्रैशर, कम्बाइन हार्वेस्टर एवं अन्य यांत्रिक आगतों से इन कार्यों को समय से पूरा करने में सहायता मिलती है।

तीसरी बात यह है कि यंत्रीकरण वहाँ अपनाया जाता है जहाँ वह वैकल्पिक प्रौद्योगिकी से अधिक लाभदायक होती है। हालांकि इस संबंध में अन्य कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। लेकिन सर्वप्रमुख कारक लाभप्रदता ही होता है। गेहूँ की फसल को काटने और दाने निकालने की परंपरागत और यांत्रिक विधियों के संबंध में सी.एच. हनुमंतराव के अध्ययन से पता चलता है कि फसल काटने और दाने निकालने की परंपरागत विधि की तुलना में कंबाइन हार्वेस्टर का प्रयोग सस्ता पड़ता है लेकिन हाथ से कटाई यदि मैकेनिकल थ्रेसिंग के साथ प्रयोग की जाय तो दाना निकालना सबसे सस्ता पड़ता है। उनका यह भी कहना है कि उपर्युक्त कथनों में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि किसानों को सदा यह डर बना रहता है कि समय पर मजदूर उपलब्ध हो पाएंगे या नहीं। न ही इस बात पर ध्यान दिया गया है कि खलिहान में पड़ी फसलों को वर्षा आदि से क्षति भी हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परंपरागत विधियों की लागतें बहुत अधिक होती हैं और यही कारण है कि बड़े-बड़े कृषक हार्वेस्टर कम्बाइन का प्रयोग करना अधिक उचित समझते हैं, हालांकि उन्हें मालूम है कि हाथ से कटाई और यंत्रों की सहायता से दाने निकालना अधिक सस्ता पड़ता है तथा यंत्रों की सहायता से दाने निकालने से कटी हुई फसलों को कम से कम क्षति होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा लगता है कि नई प्रौद्योगिकी का यंत्रीकरण के साथ मेल करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। ऐसा उस समय किया जाता है जब किसान के पास पर्याप्त धन हो ताकि वह आवश्यक यंत्रों को खरीदकर अधिक लाभ कमा सके। ट्रैक्टर और हार्वेस्टर की कीमत को कम रखने (रुपए का अधिमूल्यन द्वारा) और बड़े कृषकों को आर्थिक सहायता युक्त ऋण व्यवस्था से इस कार्य को बल मिला है। इसके अतिरिक्त अनेक भूमिपति यंत्रीकरण के प्रति इसलिए भी दिलचस्पी रखते हैं कि वे बहुत बड़ी संख्या में मज़दूरों के काम के प्रबंध की समस्याओं से बच सकें क्योंकि मज़दूरों की अपेक्षा मशीनों का निरीक्षण करना अधिक सरल होता है।

13.5.3 यंत्रीकरण और रोज़गार

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इस बात से सभी विद्वान सहमत हैं कि नई प्रौद्योगिकी के जीवरासायनिक घटक श्रम को खपा लेने वाले होते हैं। उनके बीच यदि मतभेद है तो वह है यंत्रीकरण के प्रभाव के संबंध में। ट्यूबवेल तथा ट्रैक्टर प्रत्यक्ष रूप में श्रम को विस्थापित करते हैं। परंतु ट्यूबवेल और ट्रैक्टर की सहायता से अनेक फसलों वे होने से उत्पादन में वृद्धि होती है और रोज़गार पर इनका प्रभाव किसी भी रूप में हो सकता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि ट्रैक्टर की अपेक्षा कंबाइंड हार्वेस्टर और थ्रेशर श्रमिकों को अधिक मात्रा में विस्थापित करते हैं। इस संबंध में भारत में जो थोड़े अध्ययन हुए हैं उनसे कोई स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं होता। पंजाब के आधार पर हनुमंतराव इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रमिकों को ट्रैक्टर प्रत्यक्ष रूप से ही विस्थापित कर देता है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से वे श्रमिकों को नियोजित करने के लिए प्रोत्साहन भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार ट्रैक्टर के प्रयोग का रोज़गार की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी क्षेत्र के एक अन्य अध्ययन से पता चला कि 10 एकड़ से अधिक भूमि पर सिंचाई यंत्रों के प्रयोग से श्रम की मांग बढ़ती है जबकि ट्रैक्टर और गेहूँ काटने की मशीन के प्रयोग से श्रम की मांग कम होती है। NCAER के एक अध्ययन से भी यही पता चला कि ट्रैक्टर का प्रयोग अपने आप ही श्रमिकों को विस्थापित नहीं करता परंतु ट्रैक्टर और थ्रेशर का साथ-साथ प्रयोग करने से श्रमिकों का विस्थापन होता है। सातवें दशक के अंत में और आठवें दशक के शुरू के वर्षों में देश के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र किए गए आंकड़ों पर आधारित UNRISD के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकले :

क) अलग-अलग कृषि कार्यों में यंत्रीकरण को लाने से फसल के लिए भूमि को तैयार करने और दाने निकालने संबंधी कार्यों में श्रम की मांग कम हो गई है।

ख) फसलों को उगाने संबंधी समय के बंधन को हटाकर यंत्रीकरण ने प्रायः दो फसलों को पैदा करने का प्रोत्साहन प्रदान किया है और इस प्रकार और अधिक श्रमिकों को काम मिलने लगा है।

ग) कुल कार्य की मात्रा बढ़ गई है। यंत्रीकरण के कारण जितने श्रम की बचत होती है उपज के बढ़ने से श्रम प्रधान फसलों के आने, दोहरी फसल प्रणाली के होने और नई आगतों के बड़े पैमाने पर प्रयोग के कारण अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है।

इन अध्ययनों के संबंध में मुख्य कठिनाई यह है कि इनमें जिन आंकड़ों का प्रयोग किया गया है वे सातवें दशक के अंत और आठवें दशक के शुरू के वर्षों से संबंधित हैं। उस समय तक यंत्रीकरण का स्तर बहुत ही कम था। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक अवस्था में ट्रैक्टरों का प्रयोग बीज बोने के लिए भूमि तैयार करने के लिए ही होता था और अन्य यांत्रिक आगतों का प्रयोग भी सीमित था। लेकिन विभिन्न कार्यों के लिए ट्रैक्टर का अत्यधिक प्रयोग करने तथा रीपर और कंबाइन हार्वेस्टर की सहायता से फसल काटने एवं दाने अलग करने के काम में और यंत्रीकरण के होने से श्रम की मांग को कम करने से संबंधित इनका प्रभाव बढ़ता जाएगा।

यह सर्वविदित है कि भारत के कुछ हरित क्रांति के क्षेत्रों में कृषि का यंत्रीकरण बहुत ही बढ़ा है। केवल पंजाब में ही 1972 और 1988 के बीच ट्रैक्टर की संख्या 0.41 लाख से बढ़कर 2.36 लाख हो गई। श्रम को विस्थापित करने वाले इन यांत्रिक आगतों का श्रम की मांग पर अत्यधिक प्रभाव होगा। जापान और ताइवान के अनुभवों के आधार पर एस. इशिकावा का कहना है कि चावल के उत्पादन के संबंध में प्रति हेक्टर श्रम आगतों में परिवर्तन का इतिहास ऐसा रहा है कि प्रारंभिक अवस्था में तो श्रम की प्रधानता (labour intensity) बढ़ जाती है और बाद की अवस्थाओं में घट जाती है। पंजाब के खेतिहर मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी संबंधी आंकड़ें इस संबंध में अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टांत का काम करते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है इन आंकड़ों से पता चलता है कि आठवें दशक के शुरू के वर्षों तक तो वास्तविक मज़दूरी बढ़ती गई और उसके बाद 1984-85 तक उतनी मज़दूरी कभी भी नहीं हो पाई। ऐसा होने का कारण यह हो सकता है कि कृषि आय के बढ़ते जाने के कारण ग्रामीण गैर-कृषि क्षेत्रों में रोज़गार और मज़दूरी की दर में लगातार वृद्धि होती रही।

13.6 क्षेत्रीय असमानताएं

क्षेत्रीय असमानताओं को घटना, भारत में योजना के उद्देश्यों में से एक रहा है। अतः प्रश्न यह उठता है कि क्या हरित क्रांति के चलते विकास के स्तरों में ऐसी असमानता दूर हो पाई है? क्या संपन्न क्षेत्रों की तुलना में अभावग्रस्त क्षेत्रों का विकास अधिक तेजी से हो पाया है? इस परिच्छेद में इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया जाएगा।

13.6.1 नई प्रौद्योगिकी का क्षेत्रीय विस्तार : जल की भूमिका

यह सर्वविदित है कि नई प्रौद्योगिकी को भारत के सभी भागों में समान रूप से नहीं अपनाया जा सका है। कुछ भागों में तो हरित क्रांति की प्रोद्योगिकी का प्रयोग बड़े व्यापक स्तर पर हो रहा है लेकिन कुछ अन्य भागों में इसका प्रभाव अत्यंत नगण्य रहा है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि कुछ भागों में सिंचाई के जल की मात्रा अत्यंत सीमित है जिससे वहां इस प्रौद्योगिकी का बहुत प्रयोग नहीं हो पाया।

'नई प्रौद्योगिकी' के अंतर्गत जल का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। नई प्रौद्योगिकी को पर्याप्त मात्रा में और नियंत्रित जल की आवश्यकता होती है क्योंकि मानसून की वर्षा विशेष मौसमों में ही और विभिन्न मात्रा में होती है, अतः हरित क्रांति उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित हो गई जहां पर निश्चित मात्रा में और नियंत्रित रूप में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है। यह कहा जाता है कि नियंत्रित जल पूर्ति की उपलब्धता पर नई प्रौद्योगिकी की निर्भरता का अर्थ है कि विभिन्न क्षेत्रों का विकास असमान ढंग से होना। सच्चाई यही है, क्योंकि इस देश के अनेक भाग मानसून पर ही निर्भर करते हैं। अतः उन्हें जल और साधन-प्रधान तकनीक पर निर्भर रहना पड़ता है।

भारत के कुल कृषि क्षेत्रों में सिंचित क्षेत्रों का अंश लगभग 33 प्रतिशत है अतः इस प्रौद्योगिकी का विस्तार अधिक से अधिक एक तिहाई क्षेत्रों में ही किया जा सकता है। अन्य क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधाएं जैसे-जैसे उपलब्ध हो सकेंगी, इस प्रौद्योगिकी को भी वहां लाया जा सकेगा। लेकिन सिंचित क्षेत्रों में भी असमानता है। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, तटवर्ती आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु तथा कुछ अन्य राज्यों के कुछ क्षेत्रों में सिंचित क्षेत्रों की मात्रा बहुत अधिक है। पंजाब में तो कृषि भूमि के 86 प्रतिशत को सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध हैं। हरियाणा में यह स्थिति 61 प्रतिशत कृषि भूमि की है। इन दो राज्यों की मुख्य फसल गेहूं है और हरित क्रांति की शुरू की अवधि में इस फसल के संबंध में यह प्रौद्योगिकी अत्यंत सफल रही आठवें दशक के शुरू में तो कुछ विद्वानों ने हरित क्रांति को गेहूँ की क्रांति का नाम दिया। इन क्षेत्रों के लिए चावल एक नई फसल है फिर भी हाल के वर्षों में इसकी पैदावार के संबंध में भी काफी प्रगति हुई है।

इन राज्यों के बहुत बड़े भाग में सिंचाई की सुविधाओं के उपलब्ध होने के कारण अन्य आगतों के उपयोग में भी वृद्धि हुई है। नवें दशक के शुरू के वर्षों में इन दो राज्यों में उर्वरकों का उपयोग प्रति हेक्टर क्रमशः लगभग 129 कि. ग्रा. और 54 कि. ग्रा. था जो लगभग 36 कि. ग्रा. प्रति हेक्टर राष्ट्रीय औसत से बहुत अधिक था। प्रति हजार हेक्टर कृषि भूमि पर ट्रैक्टरों की संख्या पंजाब में 29 और हरियाणा में 16 थी जबकि समस्त देश के लिए औसत संख्या 2 से भी कम थी। अन्य आगतों के संबंध में भी यही बात लागू होती है। देश के कुल क्षेत्रफल में पंजाब का अंश 3 प्रतिशत

ही है परंतु इस राज्य में 13 प्रतिशत उर्वरकों का उपयोग हुआ, यहां 10 प्रतिशत ट्यूबवेल थे तथा देश के कुल ट्रैक्टर का चौथाई भाग इसी राज्य में था। आगतों के उपयोग में यह असमानता देश के विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन में असमानता में प्रतिबिंबित होती है।

13.6.2 असमान क्षेत्रीय संवृद्धि

खंड 3 में हम विभिन्न क्षेत्रों में संवृद्धि दर की असमानता की समीक्षा कर चुके हैं। जी.एस. भल्ला और डी.एस. त्यागी ने 1962-65, 1970-73 और 1980-83 के फसल आंकड़ों को आधार बनाकर विभिन्न राज्यों में कृषि उत्पादन में अंतर का अध्ययन किया। इस समस्त अवधि में भारत में फसलों के उत्पादन में (स्थिर कीमतों पर) 2.44 प्रतिशत प्रतिवर्ष चक्रवृद्धि दर से वृद्धि हुई। लेकिन विभिन्न राज्यों में यह दर अलग-अलग थी। सातवें और आठवें दशक के बीच भारत के पूर्वी क्षेत्र (असम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल) में संवृद्धि दर एक प्रतिशत से भी कम थी। परंतु दूसरी ओर उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र (हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, पंजाब और उत्तर प्रदेश) में इन दो दशकों में 4.42 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई। पंजाब में तो यह दर लगभग 7 प्रतिशत तथा हरियाणा में 5 प्रतिशत थी। इनके विपरीत स्थिति उड़ीसा की थी जहां पर प्रथम चरण में संवृद्धि दर ऋणात्मक रही, हालांकि समस्त अवधि के दौरान यह धनात्मक थी यानि 0.37 प्रतिशत प्रतिवर्ष। इस प्रकार हम देखते हैं कि उड़ीसा जैसे पिछड़े राज्यों पर हरित क्रांति प्रौद्योगिकी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है जबकि पहले से संपन्न राज्यों का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है। इसके फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानता और भी बढ़ती जाएगी।

कृषि उत्पादन में अंतर का एक अन्य निर्देशक है वर्धमान उत्पादन का संकेंद्रण। 1962-65 के बीच भारत के कुल उत्पादन में उत्तरी-पश्चिमी, पूर्वी, मध्य और दक्षिण भारत के क्षेत्रों का लगभग समान अंशदान था। लेकिन सातवें दशक के शुरू के वर्षों में और नवें दशक के प्रारंभ में उत्पादन में वृद्धि के कारण उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (कुल क्षेत्रफल का 23 प्रतिशत) का अंशदान 53.1 प्रतिशत था तथा पूर्वी क्षेत्र (कुल क्षेत्रफल का 17 प्रतिशत) का अंशदान लगभग 7.7 प्रतिशत था। उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में पंजाब ऐसा राज्य था जिसका देश के कुल उत्पादन में 19 प्रतिशत अंशदान था जबकि इस राज्य में कुल देश के क्षेत्रफल का 3 प्रतिशत ही था।

इस प्रकार उत्तरी पश्चिमी राज्यों में सबसे अधिक संवृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इन राज्यों ने पहले गेहूँ के उत्पादन के संबंध में और फिर चावल के उत्पादन के संबंध में नई प्रौद्योगिकी का भलीभांति उपयोग किया। ऐसा इसलिए हो सका कि इन राज्यों में प्रारंभिक स्थितियां अनुकूल थीं, विशेषकर सिंचित क्षेत्रों के संबंध में। दक्षिणी राज्यों के कुछ क्षेत्रों में भी उत्पादन और उत्पादिता स्तर बढ़े लेकिन देश के पूर्वी और मध्य के राज्यों में नयी प्रौद्योगिकी का कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका। जिला स्तर के आंकड़ों से भी पता चलता है कि पश्चिमी उत्तरी राज्यों के जिन जिलों में सिंचाई की सुविधाएं अधिक थीं वहां तेजी से वृद्धि हुई। इसके विपरीत शुष्क क्षेत्रों में तथा पूर्वी राज्यों के जिन जिलों में सिंचाई की सुविधाएं नहीं थीं वे नई प्रौद्योगिकी से लाभ नहीं उठा सके, जिसके फलस्वरूप उनकी उत्पादिता स्तर में गिरावट आई या इसमें बहुत ही कम वृद्धि हो सकी। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नई प्रौद्योगिकी के प्रादुर्भाव का फल यह हुआ कि जिन जिलों के बीच उत्पादन स्तर के संबंध में पहले से असमानता थी वह और भी बढ़ गई। इसकी पुष्टि अनेक जिलों की प्रति हेक्टर उत्पादिता का विषमता गुणांक (co-efficient of variation) (जो 1962-65 और 1980-83 के बीच 45.23 से बढ़कर 49.90 प्रतिशत हो गई) से होती है।

बोध प्रश्न 3

1) नई प्रौद्योगिकी में यंत्रीकरण क्यों आवश्यक हो गया? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

2) यंत्रीकरण और रोज़गार के बीच संबंध की व्याख्या कीजिए। (पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

3) नई प्रौद्योगिकी के क्षेत्रीय विस्तार में जल की भूमिका बताएं। (पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

13.7 सारांश

इस इकाई में आपने प्रौद्योगिकी परिवर्तन के संबंध में पढ़ा जो भारत की कृषि अर्थव्यवस्था के कम से कम कुछ भागों में हो रहा है। हमने देखा कि नई प्रौद्योगिकी के आने से फार्म के आकार और उत्पादिता के बीच के विपरीत संबंध में परिवर्तन हो गया है। बड़े-बड़े फार्म ट्रैक्टर, पंप सेट, हार्वेस्टर और थ्रेशर जैसी मशीनों पर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं लेकिन इस नई प्रौद्योगिकी ने संस्थागत व्यवस्था को बदल दिया है। इसने बटाई काश्तकार को मजदूर बना दिया। पूंजीवादी कृषि के आने से कुछ क्षेत्रों में कृषक वर्ग का विभेदकरण हो गया है और छोटे-छोटे कृषक सर्वहारा वर्ग में चले गये हैं।

जहां तक कृषि परिवर्तनों के वितरण से संबंधित पहलुओं का संबंध है, यह कहा जाता है कि हरित क्रांति के चलते छोटे कृषकों और खेतिहर मजदूरों के लागत पर संपन्न कृषकों को लाभ हुआ है और इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में धनी और निर्धनों के बीच का अंतर और भी बढ़ गया है। जहां तक नयी प्रौद्योगिकी और रोज़गार के बीच का संबंध है, विद्वानों के बीच इस बात पर सहमति है कि अधिक उपज वाली किस्म (HYV) की प्रौद्योगिकी के जीवरासायनिक घटकों के चलते अधिक श्रमिकों को काम मिलता है परन्तु दूसरी ओर नई प्रौद्योगिकी के यंत्रीकरण संबंधी पक्षों के संबंध में उनके बीच मतभेद है। कहा जाता है कि यंत्रीकरण की सहायता से भूमि को फसल योग्य बनाने में श्रम की मांग घट गई है लेकिन दोहरी फसल और बहु-फसल प्रणाली के आने से कृषि कार्य की मात्रा बढ़ गई है जिससे यंत्रीकरण द्वारा श्रम को घटाने संबंधी प्रभाव जाता रहा है। ऐसा विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-कृषि कार्यों में श्रम की मांग में वृद्धि के कारण हुआ है।

इसके अतिरिक्त यदि हम क्षेत्रीय असमानता पर नई प्रौद्योगिकी के प्रभाव को देखते हैं तो पाते हैं कि उड़ीसा जैसे पिछड़े हुए राज्यों को इस हरित क्रांति प्रौद्योगिकी से कोई लाभ नहीं हुआ है लेकिन जिन राज्यों के पास पहले से अनुकूल स्थिति थी उनका विकास बड़ी तेजी से हो रहा है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानता बढ़ती जा रही है।

13.8 शब्दावली

आरोपित मज़दूरी (Imputed wage) : यह पारिवारिक श्रम की एक इकाई की अनुमानित लागत होती है। आमतौर पर चालू मजदूरी दर को आरोपित मजदूरी मान लिया जाता है।

परम्परागत सेवा (Custom service) : ट्रैक्टर, थ्रेशर और अन्य अविभाज्य आगतों की सेवा को किराए पर देने तथा लेने की प्रथा।

कृषक वर्ग का विभेदीकरण और स्तरीकरण (Differentiation and stratification of peasantry) : कृषि में पूंजीवादी प्रणाली के आने के साथ समजातीय कृषक वर्ग को निर्धन, मध्य और संपन्न वर्ग में बाँटने की प्रक्रिया।

सर्वहारीकरण (Proletarianisation) : वह प्रक्रिया जिसके अंतर्गत छोटे और निर्धन कृषकों तथा काश्तकारों के हाथ से उत्पादन के साधन (भूमि और/या बैल आदि) जाते रहते हैं और वे मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिक बन जाते हैं।

विपरीत काश्तकारी (Reverse tenancy) : आम तौर पर काश्तकार छोटे और निर्धन कृषक होते हैं परंतु पूंजीवादी प्रणाली में जब बड़े कृषक भी भूमि को पट्टे पर लेने लगते हैं और इस क्षेत्र में उनकी प्रमुखता हो जाती है तब इस काश्तकारी को विपरीत काश्तकारी कहा जाता है। इस स्थिति में छोटे काश्तकार अपनी भूमि को बड़े कृषकों को पट्टे पर देते हैं।

कार्यशील जोत (Operational holding) : एक कृषक द्वारा जोती जाने वाली भूमि (वह उसका स्वामी नहीं भी हो सकता है)। यह स्वयं के स्वामित्व वाली भूमि और पट्टे पर ली गई भूमि में से पट्टे पर दी गई भूमि घटाने पर प्राप्त होती है।

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भल्ला, जी.एस. और त्यागी, डी.एस. 1989, *पैटर्नस इन इंडियन एग्रीकल्चरल डेवलपमेंट : ए डिस्ट्रिक्ट लेवल स्टडी*, इंस्टीट्यूट फार स्टडीज इन इंडस्ट्रीयल डेवलपमेंट : नई दिल्ली।

चट्टोपाध्याय, बी. 1977, *वाटर, सीरीयलस् एण्ड इकनॉमिक ग्रोथ इट्सेट्रा*, पी.पी.एच. नई दिल्ली।

चौधरी, प्रमित, 1978, *द इंडियन इकोनामी : पावर्टी एण्ड डेवलपमेंट*, विकास, नई दिल्ली, पांचवां अध्याय।

दास गुप्ता, बिप्लब, *1980, द न्यू एग्रेरियन टेक्नालॉजी एण्ड इंडिया*, मैकमिलन, नई दिल्ली।

हनुमंत राव, सी.एच. 1975, *टेक्नॉलॉजिकल चेंज एण्ड डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ गेंस इन इंडियन एग्रीकल्चर*, मैकमिलन, नई दिल्ली।

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

1) i) कुल उत्पादन का अधिकतमकरण, ii) बड़े फार्म

2) उप-परिच्छेद 12.2.3 पढ़िए। यहां पर आपको निम्नलिखित को शामिल करना होगा: उत्पादन अब गैर-मानवगत आगतों के कारण अधिक होने लगा है, श्रम पर निर्भरता घट गई है, कृषि-वर्ष की अवधि कम हो गई है और निरीक्षण कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

3) उप-परिच्छेद 13.2.4 पढ़िए।

बोध प्रश्न 2

1) i) स ii) ग iii) स iv) ग

2) परिच्छेद 13.4 पढ़िए, विशेषतः 13.4.1 को और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) उप-अनुच्छेद 13.3.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) उप-परिच्छेद 13.5.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

2) उप-परिच्छेद 13.5.3 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) उप-परिच्छेद 13.6.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

NOTES

NOTES

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-04
अर्थशास्त्र में चतुर्थ ऐच्छिक
पाठ्यक्रम

खंड

6

सूखा, बाढ़, राहत तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली

इकाई 14

सूखा. बाढ़ तथा राहत 5

इकाई 15

सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा खाद्यान्नों की उपलब्धि में अंतर्राज्यीय असमानता 20

खंड 6 सूखा, बाढ़, राहत तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली

यह खंड स्वातंत्र्योतर काल में सूखा, बाढ़, राहत तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के बारे में है। इस खंड में दो इकाइयाँ हैं।

इकाई 14 में सूखा, बाढ़ तथा राहत की परिभाषा तथा भारत के विभिन्न भागों में इसकी मात्रा, फसल-रणनीति तथा साधन आवंटन का बार-बार आने वाले सूखे तथा बाढ़ पर प्रभाव, विभिन्न नदियों, घाटियों तथा बाढ़ के प्रकोप का वर्णन है। इसके साथ ही, इसमें सरकार द्वारा किए गए राहत कार्य तथा इन राहत कार्यों की वित्तीय व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है।

इकाई 15 सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) तथा खाद्यान्नों की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता के बारे में है। इसमें नीतिगत उपायों के रूप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता, इसके उद्देश्यों, संगठनात्मक तथा प्रशासनिक ढाँचे तथा भारत की खाद्य अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका व खासकर खाद्यान्न आयात की भूमिका व महत्व का वर्णन किया जाएगा। इसके अंतर्गत सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विस्तार, खाद्यान्न की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता तथा खाद्यान्न अनुदान का मूल्यांकन किया जाएगा।

इकाई 14 सूखा, बाढ़ तथा राहत

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 सूखे की परिभाषा
14.3 सूखा, बाढ़ तथा राहत का विस्तार
14.4 सूखा तथा फसल-रणनीति
14.4.1 सूखा संभाव्यता का अंश : क्षेत्रवार वर्गीकरण
14.4.2 फसल-रणनीति तथा साधन आवंटन
14.5 बाढ़
14.5.1 बाढ़ का अर्थ
14.5.2 भारत की नदी एवं घाटियाँ तथा बाढ़ का प्रभाव
14.5.3 बाढ़ का विस्तार
14.6 स्वातंत्र्योतर काल में राहत कार्य
14.6.1 स्वातंत्र्योतर काल में परिवर्तन
14.6.2 राहत तथा विकास की संबद्धता
14.7 राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था
14.7.1 राहत व्यय — व्यर्थ व्यय
14.7.2 राहत व्यय का योजना वित्त से संबंध
14.7.3 वित्त आयोगों का दृष्टिकोण
14.8 सारांश
14.9 शब्दावली
14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर संकेत

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्न कार्य कर सकेंगे —

- सूखा व बाढ़ का अर्थ तथा स्वातंत्र्योतर काल में इनका विस्तार
- सूखा-संभाव्यता की मात्रा के अनुसार क्षेत्रों का वर्गीकरण
- फसल-रणनीति तथा साधन आवंटन का सूखे की गहनता पर होने वाले प्रभाव का विवेचन
- भारत की प्रमुख नदियों, घाटियों तथा बाढ़ पर उनके प्रभाव की व्याख्या, और
- स्वातंत्र्योतर काल में सरकार द्वारा किए गए विभिन्न राहत कार्य तथा उन पर किया गया सरकारी व्यय व उनकी वित्तीय व्यवस्था का विश्लेषण।

14.1 प्रस्तावना

जैसाकि खंड 3 में बताया गया है कि हरित क्रांति के बाद खाद्यान्न के वार्षिक उत्पादन की अस्थिरता में वृद्धि होने की प्रवृत्ति रही है। गेहूँ की बढ़ती हुई उत्पादकता तथा उत्पादन के स्तर में आयी स्थिरता से जो लाभ प्राप्त हुए वे वर्षा पर निर्भर सर्द ऋतु के चावल, मोटे अनाज तथा दालों सहित अन्य फसलों के उत्पादन की अस्थिरता के कारण खत्म हो गए। उसी खंड में फसलों के स्वरूप तथा उत्पादकता के निर्धारण में क्षेत्र-दर-क्षेत्र परिवर्तित होने वाली कृषि-जलवायु संबंधी स्थितियों की भूमिका का भी उल्लेख किया गया था। इसी संदर्भ में हमने वर्षा की मात्रा में उतार-चढ़ाव के प्रति खाद्यान्न उत्पादन की संवेदनशीलता का विवेचन किया तथा देश में सूखा-संभाव्यता के विस्तार का अनुमान लगाया था।

हमने खंड 1 की इकाई 3 में देखा था कि किस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में अकाल की गंभीरता व गहनता में वृद्धि हो रही थी तथा ब्रिटिश शासन द्वारा गठित अकाल आयोग तथा समितियों ने इसका दोष सूखा माना था। औद्योगिक उत्पादन से सर्वथा भिन्न-कृषि उत्पादन की जैविक निर्भरता को समूची जलवायु-संबंधी स्थितियों, मिट्टी की विशेषताओं तथा नमी की उपलब्धता पर स्वीकार करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि 'सूखे' की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है।

14.2 सूखे की परिभाषा

प्रथम—किसी क्षेत्र की फसल का स्वरूप तथा सामान्य कृषि प्रक्रिया वर्षा के सामान्य स्तर पर निर्भर करती है। वर्षा की कम मात्रा अथवा 'सूखे' को वर्षा के इस 'सामान्य' स्तर से विचलन के रूप में परिभाषित किया जाता है। अतः उड़ीसा के लिए जिस स्थिति को 'सूखा' कहा जाता है, वह राजस्थान के लिए 'सामान्य' से भी बेहतर हो सकती है।

द्वितीय—सामाजिक-आर्थिक संरचना विशेषकर आधारभूत सुविधाओं (जैसे—सिंचाई, भूमि का वितरण, कीमत स्थायित्व आदि) के विकास के स्तर के कारण वर्षा के सामान्य से प्रतिकूल विचलन का प्रभाव कम या अधिक हो सकता है। साथ ही, यह समाज के प्रतिकारी कदम उठाने की क्षमता पर भी निर्भर करता है। ये कारक ही 'सूखे' की विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं, जिन्हें ब्रिटिश शासन के समय गठित अकाल आयोग तथा समितियों ने नकार दिया था।

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सूखे को मोटे तौर पर निम्नलिखित तीन भागों में वर्गीकृत किया है —

1) मौसम संबंधी सूखा

वह स्थिति जब किसी क्षेत्र में वर्षा की मात्रा में सामान्य स्तर से बहुत अधिक (25 प्रतिशत से अधिक) कमी होती है, मौसम संबंधी सूखा कहलाता है।

2) जल संबंधी सूखा

लंबे समय तक जारी रहने पर मौसम संबंधी सूखा जल संबंधी सूखे में परिवर्तित हो जाता है। इसके अंतर्गत सतही जल में तेजी से कमी होने लगती है तथा परिणामस्वरूप जलाशय, झीलें, तथा नदियाँ सूखने लगती हैं जिससे झरनों का प्रवाह रुक जाता है और भूमिगत जल स्तर में कमी होने लगती है। कभी-कभी कम बर्फ के गिरने से, जल संबंधी सूखा बर्फ के पिघलकर बहने वाले जल में होने वाली कमी में परिलक्षित होता है। इससे विद्युत उत्पादन में कमी होती है तथा कृषि के साथ-साथ उद्योग-धंधे भी प्रभावित होते हैं।

3) कृषि संबंधी सूखा

यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब पौधों की बढ़ोत्तरी के समय मिट्टी में नमी का स्तर व जल वृष्टि की मात्रा फसल के पकने के लिए पर्याप्त नहीं होती तथा जिससे फसल पर भारी दबाव पड़ने लगता है और वह मुरझाने लगती है।

अतः मौसम संबंधी अंतर के कारण मानसून तथा वर्षा का सामान्य स्तर भिन्न-भिन्न होता है, जिससे विभिन्न सामाजिक तथा कृषि-आर्थिक स्थितियों के लिए सूखे की अलग-अलग परिभाषाएँ अपनानी पड़ती हैं। उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम सूखे की काम चलाऊ परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं — फसल के पकने की नाजुक अवधि के समय तीन सप्ताहों से अधिक की उस शुष्क अवधि को सूखा कह सकते हैं, जो सामान्य स्थिति से बिल्कुल भिन्न हो तथा जिससे फसल की उपज में भारी कमी हो; यदि समुचित प्रतिकारी उपायों से इसकी क्षतिपूर्ति न की जाय। प्रतिकारी उपायों के अभाव में फसल की बर्बादी से खाद्यान्न की उत्पादकता में कमी उत्पन्न की जाती है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि सूखे के कारण रोज़गार तथा आय में गिरावट आने लगती है अथवा फसल की बर्बादी से खाद्यान्नों की कीमतें तेजी से बढ़ने लगती हैं।

14.3 सूखा, बाढ़ तथा राहत का विस्तार

देश के भौगोलिक क्षेत्र के एक तिहाई भाग में कृषि योग्य भू-क्षेत्र का करीब 40 प्रतिशत भाग तथा कुल जनसंख्या का करीब 30 प्रतिशत भाग सूखे से प्रभावित होता है। देश के 99 जिलों को सूखा-संभाव्य जिलों के रूप में पहचाना गया है। इन जिलों में से 67 जिले चिरकालिक सूखा प्रभावित हैं। 1965-66 तथा 1966-67 के वर्षों में सूखे के कारण फसल की बर्बादी कुल खाद्यान्न उत्पादन के पाँचवें हिस्से से भी ज्यादा था। इस संबंध में वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के आँकड़ों तथा हाल ही के दशकों के आँकड़ों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि 1918-19 के साल को छोड़कर (जब खाद्यान्न के उत्पादन में 32 प्रतिशत तक गिरावट हुई) स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की अवधि की तुलना में स्वातंत्र्योत्तर काल में सूखे के कारण खाद्यान्न उत्पादन की हानि का प्रतिशत अधिक रहा।

देश में 1953 से 1981 के 29 वर्षों में बाढ़ से प्रभावित संचयी क्षेत्र करीब 236 मिलियन हैक्टेयर था। 1978 में सूखे से सर्वाधिक 18.61 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र प्रभावित हुआ तथा 1953 से 1981 की अवधि में प्रतिवर्ष औसतन 8.13 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र सूखा प्रभावित रहा। इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि पचास के दशक के आरंभ तथा अस्सी के दशक के आरंभ के बीच में बाढ़ से प्रभावित क्षेत्र तथा बाढ़ के कारण फसल, पशु तथा संपत्ति की बर्बादी में वृद्धि हुई है। बाढ़ के कारण फसल की बर्बादी (स्थिर कीमतों पर) की मात्रा 1953-55 में 388 मिलियन रुपये से बढ़कर 1976-78 में 1563 मिलियन रुपये हो गई। इन्हीं वर्षों में बाढ़ के कारण संपत्ति की क्षति क्रमशः 124 मिलियन रुपये तथा 1027 मिलियन रुपये थी। इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण हैं कि दामोदर तथा महानदी पर क्रमशः दामोदर नदी घाटी तथा हीरा कुण्ड परियोजना के निर्माण के बावजूद भी इन दोनों बाढ़ नियंत्रण परियोजनाओं से लाभांवित होने वाले प. बंगाल तथा उड़ीसा राज्यों में बाढ़ की आवृत्ति में वृद्धि हुई है। यही स्थिति उत्तरी बिहार की रही है।

तालिका 14.1

राज्यों को मिलने वाली सहायता

(करोड़ रुपये में)

	राज्यों द्वारा माँगी गई सहायता	केंद्र द्वारा निर्धारित अधिकतम सीमा	केंद्र सरकार द्वारा दी गई वास्तविक सहायता
सूखा			
1980-81	1111	264	133
1981-82	1565	188	160
1982-83	2260	448	423
1983-84	1183	293	254
1984-85	1436	175	154
योग	7555	1368	1124
बाढ़			
1980-81	830	230	131
1981-82	967	149	83
1982-83	1791	359	236
1983-84	2389	352	206
1984-85	1486	339	178
योग	7463	1429	834

स्रोत :— सेंट्रल एंड फॉर रिलीफ वर्क—कन्सर्न ऑवर स्टेट्स हयूज डिमाण्ड, *इकनॉमिक टाइम्स*, अक्टूबर 30, 1985.

तालिका 14.1 में छठी योजना में बाढ़ तथा सूखे के समय किए गए राहत व्यय के आँकड़े दिए गए हैं। इस राहत व्यय को भयावहता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि छठी योजना में संपूर्ण पूर्वी भारत में कृषि तथा संबद्ध सेवाओं के लिए निर्धारित सार्वजनिक परिव्यय की मात्रा केंद्र सरकार द्वारा सारे देश के लिए सूखे अथवा बाढ़ राहत कार्यों के लिए पृथक-पृथक रूप से निर्धारित अधिकतम सीमा के बराबर थी। इस संदर्भ में देश के अर्थशास्त्रियों तथा नियोजकों में इस बात पर विवाद शुरू हो गया कि राहत व्यय को मात्र खैरात के रूप में खर्च करने की अपेक्षा उत्पादक अथवा बाढ़ नियंत्रक ग्रामीण परिसंपत्तियों के निर्माण पर खर्च किया जाए, जिससे इस प्रकार के व्यय से प्राकृतिक विपदाओं की संभावनाओं को कुछ अंश तक रोका जा सके।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित वाक्यों में सही पर (√) और गलत पर (×) का निशान लगाइए :

   1) जब वर्षा की मात्रा में सामान्य स्तर से बहुत अधिक कमी होती है, तो उसे जल संबंधी सूखा कहते हैं। ( )

   2) पचास के दशक के आरंभ तथा अस्सी के दशक के ~~आरंभ के बीच~~ में बाढ़ के कारण फसल, पशु तथा संपत्ति की बर्बादी में वृद्धि हुई है। ( )

   3) सूखा हमेशा सापेक्षिक रूप से परिभाषित किया जाता है। ( )

   4) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में अकाल के कारण बड़े पैमाने पर भुखमरी का सामना करना पड़ा। ( )

2) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के समय में बाढ़ के विस्तार का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (करीब 60 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) छठी योजना में बाढ़ तथा सूखे से राहत के लिए किए गए व्यय का विवरण दीजिए। (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

14.4 सूखा तथा फसल-रणनीति

ब्रिटिश शासन काल में अकाल जाँच आयोगों, समितियों, राहत संहिताओं तथा नियमावलियों के आधारभूत कथनों की अविश्वसनीयता निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के समय में देश के सर्वाधिक वर्षा वाले पूर्वी भागों में कभी-कभी सूखा अथवा फसल की बढ़ोतरी के नाजुक समय में तीन अथवा अधिक सप्ताहों तक शुष्क अवधि के संकेत मिले हैं, फिर भी भारत में अकाल के समय भुखमरी के कारण व्यापक स्तर पर मौतें नहीं हुई हैं। यह मुख्यतः देश की अत्यधिक संवेदनशील राजनैतिक प्रणाली द्वारा सूखे से संबंधित राहत कार्यों तथा खाद्यान्न के क्षेत्र में अपनाई गई सार्वजनिक वितरण प्रणाली की संतुलनकारी भूमिका के साथ-साथ प्रतिकारी कार्यों विशेषतः सिंचाई सुविधाओं के विस्तार तथा फसल-रणनीति में परिवर्तनों के कारण संभव हुआ है।

14.4.1 सूखा-संभाव्यता का अंश : क्षेत्रवार वर्गीकरण

एस.आर. सेन ने अपने अध्ययन 'भारतीय कृषि में विकास तथा स्थिरता' में जलवृष्टि से संबंधित 65 वर्षों तथा अकाल से संबंधित 150 वर्षों के आँकड़ों का इस्तेमाल करते हुए वर्षा की कमी के प्रति संवेदनशीलता के आधार पर देश को विभिन्न क्षेत्रों में वर्गीकृत किया है। उन्होंने विशिष्ट आवृत्ति वाले दक्षिण-पूर्वी मानसून से संबंधित वर्षा के सामान्य स्तर से 25 प्रतिशत अथवा उससे ज्यादा कमी की स्थिति को सूखे के रूप में परिभाषित किया है। देश को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित करने का उनका वर्गीकरण इस प्रकार है —

अ) वे क्षेत्र, जहाँ सुनिश्चित वर्षा अथवा सिंचाई के अन्य स्रोतों (जैसे — नलकूप, गहरे कुएँ, बर्फीले जल पर आधारित नदियों अथवा भण्डारण बाँधों से निकाली गई नहरों आदि) से जलापूर्ति की मात्रा अथवा वितरण की सुनिश्चित व्यवस्था है तथा जो क्षेत्र मानसून की दया पर निर्भर नहीं हैं।

ब) वे क्षेत्र, जहाँ वर्षा अथवा अधिकतर मानसून पर निर्भर सिंचाई के अन्य स्रोतों (जैसे — तालाब, साधारण कुएँ, बरसाती नदियों का पानी इत्यादि) से की जाने वाली जलापूर्ति की मात्रा अथवा वितरण में समय-समय पर बहुत अधिक कमीबेशी होती रहती है। इन क्षेत्रों को पुनः दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है —

1) वे क्षेत्र, जहाँ तुलनात्मक रूप से-कम सूखा पड़ता है, तथा
2) वे क्षेत्र, जहाँ तुलनात्मक रूप से अधिक सूखा पड़ता है।

स) वे क्षेत्र, जहाँ भरोसेमंद सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं तथा जलवृष्टि की मात्रा अपर्याप्त व अनिश्चित रहती है।

भारत के कृषि परिदृश्य में इन क्षेत्रों का सापेक्षिक महत्व तालिका 14.2 में दिखाया गया है।

तालिका 14.2

जल उपलब्धि के आधार पर वर्गीकृत क्षेत्र

श्रेणी	जिलों की संख्या	1961-64 में खाद्यान्न के अंतर्गत औसत क्षेत्र (मिलियन हैक्टेयर)	समग्र भारत में (कॉलम 3 का प्रतिशत)	1961-64 में खाद्यान्न का औसत उत्पादन (मिलियन टन)	समग्र भारत में (कॉलम 5 का प्रतिशत)	प्रति हैक्टेयर औसत उत्पादकता (कि.ग्रा.)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
ए	101	37.0	31	30.0	37	810
बीपी$_1$	89	31.9	27	24.4	28	700
बीपी$_2$	41	17.5	15	11.1	14	630
बी (बी$_1$ + बी$_2$)	130	49.4	42	33.5	42	680
सी	99	31.2	27	17.0	21	545
संपूर्ण भारत	330	117.6	100	80.5	100	685

स्रोत — एस.आर. सेन।

14.4.2 फसल-रणनीति तथा साधन आबंटन

उस समय जब एस.आर. सेन ने इस विषय पर अध्ययन किया था, तब भारत में हरित क्रांति का आरंभ नहीं हुआ था। परंतु गहन कृषि जिला कार्यक्रम (IADP) चल रहा था। जल की उपलब्धि (जो अधिक उपज देने वाली तकनीक की मूलभूत शर्त है) के अनुसार ऊपर वर्णित वर्गीकरण को अपनाने पर गहन कृषि जिला कार्यक्रम बहुत कुछ हरित क्रांति पैकेज का समानार्थक सा लगता है। श्री सेन ने तीन आधारभूत श्रेणियों के लिए तीन रणनीतियाँ बतायी।

1) 'क' श्रेणी के क्षेत्रों के लिए गहन कृषि जिला कार्यक्रम अथवा अधिक उपज देने वाली किस्मों का पैकेज (खाद्यान्न के अंतर्गत कुल क्षेत्र का 31 प्रतिशत) उपयुक्त होगा। साथ ही जल तथा भूमि के गहन उपयोग, जल के उपव्यय को रोकने तथा फसल-बीमा के लिए भी जरूरी कदम उठाया जाना जाहिए।

2) 'ख' श्रेणी के क्षेत्रों में प्रति एकड़ उपज को अधिकतम करने की अपेक्षा सूखे के कारण उत्पन्न होने वाली असुरक्षा को कम करने के लिए सुरक्षात्मक सिंचाई की व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही, फसल-बीमा की व्यवस्था हुए बिना ही सूखा प्रतिरोधक किस्मों को अपनाने की व्यवस्था की जा सकती है।

3) 'ग' श्रेणी के क्षेत्रों में परिरेखा (कण्टूर) बाँध, शुष्क-कृषि, गोचर भूमि तथा बाड़ों की व्यवस्था पर जोर देना चाहिए।

एस. इशिकावा ने दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अनुभवों और जापान, ताइवान व दक्षिण कोरिया जैसे चावल उत्पादक व विकसित देशों के अनुभवों के आधार पर एशिया के कई देशों के कृषि उत्पादन की स्थितियों का विस्तृत अध्ययन किया। उनके अध्ययन के निष्कर्ष इस प्रकार हैं —

(i) दक्षिण, दक्षिण-पूर्व तथा पूर्व एशिया के कई देशों में जहाँ भूमि की उत्पादकता बहुत कम है, उत्पादकता में वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण सिंचित क्षेत्र के प्रतिशत में बढ़ोतरी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने क्रमिक अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादकता की वृद्धि में सिंचाई की भूमिका का भी अध्ययन किया है। इनमें से सर्वप्रथम भूमिका समय पर अथवा पर्याप्त वर्षा न होने की स्थिति में कृषि उत्पादन में स्थिरता लाने के संबंध में है। इस अवस्था में समय के साथ औसत उत्पादकता में वृद्धि होती रहती है। यद्यपि सिंचाई के अतिरिक्त अन्य साधन लगभग समान रहते हैं। सिंचाई सुविधाओं के विस्तार की दूसरी अवस्था में द्वितीय फसल की बुवाई संभव हो जाती है। केवल तृतीय अवस्था में जब सिंचाई पर्याप्त रूप से परिष्कृत हो जाती है तथा किसान को नियंत्रित जलापूर्ति उपलब्ध होती रहती है, तभी उर्वरक, सुधरे बीज तथा उन्नत कृषि तकनीक के उपयोग में वृद्धि संभव हो पाती है।

इशिकावा ने चावल की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता के स्तर के रूप में इन अवस्थाओं की पहचान करने की कोशिश की है। प्रथम अवस्था में प्रति हैक्टेयर उत्पादकता का स्तर करीब 2.3 मैट्रिक टन तथा द्वितीय अवस्था में 3:8 मैट्रिक टन के आस-पास रहता है। इन दोनों अवस्थाओं के लिए आवश्यक सिंचाई सुविधाओं की शर्तों की पूर्ति के पश्चात् ही अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों के सघन उपयोग की तीसरी अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत में जब हरित क्रांति के लिए आवश्यक तथा अधिक उपज देने वाली किस्मों को अपनाने के प्रयत्न किए गए थे, तब विभिन्न अवस्थाओं से संबंधित उपर्युक्त मॉडल का अनुसरण नहीं किया गया तथा प्रथम व द्वितीय अवस्थाओं के अंतर्गत सिंचाई सुविधाओं में सुधार के प्रयासों के बिना तृतीय अवस्था में छलाँग लगाने की कोशिश की गई थी। निःसंदेह ही अधिक उपज देने वाली किस्मों की तकनीक पर आधारित इस प्रकार का शीघ्र उत्पादन देने वाली फसलें केवल उन क्षेत्रों में ही अपनाया जा सकता था, जो एस.आर. सेन द्वारा वर्गीकृत 'क' श्रेणी में आते हैं। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि तृतीय अवस्था में सिंचाई सुविधाओं के अंतर्गत वर्षा की कमी की क्षतिपूर्ति के लिए न केवल जल नियंत्रण प्रणाली शामिल हो बल्कि इसमें प्रभावशाली निकास की भी व्यवस्था होना चाहिए।

जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है कि सूखे की बारंबारता एवं उसके विस्तार में वृद्धि तथा बाढ़ की स्थिति में कमी का एक कारण चावल के उत्पादन के विकास की अवस्थाओं को घटाने या कम करने के प्रयास भी हैं। जैसा कि खंड 3 में हम देख चुके हैं कि यही तत्व खाद्यान्न के समग्र उत्पादन की बढ़ती अस्थिरता के लिए उत्तरदायी हैं।

हरित क्रांति की रणनीति का एक अन्य परिणाम है — साधनों का क्षेत्रवार पुनः आबंटन, जिसके अंतर्गत उत्तर-पश्चिमी राज्यों की फसलों के उत्पादक क्षेत्रों जैसे, पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उ.प्र. के पक्ष में साधनों का पुनः आबंटन हुआ है। इसके परिणामस्वरूप 1961 से 1980 की अवधि में देश के कुल सिंचित क्षेत्र में चावल का हिस्सा कम हो गया, जबकि असिंचित क्षेत्र की तुलना में सिंचित क्षेत्र में कृषि उत्पादन में उच्चावचन में काफी कमी हुई है। इशिकावा का विश्लेषण हरित क्रांति के बारे में भी सही उतरता है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि वर्षा के सामान्य स्तर में एक निश्चित प्रतिशत से वृद्धि होने पर फसल की गहनता में 0.03 से 0.04 प्रतिशत तक वृद्धि होती है, जबकि निवल कृषित क्षेत्र के सिंचित हो जाने पर फसल की गहनता में बहुत अधिक (0.15 से 0.16 प्रतिशत तक) वृद्धि होती है। हरित क्रांति के अंतर्गत साधन आबंटन के ढाँचे में रबी-गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों के पक्ष में परिवर्तन होने से विभिन्न क्षेत्रों में खाद्यान्न की सभी फसलों की संवेदनशीलता में वृद्धि होती है। गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों में रबी की फसलों में जो कुछ भी लाभ मिला, उससे ज्यादा उन क्षेत्रों में नुकसान हो गया, जहाँ खरीफ की फसलें बोयी जाती हैं। हरित क्रांति के बाद अपनाई गयी फसल-रणनीति के अंतर्गत साधन आबंटन के इसी प्रकार के आशयों के संदर्भ में सूखे तथा बाढ़ के कारण हुई फसल की बर्बादी की मात्रा तथा गहनता को देखना चाहिए।

14.5 बाढ़

विश्व-भर में बाढ़ से प्रभावित मैदानों तथा तटीय क्षेत्रों में आर्थिक विकास की व्यापक संभावना होने के कारण लोग यहाँ बसने के लिए आकर्षित होते रहे हैं। समय बीतने के साथ-साथ इन जल प्लावित मैदानों में जनसंख्या के घनत्व तथा आर्थिक क्रियाओं के सकेंद्रण में वृद्धि हुई है। मानव के जल प्लावित क्षेत्रों की तरफ आकर्षित होने के कारण बाढ़ की जोखिमता भी बढ़ी है। बाढ़ के कारण संपत्ति तथा फसल को क्षति पहुँचती है, साथ ही, पदार्थ तथा जल प्रदूषित हो जाता है, यातायात व संचार सेवाओं में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है तथा मानव तथा पशु धन की भी क्षति होती है। किंतु उन स्थानों पर बाढ़ से लाभ भी हुआ है, जहाँ बाढ़ से कम क्षति हुई तथा मिट्टी की उर्वरता में सुधार हुआ तथा भूमिगत जल के पुनर्भरण में सहायता मिली। फिर भी, बाढ़ से होने वाली क्षति इसके लाभकारी प्रभावों से प्रायः अधिक होती है।

14.5.1 बाढ़ का अर्थ

नदी में सामान्य से अधिक जल प्रवाह की स्थिति बाढ़ कहलाती है, जिससे नीची भूमि जलमग्न हो जाती है। अत्यधिक जल वृष्टि तथा जल संग्रहण की अपर्याप्त क्षमता के कारण बाढ़ आती है। बाढ़ पर्वतों व मैदानों में नदियों के पनढालों से शुरू होती है। पहाड़ की ढलान पर बरसने वाले पानी को अगर नहीं रोका जाय तो वह तीव्र गति से नीचे की तरफ बहता है। ज्यों-ज्यों जल प्रवाह में तेजी आती है, त्यों-त्यों भूमि का कटाव होना शुरू हो जाता है तथा मिट्टी पानी के साथ बहने लगती है। इससे भूमि की उत्पादकता को क्षति पहुँचती है तथा जल-प्रवाह में तलछट की मात्रा बढ़ती है। वन जल के प्रवाह को रोकते हैं। ये धरती के लिए एक आवरण का काम करते हैं, जिससे वर्षा की बौछारों का प्रहार कम होता है तथा भू-क्षरण से बचाव होता है।

भारत में हिमालय के पनढालों (Watersheds) में मिट्टी की परत भुरभुरी होती है, इसलिए पर्याप्त मात्रा में वन नहीं होने से वहाँ मिट्टी का कटाव बहुत आसानी से होता है तथा इससे नदियों का प्रवाह अवरूद्ध हो जाता है। भूकंप, भू-स्खलन, झूम खेती, सड़क के निर्माण तथा अन्य मानवीय क्रियाओं से भू-क्षरण में वृद्धि होती है तथा नदियों में तलछट की मात्रा बढ़ती है। इसी कारण भारत में हिमालय से निकलने वाली नदियों में अन्य नदियों की तुलना में बहुत अधिक बाढ़ आती है। बाढ़ के अन्य कारण हैं — भू-उपयोग तथा विकास कार्यों पर समुचित नियंत्रण का अभाव, जल निकास में अवरोध तथा तूफान।

14.5.2 भारत की नदी एवं घाटियाँ तथा बाढ़ का प्रभाव

नदी एवं घाटियों के आधार पर भारत को निम्नलिखित चार क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है —

1) ब्रह्मपुत्र क्षेत्र,
2) गंगा क्षेत्र,
3) उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र, तथा
4) केंद्रीय तथा दक्कन क्षेत्र।

1) ब्रह्मपुत्र क्षेत्र

ब्रह्मपुत्र क्षेत्र की प्रमुख नदियाँ ब्रह्मपुत्र व बराक तथा उनकी सहायक नदियाँ हैं। ये नदियाँ आसाम, बंगलादेश, उत्तर-पश्चिमी बंगाल के कुछ भागों तथा उत्तर-पूर्वी राज्यों में बहतीं हैं। इस क्षेत्र में भारी मात्रा में तथा कभी-कभी वर्ष में 600 से.मी. तक वर्षा होती है। यहाँ पहाड़ियों की ढलानें भुरभुरी होती हैं तथा भू-क्षरण का खतरा बना रहता है। बड़े पैमाने पर झूम खेती करने से यह खतरा बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में बार-बार भयंकर भूकंप आते रहते हैं, जिनसे भू-स्खलन होता रहता है तथा जल निकास प्रणाली में व्यवधान उत्पन्न होते रहते हैं। इस क्षेत्र में बड़ी संख्या में नदियों का जाल बिछा हुआ है, जिससे मध्यवर्ती तंग घाटियाँ जलमग्न हो जाती हैं। कुछ नदियों के तल आस-पास की घाटियों से ऊँचे होते हैं तथा तटबंधों के टूटने अथवा उनमें उफान आने के कारण भयंकर बाढ़ आती रहती है। बराक तथा ब्रह्मपुत्र दोनों नदियों में बाढ़ बार-बार आती रहती है। इनके कारण मैदानी भागों तथा घाटियों में हर साल कई-कई बार बाढ़ आती है।

ब्रह्मपुत्र घाटी की तीस्ता, तोरसा तथा जलधका नदियाँ प. बंगाल के उत्तरी भागों से होकर बहती हैं। ये नदियाँ अपने साथ भारी मात्रा में तलछट लाती हैं तथा अपना रास्ता बदलती रहती हैं, जिससे करीब-करीब हर साल बाढ़ आती है।

मणिपुर की नदियाँ प्रायः अपने किनारों को तोड़कर बहने लगती हैं। इसी प्रकार इस क्षेत्र की झीलें मानसून में भर जाती हैं तथा उनमें जल उफनने लगता है। त्रिपुरा में भी यही समस्या है। इस क्षेत्र के अन्य राज्यों में मुख्य समस्या झूम खेती तथा विकास कार्यों के कारण पैदा होती है, जिससे नदियों में तलछट जमने तथा तटबंधों के कटाव का खतरा बना रहता है।

इस प्रकार इस क्षेत्र की मुख्य समस्या नदियों के उफनने, जल निकास मार्ग के अवरूद्ध होने, नदियों के किनारों के टूटने तथा नदियों के मार्ग बदलने की है।

!) गंगा क्षेत्र

श में हर साल बाढ़ के कारण होने वाले नुकसान का 60 प्रतिशत गंगा घाटी में आने वाले राज्यों में होता है। इस त्र के मैदानी भागों में सालाना जलवृष्टि पश्चिमी भाग में 60 से.मी. से लेकर पूर्वी भाग में 175 से.मी. तक होती । हिमाचल के ढालू क्षेत्र में 125 से.मी. से लेकर 185 से.मी. तक वर्षा होती है।

गा की सहायक नदियों में प्रमुख हैं — यमुना, सोन, घाघरा, गण्डक तथा कोसी। ये नदियाँ हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, जस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा प. बंगाल जैसे राज्यों व केंद्र शासित क्षेत्र दिल्ली में बहती हैं। इन नदियों भारी जल-प्रवाह तथा हिमाचल से बहकर आने वाले तलछट के कारण इस क्षेत्र मे बाढ़ आती रहती है। इन क्षेत्रों मुख्यतः बिहार, उत्तर प्रदेश तथा प. बंगाल हैं जहाँ बाढ़ की समस्या है। हरियाणा में यमुना नदी के पास के सीमित त्र में बाढ़ का खतरा बना रहता है तथा उत्तर प्रदेश की राप्ती, शारदा, घाघरा तथा गण्डक नदियों में प्रायः बाढ़ आती ती है। बिहार में बूढ़ी गण्डक, बागमती, कमला तथा कोसी में प्रायः बाढ़ आती रहती है। भागीरथी, अजय तथा मोदर नदियों के कारण प. बंगाल में बाढ़ आती है।

) उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र

न्धु की सहायक नदियाँ जैसे — झेलम, चेनाव, रावी, व्यास तथा सतलज इस क्षेत्र के आर-पार बहती हैं। उत्तर श के पहाड़ी क्षेत्रों में वार्षिक जलवृष्टि लगभग 175 से.मी. होती है तथा जम्मू व कश्मीर में करीब 75 से.मी.। इस ा के अन्य भागों में सालाना वर्षा की मात्रा 15 से.मी. से लेकर 60 से.मी. तक होती है।

म नदी के कारण श्रीनगर और घाटी में तथा चेनाब नदी के कारण जम्मू में बाढ़ आती है। इस क्षेत्र के अन्य राज्यों — पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान में बाढ़ की समस्या इतनी गंभीर नहीं है। इसका कारण मुख्यतः व्यास तथा लज नदियों पर बने बाँध हैं।

केंद्रीय तथा दक्कन क्षेत्र

क्षेत्र की प्रमुख नदियाँ नर्मदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी हैं। इन नदियों की कुल मिलाकर एक चित सीमा है। ये अपने मार्ग को नहीं बदलतीं तथा इनके तटबंधों की क्षमता भी पर्याप्त है। ये नदियाँ मध्यप्रदेश, रात, महाराष्ट्र, उड़ीसा, कर्नाटक, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश तथा केरल में बहती हैं। पश्चिमी घाट में सालाना वर्षा ब 500 से.मी. तथा अन्य क्षेत्रों में 75 से.मी. से लेकर 125 से.मी. तक होती हैं।

पे इस संपूर्ण क्षेत्र में बाढ़ की कोई गंभीर समस्या नहीं है, फिर भी उड़ीसा में बैतरणी, ब्राह्मणी तथा सुबर्णरेखा जैसी यों के कारण कभी-कभी बाढ़ आ जाती है। इसी प्रकार नर्मदा, ताप्ती तथा महानदी के कारण भी कभी-कभी बाढ़ समस्या उत्पन्न होती है।

5.3 बाढ़ का विस्तार

भारत में नियमित रूप से आती है। हर साल बाढ़ के कारण होने वाले नुकसान में बढ़ोतरी हो रही है। न केवल संभाव्य क्षेत्रों में बाढ़ की गंभीरता बढ़ रही है बल्कि अब तक जो क्षेत्र बाढ़ से सुरक्षित थे, वे भी बाढ़ की चपेट ा रहे हैं। इसीलिए हाल ही में गुजरात व राजस्थान राज्य भी बाढ़ की समस्या से जूझ रहे हैं।

में औसतन हर साल करीब 8.2 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र बाढ़ से प्रभावित होता था। इसमें से 43 प्रतिशत क्षेत्र योग्य था। सत्तर के दशक तथा अस्सी के दशक के आरंभ में यह क्षेत्र बढ़कर 11.9 मिलियन हैक्टेयर हो गया। ाल बाढ़ से फसल के अलावा मकान, संपत्ति, मनुष्य व पशु संपदा की भारी क्षति होती है। हर साल औसतन लाख मकानों को बाढ़ के कारण नुकसान होता है। मानव व पशु संपदा की क्षति की मात्रा क्रमशः 1240 तथा 0 प्रति वर्ष है। किंतु ये आँकड़े केवल औसत को प्रदर्शित करते हैं तथा बुरे साल में बाढ़ के कारण होने वाली र बर्बादी इन आँकड़ों से प्रकट नहीं होती है।

में लगभग हर साल बाढ़ आती है। वस्तुतः राष्ट्रीय बाढ़ आयोग के अनुसार बाढ़ की बारंबारता तथा गंभीरता में वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। यह मुख्यतः प्रकृति के साथ-साथ मानव का अनियंत्रित दखलंदाजी के कारण हिमालय नदियों की पनढालों में वनों की कटाई तथा पारिस्थितिक ह्रास के कारण हुआ है।

प्रश्न 2

बाढ़ के क्या कारण हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

2) उन मूलभूत श्रेणियों को बताइए, जिनमें जल उपलब्धि के आधार पर भारत को बाँटा जा सकता है। इन श्रेणियों के लिए अपनाई जा सकने वाली विभिन्न रणनीतियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (7 वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) हरित क्रांति के समय अपनाई गई फसल रणनीति के अंतर्गत साधन आबंटन के विभिन्न आशयों (implications) का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। (8 वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.6 स्वातंत्र्योतर काल में राहत कार्य

जैसाकि आपने खंड 1 की इकाई 3 में पढ़ा है कि ब्रिटिश सरकार ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पचीस सालों में अकाल की स्थिति का सामना करने के लिए खाद्यान्न के बाज़ार में सक्रिय तथा संगठित तरीके से दखल देना शुरू कर दिया था। इसके अंतर्गत सरकार ने अकाल बीमा कोष के गठन, संचार, आधारभूत संरचना, प्रशासनिक प्रशिक्षण, कृषि व औद्योगिक उत्पादन में भारी विनियोग तथा जीवन-निर्वाह स्तर पर रह रहे बंधुआ श्रमिकों के भरण-पोषण के लिए राहत कार्य शुरू करने की नीति अपनाई। जल्दी ही अकाल संहिता तथा राहत नियमावलियों के निर्माण के लिए कई अकाल आयोग गठित किए गए जिससे इस बात को सुनिश्चित किया जा सके कि अभाव की परिस्थिति में किसी की अकाल मृत्यु न हो। अकाल के समय स्थानीय प्रशासन के मार्ग निर्देशन के लिए विस्तृत नियमावली प्रदान करने के उद्देश्य से संहिताएँ तैयार की गईं। किंतु जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, कि प्रशासन का व्यवहार हमेशा आवश्यकता के अनुरूप नहीं रहा, खासकर 1943 के बंगाल के भयंकर अकाल के समय।

14.6.1 स्वातंत्र्योतर काल में परिवर्तन

स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में देश के नीति-निर्धारक जर्जर अर्थव्यवस्था को पुनर्गठित करने के बहुत जरूरी कार्य में लगे हुए थे। अतः अकाल प्रशासन को संगठित करने के लिए कोई भी प्रयास नहीं किया जा सका। परिणामस्वरूप 1952-53 में महाराष्ट्र व मैसूर राज्यों में पड़े अकाल में भारी मात्रा में पशुओं को बेचने के कारण कुल पशु संपदा में करीब 30 प्रतिशत तक की कमी हुई तथा लोगों को बड़ी संख्या में 20-30 मील तक बाहर जाना पड़ा। लोगों के अस्थायी निवास व भोजन के लिए आपात राहत कैंप लगाए गए, परंतु यह कार्य बहुत देर से शुरू किया गया तथा आवश्यकता के अनुरूप नहीं था।

अतः सरकार ने प्रशासनिक निष्पादन को सुधारने को प्राथमिकता दी। बाद में अकाल संहिता के अंतर्गत किए गए सुधार केवल नए प्रकार के नियम बनाने के लिए नहीं किए गए बल्कि उनका संबंध प्रशासनिक दायित्वों को निर्दिष्ट करने तथा त्वरित कार्यवाही करने की आवश्यकता से था। इन सुधारों में वित्तीय सुधार भी शामिल थे। इनके अंतर्गत केंद्र सरकार द्वारा राज्यों को इस शर्त पर कोष आबंटित किया गया कि राहत कार्यों के लिए आबंटित धन की मात्रा पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत राहत कार्यों के लिए राज्यों द्वारा किए गए आबंटन से अधिक न हो। राहत कार्यों के लिए आबंटित धन की मात्रा में भारी वृद्धि की गई जिससे आवश्यकता के अनुरूप राहत कार्य प्रारंभ किया जा सके। इसमें राज्य सरकारों का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं था कि अभाव के समय भूख के कारण किसी की मौत न हो, बल्कि

यह भी था कि लोगों के शारीरिक ह्रास तथा अभावग्रस्तता को रोका जा सके जिससे वे अच्छे दिनों के समय जीवनयापन के लिए आवश्यक सामान्य काम-काज करने में सक्षम हो सकें।

भारत में जिलों को अकाल निवारण प्रशासन का आधार बनाया गया है। उपायुक्त अथवा जिला कलक्टर प्रत्येक राज्य में राहत कार्यों का केंद्र होता है। फिर भी विभिन्न राज्यों में जिला कलक्टर के अधिकारों में राज्य सरकारों द्वारा की गई स्वायत्तता के अनुसार अंतर भी पाया जाता है। राहत कार्यों के आधारभूत तत्व ये हैं—

- मानसून की सूचनाओं के आधार पर यथाशीघ्र चेतावनी देने की प्रक्रिया।
- हर जिले के लिए ग्राम-स्तर पर रोज़गार, पेयजल, घास, निःशुल्क राहत आदि के प्रावधानों से संबंधित राहत हेतु मास्टर प्लान का निर्माण।

स्वतंत्र भारत में कई अकाल पड़े, जिनमें से कुछ बहुत भयावह थे। 1965-66, 66-67, 79-80 तथा 1987-88 के अकालों को बहुत भयावह अकालों की श्रेणी में रखा जा सकता है। परंतु इन अकालों के समय प्रभावित क्षेत्रों में लोगों के भूख से मरने अथवा बड़े पैमाने पर स्थान छोड़ने की कोई घटना नहीं हुई। स्वतंत्रता से पूर्व की अवधि में इस प्रकार के अकाल भयावह अकालों में परिवर्तित हो सकते थे, जैसा कि 1943 में हुआ। अकाल तथा अकाल-सदृश्य स्थिति का मुकाबला करने की भारत की क्षमता का हाल ही में कई अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर विचार भी हो चुका है। इस अद्‌भुत व प्रशंसनीय कार्य के लिए जो कारण उत्तरदायी हैं, वे हैं — भारत की लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था, स्वतंत्र व सक्रिय प्रेस, खाद्यान्न, चारे व अन्य सामान के समय पर भण्डारण व परिवहन के लिए आवश्यक आधारभूत संरचना तथा कुशल तथा प्रशिक्षित नौकरशाही। फिर भी कालाहांडी जैसे कुछ चिरकालिक सूखा-संभाव्य जिलों में भयंकर भुखमरी तथा स्थान छोड़कर जाने जैसी घटनाएँ हुई हैं।

1978 जैसी भयंकर बाढ़ के समय भी खासकर भारत के उत्तरी तथा पूर्वी भागों में बड़े पैमाने पर राहत कार्य किए गए। बड़े पैमाने पर राहत निवारण कार्यों को अब पंचवर्षीय योजनाओं में भी विशेष स्थान दिया जाता है। इन कार्यों में बरसात के समय बह जाने वाली सतही जल को रोकने के लिए बड़े पैमाने पर जल-रोधक कार्य जैसे — विभिन्न नदियों एवं घाटियों के जल-ग्रहण क्षेत्रों में जलाशय तथा बाँधों का निर्माण शामिल है। हाल ही में नदियों के जल-ग्रहण क्षेत्र ऊपरी खंडों में अधिक से अधिक वृक्ष लगाने पर जोर दिया जा रहा है। नीति निर्धारक अब इस बात को महसूस करने लगे हैं कि बाढ़ तथा सूखे जैसी तथाकथित प्राकृतिक विपदाएँ विकास तथा पर्यावरण की उन बकाया समस्याओं के कारण हैं, जिन्हें पहले सुलझाया नहीं गया। राहत कार्यों को अगर दीर्घकालीन निवारण तथा बचाव कार्यों (जो वास्तव में विकासात्मक विनियोग है) से असंबद्ध कर दिया जाय, तो इनसे कोई प्रतिफल प्राप्त नहीं होगा। इसीलिए आजकल योजना दस्तावेज़ों में राहत कार्यों पर अलग से अध्ययन नहीं होता है, यद्यपि केंद्र व राज्य सरकारों के बजट में राहत व्यय प्रमुख मद है।

14.6.2 राहत तथा विकास में संबद्धता

इस बात को लगातार अनुभव किया जा रहा है कि बाढ़ तथा सूखे जैसी प्राकृतिक आपदाओं की बढ़ती हुई निरंतरता तथा उसे पैदा करने वाली दीर्घकालिक पर्यावरणीय ह्रास की शक्तियों की चुनौती का सामना राहत के रूप में खैरात बाँट करके नहीं, बल्कि दीर्घकालिक निवारक तथा संरक्षणात्मक परिसंपत्तियों के निर्माण के लिए सार्वजनिक हस्तक्षेप प्रणाली को सक्रिय करके करना होगा। इसी संबंध में विभिन्न गरीबी निवारक तथा रोज़गार सृजक कार्यक्रम शुरू किए गए हैं।

सरकार ने नियमित रूप से सूखे से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों की पहचान की है तथा सूखा-संभाव्य क्षेत्र कार्यक्रम के अंतर्गत सूखा निवारक कार्यक्रम तैयार किए गए हैं। छठी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत भारत सरकार ने सूखा-संभाव्य क्षेत्र कार्यक्रम के अंतर्गत 315 करोड़ रुपए खर्च किया, जिससे निम्नलिखित भौतिक लक्ष्य प्राप्त किए गए —

) मृदा तथा नमी संरक्षण	(000 हैक्टेयर)	4265.6
) सिंचाई संभाव्य का सृजन (लघु सिंचाई)	"	3276.67
) वनरोपण तथा चरागाह विकास	"	3896.86
) दुग्ध समितियों का गठन	सं.	3426
) भेड़ समितियों का गठन	सं.	632
) रोज़गार सृजन	('000 मानव दिवस)	176996

स्रोत : सातवीं पंचवर्षीय योजना, भाग II, पृ. 61)

. सी.एच. हनुमंत राव तथा उनके सहयोगियों द्वारा की गई गणनाओं से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त मदों में से प्रथम न मदों पर 350 करोड़ रुपये व्यय करने से मिलने वाले वित्तीय प्रतिफल की मात्रा लगभग 575 करोड़ रुपये है।

साथ ही इन कार्यक्रमों से रोज़गार तथा आय की भी प्राप्ति होती है, जिसकी मात्रा राहत नियमावलियों में दिए गए किसी भी प्रकार के कार्यक्रम की तुलना में अधिक होगी। उन्होंने यह भी अनुमान लगाया है कि किसी सूखा वर्ष में हुई रोज़गार की क्षति का कम से कम दो-तिहाई भाग गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले परिवारों को वहन करना पड़ता है। सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों को सूखा राहत कार्यक्रम के रूप में काम देने के लिए यह जरूरी है कि इस प्रकार के कार्यक्रमों से इन परिवारों को 1400 मिलियन मानव दिवसों से अधिक अतिरिक्त रोज़गार प्रदान किया जाए। इसे केवल निवारक तथा संरक्षणात्मक परिसंपत्तियों के निर्माण के लिए निर्धारित गरीबी निवारण तथा रोज़गार सृजन के प्रमुख कार्यक्रमों के हिस्से के रूप में ही किया जा सकता है। साथ ही रोजगार तथा आय का सृजन करने वाले ये प्रमुख कार्यक्रम (जिनसे गरीबी दूर होने के साथ-साथ प्राकृतिक विपदा की संभावना भी कम होती है) केवल उसी स्थिति में गैर-स्फीतिकारक हो सकते हैं, जब सरकार द्वारा अतिरिक्त रोज़गार पाने वाले मज़दूरों के लिए सरकारी खाद्य भंडार से अतिरिक्त खाद्यान्न दिलाया जाय। भयानक सूखे के प्रभाव को कम करने के लिए ऊपर वर्णित अतिरिक्त श्रम-रोज़गार का सृजन करने के लिए 2812 करोड़ रुपये के वित्तीय परिव्यय की आवश्यकता होगी तथा सरकारी खाद्य भंडार से सार्वजनिक वितरण व्यवस्था द्वारा 2.8 मिलियन टन खाद्यान्न दिलवाया जाए।

14.7 राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था

राहत को विकास कार्यक्रमों में सम्मिलित करने के प्रयासों के बावजूद भी सरकार के बजट में राहत कार्य यथेष्ट रूप में दिखाए जाते हैं। प्राकृतिक विपदाओं से प्रभावित होने वाले लोगों को राहत पहुँचाने का प्राथमिक उत्तरदायित्व संबंधित राज्य सरकारों का है। परंतु प्रायः ऐसा होता है कि किसी साल प्राकृतिक विपदा की गंभीरता को देखते हुए बड़े पैमाने पर राहत कार्य शुरू करने की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन उस पर होने वाला खर्च उस राज्य सरकार की क्षमता के बाहर हो तब ऐसी स्थिति में राज्य सरकार केंद्र सरकार से वित्तीय सहायता की माँग करती है। केंद्र सरकार ने इस प्रकार की सहायता के बारे में समय-समय पर नीति निर्धारण करती है।

भारत में प्राकृतिक विपदाओं से पीड़ित लोगों को राहत पहुँचाना राज्य सरकारों का प्राथमिक दायित्व है तथा इस संबंध में राज्यों की आवश्यकताओं को विभिन्न वित्त आयोगों ने भी ध्यान में रखा है। द्वितीय वित्त आयोग तथा बाद के सभी आयोगों ने प्रत्येक राज्य के व्यय के पुर्वानुमानों में राहत व्यय के लिए अतिरिक्त धन (जिसे मार्जिन कहा जाता है) की व्यवस्था करने की आवश्यकता को माना है। संकट की स्थिति में कई मामलों में राहत कार्य तदर्थ रूप से शुरू किए जाते हैं, जिनमें इन कार्यों की दीर्घकालीन उपादेयता की तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है। वर्ष 1966-67 के बाद से राहत कार्यों में भारी वृद्धि चिंता का विषय रहा है। राज्यों के बजट में "64 अकाल राहत" कार्यों के अंतर्गत व्यय का वार्षिक औसत तीसरी योजना में 13.41 करोड़ रुपये था, जो तीन वार्षिक योजनाओं की अवधि में बढ़कर 81.01 करोड़ रुपये हो गया। इस व्यय के बढ़ने की प्रवृत्ति में चौथी योजना की अवधि में अभूतपूर्व तेजी आयी। 1969-70 में इसके अंतर्गत व्यय की मात्रा 151.87 करोड़ रुपये थी, जो बढ़कर 1972-73 में 318 करोड़ रुपये हो गयी। इस व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए राज्यों को मिलने वाली केंद्रीय सहायता में भी चिंताजनक वृद्धि हुई है। वस्तुतः कुछ राज्यों को सूखा राहत कार्यों के लिए मिलने वाली केंद्रीय सहायता की मात्रा कुल योजना अनुदान से भी ज्यादा हो गयी है। छठी योजना में राहत व्यय के गंभीर आकार का हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं।

14.7.1 राहत व्यय — व्यर्थ व्यय

यह एक निश्चित धारणा है कि सूखा राहत कार्यों के नाम से होने वाले व्यय की बड़े पैमाने पर बर्बादी हो रही है, जिससे बचा जा सकता है तथा बेहतर नियोजन व प्रबंध से और अधिक लाभ अर्जित किया जा सकता है। ऐसा भी

संभव है कि योजनाओं के विकास कार्यक्रमों के लिए साधनों की कमी के कारण राज्य सरकारों द्वारा कुछ मामलों में केंद्र से सूखा राहत के रूप में अधिक सहायता प्राप्त करने के लिए दबाव डाला जाता हो। यह भी तर्क दिया जा सकता है कि स्थायी महत्व के कार्यों के लिए राहत कोष के उपयोग को सामान्यतः योजना के अंतर्गत शामिल करना राष्ट्रीय हित में है। राहत कार्यों के लिए और राज्य की विकास योजनाओं के लिए केंद्रीय सहायता के वितरण के ढाँचे को अलग-अलग रखने के कारण राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा अनुमोदित मापदण्ड के अनुसार केंद्रीय सहायता के वितरण का सूत्र बेकार हो गया है।

सर्वाधिक चिंता का विषय यह है कि राहत कार्यों का बहुत बड़ा भाग जल्दबाजी में तैयार की गई योजनाओं पर खर्च कर दिया गया, जो अधिकांशतः अनुत्पादक साबित हुआ तथा सूखा तथा बाढ़ से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों के स्थायी विकास पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। साथ ही राहत व्यय के दुरुपयोग तथा भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप भी लगाए गए हैं।

वर्तमान व्यवस्था में दो भयंकर कमियाँ हैं। प्रथम, राज्यों को राहत व्यय में किफायत करने अथवा राहत व्यय से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। द्वितीय, राहत कार्यों पर व्यय करने वाली योजनाओं को हमेशा सूखा अथवा बाढ़ से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों की समग्र विकास योजनाओं के साथ एकीकृत नहीं किया जाता।

सूखा अथवा बाढ़-संभाव्य क्षेत्रों के विकास तथा पीड़ित लोगों के राहत की समस्या को प्रभावी ढंग से हल करने के लिए वैकल्पिक योजनाओं का निर्माण वर्तमान ढाँचे की उपर्युक्त दोनों आधारभूत कमियों को दूर करने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। छठे वित्त आयोग (1973) ने यह सुझाव दिया था कि सूखा तथा बाढ़ से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों के स्थायी सुधार के लिए मध्यम तथा दीर्घकालीन महत्व के विस्तृत कार्यक्रम के निर्माण की आवश्यकता है तथा इन कार्यक्रमों को योजना के साथ पूर्णतः समन्वित करके बनाया जाना चाहिए। इन योजनाओं को पहले से तैयार करके तथा उचित प्राथमिकता के आधार पर व्यवस्थित करना चाहिए जिससे किसी राज्य अथवा उसके किसी हिस्से में प्राकृतिक प्रकोप आने पर इन योजनाओं को तुरंत लागू किया जा सके। प्राकृतिक विपदा आने पर अधिक से अधिक केंद्रीय सहायता प्राप्त करने के लिए हड़बड़ी में तैयार करने की वर्तमान व्यवस्था की तुलना में इस नवीन व्यवस्था से निस्संदेह ही बेहतर परिणाम प्राप्त होंगे। चूँकि इन क्षेत्रों के विकास से संबंधित कार्यक्रमों की जाँच योजना आयोग तथा संबद्ध मंत्रालयों द्वारा राज्यों की योजनाओं के साथ पहले से ही किया जा चुका होता है इसलिए राज्य सरकारों को इनके क्रियान्वयन से पूर्व केंद्र सरकार अथवा इसके अभिकरणों से स्वीकृति मिलने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है।

यद्यपि सूखा अथवा बाढ़-संभाव्य क्षेत्रों के विकास के लिये योजना में शामिल किए गए कार्यक्रमों का क्रियान्वयन सामान्य वर्षों में योजना के अंतर्गत निर्धारित वार्षिक कार्यक्रम के अनुसार किया जाता है, परंतु जब कोई क्षेत्र प्राकृतिक विपदा से प्रभावित होता है तो इस प्रकार के कार्यक्रमों को तेजी से क्रियान्वित किया जाता है। कार्यक्रमों के इस प्रकार से क्रियान्वयन के लिए आवश्यक अतिरिक्त धन की व्यवस्था पंचवर्षीय योजना के लिए निर्धारित केंद्रीय सहायता को अग्रिम रूप से जारी की जानी चाहिए। प्राकृतिक विपदा से प्रभावित होने वाले वर्ष में योजना के लिए केंद्रीय सहायता को अग्रिम रूप से जारी करने से न केवल राज्य की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति होगी, बल्कि सूखा प्रभावित क्षेत्रों के विकास की प्रक्रिया में भी तेजी आएगी। साथ ही, राज्य सरकारें आरंभ से ही इस बात को ध्यान में रखेंगी कि उनके द्वारा इस प्रकार प्राप्त केंद्रीय सहायता संपूर्ण योजना के लिए निर्धारित केंद्रीय सहायता की अधिकतम सीमा से अधिक नहीं होगी। इससे राज्य सरकारों द्वारा खर्च में बढ़ोतरी करने पर भी प्रभावी अंकुश लगेगा। इसे ध्यान में रखते हुए वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया था कि सूखा-संभाव्य क्षेत्रों के विकास के प्रावधानों को राज्य व केंद्रीय योजनाओं का अंग बना देना चाहिए। इसी प्रकार बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम भी योजना के अंग होने चाहिए।

14.7.2 राहत व्यय का योजना वित्त से संबंध

आज आवश्यकता इस बात की है कि सूखा तथा बाढ़-संभाव्य क्षेत्रों की इन प्राकृतिक विपदाओं के प्रति अतिसंवेदनशीलता को बहुत हद तक कम करने (यदि पूर्णतः खत्म न किया जा सके तो) के लिए प्रभावशाली समय-बद्ध कार्यक्रम शुरू किया जाए। केंद्रीय योजना में अब चुने हुए जिलों के सूखा-संभाव्य क्षेत्रों के विकास के लिए भी कुछ प्रबंध किया जाता है। इस आशंका के पर्याप्त कारण हैं कि पिछली योजनाओं में सूखा-संभाव्य क्षेत्रों की जरूरतों पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया। किंतु चौथी पंचवर्षीय योजना ने चुने हुए सूखा-संभाव्य जिलों के विकास के लिए केंद्रीय क्षेत्र में कुछ प्रबंध किया था। राहत पर होने वाले व्यय की बढ़ती हुई मात्रा के कारण सूखा तथा बाढ़ से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों के आर्थिक विकास के स्थायी समाधान ढूँढ़ने की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। छठे वित्त आयोग ने इस बात पर बल दिया था कि संदेहास्पद महत्व की योजनाओं पर तदर्थ आधार पर भारी मात्रा में राहत व्यय करने की अपेक्षा पाँचवी योजना के अंतर्गत राज्य तथा केंद्रीय क्षेत्रों में सूखा तथा बाढ़-संभाव्य क्षेत्रों के विकास के लिए और अधिक बड़े पैमाने पर प्रबंध करना चाहिए।

सातवें वित्त आयोग (1978) ने यह बताया है, कि बाढ़, तूफान, भूकंप आदि प्राकृतिक विपदाओं के समय किए जाने वाले राहत कार्य भयंकर सूखे के समय किए जाने वाले राहत कार्यों से भिन्न होते हैं। पहले प्रकार के मामले में प्रभावित लोगों को तुलनात्मक रूप से बहुत कम समय में तथा व्यापक पैमाने पर मदद करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए बड़ी संख्या में लोगों को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाना पड़ता है, और उनके लिए अस्थाई आवास, वस्त्र तथा भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती है, और ज्यों ही वे अपने घरों को लौटते हैं, उन्हें पुनः अपनी गृहस्थी को जमाने के लिए कुछ अनुदान भी देना पड़ता है। इस प्रक्रिया में राज्य सरकारों को यातायात, पेयजल, दवाई आदि के प्रबन्ध पर भारी व्यय करना पड़ता है। साथ ही जहाँ सड़क तथा संचार व्यवस्था भंग हो गई है, वहाँ इनको पुनः स्थापित करने के लिए आपातकालीन प्रबंध करने पड़ते हैं तथा तटबंध व अन्य ऐतिहाती कार्यों को मजबूत करना पड़ता है। बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों से जल निकासी आदि के प्रबंध भी तत्काल करने पड़ते हैं। इस प्रकार संकट काल से प्रभावित लोगों के पुनर्वास, उनके मकानों की मरम्मत अथवा पुनर्निर्माण, नई फसल बोने के लिए जमीन को साफ करने तथा बीज व अन्य साधनों के लिए सहायता देनी पड़ती है। बाढ़ से क्षतिग्रस्त हुए सरकारी भवनों को मरम्मत करने तथा उन्हें मूल स्थिति में लाने के लिए संबंधित सरकारी विभागों को भी काम करना पड़ता है। ये काम कई महीनों में पूरे होते हैं अथवा इनको अगले वित्तीय वर्ष तक भी चलाना पड़ सकता है। साधारणतः ऐसी स्थिति नहीं होती है कि प्रभावित लोगों को रोज़गार देने के लिए सरकार को कोई विशेष कार्यक्रम शुरू करना पड़े। लोगों को पुनः किए जाने वाले कृषि कार्यों में रोज़गार उपलब्ध हो जाता है तथा योजना के अंतर्गत चल रहे साधारण कार्यक्रमों व सार्वजनिक परिसंपत्तियों के मरम्मत तथा पुनर्निर्माण के लिए किए जाने वाले सरकारी कार्यों से भी रोज़गार मिल जाता है।

सूखे के समय राज्य सरकारों तथा लोगों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, वे अन्य समस्याओं से भिन्न होती हैं। सूखे के कारण पैदा होने वाली कष्टप्रद स्थिति, इसके विस्तार तथा गहनता के बारे में सामान्यतः समुचित पूर्वसूचना उपलब्ध होती है। इसलिए सूखे के कारण प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संभावित संख्या, मुफ्त सहायता प्राप्त करने वाले लोगों की संख्या तथा पेयजल आदि के रूप में राहत के प्रबंध के लिए आवश्यक कार्यों के बारे में पुर्वानुमान लगाए जा सकते हैं तथा समय-समय पर उनकी समीक्षा की जा सकती है। इसी प्रकार उपयोगी पशुधन के लिए चारे तथा अन्य उपायों की आवश्यकताओं का मूल्यांकन करके उसकी योजना बनाई जा सकती है। इससे राहत कार्यों के लिए योजना बनाने के लिए भी कुछ समय मिल जाता है। प्रचलित प्रक्रिया के अंतर्गत सामान्यतः हर जिले में पर्याप्त छानबीन के बाद कई योजनाएँ बनाकर तैयार रखने की जरूरत होती है ताकि जरूरत पड़ने पर उनको लागू किया जा सके। समस्त राज्य के लिए निर्धारित योजनाओं के अंतर्गत किए जाने वाले कार्यों से भी लोगों को रोज़गार उपलब्ध होता है तथा इन कार्यों की गति इस प्रकार की जरूरतों के समय विशेष रूप से तेज की जा सकती है।

ऊपर वर्णित राहत कार्यों के अनुभवों के संदर्भ में ही हमें राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था पर विचार करना चाहिए।

14.7.3 वित्त आयोगों का दृष्टिकोण

सातवें वित्त आयोग ने सूखा, बाढ़, तूफान, भूकंप आदि में अंतर किया तथा विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक प्रकोपों के लिए केंद्रीय सहायता के स्वरूप में परिवर्तन का सुझाव दिया।

सूखे के खर्च के बारे में सातवें वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि संबंधित राज्यों को अपनी योजना में धन की व्यवस्था करनी चाहिए तथा राज्यों के अंशदान की मात्रा केंद्रीय दल तथा उच्चस्तरीय राहत समिति के मूल्यांकन के अनुसार होनी चाहिए। फिर भी, इस प्रकार के अनुदान की मात्रा वार्षिक योजना के कुल परिव्यय के 5 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए तथा इसी के अनुरूप राज्य के उस वर्ष के योजना परिव्यय को बढ़ा हुआ मान लिया जाना चाहिए। राज्य यह अंशदान दे सके इसके लिए उसे केंद्रीय सहायता मिले, जिसे अग्रिम योजना सहायता माना जाये। किंतु यदि केंद्रीय दल तथा उच्चस्तरीय राहत समिति द्वारा आंकी गयी राहत व्यय की ज़रूरत योजना परिव्यय के 5 प्रतिशत से अधिक हो, तो इस अतिरिक्त व्यय को प्रकोप की गंभीरता के सूचक के रूप में लिया जाना चाहिए तथा इस अतिरिक्त व्यय के लिए राज्य को पूरी केंद्रीय सहायता मिलनी चाहिए। इस सहायता का आधा भाग अनुदान व आधा भाग ऋण के रूप में मिलना चाहिए तथा इसे राज्य को मिलने वाली योजना सहायता में समायोजित नहीं किया जाना चाहिए।

बाढ़, तूफान तथा अन्य आकस्मिक प्राकृतिक विपदाओं के समय राहत तथा सार्वजनिक इमारतों की मरम्मत व पुनर्निर्माण पर होने वाले व्यय के बारे में सातवें वित्त आयोग का यह सुझाव था कि राज्यों को अतिरिक्त व्यय के 75 प्रतिशत तक गैर-योजना अनुदान के रूप में सहायता दी जानी चाहिए। बाकी 25 प्रतिशत व्यय राज्य द्वारा वहन किया जाना चाहिए, ताकि व्यर्थ के खर्च को रोका जा सके। केंद्रीय सहायता का राज्य की योजना अथवा योजना के लिए केंद्रीय सहायता में समायोजन नहीं किया जाना चाहिए। सातवें वित्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि भयंकर प्राकृतिक प्रकोप की स्थिति में केंद्रीय सरकार के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वह संबंधित राज्यों को अधिक उदारता से सहायता दे।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि हाल ही के वर्षों में राहत व्यय तेजी से बढ़ा है तथा समय बीतने के साथ ही इस व्यय का केंद्रीय बजट पर ज़बरदस्त भार पड़ा है। परंतु ये घटनाएँ बहुत कुछ केंद्र तथा राज्य दोनों के नियंत्रण से बाहर की शक्तियों (जैसे प्राकृतिक प्रकोपों की गंभीरता तथा कीमतों में वृद्धि) का परिणाम हो सकती हैं। इसलिए ये घटनाएँ केन्द्र-राज्य वित्तीय व्यवस्था में किसी अंतर्निहित मूलभूत कमी की ओर इंगित नहीं करती हैं।

आठवें वित्त आयोग का यह मत था कि इस समस्या के सभी पहलुओं को ध्यान में रखते हुए किसी बेहतर योजना का निर्माण करना आसान काम नहीं है। इस योजना में कई नियंत्रण एवं संतुलन होने चाहिए, जो ठीक से काम करने पर किसी प्रकार के दुरुपयोग के प्रति रक्षाकवच के रूप में कार्य कर सकें। राहत व्यय का योजना के साथ सामंजस्य स्थापित करना इतना अधिक मुश्किल नहीं होना चाहिए, यदि राज्यों के पास पहले से कई योजनाएं तैयार हों। इसलिए इस आयोग ने सातवें वित्त आयोग द्वारा सुझाए गए दृष्टिकोण को जारी रखने का सुझाव दिया।

किंतु नवें वित्त आयोग (1989) की सिफारिश थीं कि राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था के वर्तमान प्रबंध को ऐसी व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया जाना चाहिए, जिसमें राज्यों को अधिक स्वायत्तता, तथा उत्तरदायित्व सौंपे जाएं तथा इसके लिए उन्हें पर्याप्त साधन भी उपलब्ध कराए जाएं। एक बार ऐसा हो जाने पर आशा है कि राज्य आत्मनिर्भर बनेंगे तथा उन्हें केन्द्र का मुँह नहीं देखना पड़ेगा। यह पुराने आयोगों के विचारों तथा इस संवैधानिक स्थिति के अनुरूप ही होगा कि राहत का प्राथमिक उत्तरदायित्व राज्यों का है।

आयोग ने मार्जिन मुद्रा की व्यवस्था, राज्यों के ज्ञापन पत्रों की तैयारी, केंद्रीय दलों के भ्रमण आदि की वर्तमान व्यवस्था को परिवर्तित कर ऐसी व्यवस्था के निर्माण का प्रस्ताव किया है जो गुणात्मक रूप से इस अर्थ में भिन्न है कि राज्य

सरकारों के अधिकार में पर्याप्त कोष हो तथा वे लगभग सभी स्थितियों में अपने राज्यों की देखभाल कर सकें। आयोग ने अब तक अपनायी जा रही मार्जिन मुद्रा की धारणा को पूर्णरूपेण बदलकर इसके स्थान पर 1988-89 तक के दस वर्षों में अनुमोदित राहत व्यय की अधिकतम सीमा के औसत (निकटस्थ करोड़ रुपए तक पूर्ण करने के पश्चात्) की राशि को अपनाने का सुझाव दिया। इस अवधि में सभी राज्यों का औसत 804 करोड़ रुपये आता है। इसलिए आयोग का यह सुझाव था कि प्राकृतिक आपदा के समय राहत के लिए राज्यों को प्रतिवर्ष 804 करोड़ रुपये उपलब्ध करवाए जाने चाहिए।

यह राशि केवल अब तक प्रयुक्त मार्जिन मुद्रा (केंद्र तथा राज्य दोनों का हिस्सा) को ही नहीं बल्कि गत दस वर्षों में अनुमोदित व्यय की अधिकतम सीमा के औसत को दिखाती है, जिसमें मार्जिन मुद्रा, अग्रिम योजना सहायता (अनुदान तथा ऋण), प्राकृतिक प्रकोप से राहत के लिए विशिष्ट केंद्रीय सहायता (50 प्रतिशत ऋण व 50 प्रतिशत अनुदान) तथा बाढ़ सहायता में राज्यों का 25 प्रतिशत हिस्सा शामिल है। 1990-95 की पाँच वर्षों की अवधि के प्रत्येक वर्ष के लिए सभी राज्यों के आपदा-राहत कोष में केंद्र को 75 प्रतिशत अंशदान (603 करोड़ रुपये) देना होगा। राज्यों को इस धनराशि द्वारा प्राकृतिक आपदा के समय बिना केंद्र के निर्देशन व अनुमोदन के राहत कार्य का प्रबंध करना होगा।

नवें वित्त आयोग की समयावधि (1990-95) में यदि किसी क्षेत्र में इतनी भयानक प्राकृतिक विपदा आ जाए कि उसे राष्ट्रीय स्तर पर सँभालने की आवश्यकता हो तो परिस्थितियों के अनुसार केंद्र उचित कार्यवाही करेगा तथा जरूरी खर्चा भी देगा।

ध प्रश्न 3

) भारत में अकाल निवारण प्रशासन का आधार क्या है? अकाल की स्थिति में कार्य करने के विभिन्न मूलभूत चरण कौन-कौन से हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

) राहत व्यय की वर्तमान व्यवस्था में क्या कमियाँ हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

) राहत व्यय के संबंध में नवें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (आठ वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.8 सारांश

स इकाई का अध्ययन करने के बाद आप सूखा व बाढ़ तथा इससे प्रभावित होने वाले क्षेत्र के अर्थ से परिचित हो ए। इस इकाई से फसल की रणनीति के कारणों तथा सूखे की गहनता पर पड़ने वाले प्रभावों की भी जानकारी मिली।

इस उद्देश्य के लिए देश को कई क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। जैसे—वे क्षेत्र जहाँ निश्चित जलापूर्ति है, तथा वे क्षेत्र जहाँ जलापूर्ति का स्रोत वर्षा है अथवा सिंचाई के स्रोत मुख्यतः मानसून पर निर्भर हैं और वे क्षेत्र जहाँ वर्षा अपर्याप्त अथवा अनिश्चित रहती है। इन क्षेत्रों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की फसल-रणनीति सुझाई गई है। जैसे 'क' श्रेणी के क्षेत्रों के लिए गहन कृषि जिला कार्यक्रम अथवा अधिक उपज देने वाली किस्मों का पैकेज उपयुक्त होगा। 'ख' श्रेणी के क्षेत्रों में रक्षात्मक सिंचाई तथा 'ग' श्रेणी के क्षेत्रों में शुष्क कृषि प्रक्रिया, चरागाह का विकास आदि पर बल देना होगा।

इसके अलावा इस इकाई से हमने भारत की विभिन्न नदियों एवं घाटियों तथा बाढ़ के विस्तार के बारे में भी जानकारी प्राप्त की। साथ ही, हमें स्वातंत्र्योत्तर काल में अपनाए जाने वाले विभिन्न राहत कार्यक्रमों जैसें — सार्वजनिक वितरण प्रणाली की नीति की भी जानकारी प्राप्त होती है। सरकार ने राहत तथा विकास को जोड़ दिया है तथा सूखा-संभाव्य क्षेत्र कार्यक्रम के अंतर्गत वृक्षारोपण, दुग्ध समिति, भेड़ समिति तथा अन्य रोज़गार सृजक कार्यक्रम अपनाए हैं। जहाँ तक राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था का संबंध है, यह एक सामान्य धारणा है कि इस प्रकार के व्यय का भारी मात्रा में अपव्यय होता है, जिसे रोका जा सकता है। इसलिए नयी योजनाएँ सुझाई गई हैं। सातवें वित्त आयोग ने सूखा तथा बाढ़, तूफान, भूकंप आदि में अंतर किया है और इन दो प्रकार की प्राकृतिक विपदाओं के लिए केंद्रीय सहायता के भिन्न-भिन्न ढाँचों का सुझाव दिया है। नवें वित्त आयोग की सिफारिश थी कि राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था के वर्तमान प्रबंध को ऐसी व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया जाए, जिसमें राज्यों को अधिक स्वायत्तता, तथा उत्तरदायित्व सौंपे जाएं तथा इसके लिए उन्हें पर्याप्त साधन उपलब्ध करवाया जाए। परंतु यदि किसी क्षेत्र को ऐसी स्थिति में कठिनाई उत्पन्न हो तो केंद्र परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त कार्यवाही तथा जरूरी खर्च करेगी।

14.9 शब्दावली

परिरेखा (कण्टूर) बाँध (Contour-bunding) — भू-क्षरण को रोकने के लिए खड्डों में बाँध का निर्माण, ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल करना तथा घास तथा अन्य पेड़-पौधों को उगाना।

परिरेखा (कण्टूर) फसल (Contour-cropping) — भू-क्षरण को रोकने के लिए समोच्च रेखा (कण्टूर लाइन) से लगने वाली ढलाऊ भूमि की जुताई तथा बुवाई।

नदी घाटी (River basins) — किसी नदी तथा उसकी विपुल प्रवाह से सिंचित संपूर्ण क्षेत्र।

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आलमगीर, एम.,1980, *फैमिन इन साउथ एशिया*, ईल्गेश्चलेगर, गन एण्ड हेन पब्लिशर्स, कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स।

भाटिया, बी.एम., 1963, *फैमिन्स इन इण्डिया (1860-1965)*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

घोष, अजित, 1979, *शोर्ट-टर्म चेंजेज़ इन इनकम डिस्ट्रीब्युशन इन पुअर एग्रेरिअन ईकोनॉमीज : ए स्टड़ी ऑफ फैमिन्स विद रेफरेन्स टू इण्डियन सब-कांटिनेंट*, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, वर्किंग पेपर्स, डब्ल्यू ई पी 10-6। डब्ल्यू पी 28, जिनेवा।

जोधा, एन.एस. 1975, *फैमिन एण्ड फैमिन पोलिसीज : सम एम्पिरिकल एविडेंस, ईकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली*, अक्टूबर 11.

रिपोर्ट ऑफ दि इरिगेशन कमीशन ऑफ इंडिया, वाल्युम 1, सिंचाई तथा शक्ति मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1972।

रेड्डी एन.वी.के. (संपा.), 1979, *ड्रॉउट प्रोन एरियाज़ ऑफ इण्डिया—प्रोसीडिंगज़ ऑफ दि आल इण्डिया सिम्पोजियम*, रायलसीमा जोग्राफिकल सोसायटी, भूगोल विभाग, श्रीवैंकटेश्वर विश्वविद्यालय प्रेस, तिरूपति।

राव, सी.एच.एच., एस.के. रे तथा के. सुब्बाराव, 1988, *अनस्टेबल एग्रीकल्चर एण्ड ड्रॉउटस*, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., दिल्ली।

रिपोर्ट ऑफ दि फाइनेन्स कमीशन, VI से IX, 1973, 1978, 1984 व 1989, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार।

राष्ट्रीय बाढ़ आयोग की रिपोर्ट, वाल्युम 1, मार्च 1980, ऊर्जा तथा सिंचाई मंत्रालय, भारत सरकार।

सेन, अमर्त्य, 1982, *पावर्टी एण्ड फैमिन — एन एसे ऑन एनटाइटलमेण्ट एण्ड डिप्राइवेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

सिंह, टी., 1978, *ड्राउट प्रोन एरियाज इन इण्डिया*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

शुक्ला, रोहित, 1979, *पब्लिक वर्क्स पोलिसी ड्यूरिंग ड्राउटस एण्ड फैमिन्स एण्ड इट्स लेसन्स फॉर एन् एम्पल्यामेण्ट पोलिसी*, सरदार पटेल इन्स्टीट्यूट ऑफ इकनोमिक एण्ड सोशल रिसर्च, अहमदाबाद।

14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 1) गलत
   2) सही
   3) सही
   4) गलत

2) खण्ड 12.3 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) खण्ड 12.3 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) खण्ड 14.5 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

2) उप-खण्ड 14.4.1 तथा 14.4.2 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) उप-खण्ड 14.4.2 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) उप-खण्ड 14.6.1 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

2) उप-खण्ड 14.7.1 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) उप-खण्ड 14.7.3 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

इकाई 15 सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) तथा खाद्यान्न की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 नीतिगत उपकरण के रूप में — सार्वजनिक वितरण प्रणाली
15.2.1 नीतिगत उद्देश्य
15.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका
15.3.1 अंतर्क्षेत्रीय साधन आबंटन
15.3.2 "आधिक्य" और "अभाव" वाले राज्य
15.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का संगठनात्मक तथा प्रशासनिक ढाँचा
15.4.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रशासन
15.4.2 भारतीय खाद्य निगम
15.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का कार्य-क्षेत्र
15.5 खाद्यान्नों का आयात
15.5.1 आकार
15.5.2 महत्व
15.5.3 आयात के लिए उत्तरदायी तत्व
15.6 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मूल्यांकन
15.6.1 ग्रामीण भूमिहीनों को समाविष्ट करने का लक्ष्य
15.6.2 खाद्यान्न की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता
15.6.3 खाद्यान्न की उपलब्धता के वर्ष-प्रतिवर्ष उच्चावचनों को न्यूनतम करना
15.6.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा खाद्यान्नों पर अनुदान
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर संकेत

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता की व्याख्या कर सकेंगे,
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्यों का वर्णन कर सकेंगे,
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली के संगठनात्मक व प्रशासनिक ढाँचे तथा कार्य क्षेत्र को प्रदर्शित कर सकेंगे,
- खाद्य समस्या को हल करने में खाद्यान्न के आयात की भूमिका, तथा
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने कृषि उत्पादन की अस्थिरता के संदर्भ में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका का उल्लेख किया था। भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्भव चालीस के दशक के आरंभ में देखा जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने के तुरंत बाद खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में भयानक तेजी आई। इसके तुरंत बाद 1943 में बंगाल में भयावह अकाल पड़ा। 1939 तथा 1943 के बीच आवश्यक वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतों को नियंत्रित करने के उपाय ढूँढ़ने के लिए कई सम्मेलन आयोजित किए गए। इन सम्मेलनों में जो सुझाव दिए गए उनमें कीमतों के उच्चतम स्तर को निर्धारित करना, खाद्यान्न के लाने-ले-जाने पर रोक, व्यापार पर नियंत्रण, खाद्यान्न के विपणन, वितरण में सरकार का सीधा हस्तक्षेप आदि शामिल थे। किंतु इन सुझावों को लागू करने तथा संगठनात्मक ढाँचे के निर्माण के लिए किसी प्रकार के गंभीर प्रयास नहीं किए गए। इसका कारण कदाचित् यह हो सकता है कि ये तरीके अहस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध थे। किंतु 1943 के बंगाल दुर्भिक्ष की छाया में खाद्य स्थिति का मूल्यांकन करने

तथा उसके बारे में उपयुक्त सुझाव देने के लिए गठित खाद्यान्न नीति समिति ग्रेगरी समिति ने "अहस्तक्षेप" की नीति को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया तथा सुझाव दिया कि :

1) सरकार द्वारा खाद्यान्न की वसूली तथा वितरण (राशनिंग सहित) की व्यवस्था हो,
2) कीमत नियंत्रण की वैधानिक व्यवस्था की जाय,
3) केंद्र तथा राज्यों के उत्तरदायित्वों के निर्धारण के लिए समुचित प्रशासनिक व्यवस्था हो,
4) खाद्य रिजर्व भंडार रखने की केंद्रीय व्यवस्था की जाय,
5) निजी व्यापारियों द्वारा खाद्यान्न के अंतर्राज्यीय व्यापार पर रोक लगाई जाए, तथा
6) किसानों को अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करने के लिए समुचित प्रेरणादायक कीमतें दी जाएं।

15.2 नीतिगत उपकरण के रूप में — सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS)

ऊपर वर्णित सुझाव खाद्य-अभाव वाली अर्थव्यवस्था के प्रबंध के लिए आवश्यक हैं तथा सत्तर के दशक के मध्य (अर्थात् जब तक खाद्यान्न का अभाव रहा) तक भारत में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। किंतु साठ के दशक के मध्य तक खाद्यान्न-प्रबंध की प्रणाली में संस्थागत सुधार के लिए किसी प्रकार के गंभीर प्रयत्न नहीं किए गए। वैधानिक नियंत्रणों द्वारा खाद्यान्न की कीमतों के स्थिरीकरण, शहरों व कस्बों में राशनिंग की व्यवस्था, सरकार द्वारा खाद्यान्नों की वसूली आदि ऐसे उपाय केवल तभी अपनाए गए, जब देश की गंभीर खाद्य-स्थिति के कारण ऐसा करना जरूरी हो गया था। परंतु जैसे ही खाद्य-आपूर्ति की स्थिति में सुधार हुआ, ये प्रयत्न बंद कर दिए गए अथवा इन्हें प्रभावहीन बना दिया गया। वास्तव में पचास के दशक के आरंभ में लगातार तीन वर्षों तक अच्छी फसल होने के कारण खाद्यान्न पर से नियंत्रण हटा लिए गए। केवल साठ के दशक के मध्य में ही भारत सरकार ने यह महसूस किया कि हमारे देश में खाद्य समस्या की स्थिति बहुत गंभीर है तथा इसके हल के लिए संगठित तथा सुव्यवस्थित सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है। परंतु ऐसा भी उस समय महसूस किया गया जब 1965-66 व 1966-67 में भयानक सूखा पड़ा तथा बड़े पैमाने पर फसल की बर्बादी हुई।

15.2.1 नीतिगत उद्देश्य

खाद्यान्न के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप द्वारा मोटे तौर पर निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करने की कोशिश की गई :

- खाद्यान्न के आंतरिक उत्पादन में होने वाले वार्षिक उच्चावचन के कारण कुल उपभोग स्तर में समय-समय पर आने वाले उतार-चढ़ाव को कम करना,
- खाद्यान्न की स्थानीय उपलब्धता में उच्चावचन के कारण उपभोग में होने वाले स्थानिक उतार-चढ़ाव को कम करना, तथा
- कीमत व आपूर्ति में अस्थायित्व होने के कारण गरीबों के उपभोग को प्रभावित होने से रोकना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार ने खाद्य-आपूर्ति के प्रबंध की विस्तृत व्यवस्था की। इस व्यवस्था के अंतर्गत खाद्यान्नों की सरकारी वसूली, सार्वजनिक वितरण, आयात तथा बफर स्टॉक का निर्माण, वैधानिक नियंत्रण तथा सरकारी नीतियों के लागू करने तथा उसकी निगरानी के लिए प्रशासनिक ढाँचे का निर्माण आदि शामिल है। इस प्रकार भारत में सार्वजनिक वितरण व्यवस्था का विकास खाद्य-प्रबंधन की समग्र-प्रणाली के रूप में हुआ। किंतु समय के साथ-साथ इस प्रणाली का विकास जनसंख्या के आकार तथा वितरित वस्तुओं की संख्या तथा दूसरी ओर आधारभूत संरचना तथा संस्थाओं की दृष्टि से इतना अधिक हुआ है कि अब इसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया जा चुका है।

15.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका को पूर्व वर्णित कृषि उत्पादन के उतार-चढ़ाव तथा सूखे व बाढ़ की आवृत्ति में होने वाली वृद्धि के संदर्भ में देखना होगा। अंतर्क्षेत्रीय एवं अंतःफसल साधन आबंटन के ढाँचे के कारण विशेष रूप से हरित क्रांति के बाद इन समस्याओं में तेजी से वृद्धि हुई है। इससे न केवल खाद्यान्न उत्पादन के वार्षिक उच्चावचन में वृद्धि हो रही है वरन् अंतर्क्षेत्रीय असमानता भी बढ़ रही है।

15.3.1 अंतर्क्षेत्रीय साधन आबंटन

विभिन्न राज्यों की बदलती स्थिति, विशेषतः, पूर्वी क्षेत्र की तुलना में उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र की बेहतर होती स्थिति तालिका 15.1 व 15.2 से स्पष्ट है।

तालिका 15.1

खाद्यान्न उत्पादकता की प्रवृत्ति

(कि.ग्रा./हैक्टेयर)

राज्य/क्षेत्र	त्रिवर्षीय औसत			
	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81
1	2	3	4	5
प. बंगाल	916	949	1170	1290 (143)
उड़ीसा	540	758	639	770 (196)
बिहार	513	714	820	914 (131)
पूर्वी उत्तर प्रदेश	673(5)	694	822	957 (165)
पूर्वी क्षेत्र[1]	644(6)	765	897	970 (151)
पश्चिमी क्षेत्र[2]	390	524	551	649 (172)
दक्षिण क्षेत्र[3]	554	731	897	1149 (155)
उत्तर पश्चिमी क्षेत्र[4]	608(7)	788	1150	1493 (326)
समग्र भारत	541	671	820	975 (181)

कोष्ठक में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन (कि.ग्रा.) से संबंधित हैं।

1) प. बंगाल, उड़ीसा, बिहार तथा पूर्वी उ.प्र. सम्मिलित हैं। 2) महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान सम्मिलित हैं। 3) आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा केरल सम्मिलित हैं। 4) पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उ.प्र. सम्मिलित हैं। 5) संपूर्ण उ.प्र. के लिए। 6) संपूर्ण उ.प्र. के लिए। 7) उ.प्र. को छोड़कर।

स्रोत : रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया, *रिपोर्ट ऑफ दि कमिटी ऑन प्रोडक्टिविटी इन ईस्टर्न इण्डिया*, बम्बई, 1984, भाग 1, पेज 23, 27.

तालिका 15.2

साधन उपयोग (Inpart use) की गहनता का राज्यवार स्तर

क्र.सं.	राज्य क्षेत्र	निवल बोया गया (सिंचित) क्षेत्र का प्रतिशत 1978-79	सिंचित भूमि के उपयोग की गहनता 1978-79 (%)	प्रति हैक्टेयर एकल कृषित क्षेत्र में NPK का उपयोग 1981-82 (कि.ग्रा.)	अधिक उपज देने वाली किस्मों के अंतर्गत अनाज के भू-क्षेत्र का प्रतिशत, 1980-81	विद्युतीकृत गाँवों का प्रतिशत, 1982-83	प्रति 1000 निवल क्षेत्र पर बिजली चालित निजी कुओं की सं,. 1981-82
1	2	3	4	5	6	7	8
1)	प. बंगाल	40.5	118.0	32.8	40.2	45.3	4.7
2)	उड़ीसा	18.8	138.2	9.9	22.3	43.4	31.9
3)	बिहार	34.7	125.2	18.0	42.8	43.2	19.9
4)	पूर्वी उ.प्र.	50.2	112.1	49.6	47.4	33.0	24.3
5)	पूर्वी क्षेत्र	36.0	122.8	26.4	37.7	41.0	13.6
6)	पश्चिमी क्षेत्र	14.2	114.6	18.7	37.8	59.2	25.1
7)	दक्षिणी क्षेत्र	27.1	129.7	47.3	44.2	78.5	62.3
8)	पंजाब	78.1	168.8	123.7	87.7	100.0	73.6
9)	हरियाणा	52.5	155.3	45.5	66.7	100.0	65.0
10)	उ.प्र. (पूर्वी उ.प्र. के अतिरिक्त)	53.4	122.0	53.4	45.8	51.2	26.4
11)	उत्तर-पूर्वी क्षेत्र	58.6	141.2	68.4	59.6	61.6	44.0
	समग्र भारत	26.6	126.7	34.6	39.7	55.6	32.6

स्रोत : रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया, पूर्वोद्धत, पेज 28.

पूर्वी क्षेत्र (जिसमें पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा व पूर्वी उत्तर प्रदेश सम्मिलित हैं) की प्रति हैक्टेयर (खाद्यान्न) उत्पादकता 1950-51 (त्रिवर्षीय औसत) में सर्वाधिक थी। इसके बाद इसकी सापेक्षिक स्थिति बदतर हो गई तथा 1980-81 में इसकी उत्पादकता सबसे कम थी। इसी साल उत्तर पश्चिमी क्षेत्र ने 50 प्रतिशत अधिक उत्पादकता प्राप्त की।

डेढ़ शताब्दी तक स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों, भद्रलोगों तथा व्यापारीकरण की शक्तियों द्वारा ठगा गया गंगा-महानदी घाटी के अधिक वर्षा वाले क्षेत्र की उपजाऊ भूमि की अत्यधिक जुताई-बुवाई होने से इसकी प्राकृतिक उत्पादकता में कोई वृद्धि नहीं हो सकी। जबकि उर्वरक, सिंचाई, बीज तथा ऊर्जा जैसे नए साधनों के उपयोग के कारण उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। इन दोनों क्षेत्रों के मध्य साधन उपयोग के विशाल अंतराल को तालिका 15.2 में दर्शाया गया है।

चौथी योजना (1969-70) से लेकर छठी योजना (1983-84 तक) की अवधि तक पूर्वी क्षेत्र (संपूर्ण उ.प्र. को मिलाकर) में प्रति कृषि श्रमिक कुल सार्वजनिक व्यय की मात्रा (कृषि तथा संबद्ध क्षेत्रों में परिव्यय के रूप में) 1796 रुपए थी, जबकि पंजाब व हरियाणा में इसकी मात्रा करीब तीन गुनी अधिक अर्थात् 5106 रुपये थी, यह तथ्य हरित क्रांति से लाभांन्वित गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों के पक्ष में सार्वजनिक संसाधनों के भारी मात्रा में पुनराबंटन को दर्शाती है। दक्षिणी व पश्चिमी क्षेत्रों में इसकी मात्रा क्रमशः 1856 तथा 2508 रुपये थी।

15.3.2 "आधिक्य" और "अभाव" वाले क्षेत्र

कृषि में सार्वजनिक परिव्यय के रूप में अंतर्क्षेत्रीय साधन आबंटन के इस ढाँचे को, "अभाव" वाले क्षेत्रों में, खाद्यान्न के "अभाव" तथा "आधिक्य" की मात्रा (जिसे तालिका 15.3 व 15.4 में दर्शाया गया है) के संदर्भ में देखना उचित होगा। खाद्यान्न के "अभाव" अथवा "आधिक्य" को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :

अभाव अथवा आधिक्य — खाद्यान्न का निवल उत्पादन-प्रति व्यक्ति प्रति दिन 507 ग्राम (सुखात्मे के प्रतिमान के अनुसार) खाद्यान्न की आवश्यकता के आधार पर राज्य की खाद्यान्न की आवश्यकता।

वर्ष 1980-81 में पूर्वी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का उत्पादन 151 कि.ग्रा. हुआ, जबकि पंजाब में इसकी मात्रा 771 कि.ग्रा., हरियाणा में 458 कि.ग्रा. तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र (पंजाब, हरियाणा, तथा पूर्वी भाग के अलावा उ.प्र.) में 326 कि.ग्रा. थी।

1981 में पंजाब के खाद्यान्न-उत्पादन का तीन-चौथाई भाग तथा हरियाणा में आधे से अधिक भाग आधिक्य के रूप में था, जबकि दूसरी तरफ बिहार, असाम तथा प. बंगाल में करीब तीन-चौथाई भाग तक खाद्यान्न का अभाव था। तथाकथित "आधिक्य" वाला राज्य उड़ीसा 1981 में "अभाव" की स्थिति में पहुँच गया। पंजाब व हरियाणा में खाद्यान्न के आधिक्य की मात्रा पूर्वी भारत के प. बंगाल, बिहार तथा असाम में खाद्यान्न के अभाव की मात्रा के बराबर थी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का कार्य यह है कि वह इन आधिक्यों व अभावों में सामंजस्य स्थापित करे। निर्दिष्ट सार्वजनिक परिव्यय के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि देश में अंतर्क्षेत्रीय असमानताएँ कायम हैं अथवा बढ़ रही हैं। भारत के विभिन्न राज्यों के खाद्यान्न के प्रति व्यक्ति निवल आंतरिक उत्पादन का विचरण-गुणांक 1970-71 में 31.1 से बढ़कर 1981-82 में 41.2% हो गया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि न केवल कृषि परिव्यय बल्कि कुल परिव्यय के कारण विभिन्न राज्यों में असमानता में वृद्धि हुई है। सुदूर दक्षिण में स्थित केरल राज्य में खाद्यान्न की आवश्यकता का एक तिहाई भाग ही उत्पादित होता है, तथा देश में यही एकमात्र ऐसा राज्य है जहाँ सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार सारे गाँवों में हो चुका है और कृषि श्रमिक भी इससे लाभान्वित हो रहे हैं। यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भारत के राज्यों की एकता देश की खाद्य-अर्थव्यवस्था तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की इस क्षमता पर निर्भर करती है कि वह कितनी शीघ्रता तथा कितनी भारी मात्रा में आधिक्य वाले क्षेत्रों से खाद्यान्न एकत्र करके अभावग्रस्त क्षेत्रों को पहुँचाती है इससे सामान्य परिस्थितियों में भी साधन आबंटन की नीतियों की विकृतियों को ठीक किया जा सकता है। उपलब्ध प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली ने प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता की अंतर्राज्यीय असमानताओं को कम किया है।

तालिका 15.3

खाद्यान्नों के अभाव के अनुसार राज्यों का वितरण 1957-81

(मात्रा '000 टन)

क्र.सं.	राज्य	खाद्यान्न का अभाव (शुद्ध उत्पादन के प्रतिशत के रूप में)					
		1957	1961	1966	1971	1976	1981
1	2	3	4	5	6	7	8
1)	आंध्र प्रदेश	27.9 (1374.6)	24.9 (1335.4)	32.7 (1819.3)	24.1 (1558)	6.4 (528)	आ.
2)	असाम	24.9 (386.8)	41.7 (900.8)	55.7 (969.2)	181.4 (981)	53.7 (1133)	74.01 (1566.5)

3)	बिहार	72.2 (3328.2)	33.7 (2185.0)	60.4 (3657.0)	51.0 (3515)	43.3 (3474)	79.2 (5712)
4)	गुजरात	—	145.9 (2285.7)	116.7 (2393.7)	27.9 (1075)	39.2 (1552)	41.14 (1831.8)
5)	कर्नाटक (मैसूर)	55.1 (1441.6)	38.0 (1211)	73.0 (2083.7)	3.7 (195)	आ.	7.2 (460.6)
6)	केरल •	280.1 (2083.4)	225.0 (2183.7)	294.9 (2666.8)	241.0 (2787)	262.1 (3179)	293.9 (3507.5)
7)	महाराष्ट्र (बम्बई)	49.0 (3363.8)	14.8 (4277.3)	103.8 (4879.3)	90.4 (4412)	29.3 (2335)	25.4 (2352.2)
8)	तमिलनाडु (मद्रास)	42.1 (1781.6)	33.5 (1573.9)	48.4 (2224.7)	24.7 (1509)	30.3 (1907)	38.03 (2462.7)
9)	उत्तरप्रदेश	15.8 (1751.9)	8.4 (1061.7)	26.1 (3176.4)	आ.	4.9 (840)	आ.
10)	प. बंगाल	30.6 (1354)	25.6 (1329.3)	56.4 (2691.1)	24.8 (1629)	23.5 (1769)	76.0 (4352.5)
11)	जम्मू व कश्मीर	आ.	30.0 (152.7)	80.4 (316.0)	3.1 (26)	10.7 (94)	आ.

टिप्पणी : आ — आधिक्य का राज्य (कोष्ठक में दिए गए आँकड़े राज्यों के खाद्यान्न के अभाव को '000 टन में प्रदर्शित करते हैं)।

स्रोत : भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि मंत्रालय के प्रकाशन *बुलेटिन ऑफ फुड स्टेटिस्टिक्स* के विभिन्न अंकों में दी गई तालिकाओं पर आधारित।

तालिका 15.4

खाद्यान्न के आधिक्य के अनुसार राज्यों का वितरण 1957-81

(मात्रा '000 टन)

क्र.सं.	राज्य	खाद्यान्न अतिरेक निवल उत्पादन के प्रतिशत के रूप में •					
		1957	1961	1966	1971	1976	1981
1	2	3	4	5	6	7	8
1)	आंध्र प्रदेश	28.2 (2123.7)	30.2 (2603.9)	अ	19.15 (1864)	16.1 (1604)	अ
2)	उड़ीसा	अ	6.9 (241.7)	अ	9.2 (411)	7.2 (300)	अ
3)	पंजाब	31.2 (1559.8)	36.1 (1991.3)	15.6 (756.5)	60.8 (3890)	64.7 (5000)	73.5 (8575.4)
4)	राजस्थान	20.4 (866.6)	5.5 (218.2)	अ	38.5 (2975)	19.4 (1311)	अ
5)	हरियाणा	×	×	×	55.4 (2304)	53.1 (2342)	55.0 (2906.9)

टिप्पणी : अ : अभावग्रस्त क्षेत्र। उड़ीसा में आधिक्य की स्थिति कुछ-कुछ संदिग्ध सी है, 1981 में उड़ीसा में खाद्यान्न के अभाव की मात्रा 104.4 हजार टन थी।

× : दर्शाए गए वर्षों में हरियाणा पंजाब में सम्मिलित था।

कोष्ठक में दिए आँकड़े राज्यों की "आधिक्य" स्थिति को '000 टन में दर्शाते हैं।

स्रोत : *बुलेटिन ऑफ फूड स्टेटिस्टिक्स* के विभिन्न अंकों में दी गई तालिकाओं पर आधारित।

खाद्यान्न उत्पादन (कुल तथा प्रति व्यक्ति) की अंतर्क्षेत्रीय असमानता के निवारण के लिए खाद्यान्न के अंतर्राज्यीय परिवहन का दायित्व मुख्यतः भारतीय खाद्य निगम का है। साथ ही, विभिन्न रोज़गार तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के लिए भारतीय खाद्य निगम द्वारा की जाने वाली खाद्यान्न की निकासी से ग्रामीण क्षेत्र के गरीबों की खाद्यान्न की आवश्यकता

है। परंतु केरल के अतिरिक्त अन्य राज्यों में भारतीय खाद्य निगम मुख्यतः शहरी, औद्योगिक तथा बागानी क्षेत्रों के उपभोक्ताओं को ही खाद्यान्न उपलब्ध कराता है।

बोध प्रश्न 1

1) भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्कयता क्यों महसूस की गई? (चार वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

2) सार्वजनिक वितरण की संपूर्ण प्रणाली के क्या-क्या अंग हैं? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

3) अंतर्क्षेत्रीय साधन आबंटन में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (सात वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का संगठनात्मक तथा प्रशासनिक ढाँचा

लोगों, विशेषकर समाज के ग़रीब लोगों को, उचित मूल्यों पर आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति तथा वितरण करने के लिए अर्थव्यवस्था के स्थायी तत्व के रूप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मान्यता मिली है। गेहूँ, चावल, लेवी चीनी, आयातित खाद्य तेल, मिट्टी का तेल, कोयला तथा नियंत्रित कपड़े (इन सात आवश्यक वस्तुओं) की आपूर्ति का उत्तरदायित्व केंद्र सरकार का है। भारतीय खाद्य निगम तथा राष्ट्रीय सहकारी उपभोक्ता संघ जैसे केंद्रीय अभिकरणों को, केंद्र सरकार द्वारा, निर्धारित की गई कीमतों पर इन वस्तुओं की आपूर्ति करने का कार्य सौंपा गया है। उपभोक्ताओं को उचित मूल्यों पर आम उपभोग की अन्य वस्तुएँ उपलब्ध कराने के दृष्टिकोण से राज्य सरकार ऊपर वर्णित सात मदों के अलावा वे वस्तुएँ भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली में शामिल करने के लिए स्वतंत्र है, जिनकी वसूली का प्रबंध करने में राज्य सरकार सक्षम है। उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुएँ मुख्यतः उचित मूल्य की दुकानों द्वारा ही उपलब्ध करायी जाती हैं।

15.4.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रशासन

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के संगठन तथा प्रशासन का दायित्व मुख्यतः संबंधित राज्य सरकारों का है। राज्य सरकारों की मंत्रणा से समय-समय पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के कार्य संचालन की समीक्षा की जाती है तथा उपभोक्ताओं को मिलने वाली विभिन्न आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति में सुधार के लिए आवश्यक कदम उठाए जाते हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के कार्यकलाप के मूल्यांकन के लिए केंद्र में खाद्य तथा नागरिक आपूर्ति मंत्री की अध्यक्षता में सलाहकार परिषद का गठन किया गया है। इसके अन्य सदस्य सभी राज्यों/केंद्र शासित क्षेत्रों के खाद्य तथा नागरिक आपूर्ति मंत्री, संबंधित केंद्रीय मंत्रालयों व अभिकरणों के प्रतिनिधि तथा संसद के दो सदस्य (लोकसभा व राज्यसभा से एक-एक) होते हैं।

उचित मूल्य की दुकानों के लिए दिशा निर्देश :

उचित मूल्य की दुकानों के संबंध में राज्यों तथा केंद्र शासित क्षेत्रों के लिए निम्नलिखित दिशा निर्देश बनाए गए हैं :

- उचित मूल्य की नई दुकानों को खोलते समय राज्य/केंद्र शासित क्षेत्रों की सरकारें, जहाँ तक संभव हो, उपभोक्ताओं की सुविधा को ध्यान में रखें।
- शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के हर परिवार को राशन कार्ड उपलब्ध करवाया जाए।
- राज्यों/केंद्र शासित क्षेत्रों में आवश्यक वस्तुओं के भण्डारण तथा परिवहन जैसी आधारभूत सुविधाओं में सुधार के लिए आवश्यक वित्तीय/भौतिक प्रबंध किए जाएं।
- गेहूँ, चावल, चीनी, आयातित खाद्य तेल, नियंत्रित वस्त्र, नमक तथा कोयले के आबंटन तथा वितरण के लिए जिलेवार योजनाएँ बनाई जाएं।
- जनजातीय तथा सुदूर क्षेत्रों में उचित मूल्य की चलती-फिरती दुकानों की व्यवस्था हो।
- प्रति 2000 व्यक्तियों के लिए दुकान के मानदण्ड से सुदूर तथा कम घने क्षेत्रों को छूट दी जानी चाहिए। किंतु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी उपभोक्ता को उचित मूल्य की दुकान तक पहुँचने के लिए तीन कि.मी. से अधिक नहीं चलना पड़े।
- विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में उचित मूल्य की नई दुकानें खोलते समय राज्य सरकारों को सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देना चाहिए।
- आवश्यक वस्तुओं की वसूली, भण्डारण तथा वितरण का कार्य करने वाली एजेंसियों में प्रभावशील समन्वय की प्रणाली विकसित करनी चाहिए।
- जहाँ तक संभव हो, सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा दी जाने वाली आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था के लिए नागरिक आपूर्ति निगमों की स्थापना की जाए।
- उचित मूल्य की दुकानों के समुचित ढंग से कार्य करने तथा लोगों व विशेषकर गरीब और कमजोर वर्ग के लोगों को आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए प्रवर्तन उपायों (enforcement measures) को मजबूत बनाना चाहिए।
- उचित मूल्य की दुकानों व अन्य स्तरों पर उपभोक्ता सलाहकार तथा सतर्कता समिति का गठन किया जाना चाहिए।
- प्रत्येक जिले के कलक्टर तथा जिला मजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह उस जिले की सार्वजनिक वितरण प्रणाली की साप्ताहिक समीक्षा करे, ताकि इस संबंध में आने वाली समस्याओं तथा कठिनाइयों को जिला स्तर पर ही निपटाया जा सके।

यह देखा गया है कि चल वाहन दुकानों की व्यवस्था संशोधित बीस सूत्री कार्यक्रम में निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रभावशाली उपकरण सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार की दुकानें उन क्षेत्रों में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई हैं, जहाँ की आबादी घनी नहीं है।

विभिन्न राज्यों तथा केंद्र शासित क्षेत्रों में कार्यरत सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कार्यविधि की निगरानी का कार्य नागरिक आपूर्ति विभाग द्वारा समय-समय पर प्राप्त रिपोर्ट के आधार पर किया जाता है। यह रिपोर्ट तीन प्रकार की होती है (अ) साप्ताहिक, आवश्यक वस्तुओं के अभाव संबंधित, (ब) मासिक, मुख्यतः आवश्यक वस्तुओं के आबंटन व उपयोग से संबंधित तथा (स) त्रैमासिक, सुधारात्मक कदम उठाने से संबंधित आधारभूत आँकड़े (क्या निर्धारित कोटा का ठीक से उपयोग हुआ?)।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा होने वाली आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति की व्यवस्था को सुधारने के लिए नागरिक आपूर्ति विभाग ने राज्यों/केंद्र शासित क्षेत्रों में छठी योजना के समय इस कार्य से संबंधित अधिकारियों को प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम शुरू किया था।

15.4.2 भारतीय खाद्य निगम

सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा उपभोक्ताओं को बाजार से कम कीमतों पर खाद्यान्न, विशेषकर चावल तथा गेहूँ, उपलब्ध करवाया जाता है। खाद्यान्नों की सार्वजनिक वितरण प्रणाली के संबंध में 1965 में स्थापित भारतीय खाद्य निगम प्रमुख एजेंसी के रूप में कार्य करता है। निगम, केंद्र सरकार की ओर से सीधे किसानों अथवा राज्य सरकारों की एजेंसियों से खाद्यान्नों की वसूली करता है, स्वयं के अथवा किराए के गोदामों (केंद्रीय गोदाम निगम, राज्य गोदाम निगम, निजी उद्यमियों, आदि के गोदाम) में खाद्यान्न का वैज्ञानिक तरीके से भण्डारण करता है, आधिक्य वाले क्षेत्रों से अभावग्रस्त क्षेत्रों में खाद्यान्न के परिवहन की व्यवस्था करता है तथा राज्य सरकारों के नागरिक आपूर्ति विभाग की सिफारिश पर इस खाद्यान्न को केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर उचित मूल्य की दुकानों को उपलब्ध कराता है। यह कार्य बहुत कठिन है। प्रारंभ में खाद्यान्नों की वसूली से संबंधित निगम की गतिविधियाँ दक्षिणी राज्यों (आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा केरल) तक ही सीमित थी। 1966 में निगम ने उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, गुजरात तथा पांडिचेरी राज्यों में भी अपने कार्यों का विस्तार किया। वर्तमान में निगम द्वारा खाद्यान्न की वसूली करने का कार्य मुख्यत आंध्र प्रदेश, हरियाणा, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश जैसे खाद्यान्न के आधिक्य वाले राज्यों तक ही सीमित है। फिर भी, निगम ने खाद्यान्न

वसूली, प्रयुक्त भण्डारण क्षमता तथा सार्वजनिक वितरण का राज्यवार वितरण दिया गया है।

तालिका 15.5

खाद्यान्न की वसूली, भण्डारण, क्षमता तथा वितरण का राज्यवार वितरण

(लाख टन में)

राज्य	खाद्यान्न की वसूली	खाद्यान्न का भण्डारण	खाद्यान्न का वितरण
आंध्र प्रदेश	14.80	18.55	15.23
असाम	0.13	2.98	8.23
बिहार	0.0	5.70	10.20
गुजरात	0.0	8.86	12.39
हरियाणा	22.41	17.32	1.14
जम्मू व कश्मीर	0.06	0.47	3.35
कर्नाटक	1.13	3.60	10.23
केरल	0.0	5.26	18.21
मध्य प्रदेश	4.55	14.73	8.30
महाराष्ट्र	0.52	15.24	[illegible]8
उड़ीसा	1.24	3.62	4.16
पंजाब	78.04	47.16	3.17
राजस्थान	0.80	11.32	11.63
तमिलनाडु	7.64	8.82	16.05
उत्तर प्रदेश	20.36	27.91	9.84
पं. बंगाल	0.55	14.42	17.17
दिल्ली	0.0	2.77	5.10
अन्य	4.44	16.13	12.82
कुल	156.67	210.62	187.00

स्रोत :

15.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का कार्यक्षेत्र

आरंभ में खाद्यान्न के सार्वजनिक वितरण का कार्य प्रमुख नगरों व कस्बों में शुरू किया गया। किंतु धीरे-धीरे यह कार्य, कम से कम सरकारी कागज़ों में तो, संपूर्ण देश में फैल चुका है। 1964 में उचित मूल्य की दुकानों की संख्या एक लाख थी, जो बढ़कर 1988 में 3.45 लाख से भी अधिक हो गई है। किंतु जहाँ तक खाद्यान्न के वितरण का संबंध है, सार्वजनिक वितरण प्रणाली देश के शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली से ग्रामीण क्षेत्रों में चीनी, मिट्टी का तेल व अन्य वस्तुओं के नियमित रूप से वितरण करने तथा कभी-कभी खाद्यान्न के वितरण की व्यवस्था करने की अपेक्षा है। सरकार के हिसाब से ग्रामीण क्षेत्र के गरीब उपभोक्ताओं को खाद्यान्न मुख्यतः ग्रामीण विकास कार्यक्रमों (राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम, ग्रामीण खेतिहर मजदूर रोजगार गारण्टी कार्यक्रम, काम के बदले अनाज, जनजातीय विकास कार्यक्रम, आदि) से उपलब्ध होता है, न कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली से। 1987 में सामान्य उपभोक्ताओं को वितरित 17.4 मिलियन टन खाद्यान्न में से 13.9 मिलियन टन खाद्यान्न का वितरण सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा हुआ तथा बाकी खाद्यान्न का वितरण ग्रामीण विकास कार्यक्रम द्वारा। एक मोटे अनुमान के अनुसार सार्वजनिक वितरण का करीब 80 प्रतिशत वितरण देश के शहरी क्षेत्रों में ही होता है।

किंतु खाद्यान्न की सार्वजनिक वितरण प्रणाली के शहरी झुकाव में परिवर्तन हो रहा है। उदाहरण के लिए केरल राज्य की संपूर्ण जनता सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत शामिल है। हाल ही में आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा अन्य राज्यों में खाद्यान्न की सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक रूप से किया जा चुका है।

बोध प्रश्न 2

1) सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत केंद्र सरकार द्वारा कितनी मदों की पूर्ति की जाती है? (30 शब्दों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

2) सार्वजनिक वितरण प्रणाली के संगठनात्मक ढाँचे का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

3) सार्वजनिक वितरण प्रणाली की देखरेख (monitoring) किस प्रकार संभव है? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

4) भारत में ग्रामीण क्षेत्र के गरीब उपभोक्ताओं को खाद्यान्न किस प्रकार उपलब्ध होता है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

15.5 खाद्यान्नों का आयात

खाद्यान्न की सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्भव 1943 के बंगाल दुर्भिक्ष के समय हुआ था। आजादी के बाद से 1977 तक, जब उत्तर-पश्चिमी भारत में हरित क्रांति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था, सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा खाद्यान्न के वितरण की सरकारी नीति में खाद्यान्न के अभाव के प्रबंध की चिन्ता साफ झलकती थी।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विकास में खाद्यान्नों के आयात की प्रमुख भूमिका थी। खाद्यान्न के उत्पादन में कमी की सबसे तत्कालिक प्रतिक्रिया खाद्यान्न की पूर्ति को बढ़ाने के उपाय ढूंढ़ने में होती है। इससे फसल की बर्बादी के दुष्प्रभावों को दूर करने के प्रयास शुरू हो जाते हैं। यदि देश में खाद्यान्न का बफर स्टॉक है, तो उसे बाज़ार में पहुँचाने के लिए कदम उठाने पड़ते हैं। यदि इस प्रकार का रिजर्व भण्डार नहीं है तो व्यापारिक शर्तों पर अथवा एकमुश्त अनुदान के रूप में खाद्यान्न का आयात जरूरी हो जाता है। वास्तव में प्रासंगिक समयावधि की संभावित खाद्य स्थिति को ध्यान में रखते हुए दीर्घकालीन आधार पर खाद्यान्न के आयात का अनुबंध करना पड़ सकता है।

15.5.1 आकार

स्वातंत्र्योत्तर काल की अधिकांश अवधि में भारत खाद्यान्न का निवल रूप से आयात रहा था। यद्यपि सत्तर के दशक में 13 नवम्बर 1977 के बाद आयातित खाद्यान्न लेकर कोई भी जहाज़ भारत नहीं पहुँचा। वस्तुतः 1972 के दौरान भारत से कुछ खाद्यान्न का निर्धारित किया गया था। 1950 से पूर्व (अर्थात् 1947-48 में) भारत में प्रतिवर्ष औसतन करीब तीन मिलियन टन खाद्यान्न का आयात होता था। खाद्यान्न आयात की मात्रा में उतार-चढ़ाव होता रहता था। 1966 में खाद्यान्न के आयात की मात्रा 10 मिलियन टन तथा 1975 व 1976 दोनों वर्षों में 7 मिलियन टन के करीब थी। 1947 से 1977 तक की संपूर्ण अवधि के केवल तीन वर्षों में खाद्यान्न के आयात की मात्रा एक मिलियन टन से कम थी। इस संपूर्ण अवधि में खाद्यान्न के निवल आयात की मात्रा 112 मिलियन टन से भी ज्यादा थी, जिसमें अधिकांशतः गेहूँ तथा चावल का आयात किया गया। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवधि में खाद्यान्न के आयात पर 7203.4 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा खर्च हुई। यह राशि 1950-78 की अवधि में कृषि, सिंचाई, बाढ़-नियंत्रण तथा संबद्ध क्रियाओं पर हुए कुल परिव्यय का करीब 50 प्रतिशत है। इस अवधि में खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात 4.16 मिलियन टन हुआ, जो औसतन सालाना निवल उत्पादन का करीब 5.64 प्रतिशत था। खाद्यान्न के आयात पर खर्च हुए विदेशी विनिमय को देखने से ज्ञात होता है कि इस मद पर कुल आयात बिल का छठा भाग खर्च हुआ। खाद्यान्न के आयात पर कुल निर्यात प्राप्तियों का करीब 22 प्रतिशत भाग खर्च हुआ। इस अवधि में हुए खाद्यान्न के आयात की कुल मात्रा पाँच प्रतिशत जनसंख्या के उपभोग के बराबर थी। इस आयात का अधिकांश भाग अमेरिका द्वारा दी गई आर्थिक सहायता पी.एल. 480 के अंतर्गत हुआ, जिसे अब समाप्त कर दिया गया है।

1951-77 की संपूर्ण अवधि के 4.16 मिलियन टन औसत वार्षिक आयातों को दो भिन्न चरणों में बाँटा जा सकता है। 1951-65 की अवधि में 3.65 मिलियन टन का औसत वार्षिक आयात (कुल आयात की मात्रा 54.75 मिलियन टन) हुआ, जबकि हाल ही की अवधि (1966-77) में औसतन 4.81 मिलियन टन (कुल 57.79 मिलियन टन) का आयात किया गया। वास्तव में हरित क्रांति के दशक के पहले पाँच सालों में आयात का स्तर अधिक रहा। किंतु यह कहना सही नहीं होगा कि इसका कारण पी.एल. 480 के अंतर्गत गैर-व्यापारिक आयात थे, जो मुख्यतः 1956-71 की अवधि अर्थात् प्रथम अवधि के 10 वर्षों के समय हुआ था। उस समय पी.एल. 480 के अंतर्गत आयात की मात्रा 31.67 मिलियन टन थी। इसके विपरीत हरित क्रांति के छह सालों के दौरान पी.एल. 480 के अंतर्गत केवल 20 मिलियन टन गेहूँ का आयात किया गया।

खाद्यान्न की निवल उपलब्धता में आयात का अंश 1977 में 0.4 प्रतिशत व 1955 में 0.8 प्रतिशत तथा 1966 में 14 प्रतिशत व 1967 में 11.7 प्रतिशत था। कुल मिलाकर 1966 से पूर्व तथा इसके बाद दोनों अवधियों में खाद्यान्न के उपभोग के स्तर को बनाए रखने में आयात का महत्व नगण्य नहीं माना जा सकता। खाद्यान्न के आयात में गेहूँ (जिसका उत्पादन अन्य फसलों की तुलना में तेजी से बढ़ा) का हिस्सा सर्वाधिक था। इस अवधि में दालों का अल्प मात्रा में निवल निर्यात हुआ, परंतु देश में दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता में कमी हुई। साथ ही दालों का उत्पादन वस्तुतः स्थिर रहा। तुलनात्मक रूप से कमज़ोर वर्गों द्वारा किए जाने वाले खाद्यान्न के उपभोग (विशेषतः दालों तथा घटिया अनाज के उपभोग) में गिरावट को रोका नहीं जा सका। ऐसा संभवतः खाद्य वस्तुओं के उत्पादन तथा आयातों की वस्तु सरंचना के कारण हुआ। खाद्यान्न के आंतरिक उत्पादन में संपन्न वर्ग के प्रति पक्षपात को आयात से ठीक नहीं किया जा सका। साथ ही खाद्य आयातों में बेहतर खाद्यान्नों की बहुलता से सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र भी प्रभावित हुए हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अधिक तथा बढ़ती दर से अनुदान देने के बावजूद भी मोटे अनाज का उपभोग करने वाली जनता को सापेक्षित रूप से कम अथवा न के बराबर लाभ मिला।

15.5.2 महत्व

सुखात्मे द्वारा प्रतिपादित 507 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिदिन के प्रतिमान के आधार पर परिगणित खाद्यान्न की आवश्यकता के संदर्भ में उत्पादन में कमी को पूरा करने की दृष्टि से खाद्यान्नों के आयात के महत्व को देखा जा सकता है। खाद्यान्न आयात की मात्रा निवल उत्पादन अथवा निवल उपलब्धता के प्रतिशत की तुलना में उसके (निवल उत्पादन पर आधारित) कुल घाटे के प्रतिशत के रूप में अधिक थी। यह मात्रा 1955 में 5 प्रतिशत से लेकर 1976 में 85 प्रतिशत तक थी। इस अवधि में खाद्यान्न के कुल घाटे में आयात का औसत हिस्सा 27 प्रतिशत से कुछ अधिक था। अतः खाद्यान्न के घाटे को कम करने में आयात की महत्वपूर्ण भूमिका रही। चूँकि 1951-65 की अवधि की तुलना में 1966-77 की अवधि में खाद्यान्न के आयात की मात्रा अधिक होने के बावजूद भी खाद्यान्न के उपभोग के स्तर में गिरावट को रोका नहीं जा सका, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि जनसंख्या तथा आय के स्तर में वृद्धि होने से खाद्यान्न की माँग में होने वाली वृद्धि की पूर्ति खाद्यान्न के आयात से नहीं की जा सकी।

खाद्यान्न के आयात की मात्रा का सरकार के स्टॉक तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली से वितरित खाद्यान्न की मात्रा से क्या संबंध हो सकता है? आयात से सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए अधिक खाद्यान्न उपलब्ध हो सकता है अथवा इससे खाद्यान्न के स्टॉक को बढ़ाया जा सकता है। स्मरण रहे कि स्टॉक में वृद्धि तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की माँग को पूरा करने का एकमात्र अन्य स्रोत देश में खाद्यान्न की वसूली है। तालिका 15.6 में निवल आयात, सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा खाद्यान्न का वितरण, आंतरिक वसूली तथा स्टॉक में परिवर्तन का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

तालिका 15.6

सार्वजनिक वितरण प्रणाली में आयात तथा वसूली का हिस्सा

(मिलियन टन में)

अवधि	विशुद्ध आयात	वसूली	सार्वजनिक वितरण प्रणाली	स्टॉक में परिवर्तन	विशुद्ध आयात, सार्वजनिक वितरण के प्रतिशत के रूप में	वसूली, सार्वजनिक वितरण के प्रतिशत के रूप में	स्टॉक में परिवर्तन, विशुद्ध आयात के प्रतिशत के रूप में
1951-65	54.64	22.15	74.68	1.34	73.2	29.7	2.4
1966-77	56.15	91.31	128.27	15.37	43.7	71.1	27.4
1951-77	110,79	113.46	203.05	16.71	54.6	55.9	15.1

स्रोत :

इस तालिका से स्पष्ट है कि 1951-65 की अवधि में सार्वजनिक वितरण में आयात का महत्वपूर्ण योगदान (73 प्रतिशत से अधिक) रहा, जबकि बाद की अवधि में आंतरिक वसूली का महत्व अधिक (71 प्रतिशत से अधिक) रहा। किंतु संपूर्ण अवधि में कुल मिलाकर आंतरिक वसूली का अधिक योगदान रहा। यह तथ्य दिलचस्प है कि सरकारी स्टॉक

में परिवर्तन की मात्रा आयात का करीब 15 प्रतिशत थी। चूँकि खाद्यान्न का आयात सरकार द्वारा किया जाता है, अतः दोनों में संबंध होना उचित है। किंतु 1951-65 की अवधि की तुलना में 1966-77 की अवधि में आयात के प्रतिशत के रूप में सरकार के स्टॉक में परिवर्तन की मात्रा काफी अधिक (27 प्रतिशत से अधिक) थी। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं — प्रथम, सरकार के स्टॉक का आकार बाद की अवधि में अधिक था, तथा द्वितीय, आयातित खाद्यान्न का उपयोग बफर स्टॉक बनाने में किया गया, भले ही ग्रामीण और शहरी, दोनों क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न के उपयोग में कमी होती गई।

15.5.3 आयात के लिए उत्तरदायी तत्व

आयात की भारी मात्रा तथा इसमें होने वाले वार्षिक उच्चावचनों को ध्यान में रखते हुए यह जानना उपयुक्त होगा कि आयात की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व कौन से हैं। दो तत्व स्पष्ट दिखायी देते हैं। उत्पादन का स्तर तथा खाद्यान्न की माँग अथवा आवश्यकता। दोनों तत्व संयुक्त रूप से खाद्यान्न के घाटे की मात्रा निर्धारित करते हैं तथा इसी पर आयात की मात्रा निर्भर करती है। खाद्यान्न के घाटे को खाद्यान्न के निवल उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति प्रति दिन 507 ग्राम खाद्यान्न के मानदण्ड पर आधारित खाद्यान्न की आवश्यकता के अंतर के रूप में देखा जा सकता है। आयात की मात्रा को केवल उत्पादन से संबद्ध करना उचित नहीं होगा, क्योंकि इसमें माँग तत्व को बिल्कुल नकार दिया जाता है। आयात की मात्रा का विश्लेषण खाद्यान्न की आवश्यकता के रूप में करना बेहतर होगा। बफर स्टॉक का निर्माण एक महत्वपूर्ण नीतिगत उपकरण रहा है। इसलिए यह अपेक्षित है कि सरकार उस समय खाद्यान्न का आयात अधिक करेगी, जब स्टॉक की मात्रा व आंतरिक उत्पादन में कमी हो। अतः खाद्यान्न के घाटे के साथ-साथ हर साल सरकार के पास उपलब्ध खाद्यान्न के आरंभिक स्टॉक को भी व्याख्यात्मक तत्व के रूप में लिया जा सकता है। 1951-77 की अवधि के लिए एक रेखीय प्रतीपगमन समीकरण (Linear Regression Equation) परिगणित किया गया, जिसमें आयात की मात्रा को परतंत्र चर तथा खाद्यान्न के घाटे व आरंभिक स्टॉक को स्वतंत्र चर के रूप में लिया गया। इस समीकरण में खाद्यान्न के घाटे तथा आरंभिक स्टॉक के गुणांक क्रमशः 5 और 10 प्रतिशत मान्यता स्तर पर महत्वपूर्ण पाए गए। इससे यह पता चलता है कि खाद्यान्नों का आयात उपलब्धता की मात्रा को सुधारने के अल्पकालीन उपाय के रूप में किया गया, न कि बफर स्टॉक के निर्माण के लिए, क्योंकि बफर स्टॉक का आयात के स्तर पर कम प्रभाव देखा गया।

परंतु इन निष्कर्षों पर बहुत अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि सहसंबंध गुणांक R^2 का मान केवल 0.4 ही था। यह प्रयास केवल यह दिखाता है कि कुछ दूसरे कारकों ने भी आयात को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया होगा। एक बात जिसने खाद्यान्न के आयात को निश्चित रूप से प्रभावित किया, वह पी.एल. 480 के अंतर्गत रियायती दरों पर गेहूँ तथा दूसरे अनाजों के आयात का दीर्घकालीन अनुबंध है। व्यापक भुखमरी को रोकने के लिए खाद्यान्नों की उपलब्धता को बनाए रखने की भयंकर चिंता तथा इसके राजनैतिक व आर्थिक परिणाम जैसे कारक भी आयात पर भारी एवं सतत् निर्भरता के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं।

15.6 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मूल्यांकन

संपूर्ण देश में सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चालू रखने का प्रमुख उद्देश्य गरीबों को उचित मूल्य पर आवश्यक वस्तुएँ, विशेषतः खाद्यान्न, उपलब्ध करवाना है। ये कीमतें बाज़ार दरों से हमेशा कम रखी जाती हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्देश्य गरीब लोगों के पोषण स्तर को बढ़ाना भी है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली से वितरित की जाने वाली अधिकांश वस्तुओं के बारे में आवश्यक सूचनाओं की कमी तथा इस कार्यवाही में कई एजेंसियों के काम करने के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सामान्य रूप से मूल्यांकन करना संभव नहीं है। किंतु खाद्यान्न के बारे में उपलब्ध सूचनाएँ काफी व्यापक हैं, इसलिए हम खाद्यान्न के संदर्भ में इस प्रणाली के निष्पादन का मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

15.6.1 ग्रामीण भूमिहीनों को समाविष्ट करने का लक्ष्य

पहले खाद्यान्न की सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्देश्य आधिक्य उत्पाद वाले क्षेत्रों से अतिरेक (surplus) खाद्यान्न (खाद्यान्न तथा चावल) को खरीद कर, और उसमें आयातित खाद्यान्न मिलाकर आवश्यकतानुसार उचित तथा अनुदानित कीमतों पर उचित मूल्य की दुकानों द्वारा वितरित करना। उचित मूल्य की दुकानें पहले बड़े शहरों में खोली गईं, परंतु धीरे-धीरे इनका विस्तार होता गया। न केवल शहरों तथा कस्बों में, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों के कई भागों में भी इनका जाल फैलाया गया। अब यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा चुका है कि ग्रामीण क्षेत्र के उपभोक्ताओं को पहले से ही संरक्षण उपलब्ध है, क्योंकि उनमें कुछ उपभोक्ता तो खाद्यान्न के उत्पादक भी हैं, जबकि कृषि श्रमिकों को मज़दूरी का कुछ हिस्सा अनाज के रूप में मिलता है। साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्यान्न की कीमतें कुछ कम ही होती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य उपायों, विशेषतः ग्रामीण विकास कार्यक्रमों, के अंतर्गत सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा ग्रामीण क्षेत्र के गरीब लोगों को खाद्यान्न उपलब्ध करवाया जाता है। इसके बावजूद भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली की व्यवस्था में ग्रामीण खेतिहर मजदूरों को सम्मिलित किए जाने के संबंध में अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।

15.6.2 खाद्यान्न की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की प्रभाविता को आँकने का एक तरीका खाद्यान्न की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता को घटाने में इसकी भूमिका का परीक्षण है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि विभिन्न राज्यों के खाद्यान्नों के उत्पादन तथा आवश्यकता में भारी असमानता है। एक तरफ पंजाब जैसा राज्य, जहाँ आजकल प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष करीब 900 कि.ग्रा. खाद्यान्न का उत्पादन होता है, वहीं दूसरी तरफ केरल में प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष 50 कि.ग्रा. से भी कम खाद्यान्न की पैदावार होती है। आधिक्य वाले राज्यों से विपण्य आधिक्य का बड़ा अंश खरीद कर सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा अभावग्रस्त राज्यों को उपलब्ध करवा कर सरकार खाद्यान्न की उपलब्धता की भारी असमानता को कम करने में सफल रही है। सरकार के हस्तक्षेप के कारण पंजाब में खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता कम हो कर 400 कि.ग्रा. तथा केरल में बढ़ करके 110 कि.ग्रा. के आस-पास हो गई है। विभिन्न राज्यों के प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन का विचरण-गुणांक 1982-83 में 93 प्रतिशत, 1983-84 में 82 प्रतिशत तथा 1985-86 में 104 प्रतिशत था, जबकि खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता का विचरण-गुणांक क्रमशः 30 प्रतिशत, 29 प्रतिशत तथा 40 प्रतिशत था। असमानता में यह कमी केवल सरकारी हस्तक्षेप के कारण संभव हुई। नवीनतम सूचनाओं (1983) के अनुसार खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति वास्तविक उपलब्धता का विचरण-गुणांक करीब 18 प्रतिशत था, जिसका तात्पर्य यह है कि निजी व्यापारियों ने भी खाद्यान्न की उपलब्धता में अंतर्राज्यीय असमानता को कम करने में योगदान दिया है। किंतु निजी व्यापारियों की तुलना में सरकार की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। इससे पहले इस बात को भी बताया जा चुका है कि खाद्यान्न की दृष्टि से करीब-करीब आत्मनिर्भर मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा जैसे राज्यों की तुलना में केरल एवं प. बंगाल जैसे अभाव वाले राज्यों में खाद्यान्न की कीमतें अधिक स्थिर रही हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि खाद्यान्न के उत्पादन में आत्मनिर्भर राज्यों की तुलना में केरल तथा प. बंगाल में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आधारभूत संरचना तथा खाद्यान्न के वितरण की मात्रा अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वसूली तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा सरकारी हस्तक्षेप के कारण खाद्यान्न के उपभोग व कीमत स्तर में स्थायित्व आता है। इन सबके बावजूद उपलब्ध आँकड़ों से यह संकेत मिलता है कि ग्रामीण क्षेत्र के गरीबों को सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सुविधाएँ न मिलने के कारण ग्रामीण उपभोक्ता समूह के निम्नतम 20 प्रतिशत भाग का उपभोग स्तर जहाँ प. बंगाल में गिर है, वहीं पंजाब में इसमें वृद्धि हुई है।

15.6.3 खाद्यान्न की उपलब्धता के वर्ष-प्रतिवर्ष उच्चावचनों को न्यूनतम करना

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, कि खाद्यान्न के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप का एक उद्देश्य खाद्यान्न के उत्पादन के उतार-चढ़ाव के कारण खाद्यान्न के उपभोग स्तर में होने वाले वर्ष-प्रतिवर्ष उच्चावचनों को न्यूनतम करना भी रहा है। यदि किसी वर्ष देश में खाद्यान्न का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाए तो सरकार खाद्यान्न की वसूली में से कुछ मात्रा बफर स्टॉक के रूप में रख लेती है। फसल की बर्बादी के समय इस स्टॉक में से खाद्यान्न लेकर सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा उपभोक्ता तक पहुँचाती है। इस प्रकार देश में खाद्यान्न के उपभोग को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है, ताकि खराब पैदावार के समय खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता मानक स्तर से कम न हो तथा अच्छी पैदावार के समय अतिरिक्त उत्पादन बर्बाद न हो।

यह देखा गया है कि विशेषतः सत्तर के दशक के बाद सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा बफर स्टॉक की गतिविधियों के कारण खराब पैदावार के अधिकांश वर्षों में खाद्यान्न का उपभोग बहुत हद तक स्थिर रहा है। फिर भी 1979-80 के खराब वर्ष में, जब खाद्यान्न की आवश्यकता की तुलना में आंतरिक उत्पादन की मात्रा 15 मिलियन टन कम थी, तब सरकार के बफर स्टॉक में 11.7 मिलियन टन खाद्यान्न होते हुए भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा खाद्यान्न के वितरण में केवल 4 मिलियन टन की ही वृद्धि की जा सकी। इसका कारण यह हो सकता है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भी अपनी सीमाएँ थीं तथा यह प्रणाली साल-भर में सामान्य रूप से वितरित खाद्यान्न की तुलना में बहुत अधिक खाद्यान्न वितरित करने में सक्षम नहीं थी। किंतु समय के साथ-साथ सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आधारभूत संरचना को मजबूत किया गया है। इसलिए 1987-88 के भयंकर सूखे के समय सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा 21 मिलियन टन खाद्यान्न वितरित किया गया, जबकि सामान्य वर्ष में करीब 15-16 मिलियन टन खाद्यान्न का ही वितरण होता है। यह प्रसन्नता की बात है कि 1987-88 के साल में बाज़ार में खाद्यान्न की कोई कमी नहीं हुई तथा प्रति व्यक्ति उपभोग स्तर को वांछित स्तर तक बनाए रखा जा सका।

15.6.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा खाद्यान्न-अनुदान

सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा उचित दामों पर खाद्यान्न के वितरण में अनुदान (subsidy) का अंश शामिल है। यह अनुदान इसलिए दिया जाता है कि भारतीय खाद्य निगम द्वारा की जाने वाली खाद्यान्न की वसूली, भण्डारण तथा वितरण की लागतों की तुलना में निगम की प्राप्तियाँ कम होती हैं। चूँकि भारतीय खाद्य निगम की वसूली, भण्डारण तथा सार्वजनिक वितरण की मात्रा समय के साथ-साथ बढ़ रही है अतः बजट द्वारा दिए जाने वाले खाद्यान्न-अनुदान की मात्रा में भी वृद्धि हो रही है। सत्तर के दशक के आरंभ में इसकी वार्षिक मात्रा 50 करोड़ रुपये से भी कम थी, जबकि आजकल यह 2300 करोड़ रुपये से भी ज्यादा है। खाद्यान्न-अनुदान की यह बढ़ती हुई प्रवृत्ति सरकार के लिए चिंता का विषय है, क्योंकि इस पर सरकारी राजस्व का बहुत भाग खर्च होता है जिसे प्रत्यक्ष उत्पादक कार्यों में विनियोजित किया जा सकता है।

किंतु समाज के गरीब लोगों को अनुदानित कीमतों पर खाद्यान्न उपलब्ध करवाना विश्व की सामान्य परंपरा रही है। भारत में खाद्यान्न पर दिए जाने वाले अनुदान की आलोचना का कारण यह है कि अनुदान पर खर्च होने वाली रकम बहुत अधिक है तथा अनुदान जरूरतमंद लोगों तक ही सीमित नहीं है। देश के शहरी क्षेत्रों के सभी उपभोक्ताओं को बिना उनकी आय को ध्यान में रखे समान रूप से अनुदानित खाद्यान्न उपलब्ध करवाया जाता है, जबकि ग्रामीण भूमिहीन मजदूरों को यह अनुदानित खाद्यान्न मिलता ही नहीं है। द्वितीय, विभिन्न अध्ययनों से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यदि उपयुक्त कदम उठाए जायं तो भारतीय खाद्य निगम की संचालन लागत में कमी लाने के साथ-साथ खाद्यान्न-अनुदान को भी कम किया जा सकता है। कृषि क्षेत्र की कीमतों, अनुदान तथा करों की समस्याओं के बारे में व्यापक रूप से अगले खंड में बताया जाएगा।

हमारा विवेचन 1977 तक ही सीमित था। असल में अगले तीन सालों में आयात की अपेक्षा खाद्यान्न का निर्यात किया गया। परंतु 1982 तथा 1984 की खराब फसलों के कारण खाद्यान्नों का एक बार फिर आयात करना पड़ा। इस कारण 1983 में खाद्यान्न के निवल आयात की मात्रा 4.70 मिलियन टन तक पहुँच गई तथा उत्पादन केवल 103 मिलियन टन तथा खाद्यान्न की वसूली करीब 7.7 मिलियन टन हुई। किंतु 1985 तथा 1986 के वर्षों में खाद्यान्न का पुनः निर्यात किया गया। 1978 से 1986 तक के नौ वर्षों की अवधि में खाद्यान्न का सालाना निवल आयात औसतन एक मिलियन टन से भी कम रहा।

बोध प्रश्न 3

1) खाद्यान्न उत्पादन के घाटे की पूर्ति में खाद्यान्न के आयात की भूमिका का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (पाँच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

2) खाद्यान्न के आयात की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व कौन-कौन से हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

3) खाद्यान्न पर दिए जाने वाले अनुदान की आलोचना क्यों की जाती है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

15.7 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने पर आप सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्भव के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं तथा यह भी जानते हैं कि इसकी आवश्यकता नीतिगत उपकरण के रूप में क्यों महसूस की गई। इस नीति को अपनाने के उद्देश्य तथा संगठनात्मक तथा प्रशासनिक ढाँचे का भी इस इकाई में वर्णन किया गया है। वास्तव में आरंभ की सार्वजनिक वितरण प्रणाली खाद्य प्रबंध की व्यापक प्रणाली का ही अंग थी। किंतु समय के साथ-साथ इस प्रणाली का विकास एक ओर जनसंख्या तथा वस्तुओं के आकार की दृष्टि से तथा दूसरी ओर आधारभूत संरचना तथा संस्थाओं की दृष्टि से इतना अधिक हुआ कि अब इसका स्वतंत्र अस्तित्व है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका को, खासकर हरित क्रांति के बाद कृषि उत्पादन के उतार-चढ़ाव तथा सूखे व बाढ़ की आवृत्ति में होने वाली वृद्धि के संदर्भ में देखा जा सकता है। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि संसाधन आबंटन की विकृतियों को दूर करने के लिए आधिक्य वाले क्षेत्रों से अभावग्रस्त क्षेत्रों में भारी मात्रा में खाद्यान्न ले जाने की सार्वजनिक वितरण प्रणाली की क्षमता पर न केवल खाद्यान्न अर्थव्यवस्था की समरूपता बल्कि उस पर भारतीय राज्यों की एकता भी निर्भर करती है।

खाद्यान्न के आयात ने खाद्यान्न के अभाव को कम करके सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विकास में महती भूमिका अदा की है। इससे खाद्यान्न के बफर स्टॉक के निर्माण तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा उचित मूल्य की दुकानों को खाद्यान्न की आपूर्ति करने में सहायता मिली है।

आप यह जानते हैं कि राष्ट्रव्यापी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को बनाए रखने का उद्देश्य जनता के ग़रीब लोगों को अनुदानित कीमतों पर आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध करवाना है। किंतु खाद्यान्न पर दी जाने वाली इस अनुदान की आलोचना की जाने लगी है, क्योंकि देश के शहरी क्षेत्रों के सभी उपभोक्ताओं को बिना उनकी आय को ध्यान में रखे समान रूप से अनुदानित खाद्यान्न उपलब्ध करवाया जाता है, जबकि ग्रामीण भूमिहीन मज़दूरों को यह अनुदानित खाद्यान्न मिलता ही नहीं है।

15.8 शब्दावली

बफर-स्टॉक (Buffer-stocks) : सरकार, बाज़ार से वसूली कीमतों पर खाद्यान्न खरीदती है तथा फसल की बर्बादी के समय उपयोग के लिए उसे रिजर्व के रूप में रखती है। यदि बफर स्टॉक में खाद्यान्न उपलब्ध है तो फसल की बर्बादी के समय इसे बाज़ार में उपलब्ध करवाने के तरीके खोजे जा सकते हैं। यदि इस प्रकार स्टॉक उपलब्ध नहीं है तो विदेशों से व्यापारिक शर्तों पर अथवा सहायता के रूप में खाद्यान्न आयात करना आवश्यक हो जाता है।

उचित मूल्य की दुकानें (Fair Price Shops) : सार्वजनिक वितरण प्रणाली उचित मूल्य की दुकानों द्वारा कार्य करती हैं। ये दुकानें सरकार तथा उपभोक्ताओं के बीच कड़ी के रूप में कार्य करती हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत आने वाली सभी वस्तुएँ इन दुकानों द्वारा उपलब्ध होती हैं।

खाद्यान्न अनुदान (Food Subsidy) : खाद्यान्न पर दिए जाने वाले अनुदान की व्यवस्था सरकार द्वारा बजट में की जाती है। इस अनुदान को देने का कारण यह है कि भारतीय खाद्य निगम द्वारा की जाने वाली खाद्यान्न की वसूली, भण्डारण तथा सार्वजनिक वितरण की लागत इसकी प्राप्तियों से अधिक होती है। खाद्यान्न अनुदान की मात्रा लगातार बढ़ रही है तथा इस पर सरकारी राजस्व का बहुत बड़ा भाग खर्च होता है, जिससे प्रत्यक्ष उत्पादक कार्यों पर खर्च किया जा सकने वाला धन अन्यत्र खर्च हो रहा है।

15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चट्टोपाध्याय, बी, 1991, *फूड इनसिक्यूरिटी एण्ड दि सोशल एन्वायरन्मेण्ट*, के.पी. बागची एण्ड सन्स, कलकत्ता, अध्याय-2।

गोपड़ा, आर.एन., 1988, *फूड पॉलिसी इन इण्डिया—ए सर्वे*, इन्टेलेक्च्यूअल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

दोलकिया, एन. तथा आर. खुराना, 1979, *पब्लिक डिस्ट्रिब्यूशन सिस्टम*, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई.बी.एच. पब्लिशिंग कं., नई दिल्ली।

15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

) खण्ड 15.2 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) खण्ड 15.2 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) उप-खण्ड 15.3.1 व 15.3.2 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

) खण्ड 15.4 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) उप-खण्ड 15.4.1 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) उप-खण्ड 15.4.1 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) उप-खण्ड 15.4.3 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

) उप-खण्ड 15.5.2 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) उप-खण्ड 15.5.3 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।
) उप-खण्ड 15.6.4 पढ़िए तथा प्रश्न का उत्तर दीजिए।

NOTES

NOTES

NOTES

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-04
अर्थशास्त्र में चतुर्थ एच्छिक पाठ्यक्रम : भारत में कृषि विकास

खंड

7

संसाधन संग्रह एंव कृषिक संरचना : कीमतें, कराधान, आर्थिक सहायता, विपणन और भंडारण ।

इकाई 16
कृषि और विनिमय अर्थव्यवस्था 5

इकाई 17
कृषि कर, आर्थिक सहायता, विपणन और भंडारण 25

खंड 7 संसाधन संग्रह एंव कृषिक संरचना : कीमतें, कराधान, आर्थिक सहायता, विपणन और भंडारण।

यह खंड घरेलू और विश्व अर्थव्यवस्था दोनों ही दृष्टियों से समष्टिगत आर्थिक संदर्भ में कृषि क्षेत्र के विश्लेषण से संबंधित है। इसमें घरेलू अर्थव्यवस्था के शेष भागों और शेष विश्व के संबंध में कृषीय क्षेत्र की विनिमय स्थितिओं पर विचार किया गया है। इसकी दो इकाइयाँ हैं।

इकाई 16 स्वतंत्रता से पहले की अवधि के दौरान शेष घरेलू अर्थव्यवस्था और शैष विश्व के संबंध में कृषीय क्षेत्र की विनिमय स्थिति की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करती है। यह स्वतंत्रता के बाद की अवधि में विनिमय की स्थितियों में परिवर्तन की समीक्षा भी करती है। इसे मुख्यतः कृषि क्षेत्र के सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन की तुलना में गैर-कृषीय क्षेत्र और विदेशी क्षेत्र के संदर्भ में किया गया है।

इसके पश्चात् इकाई 17 उस कड़ी का उल्लेख करती है, जिसके द्वारा कृषीय क्षेत्र, करों और आर्थिक सहायताओं द्वारा देश की राजकोषीय व्यवस्था से जुड़ी है। इसके अतिरिक्त कृषि उत्पादों के विपणन एंवं भंडारण के स्वरूप पर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि ये वे कारक हैं, जो कृषि के विनिमय स्थिति को प्रभावित करते हैं।

इकाई 16 कृषि और विनिमय अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 क्या व्यापार कल्याण को बढ़ाता है?
  16.2.1 सौम्य उपेक्षा
  16.2.2 घातक उपेक्षा
  16.2.3 सौम्य और घातक उद्देश्य
16.3 1850 से 1947 के दौरान आर्थिक दशा
  16.3.1 विदेशी व्यापार : 1813 से 1947
  16.3.2 भारतीय विदेशी व्यापार का वस्तु संघटन
  16.3.3 व्यापार की अंतः क्षेत्रीय स्थितियाँ
16.4 आर्थिक दशाएँ : स्वातंत्रयोत्तर काल
  16.4.1 अंतर्राष्ट्रीय निवल वस्तु-व्यापार स्थिति
  16.4.2 अंतःक्षेत्रीय व्यापार स्थिति
16.5 व्यापार स्थिति संबंधी अध्ययन
  16.5.1 निवल वस्तु-व्यापार स्थिति
  16.5.2 व्यापार की आय-स्थिति
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर-संकेत

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- अल्पविकसित देशों पर व्यापार के प्रभावों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- स्वतंत्रता से पहले के काल के दौरान भारतीय विदेशी व्यापार के स्वरूप और प्रवृत्तियों को पहचान सकेंगे, और
- भारतीय कृषि व्यापार की अंतः क्षेत्रीय स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

जैसा कि आपने ई.ई.सी.-01 में पढ़ा है कि व्यापारिक स्थितियाँ देशों के समूह अथवा देशों में परस्पर उन शर्तों और परिवर्तनों को आँकती है, जिनसे माल की अदला-बदली की जाती है अथवा जिनसे एक प्रकार की वस्तुओं (जैसे प्राथमिक वस्तुओं) की अदला-बदली दूसरे प्रकार की (जैसे विनिर्माण) वस्तुओं के लिए की जाती है। पहली स्थिति में, व्यापार की अंतर्राष्ट्रीय स्थितियाँ निहित होती हैं। जैसा कि आप जानते हैं कि व्यापार विनिमय की वह क्रिया है, जिससे वस्तुएँ और सेवाएँ बेची तथा खरीदी जाती हैं। इसमें बाज़ार में होने वाले क्रय-विक्रय से सम्बद्ध भुगतान एंव प्राप्ति आवश्यक हो जाता है। इसीलिए सभी व्यापारिक

गतिविधियों में कीमतें अप्रत्यक्ष रूप से शामिल हैं। वस्तु-विनिमय में, कीमतें माल के रूप में होती हैं और आधुनिक बाजार-संरचना में कीमतें मुद्रा के रूप में ली जाती हैं। इस प्रकार कीमतें उन शर्तों का स्पष्ट निर्धारण करती हैं, जिनके द्वारा विनिमय किया जा सकता है। एक क्रेता का किसी भी सौदे को कम कीमत में तय कर लेने पर खुश होना स्वाभाविक है। इसी तरह विक्रेता भी अपनी वस्तु को ज्यादा से ज्यादा कीमत पर बेचने पर संतुष्टि का अनुभव करता है। अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा सुझाव दिया गया है कि दो भागीदारों में व्यापार की स्थिति कीमतों से अत्यधिक प्रभावित होती हैं और इसी में ही उनका आर्थिक हित है। आपने ई.ई.सी. 01 के खंड 8 में यह पढ़ा है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार-सिद्धांत में व्यापार की स्थितियों की परिभाषा आयात (Pm) की कीमतों और निर्यात (Px) की कीमतों में आपसी संबंध के रूप में की जाती है। सरल शब्दों में, इसकी परिभाषा आयात और निर्यात की कीमतों के परस्पर अनुपात के रूप में की गई है (Px/Pm)। इसी धारणा को निवल वस्तु व्यापार की स्थिति कहा गया है। आयातों की मात्रा और निर्यातों की मात्रा में परस्पर अनुपात भी उतना ही महत्वपूर्ण है और इस रूप में इसे सकल वस्तु-व्यापार स्थिति के रूप में माना गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि ये स्थितियाँ अर्थशास्त्र में कैसे आईं, परंतु इन्हें सर्वप्रथम टॉसिंग और वाइनर (Taussig and Viner) ने अपनाया। किसी भी देश के लिए व्यापार की अनुकूल स्थिति तभी होती है जब : i) अपने आयात की कीमतों के बदले में उसे अपने निर्यातों के लिए ज्यादा कीमतें मिलें, ii) अथवा उसे उसी मात्रा के निर्यात के बदले में आयात ज्यादा मात्रा में मिले, iii) अथवा वह उतनी ही मात्रा के आयात के लिए कम मात्रा में निर्यात करे। इन सभी रूपों में एक देश को लाभ होता है। इस इकाई में, हम भारतीय कृषि क्षेत्र के विशेष संदर्भ में व्यापार स्थितियों में परिवर्तनों का परीक्षण करेंगे।

16.2 क्या व्यापार कल्याण को बढ़ाता है?

विकसित और विकासशील देश व्यापार, सहायता, निवेश और देशांतरण से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अल्पविकसित देशों के दृष्टिकोण से मुख्य विषय यह है कि इन संबंधों से उन्हें लाभ होता है अथवा हानि। वास्तव में इस प्रश्न का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन किया गया है। उनमें से चार दृष्टिकोण प्रमुख हैं (1) सौम्य उपेक्षा (Benign Neglect), (2) घातक उपेक्षा (Malign Neglect), (3) सौम्य उद्देश्य (Benign Intent), और (4) घातक उद्देश्य (Malign Intent)।

16.2.1 सौम्य उपेक्षा (Benign Neglect)

पारंपरिक दृष्टि से यह विचारधारा प्रमुख रही है कि अमीर देशों ने गरीब देशों के लिए हितों का सृजन किया है। विश्व अर्थव्यवस्था के प्रबंध में यह मत उपयोगितावादी अर्थशास्त्रियों के अनुरूप है। इसके अनुसार अदृश्य शक्ति एंव मुक्त प्रतियोगिता द्वारा व्यापक कल्याण के प्रोत्साहन मिलता है। इस मॉडल में, अहस्तक्षेप नीति के अनुसार निजी लाभ से प्रेरित होकर ही सार्वजनिक वस्तु का उत्पादन होगा। अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में इससे यह धारणा बनती है कि जब विश्व अर्थव्यवस्था में विभिन्न देश अपने हितों को ही ध्यान में रखेंगे तो अल्पविकसित देशों का हित भी होगा। तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत के मूल में छिपी भावना भी इसी विचार को दोहराती है।

16.2.2 घातक उपेक्षा (Malign neglect)

इस क्लासिकी दृष्टिकोण के ठीक विपरीत "घातक उपेक्षा" का मत है, जिसके अनुसार गरीब तथा अमीर देशों में परस्पर संबंधों के प्रभाव मुख्यतः गरीब देशों के लिए ही हानिकर होते हैं। स्पष्टतः क्षरण (drain) सिद्धांतवादियों के औपनिवेशिक शोषण का मत इसी विचारधारा पर आधारित है। अभी हाल ही में, प्रेविश (Prebisch) ने यह तर्क दिया है कि अल्पविकसित देशों के लिए व्यापार की स्थितियों का निरंतर ह्रास होता जा रहा है। उनके अनुसार अल्पविकसित देशों की अपने तुलनात्मक लाभों के शोषण की योग्यता निम्न बातों से सीमित हो जाती है: (1) राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही दशाओं में बाज़ार तंत्र की अपूर्णता, (2) अमीर देशों द्वारा अपने आयातों पर लगाए गए प्रतिबंध तथा (3) कई प्राथमिक उत्पादों के लिए कम माँग की संभावनाएँ, जिससे लगभग सभी अल्पविकसित देशों की अधिकांश निर्यात-आय होती है। प्राथमिक उत्पादों का निर्यात करने वाले देशों के लिए व्यापार स्थितियों का ह्रास निम्नलिखित छह कारणों से होगा:

(1) औद्योगिक उत्पादन पर बल देने वाले उन्नत देश भी हल्के उद्योगों से भारी उद्योगों की ओर जा रहे हैं, अर्थात् उन उद्योगों की ओर जा रहे हैं, जिनके अंतिम उत्पादन में कच्चे माल की मात्रा कम है, (2) अमीर देशों की सकल राष्ट्रीय उत्पाद में सेवाओं का अंश बढ़ रहा है, जिसके कारण राष्ट्रीय उत्पादों की बढ़ोत्तरी की तुलना में उनकी कच्चे माल की माँग पिछड़ जाती है, (3) प्राथमिक उत्पादों की माँग की आय लोच कम है, (4) कृषि संरक्षणवाद के कारण उनके प्राथमिक उत्पादों के आयात पर बुरा प्रभाव पड़ा है, (5) औद्योगिक इस्तेमाल में प्राथमिक उत्पादों के उपयोग में व्यापक रूप से कम खर्ची हुई है, और (6) प्राकृतिक उत्पादों की जगह मनुष्य द्वारा निर्मित स्थानापन्न और कृत्रिम वस्तुओं के प्रयोग में वृद्धि हुई है।

क्या आप उपरोक्त की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण दे सकते हैं? हम आपको कुछ उदाहरण दे रहे हैं। पटसन के स्थान पर पॉलीथिन का बढ़ता हुआ उपयोग। अभ्रक के स्थान पर इलैक्ट्रॉनिक्स तथा बिजली के अच्छे रोधक गुणों वाले तापमान प्रतिरोधी प्लास्टिक का उपयोग। पटसन और अभ्रक भारत के मुख्य निर्यात रहे हैं।

मिरडल और विकसेल (Myrdal and Wicksell) के भी ऐसे ही विचार हैं। उनका विश्वास है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से अल्पविकसित देशों में असंतुलन उत्पन्न होता है। इस प्रकार बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आंतरिक वेतन के ढाँचे का विघटन कर देती हैं। प्राथमिक तथा अपरिष्कृत उत्पादों के उत्पादकों के रूप में विकसित देशों के साथ व्यापारिक संबंधों में कम विकसित देशों की भूमिका ऐसी बन जाती है कि वे स्थायी रूप से इन्हीं वस्तुओं के निर्यातक बने रहते हैं जिसके फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन में उनकी स्थिति गौण और घटिया हो जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रेविश का मत है कि विकसित देशों को निर्यात किए जाने वाले प्राथमिक उत्पादों के व्यापार – स्थितियों का न केवल ह्रास हुआ है, बल्कि ह्रास होता रहेगा, जिससे विकासशील देशों को हानि तथा विकसित देशों को लाभ मिलता रहेगा।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में यह दृष्टिकोण कम विकसित देशों की शिकायतों से ही सामने आया है कि उनके विश्व अर्थव्यवस्था के साथ संबंधों से कोई लाभकारी परिणाम उत्पन्न नहीं हुए हैं। केवल विकासशील देशों के कुछ ही शहरों और उद्योगों में ही विदेशी निवेश का लाभ मिला है तथा अन्य क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष प्रभाव नगण्य रहे हैं। जैसा कि एक लेखक **नाईपाल** (Naipaul) ने अपनी पुस्तक 'गुरिल्लाज़' में कहा है कि विदेशी निवेशकों को (भारत में) **करावकाश** (tax holiday) दिए गए हैं। कई इसी कर के लाभ के कारण आए और फिर बाद में कहीं और चले गए । विदेशी निवेशकों से समस्या यह नहीं है कि इनसे अल्पविकसित देशों की राष्ट्रीय अर्थनीति पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि जो प्रभाव पड़ता है, वह अधिकतर हानिकर होता है। यह उदाहरणों से स्पष्ट है सभी। प्राथमिक वस्तुओं को एक साथ लेने पर विकासशील देशों द्वारा निर्यात किए गए प्राथमिक उत्पादों की कीमतें वर्ष 1950 से 1970 तक के बीस वर्षों के दौरान विनिर्माणों की तुलना में काफी गिरी हैं। 1974 में संयुक्त राष्ट्र जनरल असेंबली के अधिवेशन में कच्चे माल से संबंधित प्रस्तुत आँकड़ों से यह पता चलता है कि निर्मित वस्तुओं की कीमतों की तुलना में अधिकांश प्राथमिक वस्तुओं की वस्तु व्यापार स्थितियाँ खराब होती गई। इसकी तुलना में कम विकसित देशों के लिए महत्वपूर्ण खनिजों और निर्मित वस्तुओं की डालर कीमतों में वृद्धि होती रही। कुल मिलाकर संयुक्त राष्ट्र की सभी प्राथमिक वस्तुओं के लिए कीमत तालिका का स्तर 1970 में लगभग वहीं रहा जो 1950 में था, जबकि निर्मित वस्तुओं की कीमतों में लगभग 2/5 वृद्धि हुई।

विकासशील देशों के नीति निर्माताओं के सामने बढ़ती हुई आयात कीमतों के सामने निर्यात राजस्वों को बनाए रखने की समस्या है। 1973 में विश्व के सामने तेल की कीमतों में चौगुनी वृद्धि (तीन डालर से ग्यारह या बारह डालर तक बढ़ जाने) से महाविपत्ति की स्थिति आई, जिसने तत्काल ही भुगतान-संतुलन को बिगाड़ दिया और कई देशों की विदेशी विनिमय निधि को उसके काबू से बाहर कर दिया। तेल पर आधारित उन उत्पादों की कीमतों में अचानक अत्यधिक वृद्धि हुई जिन पर कई अल्पविकसित देश निर्भर थे, जैसे—उर्वरक, रसायन, प्लास्टिक आदि। इससे तेल का उत्पादन न करने वाले देशों की अपार धनराशि तेल उत्पादक देशों के पास चली गई। ऐसी ही स्थिति 1990-91 में ईराक-कुवैत युद्ध के दौरान आई।

16.2.3 सौम्य और घातक उद्देश्य

दो प्रमुख सैद्धांतिक स्थितियाँ — सौम्य उद्देश्य और घातक उद्देश्य भी प्रचलित हैं। यह विचारधारा गरीब देशों के प्रति अमीर देशों के इरादों को ध्यान में रखते हुए स्थिति का तात्विक रूप से विश्लेषण करती है।

सौम्य उद्देश्य विचारधारा "अंग्रेजों" के दर्शन के अनुरूप है। जिसके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय संबंध एंव संस्थाएँ ऐसी बनाई जाएँ कि उनसे गरीब देशों को भी लाभ प्राप्त हो सके। निजी निवेशों के पीछे यह भावना कार्य कर रही थी कि विकासशील देशों के उद्यमों को आधुनिक प्रौद्योगिकी के लाभ प्राप्त हो सकें। कई अंग्रेजों का विश्वास है कि भारत मे ब्रिटिश शासन सौम्य उद्देश्य से प्रेरित था।

इस मॉडल के एकदम विपरीत विश्व व्यापार के घातक उद्देश्यों का समर्थन अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पर अपने लेखों द्वारा मार्क्सवादियों और वामपंथियों ने किया है। विदेशी व्यापार में विशेषकर इसमें निहित पूँजी के प्रवाह को साम्राज्यवादी उद्देश्य के स्वाभाविक विस्तार के रूप में देखा जाता है, क्योंकि इससे गरीब देशों की निर्भरता बढ़ती है।

16.3 1850 से 1947 के दौरान आर्थिक स्थिति

इस पृष्ठभूमि में यह पूछना स्वाभाविक है कि भारत के ब्रिटिश संपर्क से लाभ किसे हुआ? अंग्रेजों का विश्वास था कि 1857 के ऐतिहासिक विद्रोह के बाद के दशकों के दौरान भारत को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के संपर्क से महत्वपूर्ण लाभ हुए। भारत को शांति, कानून एंव व्यवस्था, पाश्चात्य शिक्षा **केन्द्रीकृत प्रशासन,** देश का राजनीतिक एकीकरण, रेलों का विकास, डाक-व्यवस्था, स्वास्थ्य आदि के रूप में लाभ प्रदान किए गए।

लेकिन आप यह जानते हैं कि राष्ट्रवादी भारतीय अर्थशास्त्रियों ने क्षरण सिद्धांत द्वारा इसका खंडन किया था। भारत के साथ अंग्रेजों के संबंध भारत के लिए हानिकारक रहे, और यही उनके लेखन का मुख्य विषय बना। आर्थिक आँकड़ों के आधार पर सबसे पहले इसे प्रमाणित करने का श्रेय दादा भाई नौरोजी को मिला। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि वर्ष 1867-68 में लगभग 17 करोड़ जनसंख्या पर प्रति व्यक्ति 20 रुपए प्रतिवर्ष आय की दर से भारत की राष्ट्रीय आय 340 करोड़ रुपए थी। इसके उत्तर में वर्ष 1881 के लिए अधिकारियों ने 27 रुपए प्रतिव्यक्ति आय संबंधी आँकड़ें प्रकाशित किए। वर्ष1897-98 के लिए कर्जन ने प्रतिव्यक्ति आय को 31 रुपए घोषित किया। विलियम दिग्वे ने कर्जन के आँकड़ों **के आकलन** की यथार्थता पर आपत्ति उठाई। अपनी प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए अधिकारियों ने वर्ष 1895 के लिए एटकिंसन द्वारा आकलित भारत की आय को प्रकाशित किया, जिसके अनुसार 39.5 रुपए प्रति व्यक्ति आय थी। राष्ट्रवादियों को इन आकलनों के सांख्यिकीय प्रमाणिकता पर संदेह हुआ और उन्होंने यह तर्क दिया कि अगर कर्जन और एटकिंसन के आकलनों को सत्य मान भी लिया जाए तो यूरोप और अमेरिका जैसे देशों की तुलना में भारत में प्रतिव्यक्ति आय काफी कम थी। उदाहरणार्थ, भारत की प्रतिव्यक्ति तीन पौड स्टर्लिंग की तुलना में इंग्लैंड की 41, कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका की 27, आस्ट्रेलिया की 43 और इटली की 12 पौंड थी। दादा भाई नौरोजी ने एक और तर्क देते हुए कहा कि भारत में प्रति व्यक्ति आय भारतीय जेल में एक कैदी के अनुरक्षण की लागत से कम थी। उन्होंने सरकारी **दस्तावेज़ों से अनुमान** लगाया कि एक कैदी के भोजन और कपड़ों पर पंजाब में 27 रुपए की लागत आती है, जबकि मद्रास में 51 रुपए। उनके शब्दों में, "अपराधियों को मिलने वाले भोजन तथा कपड़ों पर इतनी लागत की तुलना में दूसरे व्यक्तियों की उन सभी छोटी-छोटी सुख सुविधाओं, खुशियों और गर्मी के अवसरों पर खर्च करने के लिए सभी सामाजिक और धार्मिक इच्छाओं की पूर्ति और बुरे दिनों के लिए अतिरिक्त धन की व्यवस्था करनी पड़ती है।" परन्तु यदि इस पर ध्यान न भी दें तो अच्छे मौसमों में भी पर्याप्त उत्पादन उपलब्ध नहीं था। अगर दादा भाई नौरोजी द्वारा व्यक्त मापदंडों के आधार पर मापा जाए तो भारत और ग्रेट ब्रिटेन में परस्पर औपनिवेशिक व्यापार संबंध सौम्य उद्देश्य (Benign Intent) अथवा सौम्य उपेक्षा (Benign Neglect) के दावों का समर्थन नहीं करेंगे। क्षरण सिद्धांतवादियों के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन द्वारा भारत पर थोपे गए विदेशी व्यापारिक संबंधों के कारण ही भारतीय विनिर्माण ही नहीं, बल्कि कृषि भी प्रभावित हुआ।

16.3.1 विदेश व्यापार: 1813 से 1947

यह जानने के लिए कि 1813 से 1947 के दौरान भारतीय विदेशी व्यापार का समय के साथ-साथ कैसे

विकास हुआ हमें इस अवधि को तीन कालों में बांटना होगा: (i) 1813 से 1850; (ii) 1851 से 1914, और (iii) 1914 से 1947 तक। 1757 (प्लासी का युद्ध) और 1813 (चार्टर अधिनियम) के बीच का समय वाणिज्यवाद का समय था, जिसमें ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया और भारत तथा ब्रिटेन में परस्पर एकाधिकारिक व्यापार चलाने का प्रयास किया। कंपनी ने इस लाभकारी व्यापार के प्रयासों में अन्य यूरोपवासियों को वापस खदेड़ा। भारतीय विदेशी व्यापार अपने पारंपरिक वस्तु विनिमय के अनुरूप जारी रहा। जिसमें अनाज़, कच्चा माल तथा बढ़िया कपड़ों (ढाका की मलमल) के विनिमय से कीमती पदार्थ और कुछ विनिर्मित वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। व्यापार संतुलन हमेशा भारत के पक्ष में था, लेकिन कंपनी का लेखा-जोखा रखने वालों द्वारा शेष राशि प्रायः बट्टे-खाते में डाल दिया जाता था, अर्थात् व्यापार अधिशेष के अनुरूप भारतीयों को इंग्लैंड से कुछ भी बदले में प्राप्त नहीं होता था। 1813 में चार्टर अधिनियम के पारित होते ही व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया, और 1833 में कंपनी व्यापार करने से पूर्णतया वंचित कर दी गयी।

ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति से संबंधित राजनीतिक, आर्थिक और प्रौद्योगिकी विकास के फलस्वरूप वर्ष 1813 के बाद विनिर्मित उत्पादों-अधिकतर कपड़े के निर्यातक के रूप में भारत का पूर्णतः सफाया हो गया।

ग्रेट ब्रिटेन के शासन में भारत एक ऐसा देश था, जो प्राथमिक वस्तुएँ विश्व-भर को निर्यात करता था, और इसके बदले में निर्मित उपभोग की वस्तुएँ और कुछ मध्यवर्ती औद्योगिक माल आयात करता था। ऐसा 1850 तक व्यवस्थित रूप से चलता रहा। वास्तव में 1850 के बाद प्राथमिक उत्पादों के निर्यातक देश के रूप में भारत को **तेजी से दर्शाया गया**। 1853 के बाद रेलों का निर्माण, क्रिमियन युद्ध (Crimean War), अमेरिका का गृह युद्ध और स्वेज नहर का विकास आदि सभी ने मिलकर भारत को इस स्थिति तक पहुँचाया। 1851 से 1914 तक अर्थात प्रथम विश्व युद्ध के शुरू होने के समय तक आयात और निर्यात के आकार में काफी वृद्धि हुई। यह बहुपक्षीय व्यापार का काल था। फिर भी 1914 से 1947 तक का समय द्विपक्षीय (दो देशों के बीच) परस्पर व्यापारिक संबंध, संरक्षणवाद और विदेशी विनिमय नियंत्रण से आक्रांत रहा। इस सबसे बढ़कर, भारत को 1930 की महान मंदी के कारण बहुत अधिक नुकसान हुआ। दो विश्व-युद्धों के बीच के समय में बहुत से उतार-चढ़ाव आए और 1920 तथा 1921 में पहली बार भारत में आयातों से कम निर्यात हुए। 1939 से (द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ से) 1947 तक के समय में व्यापार राजनीतिक गतिविधियों और युद्ध नियंत्रणों से प्रभावित रहा। (भारत छोड़ो आंदोलन और सांप्रदायिक दंगों का स्मरण कीजिए)।

बंगाल, मद्रास, बंबई तीन प्रेसीडेंसियां थीं, जिनसे भारत में अधिकतर समुद्री विदेशी व्यापार किया जाता था, और प्रत्येक प्रेसीडेंसी की अलग-अलग मुद्रा-प्रणाली थी। इससे व्यापार के मूल्यन (Valuation) की समस्या सामने आई इसीलिए 1834-35 से पहले के अखिल भारतीय व्यापार आँकड़े बहुत कम हैं। 1835 में समूचे देश में एकसमान मुद्रा प्रणाली शुरू की गई, जिससे व्यापार के आँकड़ों का संकलन संभव हुआ।

इस पूरे समय में सामान्यतया कुल भारतीय निर्यात में आयात की तुलना में मूल्यों और मात्रा दोनों दृष्टि से अधिक आयात की वृद्धि हुई और आयात की वृद्धि-दर असाधारण रही, क्योंकि आधार वर्ष में इसका मूल्य बहुत ही कम था। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान भारतीय विदेशी व्यापार बुरी तरह प्रभावित हुआ था। ब्रिटेन के शत्रु देशों के साथ व्यापार पर रोक लगा दिया गया और यूरोपीय बाजार अव्यवस्थित हो गए। परिणामस्वरूप आयात काफी कठिन होने के कारण कम होते गए, फिर भी पटसन की थैलियाँ, फौजियों के जूतों के लिए खाल और चमड़ी की बढ़ती हुई माँग ने निर्यात को कम होने से बचा लिया। लेकिन युद्ध समाप्त होते ही आयात अत्यधिक बढ़ गया। रेल के डिब्बों की कमी, औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूरों में असंतोष, कृषि की प्रतिकूल स्थितियों के कारण निर्यातों का पुनरुद्धार कम प्रभावशाली था। 1930 की महान मंदी के फलस्वरूप 1931 से 1940 के दौरान भारतीय निर्यातों तथा आयातों की वृद्धि दर ऋणात्मक रही। विनिर्माणों की कीमतों की तुलना में कृषि उत्पादों की कीमतों में अनुपात से ज्यादा गिरावट से व्यापार की स्थिति भारत के प्रतिकूल रही। निवल वस्तु व्यापार स्थिति का ह्रास हुआ, क्योंकि 1927-28 **में अपने आधार मूल्य** (100) से गिरकर 1936-37 में 91 हो गया (देखें तालिका 16.1) तथा 1931-32 में यह सबसे निचले स्तर अर्थात् 82.6 पर पहुँच गया।

तालिका 16.1
निर्यात कीमतें, आयात कीमतें और व्यापार-स्थिति

वर्ष	निर्यात कीमतें	आयात कीमतें	व्यापार-स्थिति
1	2	3	4
1927-28	100.0	100.0	100.0
1928-29	97.5	96.4	100.1
1929-30	90.2	93.2	96.1
1930-31	71.5	80.0	89.4
1931-32	59.2	71.7	82.6
1932-33	53.3	65.2	84.8
1933-34	53.5	63.5	84.3
1934-35	54.1	63.0	85.9
1935-36	59.9	62.1	91.6
1936-37	57.2	62.8	91.0

स्रोतः ऐन्युअल रिव्यू ऑफ ट्रेड इन इंडिया, 1936-37 ।

1947 के पूर्ववर्ती तीन वर्षों (1943-44 से 1945-46) में व्यापार अत्यधिक कम हुआ । द्वितीय विश्व-युद्ध के भी प्रतिकूल प्रभाव पड़े । इसके अतिरिक्त लगभग वे सभी देश जिन के साथ भारत का व्यापारिक संबंध था, मुक्त व्यापार छोडकर संरक्षणात्मक शुल्क का सहारा लिए ।

व्यापार-स्थिति

व्यापार-स्थिति की दीर्घकालीन प्रवृति क्या रही थी?

निर्मित वस्तुओं के आयात के मुकाबले प्राथमिक उत्पाद के निर्यात के संदर्भ में भारत तथा शेष विश्व के बीच व्यापार-स्थिति से संबद्ध दीर्घकालीन तुलनीय आंकडे उपलब्ध नहीं हैं । किंतु, भारत तथा इंग्लैंड के संदर्भ में ऐसी दीर्घकालीन शृंखला उपलब्ध है । चूंकि ब्रिटेन की व्यापार-स्थिति 19वीं शताब्दी के अधिकांश भाग से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक भारत की व्यापार-स्थिति ठीक विपरीत तस्वीर प्रस्तुत करता है, इसलिए ब्रिटेन के आंकड़ों से भारत के विनिर्मित वस्तुओं के आयातों के मुकाबले उसके प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात की व्यापार-स्थिति के संबंध में दीर्घकालीन प्रवृत्ति की कुछ जानकारी प्राप्त करेंगे । इसके अतिरिक्त, इस अवधि के दौरान भारत से प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात अधिकांशतः इस बात पर निर्भर था कि इंग्लैंड उनका कितना आयात करना चाहता था । ठीक इसी प्रकार भारत द्वारा निर्मित वस्तुओं का आयात ठीक उतना ही होता था जितना कि इंग्लैंड से निर्मित वस्तुएँ भारत में आती थीं ।

रॉल प्रेबिश और आर्थर ल्यूइस द्वारा प्रस्तुत इस अवधि से संबंधित आंकड़ों से ज्ञात होता है कि 19वीं शताब्दी के प्रथम 50 वर्षों के आंकड़ों को छोडकर, ब्रिटेन की व्यापार-स्थिति विशेषरूप से 1876 से प्रर्याप्ततः बढ़ती हुई प्रवृत्ति दर्शाती है ।

19वीं शताब्दी के प्रथम 50 वर्षों के दौरान व्यापार स्थिति में ह्रास की प्रवृत्ति और इंग्लैंड की प्रथम औद्योगिक क्रांति की अवधि एक ही थी । इस अवधि में वस्त्र निर्माण लागत कम करने वाले (Cost reducing) प्रौद्योगिकीय परिवर्तन तेजी से हुए जिस कारण भारत से वस्त्रों का निर्यात वस्तुतः समाप्त हो गया और भारत बने बनाए वस्त्रों का आयातक हो गया । इस विऔद्योगीकरण (de-industrialisation) के साथ-साथ भारत से आर्थिक क्षरण का प्रारम्भ होना भी दर्शाता है । आर्थर ल्यूइस द्वारा प्रस्तुत 1870 से 1938 तक की अवधि के वार्षिक आंकड़ों की समय शृंखला ब्रिटेन के व्यापार की स्थिति में प्रतिलोम (inverse terms of trade) गिरावट की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति दर्शाती है । अर्थात् इससे ब्रिटेन को भेजे जाने वाले प्राथमिक उत्पादों के निर्यातकों की व्यापार स्थिति की प्रत्यक्ष झलक भी मिलती है । भारत इस अवधि में ब्रिटेन को प्राथमिक उत्पादों के निर्यात करने वाला तथा ब्रिटेन से बनी हुई वस्तुएँ आयात करने वाला पहला देश था । आप ई.ई.सी.-02 के खंड 1 में पढ़ चुके हैं कि 1870 से द्वितीय विश्वयुद्ध तक का समय भारत में इंग्लैंड के आधुनिक साम्राज्यवादी शासन की अवधि थी ।

6.3.2 भारतीय विदेशी व्यापार का वस्तु संघटन

रत के लिए व्यापार की ह्रासमान स्थितियों को उसके वस्तु समूह के परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए मझा जा सकता है। 1830 तक भारत को सूती कपड़ों के व्यापार से निकाल दिया गया। भारतीय कपड़ों कुल निर्यात में हिस्सा 1811 में 33 प्रतिशत था, जो घटकर 1815 में 14 प्रतिशत रह गया और 340 में मात्र 5 प्रतिशत था। निर्यात उपार्जन में कपड़ा मुख्य था, किन्तु कपड़े के लोप से भारत की थमिक वस्तुओं पर निर्भरता में वृद्धि हुई जिससे औद्योगिक उत्पादों के लिए विनिमय संभव हो सके। 314 से 1850 के बीच निर्यात की मुख्य चार वस्तुएँ सूती कपड़ा, अफीम, सिल्क और नील ही थीं। केन 1850 के बाद अनाज़, पटसन, तिलहन, चाय, खाल और चमड़ा तथा मशीनी सूती कपड़ों ारखानों में बना) का भी निर्यात होने लगा। नील और अफीम की माँग विश्व में घटने वाली घटनाओं पर यधिक निर्भर थी। अतः इन वस्तुओं की कीमतों में काफी उतार-चढ़ाव आया। इसके अतिरिक्त नील, फीम और सिल्क का व्यापार विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में था और इससे उन्हें ही लाभ पहुँचा, आम ता को नहीं। वास्तव में ऐतिहासिक अभिलेखों से यह पता चलता है कि नील के उत्पादक इतने पीड़ित थे कि उन्होंने विद्रोह कर दिया।

न देने की बात यह है कि भारत से गेंहूँ तथा चावल का निर्यात बढ़ रहा था, ऐसा भारत में अकाल की तियों के बावजूद भी होता रहा। इन अकाल के वर्षों में जब अनाज़ की पैदावार नहीं हुई तब भी अनाज़ निर्यात होता रहा। वर्ष 1891-92 में अनाज़ का निर्यात कुल निर्यात का 27 प्रतिशत था। स्वेज नहर शुरुआत और रेलों के निर्माण ने अनाज़ के निर्यात को बढ़ाया। 1914 में युद्ध शुरू होने पर अनाज़ का र्यात 1922 तक रुका रहा और बाद में फिर से शुरू हो गया।

तीय आयातों में प्रमुख वस्तुएँ कालीन, अंगूरी शराब, घोड़े, स्पिरिट, सूती कपड़ा, धातु की वस्तुएँ, गज़ और शीशे का सामान था। भारतीय आयात में कपड़े का आयात एक ऐसा परिवर्तन था, जो मानो त की नियति में था। ब्रिटेन के कुल कपड़े के निर्यात में से लगभग 60 प्रतिशत भारत में आता था। आयातों में सूती कपड़े का आयात 1870-71 में 47 प्रतिशत, 1880-81 में 45 प्रतिशत, 20-21 में 26 प्रतिशत और 1933-34 में 13 प्रतिशत था। कपड़े के अतिरिक्त सूती धागा, ुएँ, रेल और रेल के ईंजन, मशीनरी और खनिज़ तेल दूसरे अन्य महत्वपूर्ण आयात थे। आयात की ुएँ विविध प्रकार की थीं, मगर भारत के कुल आयात के मूल्य की दृष्टि से अधिकांश आयात उपभोग ुओं से संबंधित था।

तीय आयात और निर्यात की वस्तुओं में इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप वर्ष 1927-28 से 36-37 के बीच व्यापार-स्थिति का काफी ह्रास हुआ, जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है।

6.3.3 व्यापार की अतःक्षेत्रीय स्थितियाँ (Inter-sectoral Terms of trade)

ज़ के बढ़ते हुए निर्यात, बोए गए कृषि क्षेत्र का ह्रास, प्रति एकड़ स्थिर पैदावार, व्यापारिक और बागान लों के क्षेत्रफल में वृद्धि से कृषि कीमतों में भी बढ़ोत्तरी हुई। 1921 के बाद जनसंख्या में वृद्धि ने इस ते को और अधिक उभारा। 1880 से 1905 के बीच कृषि वस्तु की कीमतों में वृद्धि काफी अधिक ।

ओर गैर-कृषि वस्तुओं का मुख्यतः आयात किया गया। 1870 के दशक के मध्य से ही ग्रेट-ब्रिटेन निर्मित वस्तुओं की गिरती हुई कीमतें 1890 के दशक में अपने न्यूनतम स्तर पर पहुँच गई थीं। किंतु में प्रथम महायुद्ध के दौरान उसमें धीरे-धीरे वृद्धि हुई। यातायात लागतों में गिरावट से आयात की तों में भी कमी आई, जिसका प्रभाव निर्यात लागतों पर भी पड़ा। चूँकि कृषि वस्तुओं पर कम लागत के ात में भाड़ा शुल्क अधिक था, इसलिए यातायात लागत में गिरावट का लाभ हमारे आयात कर्त्ताओं को क मिला। 1875-1895 के दौरान ग्रेट ब्रिटेन में विनिर्माणों की कीमतों में 35 प्रतिशत का ह्रास और उसी समय रुपए का 35 प्रतिशत से **अवमूल्यन** भी हुआ। फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन से आयात किए औद्योगिक उत्पादों के मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ।

तालिका 16.2
कृषि की व्यापार स्थिति

पंचवर्षीय	पंचवर्षीय औसत कीमत		निवल वस्तु-व्यापार स्थिति
	कृषि	गैर कृषि	
1	2	3	4
1861-65	97.0	95.8	101.0
1866-70	119.0	93.2	125.2*
1871-75	104.2	94.8	110.4
1876-80	129.0	90.8	142.0*
1881-85	101.0	91.8	110.4
1886-90	113.2	93.2	121.2
1891-95	131.4	96.8	135.8
1896-1900	141.8	92.8	152.6*
1901-1905	135.8	97.2	140.2
1906-1910	185.4	116.8	158.8*
1911-15	190.2	129.8	147.4
1916-20	251.4	206.2	122.6*
1921-25	269.6	217.2	126.4
1926-30	254.2	176.2	144.2
1931-35	133.4	114.2	116.8
1936-40	147.6	113.4	130.0
1941-45	291.0	209.6	136.0*

टिप्पणी: 1) पंचवर्षीय औसत
2) * पंचवार्षिक जिसमें फसल की विफलता के वर्ष भी शामिल हैं।

गैर-कृषि वस्तुओं की कीमतों की तुलना में कृषि वस्तुओं की कीमतों में अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप अंतः क्षेत्रीय व्यापार की पंचवर्षीय शर्तें कृषि के पक्ष में रहीं। तारक चिन्ह * वाले वर्ष अकाल वर्ष के सूचक हैं, फिर भी वस्तु व्यापार स्थिति में निवल सुधार से सभी कृषकों को लाभ नहीं हुआ। वास्तव में लाभ उन्हीं लोगों को प्राप्त हुआ, जिनके पास विक्रेय अधिशेष था। अथवा उन्हें लाभ मिला जिनका तेजी से बढ़ रही कीमत वाली वस्तुओं पर व्यापार तथा साहूकारी के माध्यम से नियंत्रण था।

तालिका 16.2 से यह पता चलता है कि निवल वस्तु व्यापार स्थितियाँ कृषि के पक्ष में रहीं। कृषि कीमतें ऊँची थीं, परंतु अगर विक्रय अधिक नहीं होता तो किसानों को अधिक लाभ नहीं मिलता। सामान्य वर्षों में भी अनाज़ की कमी के कारण कृषि कीमतें ज्यादा थीं। यह ध्यान रहे कि गैर-कृषि वस्तुओं की तुलना में कृषि वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतें अनिवार्यतः कृषि की आंतरिक क्षमता के कारण नहीं थी। तालिका 16.2 में व्यापार की सुधरती हुई स्थितियों से संबंधित आँकड़ें जितना व्यक्त करते हैं, उससे कहीं अधिक बातें छिपाते हैं। अगर यह वास्तविकता थी तो खेतिहर किसानों (Peasant Cultivators) के विक्रेय आधिक्य पर प्रभाव का अनुमान लगाना ज्यादा महत्वपूर्ण होगा। इसके संबंध में स्वतंत्रता से पहले की अवधि के लिए कोई भी महत्वपूर्ण अध्ययन नहीं हुआ। इसलिए इस काल के व्यापार की आय स्थितियों (Income terms of trade) का अनुमान लगाना कठिन हो गया है। फिर भी निवल वस्तु व्यापार स्थिति में सुधार की इस दीर्घकालिक अवधि में 1881 से 1885 और 1891 से 1895 के पाँच वर्षों में काफी तेजी से सुधार हुआ। 1911 से 1915 तक के पाँच वर्षों में व्यापार स्थितियों में सुधार नहीं हुए और वस्तुतः 1915 से 1920 तक के पाँच वर्षों में कृषि के निवल वस्तु व्यापार स्थिति में काफी गिरावट आई। 1881-85 से गिरती हुई व्यापार स्थिति 1931-35 के दौरान अपने न्यूनतम स्तर पर थी। यह सर्वविदित है कि भारतीय किसानों को इस समय काफी नुकसान हुआ और उनके ऋण के बोझ बढ़ गए।

बोध प्रश्न 1

1) अल्प विकसित देशों पर व्यापार के प्रभाव के संबंध में "घातक उपेक्षा" दृष्टिकोण क्या चित्र प्रस्तुत करता है? चार वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) उन्नीसवीं सदी के दौरान निर्यात वस्तुओं का बदलता हुआ स्वरूप किस प्रकार भारत के लिए गिरते हुए व्यापार स्थिति को व्यक्त करता है? तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) यह बताइए कि निम्नांकित कथन "सही" हैं या "गलत"।

(i) "क्षरण सिद्धांत" का विचार "सौम्य उपेक्षा" के विचार की ही भाँति है।

(ii) वामपंथी अर्थशास्त्रियों ने "सौम्य उद्देश्य" दृष्टिकोण से संबंधित धारणा का समर्थन किया है।

(iii) "घातक उद्देश्य" दृष्टिकोण का श्रेय अंग्रेज उपयोगितावादियों को जाता है।

16.4 आर्थिक स्थितिः स्वातंत्रयोत्तर काल

अब तक हमने स्वतंत्रता से पहले की व्यापार स्थिति की चर्चा की है। व्यापार की अंतः क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों की भी चर्चा की गई है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए आइए हम यह चर्चा करें कि 1947 में भारत के आजाद होने के बाद व्यापार स्थिति का व्यवहार कैसा था। सर्वप्रथम हम बाह्य निवल व्यापार स्थिति का विवेचन करेंगे। आंतरिक अर्थव्यवस्था के अंतर्गत अंतःक्षेत्रीय अध्ययन के लिए वस्तु व्यापार और आय व्यापार दोनों ही स्थितियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

16.4.1 अंतरांष्ट्रीय निवल वस्तु व्यापार स्थिति

अब हम भारत के विदेशी व्यापार ढाँचे का अध्ययन करेंगे। यहाँ हमारा विशेष ध्यान निर्यात की प्राथमिक वस्तुओं पर होगा। 1960-61 में पटसन हमारे कुल निर्यात आय का 20 प्रतिशत से ज्यादा आय प्रदान करता था, किंतु अब हमारे कुल निर्यात में इसकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है। कुल निर्यात मूल्य में इसका भाग धीरे-धीरे 12 प्रतिशत 1970-71 में, 1975-76 में 6 प्रतिशत और बाद में 1988-89 में और कम होकर एक प्रतिशत हो गया। दूसरे पटसन निर्यातक देशों और सिंथेटिक से बनी वस्तुओं (स्थानापन्नों) की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण हमारा पटसन तथा पटसन से बनी चीजों की कुल मात्रा में भी ह्रास हुआ है। इसलिए पटसन उत्पादकों अर्थात् किसानों को काफी नुकसान हुआ। कुल भारतीय निर्यात आय में पटसन, चाय और सूती कपड़े का हिस्सा लगातार कम होता गया। इनसे 1951-52 में 50 प्रतिशत से भी अधिक आय होती थी, लेकिन यह घटकर 1970-71 में 31 प्रतिशत और 1988-89 में और भी कम होकर 9.8 प्रतिशत हो गयी। 1950 के दशक में पटसन को छोड़कर दस अन्य महत्वपूर्ण कृषि वस्तुओं (चाय, कॉफी, खली, तंबाकू, काजू, मसाले, चीनी, कच्चा सूत, चावल, फल

और सब्जियाँ) का भारत के कुल निर्यात आय में लगभग आधा योगदान था। किंतु यह कम होकर 1986-87 में 20 प्रतिशत रह गया और वर्ष 1988-89 में और भी कम अर्थात् 12 प्रतिशत रह गया। (देखिए तालिका 16.3, कालम 2)। दूसरी ओर रत्न और आभूषण, रसायन और इंजीनियरी के सामान का निर्यात आय में सापेक्ष योगदान बढ़ा है (देखिए कालम 7, 8 और 9)। यह हम पहले ही ई.ई.सी..02 में पढ़ चुके हैं।

तालिका 16.3
शेष विश्व को भारतीय निर्यात का वस्तु स्वरूप (मूल्यों में)
(कुल का प्रतिशत)

वर्ष	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	कुल
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
1986-87	19.4	4.3	3.8	10.7	7.4	16.7	4.7	9.1	9.4	18.6	100.0
1887-88	14.9	3.3	4.5	11.4	7.3	10.6	5.2	9.1	4.2	23.5	100.0
1988-89	12.0	3.1	5.0	10.3	7.3	21.7	7.6	11.4	2.8	18.7	100.0

टिप्पणी :
क. कृषि वस्तुओं में चाय, कॉफी, खली, तंबाकू, काजू, मसाले, चीनी, कच्चा सूत, चावल, फल और सब्जियाँ सम्मिलित हैं।
ख. समुद्रीय उत्पाद
ग. कच्चे धातु और खनिज़
घ. सिले-सिलाए कपड़े
ड. चमड़ा और चर्म-विनिर्माण
च. रत्न और आभूषण
छ. रसायन
ज. इंजीनियरी के सामान
झ. खनिज़ ईंधन और चिकनाई
ञ. अन्य
स्रोतः वित्त मंत्रालय-इकनॉमिक डिवीजन, भारत सरकार।

तालिका 16.4
शेष विश्व से भारतीय आयात का वस्तु स्वरूप (मूल्यों में)
(कुल का प्रतिशत)

वर्ष	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	कुल
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
1986-87	14.0	32.3	3.2	0.4	7.4	4.6	7.7	2.6	5.7	22.1	100.0
1987-88	18.2	28.1	4.1	0.1	8.9	2.2	5.7	2.6	4.7	25.4	100.0
1988-89	15.5	24.6	2.6	2.2	11.3	3.3	6.9	2.8	6.9	24.0	100.0

टिप्पणीः
क. पेट्रोलियम, तेल और चिकनाई
ख. पूँजीगत पदार्थ (धातु, विनिर्माण मशीनरी इलेक्ट्रिक मशीनरी, परिवहन साधनों सहित)
ग. खाद्य तेल
घ. अनाज तथा अनाज से बनी चीजें
ड. मोती और कीमती तथा अर्ध कीमती पत्थर
च. उर्वरक और उर्वरक सामग्री
छ. लोहा तथा इस्पात
ज. अलौह धातुएँ
झ. रासायनिक अवयव और घटक
ञ. अन्य
स्रोतः वित्त मंत्रालय-इकनॉमिक डिवीजन, भारत सरकार।

दूसरी ओर भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए उसकी ऊर्जा संबंधी जरूरतें तेजी से बढ़ रही हैं। परिणामस्वरूप तेल हमारे लिए आयात की एकमात्र प्रमुख वस्तु है। इसके साथ-साथ तेल की बढ़ती हुई कीमतों ने हमारे व्यापार के वस्तु संतुलन को बिगाड़ दिया है। पूँजीगत पदार्थों के आयात (धातु-विनिर्माण, मशीनरी — बिजली की मशीनरी सहित यातायात के समान), कीमती तथा अर्ध-कीमती पत्थरों के आयात

में ही कुल आयात का महत्वपूर्ण भाग चला जाता है। (देखिए तालिका 16.4, कॉलम 3 और 6)। लोहा इस्पात तथा उर्वरकों पर भी आयात का एक बड़ा भाग व्यय होता है (देखिए कॉलम 7 और 8)। तेल संकट का सामना समस्त विश्व कर रहा है, जिससे भारतीय कृषि पर बहुत गंभीर प्रभाव पड़ा है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि कृषीय निविष्टियाँ तेल और उससे संबद्ध (रासायनिक उर्वरक, कीट रोधक और कीटनाशी आदि) होती हैं या तेल द्वारा ही चलायी जाती हैं। जैसे—ट्रैक्टर, अर्थमूवर, पंपसेट आदि ज्यादा महँगे हो जाएँगे इसीलिए उनका कृषि पर भी बुरा प्रभाव पडेगा। इसके अतिरिक्त इन निविष्टियों (आगतों) की बढ़ती हुई कीमतों का खेती पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा, अर्थात् इन आगतों माँग में कमी होगी और इस प्रकार नई प्रौद्योगिकी के उपयोग में भी कमी आ सकती है।

तालिका 16.5
अंतर्राष्ट्रीय निवल वस्तु-व्यापार स्थिति में परिवर्तन

वर्ष	मात्रा सूचकांक		इकाई मूल्य सूचकांक		निवल वस्तु व्यापार स्थिति
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	
1	2	3	4	5	6
1970-71	59.2	67.2	45.0	35.3	127.4
1971-72	59.2	80.6	46.0	32.8	140.2
1972-73	66.5	76.7	51.2	34.2	149.7
1973-74	69.5	87.2	62.2	48.9	127.2
1974-75	73.7	77.2	78.0	84.5	92.3
1975-76	81.7	76.0	83.9	99.1	84.7
1976-77	96.8	71.1	89.4	96.3	92.9
1977-78	93.2	100.0	100.3	88.0	114.0
1978-79	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0
1979-80	106.2	116.4	105.4	114.1	92.4
1980-81	108.1	137.9	108.5	134.2	80.8
1981-82	110.1	150.6	124.1	133.2	93.2
1982-83	116.7	154.6	132.0	136.3	96.8
1983-84	113.0	185.4	151.0	125.8	120.0
1984-85	120.8	156.4	169.9	161.7	105.0
1985-86	111.3	181.2	170.8	159.8	106.4
1986-87	121.0	212.0	179.0	139.0	129.0

स्रोतः भारत सरकार आर्थिक समीक्षा 1989-90।
तालिका 5.4 पृष्ठ सं. 64

तालिका 16.6
शेष विश्व और भारतीय कृषि वस्तु से संबद्ध व्यापार स्थिति
(1978-79 = 100)

	इकाई मूल्य सूचकांक				व्यापार स्थिति		
	आयात		निर्यात				
वर्ष	विनिर्माण	ऊर्जा	खाद्यान्न	कच्चा कपास	क	ख	ग
1	2	3	4	5	6	7	8
1980-81	90	241	103	67	114	43	74
1981-82	101	286	112	85	111	39	84
1982-83	103	279	117	104	114	42	101
1983-84	118	260	134	104	114	52	88
1984-85	128	295	156	176	122	53	138
1985 86	131	301	159	137	121	53	104

स्रोत : वित्त मंत्रालय, आर्थिक डिवीजन, भारत सरकार ।

टिप्पणी : (क) खाद्यान्न और विनिर्माणों में परस्पर व्यापार स्थिति को सूचित करता है ।
(ख) खाद्यान्न तथा ऊर्जा में परस्पर व्यापार स्थितियों को व्यक्त करता है ।
(ग) कच्ची कपास और विनिर्माणों में परस्पर व्यापार स्थिति को सूचित करता है ।

समग्र रूप से यदि हम देखें तो यह पाएँगे कि भारतीय विदेशी व्यापार का स्वरूप इतना बदल गया है कि 1979-80 से 1982-83 के बीच और वर्ष 1974-75 से 1976-77 के बीच निवल वस्तु व्यापार स्थिति में गिरावट आई है (तालिका 16.5 कॉलम 6) । भारतीय निवल वस्तु व्यापार स्थिति में 1983-84 से 1986-87 के बीच काफी सुधार हुआ है, किंतु हाल के ईराक-कुवैत युद्ध से निवल वस्तु व्यापार स्थिति भारत के लिए हानिकर होनी चाहिए, यद्यपि अभी तक इस संबंध में कोई सरकारी आँकड़ें प्रकाशित नहीं हुए हैं । यह जानने के लिए कि भारतीय कृषि और शेष विश्व के बीच (तालिका 16.6) निवल वस्तु व्यापार स्थिति किसके पक्ष में गयी है, हम भारत द्वारा खाद्यान्नों का निर्यात तथा उसके द्वारा विनिर्माण (कॉलम 6) एंव ऊर्जा के (कॉलम 7) के आयात के बीच व्यापार स्थिति का आकलन करेंगे साथ ही हमने भारत के कच्चे कपास के निर्यात और विनिर्माणों के आयात के बीच व्यापार स्थिति का अनुमान लगाया है (कॉलम 8) । 1980-81 से 1984-85 के दौरान भारत द्वारा खाद्यान्नों के निर्यात तथा विनिर्माणों के आयात की व्यापार स्थिति लगातार भारत के पक्ष में रही है । इसके विपरीत हमारे खाद्यान्न निर्यात और ऊर्जा आयात के बीच व्यापार स्थिति भारत के विपक्ष में रही है, फिर भी यह उल्लेख करना ज़रूरी है कि व्यापार स्थिति में 1981-82 (सूचकांक-39) और 1985-86 (सूचकांक-53) के दौरान सुधार हुआ है । कच्चे कपास के निर्यात और विनिर्माणों के आयात की व्यापार स्थिति के संबंध में मिश्रित स्वरूप सामने आया है ।

16.4.2 अंतःक्षेत्रीय व्यापार स्थिति

अब इसी तर्क को अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, चूँकि ये क्षेत्र भी विनिमय क्रियाओं से परस्पर संबद्ध हैं, इसलिए व्यापार में इनकी साझेदारी हैं । आर्थिक साहित्य में कृषि और गैर-कृषि क्षेत्रों में परस्पर व्यापार स्थिति पर काफी रोचक वाद-विवाद मिलता है । हमारे सामने एक ग्राम समुदाय है, जिसमें कुछ लोग कृषि संबंधी कार्यों (फसल और पशु पालन) और कुछ लोग गैर-कृषीय कार्यों में लगे हुए हैं, लेकिन दोनों ही क्षेत्र एक दूसरे से इतने ज्यादा जुड़े हुए हैं कि उनमें भेद कर पाना संभव नहीं है जैसा कि आजकल है । एक कुम्हार को अपने स्थानीय परिवेश में ही मिट्टी और उससे निर्मित वस्तुओं के विक्रय के लिए बाज़ार मिल जाता है । एक जुलाहे में कपास उगाना और उसके साथ ही कपड़ा बनाने के लिए सूत तैयार करने के दोनों ही गुण होते हैं । सबसे बढ़कर सभी कृषि और गैर-कृषीय कार्य वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में ही होते थे । युद्ध तथा राज-दरबार कचहरी संबंधी कुछ कार्य ही इसके एकमात्र अपवाद हैं, जिन्हें शाही हितों और सेना से संबंधित छोटे शहरों में ही किया जाता था, किंतु ऊर्जा के नए रूपों और मशीनरी के आगमन से समय ही बदल गया । पहले मनुष्य तथा जानवरों को ही ऊर्जा का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत समझा जाता था । मशीनी खोजों के साथ ही ऊर्जा के दूसरे रूप भी तेजी से बढ़ते गए, जिनका उत्पादन प्रक्रिया में उपयोग किया गया । परिणामतः आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र भी विस्तृत होते गए । नए उद्योगों का विकास हुआ और इससे ग्रामीण क्षेत्रों से बाहर गैर-कृषीय क्षेत्रों का विकास हुआ ।

इन्हें गैर-कृषीय क्षेत्र इसलिए नहीं कहा जाता था कि इसमें खेती-बाड़ी नहीं होती थी, मगर इनमें गैर-कृषीय वस्तुओं, जैसे — मोटर कार, कागज़, कंप्यूटर, कपड़ा, चीनी, प्लाईवुड, गत्ता, दृश्य-श्रव्य कैसेट आदि का उत्पादन होता है । इस सूची का कोई अंत नहीं है । आपको पता होगा कि इन सभी वस्तुओं में कच्चे माल और अंतिम वस्तुओं के रूप में काफी अधिक कृषि-उत्पादों का प्रयोग होता है । उदाहरण के लिए कागज़ उद्योग में लकड़ी की लुगदी का प्रयोग कच्चे माल के रूप में किया जाता है और कागज़ का उत्पादन करने वाले कर्मचारी अंतिम वस्तुओं के रूप में खाद्यान्न का उपभोग करते हैं । गैर-कृषीय क्षेत्रों का वस्तु बाज़ार में कृषि का यही योगदान है । पूँजी बाजार में ग्रामीण बचत का एक हिस्सा पूँजी होती है और वास्तव में इसका एक बड़ा हिस्सा गैर-कृषीय क्षेत्रों में चला जाता है । इन प्रत्यक्ष योगदानों के अतिरिक्त, कृषि, गैर-कृषि क्षेत्रों को मानवशक्ति और बाज़ार प्रदान करती है । इस पैराग्राफ को पढ़ने के बाद आप यह नहीं सोचेंगे कि इन दोनों क्षेत्रों में केवल एकतरफा ही व्यापार होता है । वास्तव में कृषि क्षेत्र, गैर-कृषि क्षेत्रों से मध्यवर्ती वस्तुओं के रूप में (कीट नाशक दवाइयाँ, उर्वरक, नल, पाइप और ट्यूब, खेती के उपकरण आदि) और अंतिम प्रयोग के रूप में (कपड़ा, दवाइयाँ, दियासलाई, चीनी, मिट्टी का तेल, इलेक्ट्रॉनिक और किताबें) काफी अधिक वस्तुएँ प्राप्त करता है । इन दोनों क्षेत्रों के बीच अनगिनत व्यापार होता है । इसीलिए यह जानना

स्वाभाविक है कि इन दोनों क्षेत्रों में समय के साथ-साथ कैसे और किस दिशा में व्यापार स्थिति में परिवर्तन हुआ है।

हालाँकि व्यापार स्थिति की अवधारणा का उदगम अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में हुआ था जिसमें व्यापार में साझेदार विभिन्न देश होते हैं, फिर भी अंतःक्षेत्रीय व्यापार स्थितियों से संबंधित साहित्य में भी इसका प्रयोग उपयोगी सिद्ध हुआ है। एक धारणा यह भी रही है कि व्यापार स्थितियाँ गैर-कृषि क्षेत्रों के पक्ष में और कृषि के विपक्ष में रही हैं। इसके विपरीत एक समानांतर तर्क भी सामने आया है जो उन लोगों का है जो कृषि की कीमतों में और ज्यादा बढ़ोतरी की बात करते हैं उन का विश्वास है कि गैर-कृषि क्षेत्र अनुचित रूप से कृषि क्षेत्र पर हावी हुआ है। और वे लोग जो गैर-कृषीय कीमतों की तुलना में कृषीय कीमतों को कम करने की बात करते हैं वे इस तथ्य का हवाला देते हुए बताते हैं कि खेती की कीमतों के बहुत ज्यादा होने के कारण ही औद्योगिक विकास तथा संचयन कम हुआ है।

विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने से पहले आइए, हम देखें कि आनुभाविक अर्थों में व्यापार स्थिति को कैसे आँका तथा परिभाषित किया गया है। पहले की इकाई में हमने अंतर्राष्ट्रीय निवल वस्तु व्यापार स्थिति की संकल्पना की परिभाषा बताई है। आइए अब हम व्यापार की अंतःक्षेत्रीय स्थिति पर चर्चा करें। यहाँ गैर-कृषीय सम्मिश्रित कीमत सूचकांक (Pm) तथा कृषीय सम्मिश्रित कीमत सूचकांक (Px) के अनुपात के रूप में इसकी परिभाषा की गई है। सभी महत्वपूर्ण कृषीय तथा गैर-कृषीय वस्तुओं की कीमतों के आँकड़ों की उपलब्धता ही इसके अनुमान के लिए आवश्यक शर्त है। इससे यह काम आसान प्रतीत होता है, लेकिन इसके लिए वास्तव में बहुत अधिक जानकारी की जरूरत होती है।

चूँकि अनुमान लगाने के लिए दोनों ही क्षेत्रों के कीमत सूचकांकों में बहुत अधिक संख्या में वस्तुओं को शामिल किया गया है, तो कुल योग में प्रत्येक वस्तु के महत्व अथवा भार (Weightage) को निर्धारित करना आवश्यक है, जिससे किसी भी वस्तु को न तो कम और न ही ज्यादा महत्व दिया जाए। आम तौर पर कुल उत्पादन में किसी भी वस्तु के हिस्से को ही इसका भार माना जाता है। उदाहरण के लिए, अगर समस्त कृषीय उत्पादों की कुल कीमत में गेहूँ के उत्पादन की कीमत 11 प्रतिशत है, तो कृषीय कीमत सूचकांक के आकलन में गेहूँ की खेती का भार (Weight) भी 11 प्रतिशत ही होगा। इसी प्रकार हम दूसरी फसलों के भार का भी पता लगाते हैं। अब आप अपने आप से प्रश्न कीजिए कि क्या ऐसे भार सभी वर्षों में एक जैसे रहते हैं तो निश्चित ही इसका उत्तर नहीं होगा। ऐसा इसलिए है कि प्रत्येक वर्ष सापेक्ष और कुल परिमाण के रूप में विभिन्न फसलों का उत्पादन भिन्न होता है। अतः कुल उत्पादन में प्रत्येक फसल का हिस्सा भी बदलता रहेगा। इसी कारण सम्मिश्रित कीमत सूचकांक को प्रभावित करने में भार (Weight) की महत्वपूर्ण भूमिका है। अर्थशास्त्रियों ने अपनी सुविधानुसार भार का प्रयोग चालू वर्ष और नियत वर्ष (constant year) के संदर्भ में किया है।

अंतःक्षेत्रीय व्यापार स्थिति से संबंधित वाद-विवाद में एक अन्य महत्वपूर्ण अवधारणा का भी प्रयोग किया गया है, जो व्यापार की आय स्थिति की अवधारणा से संबंधित है। मान लीजिए कि दोनों क्षेत्रों के सम्मिश्रित कीमत सूचकांक का अनुमान लगा लिया गया और यह सिद्ध हुआ कि निवल वस्तु व्यापार स्थिति गैर-कृषीय क्षेत्रों की तुलना में कृषि क्षेत्रों के लिए ज्यादा लाभकारी हैं। निश्चय ही, जहाँ तक कीमतों का प्रश्न है, गैर-कृषि क्षेत्रों को नुकसान होता है। लेकिन इसकी हानि की मात्रा इस क्षेत्र द्वारा कृषि क्षेत्र को किए गए निर्यात तथा कृषि क्षेत्र से इस क्षेत्र के होने वाले आयात की मात्रा पर निर्भर करेगा। इसी कारण से क्षेत्र के व्यापार की आय स्थिति को $(Px/Pm)\times Qx$ के रूप में परिभाषित किया गया है। आइए पहले हम कृषि क्षेत्र के संदर्भ में उदाहरण देते हुए इसका स्पष्टीकरण करें। पहले हम इसके गैर-कृषि से आयातों और (Px) के निर्यातों के सम्मिश्रत कीमत सूचकांक का अनुमान लगाएँगे, फिर कृषि क्षेत्र को इसकी बिक्रीत आधिक्य (Qx) के सम्मिश्रत मूल्य सूचकांक का पता लगाएँगे। इसमें कृषि से संबंधित अंतिम और मध्यवर्ती उत्पादों के कुल बिक्रीत मूल्य भी शामिल हैं। तुलना की दृष्टि से बिक्रीत आधिक्य का परिकलन स्थिर कीमतों के आधार पर लगाया जाता है। अब आप व्यापार स्थिति को ऊपर दिए गए तरीके से परिकलित कर सकते हैं। अब आप यह समझ गए होंगें कि निवल वस्तु व्यापार स्थिति का आकलन क्षेत्रीय व्यापार स्थिति के आकलन के लिए आवश्यक है।

बोध प्रश्न 2

1) हाल हा के वर्षों में भारतीय व्यापार के स्वरूप में क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

2) अंतःक्षेत्रीय व्यापार स्थिति की अवधारणा की परिभाषा दीजिए? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

3) बताइए कि निम्नलिखित कथन सत्य हैं या असत्य-
   1) भारत के लिए निवल वस्तु व्यापार स्थिति 1980 के दशक के मध्य सुधर गई थी।
   2) गैर-कृषि क्षेत्रों में, यह नाम इसलिए दिया गया कि कृषि क्षेत्र से उनका कोई संबंध नहीं है।
   3) वर्षों से भारतीय निर्यात में, पटसन, कपास और कपड़े का हिस्सा निरंतर बढ़ रहा है।

16.5 व्यापार स्थिति से संबंधित अध्ययन

ऊपर दिए गए सैद्धांतिक विवेचन के बाद आइए अब भारत में व्यापार स्थिति पर आनुभविक अध्ययनों का विवेचन करें।

16.5.1 निवल वस्तु व्यापार स्थिति

मित्रा (1977) का अनुमान है कि 1951-52 से 1973-74 के बीच व्यापार की भारित स्थिति (Weighted) कृषि के पक्ष में रही और 1960 के दशक के मध्य यह प्रवृत्ति और ज्यादा जोर पकड़ती गई। कृषि से संबंधित व्यापार स्थिति की सुधरती स्थिति की झलक सरकारी कीमत सूचकांकों में भी मिलती है। उदाहरण के लिए आधार वर्ष कीमतों (1961-62=100) के संबंध में, 1973-75 में प्रमुख वस्तु समूहों के कीमत सूचकांक थेः खाद्य वस्तुएँ = 363.3, खाद्यान्न = 400.07, औद्योगिक कच्चे माल = 327.4, विनिर्मित वस्तुएँ = 254.5, मशीनरी और परिवहन के साधन = 254.5, तैयार उत्पाद = 238.6। इन आँकड़ों से यह पता चलता है कि निवल वस्तु व्यापार स्थिति कृषि द्वारा उत्पादित वस्तु-समूहों के पक्ष में गई।

श्री त्यागी (1979) ने बताया कि मित्रा द्वारा उधृत सरकारी कीमत सूचकांक दोषपूर्ण हैं, जिसमें कृषि कीमतों में बढ़ोतरी का अनुमान बढ़ाकर लगाने के साथ ही साथ औद्योगिक कीमतों की बढ़ोतरी का अनुमान कम बताया गया है। कृषि कीमतों में बढ़ोतरी को इस प्रकार समझाया गया हैः गेहूँ और चावल दो मुख्य फसलें हैं, जिनका कुल कृषि उत्पाद मूल्य में 25 प्रतिशत हिस्सा है, अर्थात् इनका मिश्रित भार बहुत ज्यादा है, अतः इनकी कीमतों में किसी भी त्रुटि के कारण कृषि कीमतों के सूचकांक भी प्रभावित होंगे। श्री त्यागी का विश्वास है कि राज्य कर्मचारियों द्वारा गेहूँ और चावल की कीमतों का ठीक से अनुमान नहीं लगाया गया है। वास्तव में पूरे देश में फैले गेहूँ और चावल की बिक्री केंद्रों की कीमतों का रिकार्ड रखते हुए उनका औसत निकाली जाती है। कुल मिलाकर 23 बिक्री केंद्र गेहूँ की कीमत का विवरण देते हैं। इनमें से 9 बिक्री केंद्रों ने आधार वर्ष में आयात किए गए गेहूँ की विक्रय कीमत का विवरण दिया था, जो कटाई के समय फसल कीमत से भी कम था, तथा जिसके कारण आधार वर्ष में गेहूँ की कीमत इस प्रकार प्रभावित हुई कि उसे कम व्यक्त किया गया। यदि यह सत्य है तो गेहूँ की कीमत में बाद में बढ़ोतरी कृत्रिम रूप से उच्च लगेगी।

इस झुकाव के आतिरिक्त अन्य त्याग न एक दूसरे अन्य कारण की भी विवेचना की है, जिससे स्पष्ट होता है कि कृषि कीमतें क्यों ज्यादा ऊँची दिखाई देती हैं। कीमतें अधिक दिखाई देने का कारण पूरे देश में फैले विक्रय केन्द्रों के चयन से संबंधित है। कीमतों तथा सूचकांक का अनुमान लगाने वाली सरकारी एजेंसियों ने प्रत्येक बिक्री केंद्र को बराबर महत्व दिया है। यद्यपि उस वस्तु के कुल व्यापार में प्रत्येक केंद्र का महत्व भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का कुल बिक्रीत गेहूँ में सर्वाधिक अंश होता है। गेहूँ की कीमतों का विवरण देने वाले कुल केंद्रों में इन क्षेत्रों के बिक्री केंद्रों का प्रतिनिधित्व अनुपात से बहुत कम होता है। शेष देश में बहुत कम बिक्रीत आधिक्य होता है, फिर भी बिक्री केंद्रों में उनकी संख्या अनुपात से अधिक होती है। घाटे वाले राज्यों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया है। हांलाकि उनका बिक्रीत आधिक्य नहीं के बराबर है और यही वे क्षेत्र हैं, जहाँ गेहूँ की कमी के कारण गेहूँ की कीमतें ऊँची होती हैं। फलस्वरूप इससे पूरे देश के गेहूँ की औसत कीमत प्रभावित होती है। ऐसा ही अन्य कृषि वस्तुओं और चावल की कीमतों के विषय में भी सत्य है।

तालिका 16.7
व्यापार की अंतःक्षेत्रीय स्थिति में परिवर्तन

	विनिर्मित उत्पादों के कीमत सूचकांक	कृषि वस्तुओं के कीमत सूचकांक	निवल वस्तु-व्यापार स्थिति
1	2	3	4
व्यापार स्थिति का स्थिर काल (1952-53 में प्रयोग किए गए भार)			
1955-56	99.6	88.0	88.35
1956-57	105.6	104.5	98.9
1957-58	108.2	107.4	99.2
1958-59	108.1	114.0	105.5
1959-60	111.3	116.5	104.7
1960-61	122.8	123.8	100.8
1961-62	124.6	122.9	98.6
व्यापार स्थिति में सुधार के काल (1961-62 में प्रयुक्त भार)			
1962-63	103.2	102.3	99.1
1963-64	105.9	108.4	102.3
1964-65	109.4	130.9	119.7
1965-66	117.0	141.7	121.1
1966-67	125.3	166.6	133.0
1967-68	129.1	188.2	145.8
1968-69	132.8	179.4	135.1
1969-70	139.7	194.8	139.4
1970-71	149.7	201.4	134.5
व्यापार स्थिति में ह्रास का काल (1970-71 = 100)			
1971-72	109.5	100.4	91.7
1972-73	121.9	110.3	90.5
1973-74	139.5	139.2	99.8
1974-75	168.8	169.9	100.7
1975-76	171.2	157.3	91.9
1976-77	175.2	158.5	90.5
1977-78	179.2	174.8	97.5
1978-79	179.5	171.9	95.8
1979-80	215.8	198.7	87.4
1980-81	257.3	210.5	81.8
1981-82	270.6	236.5	87.4
1982-83	272.1	247.9	91.1
1983-84	295.8	282.7	95.6
1984-85	319.5	303.2	94.9
1985-86	342.6	309.6	90.4
1986-87	359.4	330.1	91.8

1988-89	383.8 414.4	372.3 400.7	97 0 96.7
	(1980-81=100)		
1981-82	100.0	100.0	100.0
1982-83	103.5	107.5	96.4
1983-84	109.8	121.4	90.5
1984-85	117.5	129.2	91.0
1985-86	124.4	129.1	96.4
1986-87	129.2	142.8	90.5
1987-88	138.5	161.8	85.6
1988-89	151.6	170.9	88.7

स्रोतः 1) थामराजक्षी (1969)
2) आर्थिक समीक्षा (1989-90)
3) सिधु (1990)

इन सीमाओं के होते हुए भी विभिन्न विद्वानों ने सरकारी कीमत सूचकांकों को आधार मानते हुए निवल वस्तु व्यापार स्थिति का अनुमान लगाया है। कई आनुभविक अध्ययनों में से थामराजक्षी (1969 और 1990), शेट्टी (1978) और सिधु (1990) के आकलन हमारे निवल वस्तु व्यापार स्थिति के विवेचन से प्रत्यक्षतः संबद्ध हैं (देखिए तालिका 16.7)। आप तालिका 16.7 के आँकड़ों की व्याख्या कैसे करेंगे? निवल वस्तु व्यापार स्थिति से संबंधित कालमों का परीक्षण करना ही आसान तरीका है। यदि भागफल (quotient) 100 है, तो इसका अर्थ है कि संबद्ध वर्षों में कृषि और गैर-कृषि कीमतें समान हैं। 100 से भी अधिक मूल्य, कृषि की व्यापार स्थिति में सुधार को निर्दिष्ट करेगा (अपने आपसे पूछिए कि ऐसा क्यों) और यदि भागफल 100 से कम है, तो कृषि की व्यापार स्थिति बिगड़ी हुई होगी। पहली कालावधि के दौरान (1955-56 से 1960-61) हम यह पाते हैं कि निवल वस्तु व्यापार स्थिति में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं है, और ये 100 के आसपास ही मँडराती रहीं। इसी कारण इस अवधि को स्थिर व्यापार स्थिति के रूप में व्यक्त किया जाता रहा। दूसरी अवधि का चित्रण कृषि व्यापार स्थिति के सुधार के रूप में किया गया, क्योंकि 1962-63 में वस्तु व्यापार स्थिति 99.1 के निम्न स्तर से 1967-68 तक लगातार बढ़ती रही और भागफल 145.8 पहुँच गया। उसके बाद गिरावट शुरू हुई जो 1968-69 में 135.1 और 1970-71 में 134.5 थी। पूरी अवधि में ये स्थितियाँ काफी ऊँची रहीं और कृषि के पक्ष में निश्चय ही वैषम्य दिखाती रहीं। किन्तु तीसरी अवधि में व्यापार स्थिति कृषि के विपक्ष में रहीं। इससे स्पष्ट है कि 1972-73 से 1974-75 के तीन वर्षों को छोड़कर शेष सारी अवधि में निवल वस्तु व्यापार स्थिति का भागफल 100 से भी कम रहा। इसका अर्थ है कि गैर-कृषि कीमत कृषि कीमतों की तुलना में उच्च थी। फलस्वरूप कृषि हितों को गैर-कृषि की तुलना में काफी नुकसान उठाना पड़ा।

तालिका 16.8

मध्यवर्ती और अंतिम उपभोग के लिए गैर-कृषि उत्पादों की तुलना में कृषि उत्पादों का बिक्रीत अधिशेष (मूल्य करोड़ रु. में)

वर्ष	वर्तमान कीमतों पर			स्थिर कीमतों पर			बिक्रीत अधिशेष का सभी प्रयोगों के लिए सूचकांक
	मध्यवर्ती प्रयोग	अंतिम प्रयोग	कुल (सभी प्रयोग)	मध्यवर्ती प्रयोग	अंतिम प्रयोग	कुल (सभी प्रयोग)	
1	2	3	4	5	6	7	8
1951-52	946.01	1281.13	2227.14	966.69	1374.16	2340.85	66.59
1952-53	682.33	1412.13	2094.46	944.97	1623.14	2568.11	73.05
1953-54	819.18	1787.18	2606.36	995.80	1999.75	2995.55	85.21
1954-55	837.05	1614.02	2451.07	1104.39	2011.24	3115.63	88.63
1955-56	760.04	1651.96	2412.00	1085.67	2186.00	3271.67	93.06
1956-57	986.82	1977.62	2964.44	1197.23	2256.8	3454.91	98.25
1957-58	964.94	1934.88	2899.82	1161.81	2128.35	3290.16	93.59
1958-59	1064.90	2060.99	3125.89	1282.72	2104.34	3387.06	96.35

1959-60	1011.19	2116.61	3127.80	1139.80	2125.11	3264.91	92.87
1960-61	1319.12	2196.35	3515.47	1319.12	2196.35	3515.47	100.00
1961-62	1334.37	2407.87	3742.44	1362.42	2372.75	3735.17	106.25
1962-63	1303.03	2472.16	3775.19	134.93	2348.18	3713.11	105.62
1963-64	1383.39	2748.95	4132.34	1384.72	2442.64	3827.36	108.87
1964-65	1809.93	3277.57	5087.50	1545.61	2474.95	4020.56	114.37
1965-66	1644.59	3274.32	4918.91	1258.65	2311.72	3570.37	101.56

स्रोतः थामराजक्षी (1969)।

अपने नये प्रमाणों द्वारा थामराजक्षी ने 1978-79 को आधार वर्ष मानते हुए सिद्ध किया है कि 1961-62 से 1973-74 के दौरान कृषि की वस्तु व्यापार स्थिति में 2.83 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई, किंतु 1974-75 से 1987-88 (देखिए तालिका 16.9 कॉलम 3) के दौरान इसमें 0.99 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ह्रास हुआ है।

16.5.2 व्यापार की आय-स्थिति

यहां प्रस्तुत ये निष्कर्ष थामराजक्षी के 1969 के अध्ययन से लिए गए हैं। श्री त्यागी और कहलों (1980) ने थामराजक्षी के निष्कर्षों का आलोचनात्मक परीक्षण किया है। थामराजक्षी ने राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (NSS) द्वारा प्रकाशित उपभोक्ता व्यय आँकड़ों और केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का इस्तेमाल किया है। थामराजक्षी ने कृषि क्षेत्र के बिक्रीत आधिक्य का अनुमान लगाया है, जिसका उपयोग गैर-कृषि क्षेत्रों द्वारा किया गया। कृषि के बिक्रीत आधिक्य में गैर-कृषि क्षेत्रों में अंतिम और मध्यवर्ती प्रयोग के कृषि वस्तुओं को शामिल किया जाना चाहिए। थामराजक्षी ने ऐसे निर्यातों के मुद्रा-मूल्य का अनुमान चालू तथा स्थिर दोनों ही कीमतों पर लगाया है (तालिका 16.9)। त्यागी एंव कहलों के दृष्टिकोण से इस तालिका का कॉलम 8 महत्वपूर्ण है। इसमें बिक्रीत आधिक्य (Qx) में परिवर्तन को स्थिर कीमतें (1960-61) पर आँका गया है। इसी कारण 1960-61 का सूचकांक 100 है, जबकि 1951-52 में सूचकांक 66.59 और 1964-65 में 114.37 था। आप इसकी व्याख्या कैसे करेंगे? इसका अभिप्राय यह है कि वर्ष 1951-52 बिक्रीत अधिक्य 1960-61 में बिक्रीत अधिक्य का 66.59 प्रतिशत था। इसी प्रकार कृषि का बिक्रीत अधिक्य 1960-61 के बिक्रीत अधिक्य की तुलना में 1964-65 में 14.37 प्रतिशत ज्यादा था। तालिका 16.9 में थामराजक्षी ने व्यापार की आय स्थिति से संबंधित 15 वर्षों के आकलन प्रस्तुत किए हैं। कॉलम 2, 3 और 4 में स्थिर कीमतों पर व्यापार की निवल वस्तु तथा आय स्थितियों में उतार-चढ़ाव को प्रस्तुत किया गया है। स्पष्ट है कि जहाँ कृषि क्षेत्रों में निवल वस्तु व्यापार स्थिति में सुधार बहुत ही कम है, वहीं व्यापार की आय स्थिति काफी ज्यादा बढ़ी है।

तालिका 16.9

बिक्रीत अधिक्य का कृषि व्यापार स्थिति में भूमिका

वर्ष	निवल वस्तु व्यापार-स्थिति (थामराजक्षी) (1960-61=100)	(1978-79=100)	बिक्रीत आधिक्य सूचकांक सभी प्रयोगों हेतु (Ox) (1960-61=100)	व्यापार की आय स्थिति [(Px/Pm)/Ox)] (1960-61=100)
1	2	3	4	5
1951-52	100.72	86.9	66.59	67.07
1952-53	99.13	85.6	73.05	72.41
1953-54	103.74	89.5	85.21	88.40
1954-55	97.02	83.7	88.63	85.99
1955-56	94.78	81.8	93.06	88.20
1956-57	102.46	88.4	98.25	100.67
1957-58	98.46	85.0	93.59	92.15
1958-59	101.66	87.8	96.35	97.95
1959-60	101.68	87.8	92.87	94.43
1960-61	100.00	86.3	100.00	100.00
1961-62	100.69	86.9	105.47	106.20

1962-63	99.09	85.5	107.15	106.17
1963-64	97.39	84.1	111.92	108.90
1964-65	108.66	93.8	114.73	124.67
1965-66	114.47	98.8	108.28	123.92
1966-67	123.07	106.2	104.85	129.04
1967-68	125.02	107.9	119.97	149.99
1968-69	116.27	100.4	123.52	143.62
1969-70	125.72	108.5	132.90	167.08
1970-71	127.32	109.9	140.50	178.88
1971-72	120.08	104.0	150.99	181.31
197273	119.90	106.8	146.18	178.81
1973-74	136.98	115.7	150.47	206.11
1974-75	133.92	112.4	**	**
1975-76	—	101.5	—	—
1976-77	—	99.9	—	—
1977-78	—	104.5	—	—
1978-79	—	100.0	—	—
1979-80	—	95.9	—	—
1980-81	—	89.7	—	—
1981-82	—	89.9	—	—
1982-83	—	91.7	—	—
1983-84	—	97.0	—	—
1984-85	—	97.0	—	—
1985-86	—	91.6	—	—
1986-87	—	91.1	—	—
1987-88	—	98.5	—	—
चक्रवृद्धि संवृद्धि दर	1.43	2.38 (1961-62 to 1973-74) 0.99 (1974-75 to 1987-88)	3.11	4.53

स्रोतः थामराजक्षी (1977 एंव 1990)

** – आकलन नहीं किया गया

श्री कहलों और त्यागी के अनुसार थामराजक्षी द्वारा परिभाषित व्यापार की आय स्थिति की अवधारणा भ्रामक है। इसलिए श्री कहलों एवं त्यागी ने एक क्षेत्र की तुलना में दूसरे क्षेत्र की क्रय शक्ति की अवधारणा को मार्ग दर्शक मानक के रूप में अपनाया है। गैर-कृषि की तुलना में कृषि की क्रय शक्ति को बराबर बताया है $(Px/Pm)\times(Qx/Qm)$। यह थामराजक्षी द्वारा दी गई व्यापार की आय स्थिति $[(Px/Pm)\times Qx]$ से किस प्रकार भिन्न है? आप देखेंगे कि श्री कहलों और त्यागी ने अपने द्वारा सुझाए गए मार्ग तक पहुँचने के लिए निवल वस्तु व्यापार स्थिति को भागफल (Qx/Qm) से गुणा कर दिया है। इसी को आधार मानते हुए उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि वस्तुतः व्यापार स्थिति कृषि के विरुद्ध गई है, फिर भी विट्ठल (1986) ने आपत्ति की है कि कहलों और त्यागी द्वारा दिए गए आँकड़े परिष्कृत एवं सही आँकड़ों पर आधारित नहीं हैं और उनका विभिन्न फसलों के लिए औसत फसल कटाई (harvest) कीमत का प्रयोग भी संतोषजनक नहीं है। थामराजक्षी (1990) ने कहलों और त्यागी द्वारा उठाए गए सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया हैं, **फिर भी वह स्वीकार करती हैं** कि कृषि तथा गैर-कृषि दोनों ही क्षेत्रों की व्यापार स्थितियों में शायद एक साथ सुधार हो। श्री कहलों और त्यागी ने इस तरफ इशारा किया था और उनका विश्वास था कि इस कारण मात्र कृषि की आय स्थिति का प्रस्तुतीकरण भ्रामक है। दूसरी ओर श्री कहलों और त्यागी द्वारा मदों तथा भारों (Weights) के चयन पर भी आपत्तियाँ उठाई गई हैं।

बोध प्रश्न 3

1) व्यापार स्थिति कृषि के पक्ष में रही है। इस मत का किन आधारों पर विरोध किया गया है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) बताइए निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत
   1) थामराजक्षी द्वारा कृषि क्षेत्रों के बिक्रीत आधिक्य के आकलन में गैर-कृषि क्षेत्रों द्वारा प्रयुक्त कृषि की अंतिम और मध्यवर्ती वस्तुओं को शामिल किया गया है।
   2) थामराजक्षी के अनुसार कृषि की व्यापार आय स्थिति सुधरी है।
   3) श्री कहलों और त्यागी ने व्यापार की अंतःक्षेत्रीय स्थितियों का अनुमान लगाने के लिए कृषि तथा गैर-कृषि क्षेत्रों की क्रय शक्ति का प्रयोग किया है।
   4) कृषि तथा गैर-कृषि के बीच व्यापार स्थिति पर विवाद निश्चय ही कृषि के विरुद्ध है।

16.6 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि गैर-कृषि तथा कृषि व्यापार स्थिति से संबंधित विवाद अभी तक अनिर्णीत हैं। विभिन्न वर्गों द्वारा कृषि वस्तुओं के समर्थन कीमतों के निर्धारण को प्रभावित करने के लिए परस्पर विरोधी दावे प्रस्तुत किए जा रहे हैं? चूँकि भारत सरकार अपनी एजेंसियों (खाद्य निगम और राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड) के जरिए खाद्यान्नों और तिलहनों का एक मुख्य क्रेता है, अतः नए निहित स्वार्थ इन क्षेत्रों के बीच व्यापार स्थिति में परिवर्तन को प्रभावित करते रहेंगे। इस कारण विभिन्न परिणामों की निष्पक्ष और यथार्थ व्याख्या बहुत जरूरी है। विशेष रूप से इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि विक्रेय आधिक्य पर नियंत्रण न्याय संगत नहीं है और कृषि क्षेत्र में भूमिहीन मजदूर और गरीब किसान भी हैं, जो खाद्यान्नों के वास्तविक क्रेता हैं।

16.7 शब्दावली

आंतरिक अर्थव्यवस्था: बाहरी क्षेत्र की ओर बिना ध्यान दिए देश की भौगोलिक सीमा में होने वाले क्रियाकलाप।

बिक्रीत आधिक्य: कृषि उत्पादों का वह हिस्सा जो वास्तव में बाजार में बेचा गया हो।

विक्रेय आधिक्य कृषि उत्पादन की वह संभावित मात्रा, जो कृषकों की उपभोग माँग से अधिक हो। यह बिक्रीत आधिक्य से भिन्न हो सकती है, क्योंकि कुछ सीमांत और छोटे किसान अपने उत्पाद का एक हिस्सा विवश होकर बेच देते हैं। हालाँकि बाद में वे खाद्यान्नों के वास्तविक क्रेता होते हैं।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कहलों, ए एस एण्ड डी एस त्यागी (1990) "इन्टर सेक्टॉरल टॉमज आफ ट्रेड, *इक्नॉमिक एण्ड पालिटिकल वीकली,* दिसंबर, पृष्ठ ए 173 ए184।

मित्रा, अशोक (1977) *टॉमज ऑफ ट्रेड एण्ड क्लास रिलेशनस,* फ्रैंक कॉस, लंदन।

सेट्टी, एस एल (1978) "स्ट्रक्चरल रिट्रोग्रेशन इन दि इंडियन इकॉनामी सिन्स दि मिड सिक्सटीज" *इकनॉमिक एण्ड पालिटिकल विकली,* फरवरी, 185-244।

सिधु, डी एस (1990) "सम एसपेक्टज आफ एग्रीकल्चरल मार्केटिंग एण्ड प्रइसिंग पालिसीज इन इंडिया" *इंडियन जरनल आफ एग्रीकल्चरल इकनॉमिक्स,* वाल्यूम 45, संख्या 4, अक्तूबर-दिसंबर पृष्ठ 433-447।

थामराजक्षी, आर (1990) *"इंटर सेक्टरल टॉमज ऑफ ट्रेड रिविजिटिड" इकानॉमिक एण्ड पालिटिकल विकली. रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चर,* मार्च, पृष्ठ 31 ए 48 से ए 52।

चौधरी जी आर (1969) *इंटर सेक्टरल टॉमज ऑफ ट्रेड एण्ड मार्केटिंग सरप्लस ऑफ एग्रीकल्चरल प्रॉडयूस* 1951-52 से 1965-67 इकनॉमिक एण्ड पालिटिकल विकली 28 जून।
त्यागी डी एस (1979) *"फार्म पराइसिज एण्ड क्लास बायस इन इंडिया" इकनॉमिक एण्ड पालिटिकल विकली,* सितंबर, रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चर ए 111-ए 124।
बिट्ठल, नलिनी (1986) *"इंटर सेक्टरल टॉमज ऑफ ट्रेड इन इंडिया: ए स्टडी ऑफ कनसेप्ट एण्ड मेथड" इकनॉमिक एण्ड पालिटिकल विकली,* दिसम्बर 27 रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चर, ए 147-ए 166।
धर्म कुमार एण्ड मेघनाथ देसाई (1982) *"दि कैम्ब्रीज इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* वैल्यूम II (1757-1970) केम्ब्रीज यूनीवर्सीटी प्रेस, कैम्ब्रीज यू.के. (अध्याय 10 और 11)।
भाटिया, बी एम (1963) *फेमिन्स इन इंडिया, एशिया पब्लिशींग हाऊस, बंबई* (अध्याय 2,5 और 8)।
गाडगिल, डी आर (1971) *दि इंडस्ट्रीयल रेवाल्यूशन ऑफ इंडिया इन रीसेंट टाइम्स,* आक्सफोर्ड यूनीवर्सीटी प्रेस, इंडिया ब्रांच, बंबई।

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

1) 16.2.2 देखिए। व्यापार से लाभार्जन के मार्ग में अल्पविकसित देशों की चर्चा कीजिए।
2) 16.3.2 देखिए और उत्तर दीजिए।
3) i) गलत (ii) गलत (iii) गलत

बोध प्रश्न 2

1) 16.4.1 देखिए, पहले दो पैराग्राफ पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) 16.4.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3) (i) सही (ii) गलत (iii) गलत

बोध प्रश्न 3

1) 16.5.1 का दूसरा पैराग्राफ उत्तर के लिए पढ़िए
2) (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) गलत

इकाई 17 कृषि कर, आर्थिक सहायता, विपणन और भंडारण

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 ब्रिटिश शासन के समय राजकोषीय व्यवस्था
  17.2.1 कर-राजस्व का स्वरूप
  17.2.2 सार्वजनिक व्यय का स्वरूप
17.3 स्वतंत्रता के बाद केंद्र तथा राज्य सरकारों की संयुक्त बजटीय स्थिति
  17.3.1 कुल व्यय और प्राप्तियों की प्रवृत्ति
  17.3.2 राजस्व प्राप्ति का स्वरूप
  17.3.3 पूंजीगत प्राप्ति का स्वरूप
  17.3.4 राज्यों की बजटीय स्थिति की प्रवृत्ति
17.4 कृषि कराधान
  17.4.1 प्रत्यक्ष कराधान
  17.4.2 अप्रत्यक्ष कराधान
17.5 कृषि संबंधी आर्थिक सहायता
  17.5.1 आर्थिक सहायता कैसे दी जाती है
  17.5.2 आर्थिक सहायता की संकल्पना
  17.5.3 कृषि संबंधी आर्थिक सहायता का आकार
17.6 ग्रामीण ऋण का विकास
17.7 कृषि उत्पादों का विपणन तथा भंडारण
  17.7.1 भारत में कृषि विपणन का स्वरूप
  17.7.2 सहकारी विपणन
  17.7.3 कृषि उत्पादों का भंडारण
17.8 सारांश
17.9 शब्दावली
17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर संकेत

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- भारत में कृषि कराधान की सीमाओं और संभावनाओं के संदर्भ में बजटीय प्रवृतियों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- कृषि संबंधी आर्थिक सहायता के स्वरूप और विस्तार को समझ सकेंगे, और
- कृषि उत्पादों के भंडारण और विपणन की समस्याओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम केंद्र और राज्य के बजट के संदर्भ में, कृषि-उत्पादों के भंडारण और विपणन के लिए ऋण तथा कृषि संबंधी आर्थिक सहायता और कृषि कराधान के विषय में अध्ययन करेंगे। भारत जैसे संघीय व्यवस्था में राजकोषीय पहलुओं का व्यापक महत्व है। यहाँ राज्य, केन्द्रीय व्यय के अतिरिक्त सामाजिक एवं

आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक व्यय करते हैं। हम जानते हैं कि वित्त आयोग एक ओर केंद्र तथा राज्यों में और दूसरी ओर राज्यों के बीच राजस्व के आबंटन के लिए नियमित रूप से नियुक्त किया जाता है। केंद्र तथा राज्य के बजटों के विस्तृत अध्ययन से पहले आप ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में केंद्र तथा प्रांतों के परस्पर बजट-संबंधों का भी संक्षिप्त अध्ययन करेंगे। यहाँ हमारा उद्देश्य राजकोषीय प्रणाली को कृषि क्षेत्र से सम्बद्ध करना है।

17.2 ब्रिटिश शासन में राजकोषीय व्यवस्था

बंबई, मद्रास और बंगाल तीनों महाप्रांत परस्पर स्वतंत्र रूप से ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन कार्य करते थे। सन् 1773 तक ये स्वतंत्र राजकोषीय हस्तियाँ बने रहे लेकिन उसके बाद बंगाल ने मद्रास तथा बंबई दोनों के राजकोषीय मामलों को अपने नियंत्रण में ले लिया, जो सन् 1833 तक चलता रहा जब बंगाल सरकार से अलग कलकत्ता में एक केंद्रीय सरकार की स्थापना की गई। चूँकि यातायात और दूर-संचार के साधन सीमित थे, अतः केवल औपचारिक रूप से इन महाप्रांतों पर केंद्रीय शासन था। लेकिन सन् 1850 के बाद इन महाप्रांतों पर केन्द्रीय नियंत्रण बढ़ता गया। 1857 में भारत पर ब्रिटिश क्राउन का शासन शुरू हुआ। ग्रेट-ब्रिटेन में भारत सरकार के वित्तीय मामलों को ऋणों सहित निपटाने के लिए केंद्र सरकार की तरफ से सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने राजकोषीय अधिकारों को अपने हाथ में ले लिया। भारत में सभी राजस्व केंद्र-सरकार को देय था जिसके संबंध में वायसराय को सर्वाधिकार प्राप्त था। प्रांतों को राजकोषीय मामलों में कोई स्वतंत्रता न थी, और वे अधिकतर केंद्र सरकार पर ही आश्रित थे।

1870 में केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया समाप्त कर दी गई और वित्तीय शक्तियाँ केंद्र तथा प्रांतों को सौंप दी गईं। 1882-83 के एक अनुबंध द्वारा "राजस्व के विभाजित मदों" की एक नई व्यवस्था शुरू की गई, जिसमें केंद्र को व्यापारिक विभागों (जैसे-रेलवे) के समस्त लाभों और अफ़ीम, नमक, सीमाशुल्क, उत्पाद शुल्क जैसे करों को लेने के अधिकार दिए गए। प्रांतीय राजस्वों में राज्य के व्यापारिक विभाग, सिंचाई, शिक्षा, न्यायालय (Courts) आदि से प्राप्तियाँ होती थीं। विभाजित मदों में स्टांप ड्यूटी, वन, आयकर, पंजीकरण और भू-राजस्व से मिलने वाली प्राप्तियों को शामिल किया गया। इस प्रकार राजस्व आबंटन की योजना के अंतर्गत प्रांत केंद्र से मिलने वाले अनुदानों पर बहुत ज्यादा आश्रित थे। 1898 से 1913 के दौरान बजट अधिशेषों के कारण केंद्र को प्रान्तों के प्रति अधिक उदार बना दिया। फलस्वरूप प्रांतीय राजस्व और व्यय जो भारत सरकार के कुल राजस्व और व्यय का 1871-72 में 11 प्रतिशत था बढ़कर 1919-20 में लगभग 30 प्रतिशत हो गया स्वतंत्रता से पहले केंद्र प्रांतों को धन किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं देता था। पिछले वर्ष के आबंटन के आधार पर अगले वर्ष के लिए आबंटन किया जाता था। फलस्वरूप बंबई और बंगाल में लगभग सभी सामाजिक व आर्थिक मदों पर बिहार तथा उड़ीसा की तुलना में ज्यादा खर्च किया गया। 1912-13 में जब ये दोनों प्रांत बंगाल से अलग हुए तो इनमें गरीबी साफ दिखती थी ऐसा ही सिंध में हुआ। वहाँ भी इसी आधार पर अग्रिम वर्ष के वित्तीय आबंटन किए गए जिससे मितव्ययिता की बजाए फिजूलखर्ची बढ़ी।

भारत सरकार के 1919 के अधिनियम के अंतर्गत सरकार में कुछ निर्वाचित सदस्य लिए गए और इससे सरकार की कार्य प्रणाली की सार्वजनिक छानबीन शुरू हुई। प्रांतीय राजस्व और व्यय बढ़ गए। 1920 के मेस्टन समझौते के अनुसार राजस्व की मदों का विभाजन रोक दिया गया। राजस्व मद या तो केंद्र को अथवा प्रांतों को आबंटित कर दिए गए। उदाहरण के लिए केंद्र के अधिकार में आयकर बनी रही, जबकि प्रांतों के अधिकार में भूमि राजस्व की उगाही आयी। प्रांत मदिरा कर, स्टांप ड्यूटी तथा सिंचाई प्राप्तियाँ भी वसूल करते थे। राजस्व के विभाजित मदों की योजना को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। लेकिन राज्यों को अब सिंचाई कार्यों और अकाल सहायता के लिए धन देना पड़ता था। मेस्टन समझौते (Meston settlement) से केंद्र में बजटीय घाटे की संभावना थी। प्रांतों को मुआवजे के रूप में केंद्रीय राजस्व में अब धन जमा कराना पड़ता था। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि बंबई और बंगाल जैसे समृद्ध प्रांतों ने केंद्र को बहुत कम राजस्व दिये क्योंकि कुल प्रेषित रकम का लगभग 78 प्रतिशत मद्रास, पंजाब और संयुक्त प्रांतों से भेजा जाता था। वित्तीय दायित्वों में केंद्र को रक्षा और कानून तथा व्यवस्था दिए गए। बेलोच राजस्व मदों के साथ-साथ प्रांतों को शिक्षा तथा स्वास्थ्य का प्रभार दिया गया जहाँ धन की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई।

1935 के भारत सरकार अधिनियम से राजनीतिक और वित्तीय दोनों क्षेत्रों में संघवाद प्रबल हुआ। फिर भी केंद्र तथा प्रांत संबंधों में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ। यहाँ यह जानना जरूरी है कि इस अधिनियम से एक बार फिर केंद्र तथा प्रांतों में कुछ राजस्व मदों (जैसे-आयकर) के विभाजन का प्रस्ताव रखा गया। प्रांतों को आयकर की कुल प्राप्ति का 50 प्रतिशत केंद्र से प्राप्त हुआ। इस कुल धनराशि को अन्य बातों के साथ-साथ, किसी भी प्रांत की जनसंख्या और कर देने वाले निवासियों की संख्या को ध्यान में रखते हुए नियत अनुपातों में विभिन्न प्रांतों में बाँट दिया जाता था। बंबई और बंगाल प्रत्येक को पाँचवा हिस्सा मिलता था। निर्यात शुल्क को भी बाँट दिया जाता था, फिर भी इसका सबसे बड़ा हिस्सा (63 प्रतिशत) बंगाल को मिलता था। अधिनियम में 5 से 10 वर्ष तक के समय के लिए आर्थिक दृष्टि से कमजोर राज्यों जैसे — सिंध, उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रदेश, उड़ीसा, असाम और संयुक्त प्रांत को आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव भी था।

17.2.1 कर-राजस्व का स्वरूप

स्वतंत्र भारत का कर ढांचा अंग्रेजों द्वारा छोड़े गए औपनिवेशिक शासन का ही विशिष्ट रूप है। समस्त सार्वजनिक राजस्व में भू-राजस्व का अंशदान अधिक था। यह 1793-94 में 69 प्रतिशत और 1858-59 में 50 प्रतिशत था। नए करों के आरंभ होने से और गैर-कर राजस्व के बढ़ने से भू-राजस्व का अंश 1860-61 में 43 प्रतिशत, 1870-71 में 40 प्रतिशत, 1901-02 में 34 प्रतिशत और 1938-39 में 16 प्रतिशत तक कम होता गया। आप यह स्पष्ट अनुभव करेंगे कि 1881-82 से 1911-12 के बीच कुल राजस्व में इसका हिस्सा एक तिहाई के आस-पास स्थिर रहा। प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही राजस्व के मुख्य स्रोत के रूप में इसका महत्व और भी कम होता गया। सेना के बढ़ते हुए खर्चों ने सरकार को पहले सीमा शुल्क (आयात और निर्यात शुल्क दोनों) शुरू करने और फिर धीरे-धीरे उसका प्रतिशत बढ़ाने के लिए मज़बूर कर दिया।

तालिका 17.1
कुल राजस्व के अनुपात में भू-राजस्व से प्राप्तियाँ

वर्ष	प्रतिशत
1	2
1793-94	69
1808-09	61
1818-19	73
1839-40	71
1850-51	67
1858-59	50
1860-61	43
1870-71	40
1871-72	43
1881-82	36
1891-92	37
1901-02	34
1911-12	31
1938-39	16

स्रोत : कराधान जाँच आयोग की रिपोर्ट, 1953-54, वाल्यूम III, पृष्ठ 216.

युद्ध से पहले सरकार ने कभी भी सीमा शुल्क के बारे में सार्थक ढंग से नहीं सोचा था। ऐसा क्यों हुआ?

क्या आप अनुमान लगा सकते हैं? ऐसा मुख्यतः लंकाशायर में उन ब्रिटिश उद्योगपतियों को खुश करने के लिए किया गया था जिन्हें भारत में आयात करों के शुरू होते ही भारतीय बाज़ार में जापानियों की प्रतिस्पर्द्धा (मुकाबले) की समस्या का सामना करना पड़ता। उन्होंने भारत सरकार को न केवल इंग्लैण्ड के निर्यातों पर आयात कर न लगाने के लिए दबाव डाला बल्कि भारत सरकार को गैर-ब्रिटिश आयातों पर आयात शुल्क लगाने के लिए भी विवश किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने भारत सरकार से ब्रिटेन को निर्यात किए जाने वाले कच्चे माल से निर्यात कर समाप्त करने के लिए भी बाध्य किया। लेकिन युद्ध ने स्थिति को पूर्णतया बदल दिया। सूती कपड़ा, लोहा तथा इस्पात, कागज, शीशा, सीमेंट और ऊनी कपड़ों पर आयात शुल्क लगने से ब्रिटिश उद्योगों की झुंझलाहट और बढ़ी। 1921-22 तक सामान्य प्र शुल्क (आयातों पर सीमा शुल्क का दूसरा नाम) 11 प्रतिशत था, जो 1931 में दो बार बढ़ा। अक्तूबर, 1931 तक ब्रिटेन के सूती वस्तुओं पर सामान्य सीमा शुल्क 25 प्रतिशत था लेकिन गैर-ब्रिटिश सूती वस्तुओं पर 31.25 प्रतिशत था। 1932 में गैर-ब्रिटिश सूती वस्तुओं पर आयात कर 50 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया और उससे अगले वर्ष यह बढ़कर 75 प्रतिशत हो गया। अन्य करों को भी बढ़ाया गया। फलस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के शुरू होने से पहले सीमा शुल्क से प्राप्तियाँ कुल केंद्रीय कर राजस्व की लगभग आधी थी। कुल सीमा शुल्क प्राप्तियों का 95 प्रतिशत आयात करों से बनता था और शेष 5 प्रतिशत निर्यात करों से। सभी आयातों के कुल मूल्य के अनुपात में आयात कर से कुल सकल राजस्व में प्राप्ति 1920-21 में 7 प्रतिशत से 1925-26 में 18 प्रतिशत और 1931-32 में 31 प्रतिशत तक लगातार बढ़ा। इसके बाद 1938-39 में यह घटकर 26 प्रतिशत हो गया। सीमा शुल्क से राजस्व का यह नुकसान घरेलू उद्योगों पर (वस्त्र, चीनी, दियासिलाई, इस्पात, तम्बाकू, मोटर, स्प्रीट) उत्पाद शुल्क लगाकर पूरा किया गया, जो युद्ध के समय फिर बढ़ गया।

स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारत को अंग्रेजों से विरासत के रूप में प्राप्त कर-ढांचा उन्नत देशों की तुलना में असाधारण वैषम्य प्रकट करता है। सभी उन्नत देशों में सीमा शुल्क कुल राजस्व कर का उच्च अनुपात हैं, जबकि भारत में यह अनुपात कम रखा गया। इसके अतिरिक्त, बीसवीं सदी के दौरान ही आयात कर शुरू किए गए थे। भारत में आयकर की दर भी काफी कम थी। ऐसा जानबूझ कर किया गया, जिससे अंग्रेज अफसरों की उच्च आय को कर के प्रभाव से मुक्त रखा जा सके। दूसरे विश्व युद्ध तक भारत निगम-आयकर (corporate income tax) से अनभिज्ञ था। यह भी उन सजग प्रयासों का ही हिस्सा रहा कि प्रमुख रूप से अंग्रेजों द्वारा ली गई कंपनियों के लाभों को इससे मुक्त रखा जाए। बड़े काश्तकारों की कृषि से आय पर कर नहीं लगाए गए, यद्यपि कुल राजस्व में भू-राजस्व का अंशदान सापेक्ष रूप से निरंतर कम होता गया। वास्तव में, वी.के.आर, वी.रॉव ने 1931 में अपने अध्ययन में दावे के साथ यह कहा था कि अगर कृषि-आय पर छूट-सीमा 30,000 रुपए प्रतिवर्ष ऊँची रखी जाती तो भी 1930-31की कीमतों पर कृषि-आयकर से ही केवल 3 करोड़ रुपया प्राप्त हो सकता था। यह धन राशि उस वर्ष की कुल आयकर प्राप्तियों का लगभग 1/5 भाग होता। वस्तु कर अपने स्वरूप से ही अधोगामी थे। नमक, मिट्टी का तेल, दियासिलाई पर उत्पाद शुल्क ने अमीरों से ज्यादा गरीबों पर असर डाला।

17.2.2 सार्वजनिक व्यय का स्वरूप

अभी तक, केंद्र तथा प्रांतों के राजस्व के बारे में ही चर्चा की गई है। अब हम सार्वजनिक व्यय के बारे में चर्चा करेंगे। सार्वजनिक ऋणों पर सरकार की हिचक तथा स्थिर सार्वजनिक-राजस्वों के कारण सार्वजनिक-व्यय (तालिका 17.2) में भी धीमा परिवर्तन देखा गया। रक्षा और प्रशासन पर ही कुल व्यय का आधा भाग लग गया। राजकोष पर अन्य प्राथमिक प्रभार (व्यय) ऋण-सेवा था। शेष व्यय का काफी कम भाग सामाजिक तथा आर्थिक मदों पर लगाया जाता था। भारत की सामाजिक आर्थिक समस्याओं के आकार के हिसाब से यह बहुत कम था। भारत ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने वाली बस्ती थी। ब्रिटिश शासन द्वारा रक्षा और प्रशासन को बहुत बड़ा हिस्सा आबंटित किया गया, किन्तु सामाजिक तथा आर्थिक मदों पर आबंटन बहुत कम था।

तालिका 17.2
सरकारी व्यय का कार्यवार वितरण

वर्ष	कुल व्यय (मिलियन रुपयों में)	कुल का प्रतिशत					
		प्रशासन	ऋणसेवा	रक्षा	शिक्षा	स्वास्थ्य	पूँजीगत व्यय
1	2	3	4	5	6	7	8
1871-72	467	16	13	32	N.A.	N.A.	N.A.
1900-01	958	24	4	22	2	2	17
1913-14	1199	27	2	25	4	2	18
1917-18	1335	27	8	33	4	2	5
1921-22	2132	24	8	33	4	2	12
1931-32	1986	28	12	28	7	3	5
1946-47	7973	15	6	26	3	2	26

स्रोतः के.एन. रेड्डी, भारत में सार्वजनिक व्यय का विकास (1972), नई दिल्ली, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, पृष्ठ 183-86।
NA = अनुपलब्ध

वर्तमान राजस्वों में से वर्तमान व्ययों को पूरा करने के साथ-साथ सार्वजनिक बचतों में से सभी पूँजीगत व्ययों को पूरा करने का परंपरागत सिद्धांत भी प्रायः अंग्रेजों द्वारा अनदेखे कर दिए गए। ब्रिटिश शासन में पूँजीगत लेखा शुरू से अंत तक घाटे में रहा जिसे सार्वजनिक ऋणों से पूरा किया गया, जो आर्थिक क्षरण का एक तंत्र बन गया। यह भी कहा गया है कि रेलों और अन्य सार्वजनिक कार्यों में भी यह पूँजी लगाई गई। द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने तक 'वर्तमान लेखा' घाटे और अधिशेषों के बीच झूलता रहा और युद्ध समाप्ति के बाद केंद्रीय बजट के वर्तमान लेखे में बहुत ज्यादा घाटा आया। केंद्रीय बजट के चालू खाते का घाटा 1940-41 के 6.5 करोड़ रुपए के निम्न स्तर से लगातार बढ़ता हुआ 1941-42 में 12.7 करोड़ रुपए, 1942-43 में 112.2 करोड़ रुपए तथा अंत मे 1943-44 में 189.8 करोड़ रुपए हो गया। यह बढ़ोतरी युद्ध के अधिकांश खर्चों को पूरा करने के लिए की गयी। अगले तीन वर्षों में युद्ध जनित स्फीति और घाटे को कम करने के लिए सभी महत्वपूर्ण मदों पर व्यय कम कर दिए गए। चालू खाते का घाटा 1944-45 में 161.1 करोड़ रु. और 1945-46 में 123.9 करोड़ रु. तक गिर गया और फिर 1946-47 में 45.3 करोड़ रु. तक कम हो गया।

17.3 आजादी के बाद केंद्र तथा राज्य सरकारों की संयुक्त बजटीय स्थिति

स्वतंत्र भारत में भी केंद्र तथा राज्य दोनों सरकारों का बजटीय घाटा जारी रहा। तालिका 17.3 से 1971-72 के बाद के बढ़ते हुए घाटे का विवरण मिलता है। आप स्पष्ट रूप से यह अनुभव करेंगे कि 1971-72 के बाद केंदीय बजट में हमेशा घाटा दिखाया गया (कॉलम 2), जबकि राज्य-बजटों में (कॉलम 3) अधिशेष के वर्ष भी हैं। किन्तु संपूर्ण विवरण घाटे का ही है (कॉलम 4)। फलस्वरूप कुछ वर्षों को छोड़कर (कॉलम 5 से 7) सारे समय में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया द्वारा सरकार को ऋण निबल दी गयी धनात्मक बनी रही। 1977-78 से सरकार के लिए रिर्जव बैंक ऑफ इंडिया की निबल ऋण की रकम में भी से निरंतर वृद्धि हुई है। बजट के संतुलन में यही घाटा-वित्तीयन मुख्य घटक है। कुल प्राप्तियों और भुगतानों के बीच के अंतर को बजट के घाटे और अधिशेष से ही निर्धारित किया जाता है इसको तालिका 17.4 में दिखाया गया है, जिसमें केंद्र तथा राज्य सरकारों की संयुक्त प्राप्तियों और भुगतानों को प्रस्तुत किया गया है।

तालिका 17.3
सरकारों को भारतीय रिजर्व बैंक से कुल उधार (ऋण) और बजटीय घाटे

वर्ष	बजटीय अधिशेष/घाटा			भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा निवल ऋण		
	केन्द्र	राज्य	कुल	केन्द्र	राज्य	कुल
1	2	3	4	5	6	7
1971-72	(–) 519	(–) 289	(–) 808	583	287	878
1972-73	(–) 869	(–) 7	(–) 876	1211	(–) 386	825
1973-74	(–) 328	(–) 226	(–) 554	630	134	764
1974-75	(–) 721	(–) 31	(–) 752	533	134	667
1975-76	(–) 366	75	(–) 291	(–) 288	91	(–) 197
1976-77	(–) 131	50	(–) 81	816	22	838
1977-78	(–) 933	(–) 220	(–)1162	(–) 260	142	(–) 118
1978-79	(–)1586	1010	(–) 496	2191	(–) 419	1772
1979-80	(–)2433	(–) 187	(–)2620	2650	339	2989
1980-81	(–)2577	(–) 897	(–)3474	3551	487	4038
1981-82	(–)1392	(–)1020	(–)2412	3207	789	3996
1982-83	(–)1656	(–) 820	(–)2476	3368	(–) 860	2508
1983-84	(–)1417	(–) 551	(–)1968	3949	38	3987
1984-85	(–)3745	(–)1438	(–)5183	6055	1371	7426
1985-86	(–)4490	823	(–)3667	6494	(–)2027	4442

स्रोतः वित्त और मुद्रा पर रिपोर्ट, 1985-86, पेज 262।

तालिका 17.4
केंद्र तथा राज्य सरकारों की संयुक्त प्राप्तियाँ तथा भुगतान

मद		1984-85	1985-86	1986-87
1		2	3	4
I	कुल भुगतान जिसमें से	71654	83535	89279
1.	विकासात्मक	46265	53827	54809
2.	गैर-विकास	23390	28321	32442
II	कुल प्राप्तियाँ	66471	79868	85456
1.	राजस्व प्राप्तियाँ	45296	53556	58296
	अ) कर-प्राप्तियाँ	35808	42372	47022
	i वस्तुओं और सेवाओं पर कर	29765	35561	39982
	ii आय और संपत्ति पर कर	6043	6811	7040
	ब) गैर-कर प्राप्तियाँ	9488	11184	11274
2.	पूंजीगत प्राप्तियाँ	21175	26312	27160
	अ सकल बाजार ऋण	5748	7173	7772
	ब छोटी बचतें	3650	4800	5300
	स) भविष्य-निधि का कुल अंशदान	1147	1102	1167
	III कुल अधिशेष/घाटा			
	अधिशेष/घाटे का वित्तीयन	(–)5183	(–)3667	(–)3823
1.	नकद शेष में कमी/वृद्धि	(–) 787	(–) 208	(–) 128
2.	राजकोषीय बिलों में कमी/वृद्धि	(–)3696	(–) 053	(–)3650
3.	नकद शेषों में जमा तथा उनसे निकासी राज्यों का निवेश लेखा (निवल)	(+) 54	(–) 33	(+) 10
4.	रिजर्व बैंक द्वारा राज्यों को अग्रिम में वृद्धि अथवा ओवरड्राफ्ट में कमी (निवल)	(–) 754	(+)627	(–) 55

स्रोतः मुद्रा व वित्त पर रिपोर्ट, 1985-86 पेज 264।

17.3.1 कुल व्यय और प्राप्तियों की प्रवृत्ति

आप देखेंगे कि विकासात्मक तथा गैर-विकासात्मक मदों पर कुल राशियाँ खर्च की गई हैं। गैर-विकासात्मक मदों की तुलना में विकासात्मक मदों के भुगतान ज्यादा हैं। शुरू के वर्षों के लिए भी यह सत्य है। विकास की विभिन्न मदों में आर्थिक सेवाओं (कृषि और उससे संबद्ध क्रियाकलापों, उद्योग और खनिज, विदेशी व्यापार और निर्यात संवर्धन, परिवहन और दूर-संचार) पर व्ययों का बहुत बड़ा अनुपात लगाया गया है। ऐसा तालिका 17.4 में स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। किन्तु कोई भी गंभीर विद्यार्थी इसे भारतीय "स्टैटिस्टीकल एबस्ट्राक्ट" (Statistical Abstracts) में अथवा आर्थिक समीक्षा में विस्तार से देख सकते हैं। सामाजिक और सामुदायिक सेवाओं (शिक्षा, कला, संस्कृति, वैज्ञानिक सेवाएँ, शोध और विकास, लोक स्वास्थ्य, जल-आपूर्ति, परिवार-कल्याण, श्रम-कल्याण और बेरोजगारी) पर कुल विकासात्मक भुगतानों का काफी बड़ा भाग लगा दिया गया है। गैर-विकासात्मक व्ययों को अधिकांशतः ब्याज अदायगियों, प्रशासनिक सेवाओं, मुद्रा प्रबंध, करों की वसूली और लेखा-परीक्षा आदि में लगाया गया है। इसी प्रकार कुल प्राप्तियाँ राजस्व प्राप्तियों (गैर-कर और कर-राजस्व) और पूंजीगत प्राप्तियों (सार्वजनिक ऋण और बचतें) के रूप में होती हैं।

17.3.2 राजस्व प्राप्ति का स्वरूप

कुल राजस्व में कर-राजस्व ने गैर-कर राजस्वों की तुलना में तीन गुना ज्यादा धन का योगदान दिया है। यह स्थिति 1965-66 से चल रही है। कर-राजस्व प्रत्यक्ष कर (पूंजीगत लेन-देन, संपत्ति और आय पर कर) में और अप्रत्यक्ष कर (वस्तुओं और सेवाओं पर सीमा तथा उत्पादन शुल्क और बिक्री कर) के रूप में प्राप्त किए जाते हैं। कुल कर-राजस्व में प्रत्यक्ष करों की तुलना में अप्रत्यक्ष करों से लगभग चार से पाँच गुना ज्यादा धन इकठ्ठा हुआ। गैर-कर राजस्व अंतर्राष्ट्रीय संगठनों तथा विदेशों से नकद अनुदानों, अंतर्राष्ट्रीय दूर-संचार व्यवस्था, डाक तथा तार व्यवस्था तथा रेलों से लाभ, लाभांशों और ब्याज प्राप्तियों के रूप में प्राप्त होता है। स्वतंत्रता के बाद से कुल राजस्व में कर-राजस्व का अंश काफी अधिक रहा है। वास्तव में, 1955-56 से 1982-83 के दौरान कर-राजस्व गैर-कर राजस्वों की तुलना में दो से तीन गुना तक बढ़ गया। हाल के वर्षों में यह अंतर चार गुना अधिक हो गया।

17.3.3 पूंजीगत प्राप्ति का स्वरूप

पूंजीगत प्राप्तियों का अधिकांश भाग आंतरिक बाजार ऋण और बाहरी ऋण द्वारा हुआ है। कुछ वर्षों में जैसे 1980-81 और अब 1991-92 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से ऋणों का भी उपयोग किया गया। दूसरी ओर, पूंजीगत भुगतान ने विकास और गैर-विकास पूंजीगत व्ययों, ऋणों और अग्रिमों (केंद्रीय बजट के मामले में राज्य तथा संघशासित प्रदेशों को) और कर्जों की अदायगी का रूप ले लिया। अधिकांश पूंजीगत भुगतान ऋण, अग्रिम और विकासात्मक पूंजीगत व्यय के रूप में है।

17.3.4 राज्यों की बजटीय स्थिति की प्रवृत्ति

यद्यपि, हमने केंद्र तथा राज्य की बजटीय स्थिति को एक साथ प्रस्तुत किया है, फिर भी राज्यों की समेकित बजटीय स्थिति का अलग से अध्ययन करने से राज्यों की कुछ विशेष लक्षणों का पता चलता है। जैसे 1975-76 से 1986-87 तक के वर्षों में चालू खाते में निरंतर अधिशेष दिखाए गए हैं। जहाँ तक पूंजीगत लेखों का संबंध है, उनमें इसी अवधि में घाटा दिखाया गया है। कुल मिलाकर 1975-76 और 1978-79 में इसमें अधिशेष और उसके बाद के वर्षों में घाटा दिखाया गया है। इसके विपरीत, केंद्रीय बजट में 1965-66 से 1986-87 तक किसी भी वर्ष में अधिशेष नहीं दिखाया गया है। इसके चालू खाते में कभी-कभी होने वाले अधिशेष पूंजीगत खातों में घाटों को पूरा करने में लग गया। इस संदर्भ में हमें कृषि-कराधान के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) राजस्व का "विभाज़ित मद" क्या है? दो वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) भारत सरकार के 1935 के अधिनियम के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों के बीच किन स्रोतों को बाँटा गया? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिएं)

.....

.....

.....

.....

3) स्वतंत्रता-पूर्व काल में कर-राजस्वों के प्रमुख स्रोतों का उल्लेख कीजिए (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.4 कृषि-कराधान

कृषि पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही कर लगाए जा सकते हैं। प्रत्यक्ष कर भूमि, कृषि-उत्पाद और अप्रत्यक्ष कर कृषकों द्वारा प्रयुक्त निविष्टियों (inputs) पर लगाए जा सकते हैं।

17.4.1 प्रत्यक्ष कराधान

स्वतंत्रता से पहले और उसके बाद भी कृषि पर प्रमुख प्रत्यक्ष कर भूमि-राजस्व रहा है। लेकिन कुल कर-राजस्व के अनुपात में इससे प्राप्त आय क्रमशः कम होती गयी। यह 1955-56 में 22 प्रतिशत की ऊँची स्तर से घटकर 1963-64 में 13 प्रतिशत और इसके बाद 1982-83 में मात्र दो प्रतिशत रह गई। भूराजस्वों के अतिरिक्त कृषि आयकर, नकदी फसलों पर अधिभार, गन्ने पर क्रयकर आदि कृषि पर अन्य महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर हैं। कुल कर राजस्व में प्रत्यक्ष कृषि करों द्वारा बहुत कम धनराशि इकठ्ठी होती है, क्योंकि इनसे बहुत कम राजस्व प्राप्त होता है (तालिका 17.5)। उदाहरण के लिए 1965-66 में इन आगमों का हिस्सा सभी कर-राजस्व में लगभग 7 प्रतिशत से कम होकर 1979-80 में मात्र 3 प्रतिशत और 1982-83 में 2 प्रतिशत रह गया। इसकी तुलना राष्ट्रीय आय में कृषि के लगभग 2/5 योगदान से कीजिए। कृषि द्वारा बहुत कम कर के अंशदान का कारण फसल की पैदावार करने वाले किसानों के पास जोत भूमि क्षेत्रों का काफी कम होना ही माना जाता है। कृषि से जीविकोपार्जन करने वाले मज़दूरों का काफी ज्यादा हिस्सा भूमिहीन है और उनके पास पशु-पालन तथा मज़दूरी दो ही मुख्य पेशे हैं। लेकिन आय, कृषि योग्य भूमि, पशुओं और कृषि परिसंपत्ति के रूप में संसाधनों का वितरण अधिकांश ग्रामीणों में काफी अधिक विषम है। कृषि से कर प्राप्तियों की कमी का कारण थोड़े से धनी ग्रामीणों पर कर लगाने में असफलता ही रही है।

तालिका 17.5
कृषि पर कर (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कृषि कर-प्राप्तियाँ	कुल कर-राजस्व	कुल राजस्व के अनुपात में कृषि कर (%)
1	2	3	4
1965-66	121.81	1784.6	6 8
1970-71	136.29	2451.3	5.6
1975-76	328.35	6009.8	5.5
1979-80	260.84	8567.6	3.0
1980-81	234.48	9387.8	2.5
1981-82	293.62	11573.0	2.5
1982-83	262.40	13056.4	2.0

टिप्पणियाँ: 1. कॉलम 2 भारतीय अर्थव्यवस्था (1984) का वर्णन करने वाली सी. एम. आई. ई. (CMIE) की 'बुनियादी सांख्यिकी' की तालिका 14.20 से है।
2. कॉलम 3 स्टैटिस्टिकल एबस्ट्रेक्ट आफ इन्डिया (1984). तालिका 180 से है।

वेद प्रकाश गांधी (1970) और के. एन. राज (1972) ने अपने पृथक अध्ययनों में यह दलील दी है कि धनी कृषकों से अधिक से अधिक कर-प्राप्ति की जा सकती हैं, क्योंकि 1970 के बाद बड़े भूमिजोतों की उत्पादकता में महत्वपूर्ण वृद्धि देखी गई है। श्री गांधी ने यह भी कहा है कि गैर-कृषि क्षेत्रों कि तुलना में कृषि क्षेत्रों पर कम कर लगाए गए हैं और कृषि क्षेत्र में सभी आय वर्गों को गैर-कृषि क्षेत्रों की तुलना में ज्यादा कर लाभ प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार श्री गांधी के अनुसार अंतः क्षेत्रीय और अंतः वर्गीय समानता के हितों में भारत के कृषि क्षेत्रों पर अतिरिक्त कराधान एक आनुभविक आवश्यकता के रूप में विद्यमान है।

के.एन. राज ने यह भी तर्क दिया है कि व्यापार की अंतःक्षेत्रीय स्थितियाँ काफी वर्षों तक कृषि के पक्ष में रहीं और विकास पर होने वाले सार्वजनिक व्यय द्वारा सृजित सुविधाओं से किसानों के बहुत बड़े समूह को लाभ हुए। ऐसी स्थिति में कृषि से कर-प्राप्तियों को बढ़ाना सार्थक होगा। उन्होंने भू-राजस्व पर अतिरिक्त कर की उगाही और कृषि-जोत पर कर लगाने की सलाह दी है। यद्यपि यह धारणा नई है और भू-राजस्व की प्रकृति से मिलती-जुलती है। यह कार्यशील भूमिजोतों पर लगाया जाने वाला कर है और इसका परिकलन इस तरह किया जायेगा। कृषि की वर्तमान स्थितियों के अंतर्गत विभिन्न सजातीय मृदा-जलवायु संबंधी क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली भिन्न-भिन्न फसलों की प्रति हैक्टयर उत्पादिता के औसत का अनुमान लगाने के लिए फसल कटाई की जांच का ज्ञान जरूरी है। इससे भूमि की संभावित उत्पादकता का निर्धारण होगा। खेती की लागत का सही अनुमान लगाने के लिए खेती की विभिन्न प्रथाओं के अंतर्गत संभावित आय का अनुमान प्राप्त करना होगा। इसे जानने के लिए खेती की लागत को पैदावार के मूल्यों से घटाना होगा। इन अभ्यासों (प्रयोगों) में आगत निर्गत दोनों ही कीमतों की जानकारी आवश्यक है। भूमि की संभावित आय ही कराधान का आधार बनती है। अनेक विद्वानों ने यह तर्क दिया है कि भारत जैसे मृदा-जल-मौसम-तापमान-धूप की असमान विशेषताओं वाले देश में ऐसे प्रयोग बहुत कठिन हैं। इस कारण संभावित आय को ध्यान में रखते हुए निकाले गए मानकों (derived standards) को सिद्ध करना कठिन है। परन्तु प्रोफेसर राज के अनुसार वैज्ञानिक ढंग से ऐसे मानकों तक पहुँचना कठिन नहीं है। इसके लिए केवल प्रशासनिक इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है। वास्तव में, दाँतवाला (1975) ने इस तरह के कराधान को कृषि आय कर से अच्छा माना है, क्योंकि उनके अनुसार कृषि आयकर का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यदि किसानों को आयकर के भुगतान के लिए कर संबंधी विवरण भरना पड़े तो वे मनमानी नौकरशाही के शिकार हो जाएँगें। दूसरे, वार्षिक-आय में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और वे अपने खेती के कार्यों का व्यवस्थित हिसाब नहीं रख पाते जिससे उपज कम होने वाले वर्षों में कम आय के बारे में कर-अधिकारियों को विश्वास दिलाना उनके लिए कठिन होगा। दाँतवाला का तर्क यह है कि आयकर घोर अनिश्चितता, अत्याचार, पक्षपात और भ्रष्टाचार को बढ़ाता है और इससे कृषकों में घोर असंतोष फैल सकता है। कृषि जोतों पर कर के इतने गंभीर खतरे नहीं हैं, लेकिन अभी तक इस संबंध में कोई महत्वपूर्ण प्रयास नहीं हुआ है।

17.4.2 कृषि पर अप्रत्यक्ष कराधान

कुछ लोगों का यह तर्क है कि चूँकि अप्रत्यक्ष कर (उत्पाद शुल्क, सीमा शुल्क और बिक्री कर) कृषि क्षेत्रों द्वारा दिए जाते हैं, अतः कृषि आय पर प्रत्यक्ष कराधान का पक्ष काफी कमजोर है । परंतु अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि कृषि और गैरकृषि दोनों में से गैरकृषि क्षेत्र राजकोष को कई गुना ज्यादा भुगतान करती है । एक महत्वपूर्ण बात यह है कि किसानों को कृषि द्वारा घर में उत्पादित वस्तुएँ प्राप्त होती हैं जिसमें अप्रत्यक्ष करों का कोई अंश नहीं होता । दूसरा, पारंपरिक आगतों, जैसे — खाद, हल, घर में तैयार किए गए बीज, खेती के औजार, बैल आदि पर कर नहीं लगाए जाते । यद्यपि आधुनिक आगतों जैसे-उर्वरक, ट्रैक्टर, पम्प, कीटरोधी और रसायनों आदि तथा कारखानों में बनाई गई उपभोक्ता वस्तुओं (बिजली का सामान, कपड़ा, टायर, डीजल, मिट्टी का तेल, दियासिलाई आदि) पर कर लगाए जाते हैं । लेकिन यह कहा गया है कि ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में दो तुलनात्मक व्यय समूहों में अप्रत्यक्ष कराधान का प्रभाव एक जैसा नहीं है । शहरी नागरिक, ग्रामवासियों की तुलना में अप्रत्यक्ष कराधान के रूप में अपने व्ययों का बहुत बड़ा प्रतिशत देते हैं । कृषि में अप्रत्यक्ष करों का प्रभाव शायद इस क्षेत्र से प्राप्त आय के 5-6 प्रतिशत से ज्यादा नहीं है । यही एक अतिरिक्त कारण है कि राज और दाँतवाला ने न्याय और संसाधन संग्रह के दृष्टिकोण से कृषि पर प्रत्यक्ष कराधान पर अधिक निर्भरता का पक्ष लिया है । परंतु वास्तविकता यह है कि उनका कोई भी प्रस्ताव राज्य सरकारों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया । भारतीय कृषि प्रत्यक्ष कर के रूप में बागान पर उपकर (cess) और भू-राजस्व का भुगतान ही करती चली आ रही है और भू- राजस्व प्रत्यक्ष कराधान के किसी भी नियम को पूरा नहीं करती । यह न तो वास्तविक आय है और न ही कीमत-सापेक्ष । प्रगामी नहीं है और वास्तव में, इसकी प्रवृत्ति प्रतिगामी (अधोगामी) ही पाई गई है । इसके अतिरिक्त, कृषि को दी जाने वाली बड़ी आर्थिक सहायता बड़े-बड़े किसानों को ही मिलती है ।

बोध प्रश्न 2

1) कृषि पर किन साधनों द्वारा अप्रत्यक्ष कर लगाए जा सकते हैं? तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) कृषि आयकर को लगाने में किन व्यावहारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) प्रस्तावित "कृषि जोत कर" कृषि आयकर से किस प्रकार बढ़िया है? तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

17.5 कृषि संबंधी आर्थिक सहायता (Agricultural Subsidies)

आर्थिक सहायता ऋणात्मक कर की तरह है, जो सरकार द्वारा कृषि उत्पादों और कृषि आगतों दोनों पर ही दिया जाता है। यदि फसल वसूली की कीमतें खुले बाजार की कीमतों से ज्यादा है तो ऐसा समझा जाता है कि कृषि परिवारों को सहायता दी गयी है। आर्थिक सहायता के इस योजना के अंतर्गत परिवार के बिक्रीत अधिशेषों के आधार पर ही उसके लाभ का निर्धारण किया जाएगा। कम अधिशेषों वाले किसानों की तुलना में अधिक अधिशेषों वाले किसान ज्यादा लाभ प्राप्त करते हैं। इस योजना के अंतर्गत भूमिहीन किसानों को कोई लाभ नहीं होता। वास्तव में इन्हीं कारणों से केवल धनी किसानों को ही लाभ पहुँचा है। इसलिए कृषि पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता का पक्ष कमजोर है। लेकिन विशेष रूप से देश को खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाने के लिए ऐसी सहायता कृषि उत्पादन को बढ़ाने में प्रोत्साहित करती रही है।

17.5.1 आर्थिक सहायता कैसे देय होती है?

आर्थिक सहायता व्यापारिक (traded) (उर्वरकों, कीटनाशकों, बीजों, ट्रैक्टरों आदि) और गैर। व्यापारिक (ऋण, नहर का पानी, शक्ति, मृदा परीक्षण के लिए मुक्त प्रयोगशाला सेवाओं और पशु गर्भाधान आदि) कृषि आगतों पर दी जाती हैं। कुछ विशेष आगतों के प्रयोग को बढ़ाने के लिए भी इनका सहारा लिया जाता है। यह कैसे संभव होता है? आपने व्यष्टिगत अर्थशास्त्र में यह पढ़ा है कि वस्तु की माँग अन्य बातों के साथ-साथ उसकी कीमत से निर्धारित होती है। माँग सिद्धांत यह बताता है कि यदि कीमत कम हो जाए और अन्य बातें पूर्ववत् रहें तो किसी भी वस्तु की माँग निश्चय ही बढ़ेगी। माँग में परिवर्तन की मात्रा निस्संदेह कीमत लोच गुणांक पर आश्रित है। आर्थिक सहायता किसानों के सभी वर्गों में, नई प्रौद्योगिकी को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है, विशेष रूप से जीव-रसायन आगतों (उर्वरक, अच्छी पैदावार देने वाले किस्मों के बीज, कीटनाशक, जल आदि) के संदर्भ में। किन्तु यह निश्चित है कि इन आर्थिक सहायता के लाभों से केवल भूमिहीन ग्रामीण परिवार ही वंचित रह जाते हैं।

एक दूसरी स्थिति वह है जहाँ आगत पर दी जाने वाली सहायता को उचित ठहराया जा सकता है। हमने अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में यह पढ़ा है कि लाभ को बढ़ाने वाली कृषि इकाई तब तक आगत का इस्तेमाल करती रहेगी जब तक कि एक आगत का सीमांत मूल्य उत्पाद उसकी सीमांत लागत के बराबर नहीं हो जाता। आर्थिक सहायता आगत की सीमांत लागत को कम करती है और इसके कारण आगत का ज्यादा प्रयोग व्यवहार्य हो रहा है। वास्तव में आर्थिक सहायता के वितरण के पीछे यही भावना है।

लेकिन, यदि आर्थिक सहायता बहुत बड़ी है, जैसा कि बिजली और पानी पर लगे शुल्क की दरों से स्पष्ट है, तो उस आगत के दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाती है। कई अध्ययनों में यह स्पष्ट किया गया है कि हरियाणा और पंजाब के किसान पानी तथा बिजली के अत्यधिक उपयोग के लिए दोषी हैं। इन राज्यों में पम्प कितनी देर चला और उसका हार्स पॉवर क्या है, इन बातों का ध्यान रखे बिना प्रति पम्प समान बिजली शुल्क लेने की प्रथा सामान्य है। बिजली के मीटरों की बात अनसुनी है। जहाँ ये मीटर लगे हुए हैं, वहाँ मीटर से छेड़खानी करने के कारण ही यह योजना असफल रही है। ऐसी स्थिति में पम्पों से ज्यादा काम लिया जाता है, जिससे बिजली की बर्बादी होती है। यही बात नहर से सिंचाई के विषय में भी लागू होती है। इसका भी अत्यधिक उपयोग किया जाता है, क्योंकि सिंचाई पर उपकर (cess) नियत कर दिया गया है और इसे प्रायः माफ भी कर दिया जाता है। इससे मृदा की क्षारीयता-लवणता और जलमग्न की समस्याएँ बढ़ती हैं। ऐसे व्यवहारों के कारण, बिजली बोर्ड, सिंचाई विभाग और ऋण संस्थाओं को भारी हानि उठानी पड़ती है। ऐसी स्थिति में, और जब उपयुक्त लाभ केवल अमीरों को ही प्राप्त होते हों तो आगत पर आर्थिक सहायता (Input subsidies) का पक्ष बहुत कमजोर हो जाता है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी आगत पर आर्थिक सहायता की स्थिति को देखा जा सकता है। भारतीय किसानों की यह शिकायत रहती है कि उर्वरक, ट्रैक्टर, पंप सेट, कृषि औजार और टायर जैसे उद्योग अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा से सुरक्षित रखे गए हैं, इसीलिए भारतीय किसानों को अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से ज्यादा ऊँची कीमत देने के लिए विवश किया जाता है, जिससे उन्हें हानि होती है। इसी कारण से इस नुकसान को पूरा करने के लिए ऐसी आगतों पर आर्थिक सहायता को उचित ठहराया जाता है। कुछ अध्ययनों से किसानों के इस भय की पुष्टि होती है। इन अध्ययनों के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता से कृषि मशीनरी उद्योग की

सुरक्षा के कारण भारतीय किसानों को देशीय मशीनरी पर ज्यादा भुगतान के लिए मजबूर किया जाता है ।

इसी तर्क को हम उत्पादन पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता के लिए प्रयोग कर सकते हैं । ऐसा संभव है कि किसानों के उत्पादन पर आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने की बजाए, खाद्यानों की पैदावार में देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्हें भुगतान करने के लिए विवश किया जाता है । यहाँ हम गेहूँ का उत्पादन करने वाले एक किसान का उदाहरण ले सकते हैं । अगर किसी देश में मुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संभव होता तो किसान के पास अपने उत्पाद को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बेचने का विकल्प होता और अगर गेहूँ की अंतर्राष्ट्रीय कीमत (माल भाड़ा और बीमा व्यय घटाकर) आंतरिक कीमतों से ऊँची है तो वह विदेशी बाजार में ही बेचना पसंद करेगा । लेकिन यदि उस अर्थव्यवस्था से खाद्यान्नों का निर्यात आसान नहीं है तो ऐसी स्थिति में उस देश के उत्पादक अधिक कीमत पाने से वंचित रह जाता है । इस प्रकार, वस्तुतः आर्थिक सहायता किसानों से आंतरिक उपभोक्ताओं की ओर प्रवाहित होती है । इस तरह के प्रश्नों का अध्ययन आपने संरक्षण के सिद्धांत के अंतर्गत किया है जिसे आप ई. ई. सी. 01, खंड 8 में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत के विवेचन में इनसे संबंधित कुछ प्रश्नों के विषय में पढ़ा है । लेकिन यहाँ आप अभी मैद्रिक संरक्षण गुणांक (Nominal Protection Coefficient) पर ध्यान दीजिए । यह मुक्त व्यापार स्थिति में उत्पादन की कीमत की तुलना में उत्पादन की आंतरिक कीमत का अनुपात है । विभिन्न अध्ययनों में इस अनुपात का इस्तेमाल यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि उस देश से सामान्य चावल बिना किसी आगत सहायता के विश्व बाजार का मुकाबला कर सकता है । चूँकि मुक्त व्यापार का प्रचलन नहीं है, अतः इस मामले में आर्थिक सहायता वस्तुतः कृषकों से आंतरिक उपभोक्ताओं को हस्तांतरित होती है । किंतु यहाँ हमें कुछ सीमाओं पर भी ध्यान देना होगा । सबसे पहले अंतर्राष्ट्रीय खाद्यान्न बाजार प्रतिस्पर्धात्मक नहीं है । वस्तुतः विभिन्न फसलों से संबंधित लाबी घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही बाजारों में खाद्यान्नों की कीमतों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं । ऐसी स्थिति में विश्व में खाद्यान्नों की कीमत का प्रतिस्पर्धात्मक बाजार केवल एक धारणा मात्र है । इसके अतिरिक्त फसल उत्पादन में आर्थिक सहायता का अंश अप्रत्यक्ष रूप से भी शामिल रहता है, जिस पर हम अब विचार करेंगे ।

17.5.2 आर्थिक सहायता की संकल्पना

अभी तक हमने उन विधियों के बारें में पढ़ा है, जिनसे कृषि को आर्थिक सहायता प्राप्त होती है । परंतु हमने आर्थिक सहायता की मात्रा और इन स्वरूप की चर्चा नहीं की । वर्ष 1987-88 से संबंधित एक हाल के अध्ययन में भारत में सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता की मात्रा और उसके स्वरूप से संबंधित अनुमानों में सुदीप्त मंडल और एम. जी. रॉव ने सार्वजनिक सेवा लागत की उपभोक्ता प्रभार विधि (user charge method) का प्रयोग किया है । उन्होंने आर्थिक सहायता के विभिन्न मूल तत्वों की जानकारी चित्र 17.1 में दिखाए गए तरीके से दी है । OY ऐसी सेवा की मात्रा व्यक्त करती है जो सार्वजनिक रूप से प्रदान की जाती है । YB प्रति इकाई वास्तविक लागत, YD प्रति इकाई प्रभावी लागत और EF प्रति इकाई वसूली वक्र और XX सेवा का माँग वक्र है ।

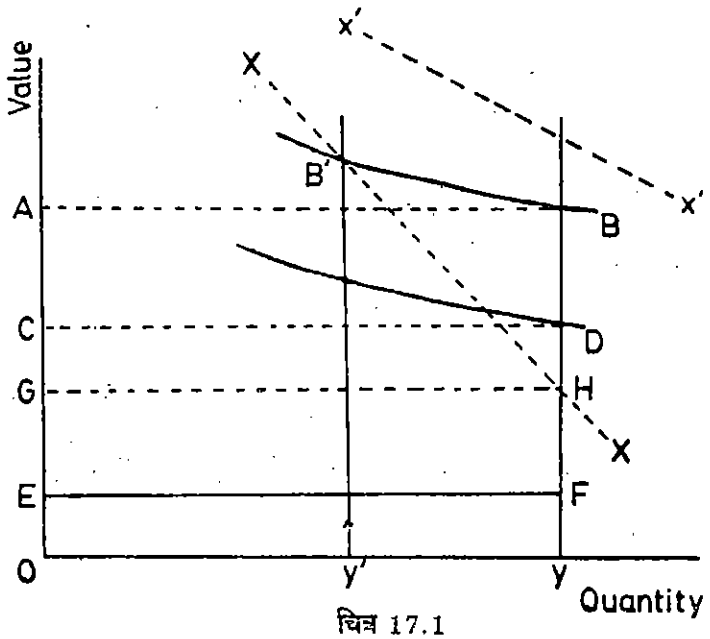

चित्र 17.1

अगर बाजार की निकासी मात्रा OY को सामाजिक रूप से अपर्याप्त समझा जाता है, तो यह मात्रा OY की वास्तविक बाजार खपत को सुनिश्चित करने के लिए आयत ABHG सरकार द्वारा प्रदत्त सेवा पर दी जाने वाली सहायता की कुल मात्रा का अनुमान लगाता है। फिर भी, ABHG के दो घटक हैं जिसमें CDHG वह आवश्यक तत्व है, जो उचित रूप से आबंटनीय सहायता राशि को व्यक्त करता है और दूसरा अतिरिक्त तत्व ABDC है जो पूर्तिकारों को उनकी अक्षमता के लिए दिया जाता है। अंततः सहायता का एक तत्व GHFE है, जो माँग की OY मात्रा अर्थात् उपभोग स्तर के समर्थन के लिए, देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसीलिए हम इसे विशुद्ध वितरणात्मक सहायता कह सकते हैं। इस प्रकार हमारी आर्थिक सहायता का अनुमान वास्तव में ABFE आयत के संकल्पनात्मक रूप के अनुकूल है जिसमें तीन भिन्न तत्वों का समावेश है जैसे उत्पादक सहायता, वितरणात्मक सहायता और आबंटनीय सहायता। यद्यपि विभिन्न सहायताओं के लागत और माँग फलनों के ब्यौरे-वार अनुमानों के बिना इस आर्थिक सहायता के विभिन्न तत्वों को अलग करना संभव नहीं है। आपको याद होगा कि आपने ई.ई.सी. 01 और ई.ई.सी.02 में सार्वजनिक वित्त से संबंधित इकाइयों में सार्वजनिक वस्तु और विशिष्ट वस्तु (Merit goods) के बारे में अध्ययन किया है। इन वस्तुओं के उचित कीमत का निर्धारण करते समय बहुत से जटिल प्रश्न आते हैं। क्योंकि सार्वजनिक सुविधाओं द्वारा प्रदत्त ये सेवाएँ अथवा उपयोगिता व्यक्तिगत उपभोक्ताओं के लिए बाह्य प्रभावों के कारण पृथक रूप से लागू नहीं की जा सकती। इसका अभिप्राय यह है कि यह केवल उपभोक्ताओं के समूहों को ही प्रदान की जा सकती है और व्यक्तिगत उपभोक्ताओं से इसकी पूरी लागत वसूल नहीं की जा सकती।

17.5.3 कृषि संबंधी आर्थिक सहायता का आकार

यद्यपि, अनुमान प्रक्रिया की जटिलताओं में न जाते हुए हम विभिन्न क्षेत्रों के व्ययों से संबंधित बजटीय वर्गीकरण के आधार पर मोटे तौर पर सहायता के आकार के बारे में बताएंगे। बजटीय आँकड़ों में इन क्षेत्रों को एक तरफ आर्थिक एवं सामाजिक सेवाओं और दूसरी तरफ सामान्य सेवाओं के साथ दिखाया गया है। सामान्य सेवाएँ विभिन्न सरकारी स्तरों के सामान्य प्रशासन के व्ययों से संबंधित हैं। ऐसा भी अनुमान लगाया गया है कि प्रदत्त सार्वजनिक सेवाओं की कुल लागत अंतरण भुगतान (जैसे राहत, व्यय, पेंशन आदि) सहित, 1987-88 में 91,276 करोड़ रुपये थी। इसमें लगभग 48,677 करोड़ रुपये राज्यों से संबंधित था। अन्तरण भुगतान रोजगार कार्यक्रमों के लिए आबंटन सहित 3,836 करोड़ रुपये थे। सामान्य सेवाओं की लागत के 25,000 करोड़ रुपये थे। शेष 62,440 करोड़ रुपये केंद्र तथा राज्यों द्वारा प्रदत्त आर्थिक तथा सामाजिक सेवाओं पर कुल उपभोक्ता प्रभार के रूप में था। इन्हें यदि आर्थिक सहायता नहीं दी जाती तो इस राशि को प्राप्तियों से ही वसूल करना होता। यद्यपि इन सेवाओं के लिए दी गई आर्थिक सहायता का वास्तव में 32 प्रतिशत ही वसूल किया गया तथा लगभग 70 प्रतिशत की वसली नहीं हुई और जो सकल घरेलू उत्पाद के 15 प्रतिशत था। इस कुल सहायता का एक तिहाई केंद्र सरकार बाकी राज्य सरकारों द्वारा देय हुआ। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य आदि जैसी सामाजिक सेवाओं के लिए राज्य सरकारें ही जिम्मेदार हैं।

तालिका 17.6
आर्थिक सेवाओं पर आर्थिक सहायता

	राजस्व व्यय	सेवाओं की कुल वसूली कुल लागत		वसूली दर कॉलम (4÷3)×100	आर्थिक सहायता	सहायता कुल सहायता के अनुपात में	आर्थिक सहायता सेवाओं की कुल लागत और अंतरण के प्रतिशत के रूप में	आर्थिक सहायता सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
1. कृषि और सहकारिता केंद्र	2626	3178	208	6.53	2970	7.02	3.25	1.01

राज्य	5106	5636	1627	28.87	4009	9.47	4.39	1.36
भारत	7732	8815	1835	20.81	6980	16.49	7.65	2.37
2. सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण								
केंद्र	81	112	3	2.95	109	0.26	0.12	0.04
राज्य	1907	5686	1221	21.47	4465	10.55	4.89	1.52
भारत	1988	5798	1224	21.11	4574	10.81	5.01	1.55
3. ऊर्जा तथा विद्युत								
केंद्र	690	2949	1162	39.42	1786	4.22	1.96	0.61
राज्य	708	1998	564	28.20	1435	3.39	1.57	0.49
भारत	1399	4947	1726	34.89	3221	7.61	3.53	1.09
4. उद्योग								
केंद्र	3412	5638	879	15.59	4759	11.24	5.21	1.62
राज्य	581	937	817	87.19	120	0.28	0.13	0.04
भारत	3993	6575	1696	25.80	4879	11.53	5.34	1.66
5. परिवहन								
केंद्र	8459	10903	9463	86.80	1440	3.40	1.58	0.49
राज्य	1099	1937	254	13.12	1683	3.98	1.84	0.57
भारत	9558	12840	9717	75.68	3122	7.38	3.42	1.06
6. दूर संचार								
केंद्र	2096	3511	2468	70.31	1042	2.46	1.14	0.35
राज्य	0	1	0	0.00	1	0.00	0.00	0.00
भारत	2096	3511	2468	70.30	1043	2.46	1.14	0.35
7. अन्य आर्थिक सेवाएँ								
केंद्र	1971	2207	548	24.82	1659	3.92	1.82	0.56
राज्य	262	354	268	75.74	86	0.20	0.09	0.03
भारत	2232	2560	816	31.86	1745	4.12	1.91	0.59
8. कुल आर्थिक सेवाएँ								
केंद्र	19334	28496	14731	51.70	13765	32.52	15.06	4.62
राज्य	9664	16549	4750	28.70	11799	27.88	12.93	4.01
भारत	28997	45045	19481	43.25	25564	60.40	28.01	8.62

स्रोतः इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली 4मई, 1991।

आर्थिक तथा सामाजिक सेवाओं के वर्ग में सामाजिक सेवाओं के लिए कुल सहायता का लगभग 40 प्रतिशत दिया गया, जो सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 6 प्रतिशत है। शेष 60 प्रतिशत आर्थिक सेवाओं को प्राप्त हुआ, जिसमें आधे से अधिक भाग केंद्रीय बजट द्वारा दिया गया। सामाजिक सेवाओं की कुल लागत का 4 प्रतिशत से भी कम उपभोक्ताओं से वसूल किया गया, जबकि आर्थिक सेवाओं की लागत की वसूली दर औसतन लगभग 44 प्रतिशत थी।

इन आर्थिक सेवाओं में कृषि, सहकारिता, सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण से सीधे संबंधित सेवाओं पर लगभग 15,000 करोड़ रुपए खर्च हुए। जिसमें से केवल 20 प्रतिशत की वसूली हुई और इस प्रकार आर्थिक सहायता की राशि लगभग 11,000 करोड़ रुपए से भी अधिक थी। कृषि के लिए ये प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता सकल घरेलू उत्पाद के 4 प्रतिशत के बराबर। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार कृषि क्षेत्र को दी गई ये आर्थिक सहायता उस पर कुल कर-भार से भी ज्यादा प्रतीत होती है। इसका अभिप्राय यह है कि सार्वजनिक संसाधन वास्तव में कृषि क्षेत्र की ओर प्रवाहित हुआ और यह भी ध्यान रहे कि लगभग पूरा कृषि क्षेत्र निजी क्षेत्र के अधीन है।

इस प्रत्यक्ष सहायता में ग्रामीण/कृषि क्षेत्रों को दूर संचार तथा परिवहन, ऊर्जा तथा विद्युत जैसी जन सेवाओं के रूप में प्राप्त होने वाली कई अन्य संसाधन सहायताएँ शामिल नहीं हैं। फिर भी यदि हम ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों को उपलब्ध कुल सहायता के क्षेत्रीय विभाजन का मोटे तौर पर हिसाब करें तो पाएँगे कि कुल सहायता का आधे से ज्यादा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों का है, जिसमें खाद्यान्न, उर्वरक, शिक्षा सहायताएँ

सम्मिलित है। यह सहायता सकल घरेलू उत्पाद के 7.6 प्रतिशत के बराबर है जो निश्चित रूप से ग्रामीण क्षेत्रों द्वारा कुल कर अंशदान की तुलना में बहुत ज्यादा है।

तालिका 17.7
ग्रामीण क्षेत्रों को आर्थिक सहायता

	राजस्व व्यय	सेवाओं की कुल लागत	कुल वसूलियाँ	वसूली दर कॉलम (4÷3)×100	सहायता	सहायता कुल सहायता के प्रतिशत में	सहायता सेवाओं और अंतरण के कुल लागत के प्रतिशत में	सहायता सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
आकलन I: ग्रामीण								
केंद्र	2723	3347	326	9.75	3021	7.14	3.31	1.03
राज्य	8100	12582	2512	19.96	10070	23.79	11.03	3.42
भारत	10822	15929	2838	17.82	13091	30.93	14.34	4.45
आकलन II: ग्रामीण								
केंद्र	5728	6641	526	7.92	6115	14.45	6.70	2.08
राज्य	14414	18964	2601	13.72	16363	38.66	17.93	5.56
भारत	20142	25605	3128	12.21	22478	53.11	24.63	7.63
आकलन III: ग्रामीण								
केंद्र	1652	2186	332	15.19	1854	4.38	2.03	0.63
राज्य	13776	18315	2601	14.20	15714	37.13	17.22	5.34
भारत	15428	20501	2933	14.31	17568	41.51	19.25	5.97
आकलन IV: ग्रामीण								
केंद्र	3715	4506	526	11.68	3980	9.40	4.36	1.35
राज्य	13776	18319	2601	14.20	15718	37.14	17.22	5.34
भारत	17491	22825	3127	13.70	19698	46.54	21.58	6.69

टिप्पणी:- आकलन I असमायोजित आकलन— इसमें खाद्यान्न पर आर्थिक सहायता शामिल है, किंतु उर्वरक और शिक्षा पर दिए गए आर्थिक अनुदान का अंश शामिल नहीं है।

आकलन II अधिकतम आकलन— इसमें खाद्यान्न और उर्वरक पर आर्थिक अनुदान शामिल होने के साथ-साथ शिक्षा पर आर्थिक सहायता का अंश भी शामिल है।

आकलन III न्यूनतम आकलन— इसमें खाद्यान्न और उर्वरक पर आर्थिक सहायता शामिल नहीं है किंतु शिक्षा पर आर्थिक सहायता का अंश शामिल है।

आकलन IV अधिमानित (Preferred) आकलन— इसमें खाद्यान्न पर आर्थिक सहायता शामिल नहीं है, किंतु उर्वरक तथा शिक्षा पर आर्थिक सहायता का अंश शामिल है।

स्रोत:- इकनॉमिक एण्ड पालिटिक्ल वीकली मई-4, 1991।

यद्यपि यहाँ आर्थिक सहायता की वितरणात्मक भूमिका का अध्ययन करना हमारा उद्देश्य नहीं है और इस प्रकार की सूचना विद्यमान आँकड़ों से प्राप्त करना संभव भी नहीं है। किन्तु कृषि एंव शिक्षा पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता का वितरण समाज के विभिन्न वर्गों के बीच बहुत ही असमान ढंग से हुआ है। इसके साथ ही विभिन्न राज्यों के बीच इस का वितरण भी बहुत ही विषम रहा है। क्योंकि राज्यों के प्रति व्यक्ति आय के स्तर में काफी अंतर है। ग्रामीण / कृषि क्षेत्रों में अभी तक दिए जाने वाले खाद्यान्न, उर्वरक, सिंचाई, बिजली और यातायात पर दी जाने वाली आर्थिक सहायताओं से ग्रामीण मजदूरों की तुलना में बड़े भू-स्वामी वाले अमीर वर्ग को ही अधिक लाभ मिला है।

उपरोक्त तालिकाओं (17.6 और 17.7) से ग्रामीण क्षेत्रों और दूसरे क्षेत्रों के लिए आबंटनीय सहायता के स्वरूप का विस्तृत विवरण मिलता है। हाल ही में हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में धनी एवं सम्पन्न ग्रामीण वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति का एक कारण ऐसी सहायताओं का असमान स्वरूप ही है।

बोध प्रश्न 3

1) किन आधारों पर कृषि पर आर्थिक सहायता को उचित ठहराया गया है? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में कृषि पर आर्थिक सहायता का फैलाव कितना है? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

3) बताइए, निम्न कथन सही हैं या गलतः
   1) आर्थिक सहायता ऋणात्मक कर के समरूप है ।
   2) कृषि निविष्टियों पर सहायता को उचित ठहराया गया है, क्योंकि यह निविष्टियों के अनावश्यक प्रयोग को रोकती है ।
   3) सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों को अलग-अलग क्रेताओं पर बाह्यताओं के कारण लागू नहीं किया जा सकता ।

17.6 ग्रामीण ऋण का विकास

ई.ई.सी. 02 के खंड 5 में ग्रामीण ऋण के विकासक्रम की चर्चा की गयी थी । हमने ई.ई.सी. 04 के खंड 2 में ग्रामीण ऋण की स्थिति की विस्तृत समीक्षा की थी । यहाँ हम ग्रामीण ऋण की वर्तमान स्थिति का भंडारण और विपणन के संदर्भ में संक्षेप में अध्ययन करेंगे ।

ग्रामीण जनसंख्या ऋण की आवश्यकता मुख्यतः सामाजिक और आर्थिक शक्तियों द्वारा प्रभावित होती है । यहाँ यह कहना उचित है कि भारत की आजादी के पहले और तुरंत बाद ग्रामीण ऋणग्रस्तता का कारण लोगों का सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने की इच्छा को ही समझा जाता था । कृषि पर रॉयल कमीशन की रिपोर्ट से ऐसे ही प्रमाण मिलते हैं । अधिकांश ऋणग्रस्तता का कारण पूर्वजों के अदेय ऋण थे । इस संदर्भ में रॉयल कमीशन ने बताया है कि भारतीय किसान कर्जे में ही पैदा होता है और कर्जे में ही जीवन गुजारते हुए मर जाता है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्थिति और भी ज्यादा भयानक हो जाती है कि विरासत में मिले ऋण के एक हिस्से अर्थात् पुराने कर्जे की आपूर्ति के लिए ही आज भी नए मिले ऋणों का एक बहुत बड़ा अनुपात खर्च कर दिया जाता है । ऐसा कई सदियों से चलता आ रहा है और भूमि के लगान और ब्याज की दरों के ऊँचा होने के कारण कृषि योग्य भूमि साहूकारों द्वारा हथियायी जाती रही, क्योंकि किसान मूलधन और उस पर लगे ब्याज का भुगतान नही कर पाता ।

भारतीय रिजर्व बैंक के ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण (1951-52) के अनुसार ग्रामीण परिवारों का 63 प्रतिशत परिवार ऋणग्रस्त (283 रुपये प्रति परिवार के औसत से) है । गैर-किसानों की तुलना में किसानों के ऋणी परिवारों का अनुपात ज्यादा था । बड़ी भूमि-जोतों की तुलना में छोटी भूमि-जोतों पर ऋण-भार ज्यादा था । अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण और लागत सर्वेक्षण (1961-62) के अनुसार कुल ऋण का आधे से भी ज्यादा भाग अनुत्पादक कार्यों में लगाया गया था । गैर-कृषि परिवारों के मामले में, यह प्रतिशत ज्यादा (74%) था । इसके अतिरिक्त, ग्रामीण परिवारों की ऋणग्रस्तता नियोजन के पहले दशक में बढ़ी ।

ा कि आप जानते हैं, 1951 में कुल ग्रामीण ऋण का 93 प्रतिशत मित्रों, संबंधियों, व्यापारियो और हूकारों द्वारा दिया जाता था (देखिए तालिका 6.1, खंड 2 ई.ई.सी. 04)। 1961 में ऋण संस्थाओं ने -सांस्थानिक एजेंसियों के 83 प्रतिशत की तुलना में केवल 17 प्रतिशत ग्रामीण ऋण दिए। केवल 971 के बाद संस्थागत ऋणों में असाधारण बढ़ोतरी हुई। ऐसा वाणिज्यिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण, स्वस्त ग्रामीण बैंक व्यवस्था, कृषि में आधुनिक निविष्टियाँ और अच्छी पैदावार देने वाले बीजों के उपयोग कारण किसानों की दीर्घकालीन ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण संभव हुआ है।

ई.सी. 02 में आपको ग्रामीण वित्त के संरचनात्मक स्वरूप का परिचय दिया गया है। (आरेख 10.4 5, ई.ई.सी. 02 देखिए)। संक्षेप में दोहराते हुए, 1960 के दशक में बनाई गई सहकारी ऋण मितियों द्वारा कृषकों को सबसे पहले सांस्थानिक ऋण दिए गए। आज भारत में खेती के गैर-कृषि तथा ष क्षेत्रों को वित्तीय सहायता देने वाली अनेक संस्थाएँ हैं। इनमें प्राथमिक कृषि ऋण समितियाँ, और य तथा जिला स्तर के सहकारी बैंक सहकारी क्षेत्र में आते हैं। भूमि विकास बैंक, ग्राम, जिला तथा य-स्तर तक काम करते हैं और भूमि विकास के कार्यों के लिए मध्यम तथा दीर्घ अवधि की वित्तीय ायता देते हैं। इसके अतिरिक्त वाणिज्यिक बैंक और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भी कृषि परिवारों को ऋण देते ग्रामीण ऋण की सांस्थानिक व्यवस्था को राष्ट्रीय कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) द्वारा र्वित की सुविधा द्वारा भी मजबूत किया गया है। रिजर्व बैंक, केंद्रीय तथा राज्य सरकारें भी ग्रामीण ास कार्यक्रमों के लिए वित्त प्रदान करते हैं। कृषि के लिए संस्थागत वित्त अल्प अथवा दीर्घ अवधि हेतु क्ष कृषि कार्यों के लिए दिया जाता है। कृषि को प्रत्यक्ष वित्त के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष वित्त भी मिलता है। अप्रत्यक्ष वित्तीयन सहकारी समितियों के नुकसानों को बट्टे खाते में डालकर, सहकारी समितियों को ी उपलब्ध कराकर तथा ग्रामीण विद्युतीकरण निगम में निवेश करके किया जाता है। कृषि के लिए त्यक्ष वित्त की तुलना में प्रत्यक्ष वित्त हमेशा ही बहुत अधिक रहा है। आप ई.ई.सी. 04, खंड 2 की लेका 6.5 से सहकारी और वाणिज्यिक संस्थाओं के उत्पादन ऋण तथा निवेश ऋण की मात्रा की तुलना सकते हैं।

ीण समुदाय के विभिन्न वर्गों के साथ-साथ विभिन्न राज्यों में संस्थागत ऋण की उपलब्धता असमान है। ती हुई साख सुविधाओं और व्यवस्था का गैर-कृषि परिवारों तथा कृषि मज़दूरों को बहुत कम लाभ हुआ आम तौर पर, भूमि पर आधारित योजनाओं को ही ऋण मिलते हैं। यद्यपि वे योजनाएँ जो इन पूर्वग्रहों ुक्त दीखती हैं, वास्तव में ऐसा नहीं होता। उदाहरण के लिए डेयरी योजना को लीजिए। एक गरीब कृषि मज़दूर परिवार को अच्छी नस्ल के दुधारू पशु रखने की आशा करना व्यर्थ होगा। डेयरी कार्यक्रमों सफलता के लिए चारे की सुलभता अति आवश्यक है और चारे का उत्पादन पूरी तरह भूमि पर ारित है। इसलिए भूमिहीनों के लिए डेयरी तथा पशुपालन की बात करना व्यर्थ है।

ग्रामीण साख आपूर्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा अभी भी निजी क्षेत्र के नियंत्रण में है। हरिजन, देवासी, कृषि मज़दूर और गरीब तथा छोटे कारीगर बड़ी संख्या में इसके शिकार होते हैं। उनके लिए कोई उपाय ही नहीं होता। निश्चित रोज़गार के अभाव में अस्थिर आय उन्हें साहूकारों के पंजों में ड़े रखती है।

7.7 कृषि उत्पादों का विपणन तथा भंडारण

ण जनता के निरंतर ऋणग्रस्त रहने का एक महत्वपूर्ण कारण कटाई के समय लाचारी में फसल की ी है। प्रतिकूल बाजार शक्तियों के कारण फसल को रोक रखने की क्षमता उनमें नहीं होती। डेयरी दों तथा सभी फसलों के लिए समर्थन कीमतें भी उपलब्ध नहीं होती और जहाँ वे उपलब्ध हैं वहाँ भी ान जानकारी के अभाव में उनका लाभ नहीं उठा पाते। विपणन और भंडारण की इस समस्या का ख हम नीचे कर रहे हैं।

7.1 भारत में कृषि विपणन का स्वरूप

कृषि उत्पादों का [illegible]

कम खराब तथा कुछ अपेक्षाकृत टिकाऊ भी ह"। एक तरफ दूध जैसा शीघ्र नष्ट होने वाला उत्पाद है, तो दूसरी तरफ कपास जो लंबी अवधि तक खराब नहीं होता। इन दोनों छोरों के बीच अन्य कृषिगत वस्तुएँ हैं, जैसे — शहद, घी, मछली, मृत तथा जीवित पशु, अंडे, मुर्गी, तिलहन, दालें, अनाज, फल तथा सब्जियाँ आदि हैं। प्रत्येक उत्पाद की अपनी विशेषता होती है इस कारण सामान्य विपणन मानदंडों को नहीं अपनाया जा सकता। विभिन्न वस्तुओं के भंडारण और उनकी पैकिंग की आवश्यकता अलग-अलग होती है। शहद, गेहूँ और दूध को अलग-अलग तरह से संसाधित, पैक तथा भंडारित किया जाता है। कृषि तथा गैर-कृषि परिवारों की अपनी सीमाएँ तथा शक्तियाँ होती हैं। आम तौर पर, आपात बिक्री (distress sale) तभी होती है जब उत्पादक ऋणी होते हैं अथवा बाज़ारों से दूर रहते हैं। हम इस जटिल संदर्भ में ही कृषि-बाजार की संरचना का अध्ययन करेंगे।

ग्रामस्तर पर स्थानीय व्यापारी और परिवार (house hold) कृषि उत्पादों तथा सेवाओं के लिए बाज़ार प्रदान करते हैं। भूमिहीन मज़दूरों और गाँव में काम करने वालों (मोची, नाई और कुम्हार) की स्थिति सबसे खराब है। स्थानीय क्रेताओं की तुलना में आप इनकी सेवाओं की कमजोर स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। केवल मज़दूरी से गुजारा करने वाले लोग अपनी सेवाओं के बाजार सीमित होने के कारण सदा अक्षम रहते हैं। इसके विपरीत कृषि-परिवारों और पशुपालन करने वालों को अपने उत्पादों के लिए केवल मज़दूरी करने वालों से ज्यादा अच्छा बाजार होता है। लेकिन दुर्भाग्य से संचार तथा यातायात के साधनों की कमी, ग्रामीण भंडारण की अपर्याप्त क्षमता, बाजारों के दूर होने और थोक बाजारों में भ्रष्टाचार के कारण इन्हें अपने उत्पादों को गाँव में ही थोक विक्रेताओं के एजेंटों को कम कीमत पर बेचने को मजबूर होना पड़ता है। यदि किसान थोक-बाजार में अपने उत्पादों को बेचता भी है तो सकल बिक्री आय में उसका हिस्सा बहुत कम होता है। डा. सिधू ने अनुमान लगाया है कि पंजाब में धान की खेती करने वाले किसानों को अपने धान की अंतिम सकल बिक्री आय का मुश्किल से 53 प्रतिशत भाग मिलता है। सकल आय का 31 प्रतिशत दलालों के पास चला जाता है तथा शेष 16 प्रतिशत धान की विपणन लागत पर लग जाता है। फलों तथा सब्जियों के विषय में सकल आय में किसान का हिस्सा मुश्किल से क्रमशः 34 तथा 39 प्रतिशत है। एक अन्य अध्ययन में यह बताया गया है कि कुल बिक्री आय में किसान का हिस्सा अमरूद के लिए 34 प्रतिशत, संतरे के लिए 33 प्रतिशत, मौसमी के लिए 24 प्रतिशत और पपीते के लिए 37 प्रतिशत है। चूँकि भारत में अधिकांश किसान उत्पाद के मानकीकरण और श्रेणीकरण से अनभिज्ञ हैं, इसलिए गाँव तथा थोक बाजारों, दोनों में ही अच्छी किस्म के उत्पाद के लिए भी उन्हें कम कीमत की ही संभावना रहती है। गाँव के व्यापारियों तथा बिचौलियों का निर्णय उन्हें मानना पड़ता है। हमारे बाजारों में आपात बिक्री, मनमानी कटौतियाँ, विलंबित भुगतान, दोषपूर्ण तौल प्रणाली जैसी बुराइयाँ मौजूद हैं।

थोक तथा आवधिक बाज़ार (terminal markets) नियमित रूप से लगते हैं। सरकारी अधिकारियों और विपणन समितियों द्वारा इन बाज़ारों को नियमित किया जाता है। बाज़ार प्रभार निश्चित होते हैं और उसी के अनुसार वे एकत्र किए जाते हैं। इन बाज़ारों में केवल मापीय (Metric) तौलों और नापों के उपयोग की अनुमति होती है। किंतु इन बाज़ारों में भी कई प्रकार के बिचौलियों की भीड़ होती है। ये बिचौलिए क्रेताओं के साथ साँठ-गाँठ करके छोटे उत्पादकों के हितों को नुकसान पहुँचाते हैं। दलाल, क्रेता और उत्पादक के बीच की निर्णायक कड़ी है। कुछ बाज़ारों में खुली नीलामी होती है। केवल नियमित बाज़ारों में ही बंद-टेंडर व्यवस्था का पालन किया जाता है। इसके अतिरिक्त एक उत्पादक से उसकी बिक्री आय से मनमानी कटौतियाँ की जाती हैं। सौदों के कार्यान्वित होने के बाद उनकी पूरी तरह से पालन नहीं होता और विवाद उत्पन्न होने पर प्राथमिक उत्पादकों को व्यापारियों से जीत पाना संभव नहीं होता। इस पृष्ठभूमि में अब हम आगे यह अध्ययन करेंगे कि हमारे देश में सहकारी विपणन ने कितनी उन्नति की है।

17.7.2 सहकारी विपणन

विपणन समिति कृषकों की एक सहकारी संस्था है, जिसका गठन मुख्य रूप से अपने सदस्यों को उनके उत्पाद की बिक्री पर निजी व्यापार की अपेक्षा अधिक लाभ दिलवाने के उद्देश्य से किया जाता है। एक सहकारी विपणन समिति के ये उद्देश्य हैः (i) अपने सदस्यों की सहायता के लिए सीधे ही सबसे अच्छे बाजार में सबसे ऊँची कीमत पर उत्पाद को बेचना और किसानों को ऐसे उत्पाद-मिश्रण अपनाने में मदद करना, जिससे उन्हें अधिकतम आय मिल सके, (ii) अपने सदस्यों को उनके उत्पाद का सही तौल बताना (निजी व्यापारियों के विपरीत जो तौलते समय विक्रेता को धोखा देते हैं), (iii) सदस्यों को उत्पाद के श्रेणीकरण के महत्व को समझाना और उन्हें उत्पाद की श्रेणी तथा मानकों के अनुरूप कीमतें बताना,

iv) हानि तथा फिजूलखर्ची को कम करना, (v) संसाधनों की कमी का सामना करने के लिए सदस्यों को अल्प अवधि के लिए वित्त दिलाना, जिससे आपात बिक्री रुक सके, और (vi) कृषि उत्पाद के विपणन से संबंधित विषयों में सदस्यों को प्रशिक्षण देना।

हकारी विपणन का ढाँचा मिश्र के पिरामिड जैसा है। प्रारंभ में, प्राथमिक विपणन समितियाँ सदस्यों को रती करती है और निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करती हैं। एक संस्था एक अथवा एक से धिक वस्तुओं को बेच सकती है और उसी के अनुरूप एक उद्देशीय अथवा बहुउद्देशीय विपणन समिति रूप में जानी जाती हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में गन्ना समितियाँ केवल गन्ना ही बेचती हैं। लेकिन जरात में सूती कपड़ा तथा फलों का एक साथ व्यापार किया जाता है। कर्नाटक में विपणन समितियाँ नेक उत्पादों जैसे — मसाले, कॉफी, धान, तिलहन, इमली, सूती कपड़ा और गुड़ का व्यापार करने के ए प्रसिद्ध हैं। पश्चिमी बंगाल में इन समितियों द्वारा धान, पटसन, इलायची, नारियल की बिक्री की जाती । ये समितियाँ कृषि उत्पादों को इकट्ठा करके उनकी श्रेणी तथा मानकों का निर्धारण करती हैं और फिर क्री के प्रबंध करती हैं। कुछ समितियाँ कृषि निविष्टियाँ तथा कर्जे भी देती हैं। इन अर्थों में वे हुउद्देशीय समितियों के गुण रखती हैं। इनकी संख्या तेजी से बढ़ी हैं।

थमिक समितियों का नेतृत्व जिला/केंद्र विपणन समितियाँ करती हैं, जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में काम रती हैं। प्राथमिक समितियाँ तथा व्यक्ति दोनों ही इसके सदस्य बन सकते हैं। ये वित्त तथा विपणन में पने सदस्यों की सहायता करती हैं। विपणन समितियों के राज्य स्तरीय संघ, एक शीर्ष संस्था के रूप में र्य करता है। ये संघ विपणन सहकारिता को बढ़ावा देते हैं तथा अपने सदस्यों को पूर्ण सहायता देते हैं, र अपनी सदस्य समितियों के कार्यों का निरीक्षण करते हैं। ये पाउडर दूध, प्रमाणित बीज, मिट्टी का ल, चीनी, सीमेंट, स्टील तथा लोहे जैसी नियंत्रित वस्तुओं तथा कृषि-निविष्टियों आदि का भी वितरण रते हैं। अखिल भारतीय स्तर पर 1958-59 में राष्ट्रीय सहकारी विपणन संघ (NAFED) की स्थापना ी गई। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि-वस्तुओं में अपने सदस्यों की व्यापारिक गतिविधियों तथा विपणन को ाना तथा समन्वित करना है। यह सदस्यों के लिए कृषि निविष्टियों का भी प्रबंध करता है। यह भारतीय ाद्य निगम के सहयोग से दालों तथा खाद्यान्नों का भी प्रबंध करता है। यह कृषि वस्तुओं के अंतर्राष्ट्रीय र आंतरिक व्यापार को बढ़ाता है।

968-69 में सहकारी समितियों द्वारा बिक्री किए गए कृषि उत्पाद का कुल मूल्य 589 करोड़ रुपए था बढ़कर 1980-81 में 3262 करोड़ रुपए और 1987-88 में 3902 करोड़ रुपए हो गया। इस मय देश में 2633 सामान्य उद्देश्य तथा 3290 विशिष्ट उद्देश्यों के लिए प्राथमिक सहकारी विपणन मेतियाँ कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त, 172 जिला/केंद्रीय संघ सहकारी विपणन को बढ़ावा देते हैं। भिन्न राज्यों में सहकारी विपणन की उन्नति असमान रही हैं। जैसे—कुल सहकारी विपणन का 4/5 ग केवल छह राज्यों गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, तथा उत्तर प्रदेश में कार्य कर रहा है। समितियों का वित्तीय निष्पादन भी असंतोषजनक है, क्योंकि इनमें से कई घाटे में काम कर रही हैं। के अतिरिक्त, इनके द्वारा बेचे गए कृषि उत्पाद का मूल्य देश-भर में बिक्री किए गए कृषि उत्पादों के त मूल्य का नगण्य अनुपात है। इन समितियों के लाभ छोटे तथा सीमांत किसानों को न मिलकर वास्तव बड़े किसानों को ही मिलते हैं। इसीलिए इन समितियों की कार्यकारी कमेटियों में छोटे तथा सीमांत सानों के प्रतिनिधित्व को मज़बूत बनाना जरूरी है। विपणन समितियों को भंडारण, वित्त, श्रेणीकरण तथा वहन की सुविधाएँ भी उपलब्ध करानी चाहिए। इस दिशा में प्राथमिक कृषि ऋण समितियों (PACs) के णन समितियों से संबद्ध करना चाहिए। सातवीं पंचवर्षीय योजना में भी सहकारी विपणन को सार्वजनिक के कुछ निगमों के बीच परस्पर एंव प्रभावी संबंध स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया था। इन निगमों मारतीय कपड़ा निगम, भारतीय खाद्य निगम, भारतीय पटसन निगम, मसाला (Spices) मंडल तथा ट्रीय डेयरी विकास मंडल प्रमुख हैं। प्रमुख दूध उत्पादक और उपभोक्ता राज्यों को, मिलाने के संदर्भ में राष्ट्रीय दुग्ध ग्रिड की योजना पर विचार किया जा सकता है। सार्वजनिक तथा सहकारी डेयरी संयंत्रों ा बेचे जाने वाले दूध की मात्रा में भी वृद्धि हुई है। 1979-80 में प्रतिदिन दूध की बिक्री 62 लाख र होती थी, जो 1981-82 में 71 लाख लीटर प्रतिदिन और 1988-89 में 100 लाख लीटर ादिन हो गई। डेयरी संयंत्रों की कुल संख्या में भी वृद्धि हुई है। यह संख्या 1979-80 में 190 से

17.7.3 कृषि उत्पादों का भंडारण

बहुत पहले मेलॅर ने यह लिखा था कि खाद्यान्नों का लगभग 1.5 प्रतिशत भाग अपर्याप्त रख-रखाव तथा घटिया भंडारण के कारण नष्ट हो जाता है। खराब होने वाले पदार्थों का भंडारण तथा अनुरक्षण (दूध, अंडे, माँस-मछली, सब्जियाँ और फल) बहुत ही असंतोषजनक है। ऑपरेशन फ्लड (Operation Flood) कार्यक्रम के अंतर्गत सहकारी दुग्ध समितियों के क्षेत्र में दूध का अनुरक्षण कुछ सुधरा है, परंतु इस दिशा में अभी काफी कुछ करने की आवश्यकता है। डेयरी उद्योग को वैज्ञानिक बनाने के लिए प्रशीतित (airconditioned) दुग्ध वाहन, दुग्ध उत्पादों का निर्माण करने वाले आधुनिक डेयरी संयंत्र, द्रुतशीतल केंद्र (Chilling Stations) की आवश्यकता है। लेकिन अभी भी दूध की बहुत बड़ी मात्रा ग्वालों द्वारा बेची जाती है और दूध ठीक से नहीं रखा जाता। गुजरात के कुछ जिलों को (जहाँ दुग्ध सहकारी समितियाँ सफल रही हैं) छोड़कर ग्रामीण दुग्ध भंडारण की सुविधाएँ लगभग नहीं के बराबर हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में कृषि वस्तुओं के बड़े पैमाने पर भंडारण के लिए तीन मुख्य एजेंसियाँ हैं—भारतीय खाद्य निगम (FCI), केंद्रीय भंडारण निगम (CWC) और राज्य भंडारण निगम (SWCs)। भारतीय खाद्य निगम एक मुख्य एजेंसी है, जो खाद्यान्नों के लिए भंडारण उपलब्ध कराती है। यह अपने गोदाम बनाती है और निजी क्षेत्र में व्यक्तियों तथा फर्मों, केंद्रीय गोदाम निगमों और राज्य गोदाम निगमों के गोदाम किराए पर भी लेती हैं। छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान 6.2 मिलियन टन की अतिरिक्त भंडारण का निर्माण किया गया, जिसमें भारतीय खाद्य निगम तथा राज्य भंडारण निगम का योगदान क्रमशः 3.56 और 2.50 मिलियन टन था। 1985 में कुल भंडारण क्षमता 26.80 मिलियन टन थी, जो 1988 में बढ़कर 32.60 मिलियन टन हो गई। यदि सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रस्तावों पर अम्ल किया गया है तो 1990 तक कुल भंडारण क्षमता में 10 मिलियन टन की अतिरिक्त वृद्धि हुई होगी और यह बढ़कर 46 मिलियन टन हो जाएगी। वर्तमान भंडारण क्षमता का लगभग आधा भाग खाद्यान्नों और आधा भाग दूसरे कृषि उत्पादों के भंडारण के लिए उपयोग में लाया जाता है।

भंडारण से संबंधित नीति का निर्माण करने वालों के लिए भंडारण केंद्रों को सही स्थानों पर स्थापित करने उनके क्षमता का उच्च उपयोग और भारतीय खाद्य निगम तथा अन्य एजेंसियों द्वारा उठाई गई हानियों में कमी लाना ही मुख्य प्राथमिकता होनी चाहिए। घाटे और अधिशेष वाले क्षेत्रों में अनुकूलतम भंडारण से देश के करोड़ों रुपए बच सकते हैं। जिसका हम परिवहन क्षेत्र के लिए मोटर-गाड़ियों तथा तेल के आयात पर खर्च करते हैं।

बोध प्रश्न 4

1) किसानों, विशेष रूप से छोटे किसानों को अपने उत्पाद की बिक्री के लिए किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है? (उत्तर तीन वाक्यों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सहकारी विपणन समितियाँ क्या काम करती हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

3) कृषि उत्पादों के भंडारण की भारत में आज क्या समस्याएँ हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.8 सारांश

इस इकाई में हमने, कृषि के संदर्भ में कराधान, आर्थिक सहायता, विपणन और भंडारण से संबंधित विषयों पर चर्चा की है। भू-राजस्व, जो उन्नीसवीं सदी में राजस्व का प्रमुख स्रोत था, धीरे-धीरे समय के साथ अपना महत्व खोता गया और मौजूदा स्थिति में कुल राजस्व का केवल 2 प्रतिशत ही जमा कर रहा है। कृषि आयकर से प्राप्तियाँ बहुत ही कम हैं। इसका कारण छोटी जोत वाले किसानों की बहुतायत तथा बड़े भू-स्वामियों पर कर लगाने की राजनीति इच्छा शक्ति का अभाव है। किसानों द्वारा खरीदी जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं अथवा कृषि निविष्टियों पर लगने वाले करों के कारण भी कृषि पर अप्रत्यक्ष करों का प्रभाव कम है।

दूसरी ओर, राज्यों द्वारा कृषि उत्पादों और आगतों पर आर्थिक सहायता दी जाती है। कृषि सहायता का मूलाधार आधुनिक आगतों का प्रयोग और किसानों को उच्च उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना हो सकता है लेकिन उपलब्ध जानकारी के आधार पर विभिन्न आर्थिक सहायताओं के वितरण के स्वरूप का अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी, इस सहायता को मुख्यतः अधिक विकसित राज्यों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च आय वर्गों और बड़े किसानों द्वारा हथिया लिया गया है।

किसान अपने बिक्री न अधिशेष को उन स्थानीय व्यापारियों को बेच देते हैं जहाँ उनकी सौदा करने की क्षमता कम होती है और प्रायः वे अपने उत्पाद को लाचारी में बेच देते हैं। थोक तथा अंतिम बाजारों का स्वरूप स्थानीय बाजारों से एकदम भिन्न होता है। सहकारी विपणन समितियों का अस्तित्व और प्रचलन भी बहुत सीमित है। भंडारण सुविधाएँ भी कम हैं और ऐसे गोदामों की स्थिति का वितरण समान रूप से नहीं हुआ है। फलस्वरूप परिवहन संबंधी परिहार्य लागत (avoidable cost) से बचना कठिन हो जाता है।

17.9 शब्दावली

आपात बिक्री (Distress sale): पहले से किए गए अनुबंधों को पूरा करने अथवा पुराने कर्जों के भुगतान के लिए फसल कटाई के मौसम में ज्यादातर कृषि उत्पादों को लाचारी में बेचना।

सार्वजनिक राजस्व (Public revenue): राजस्व लेखों में सरकार की कुल प्राप्तियाँ (केंद्र अथवा राज्य) जिसमें कर राजस्व और गैर-कर राजस्व आते हैं।

वसूली गयी लागत (Recovered Cost): विभिन्न क्षेत्रों को सार्वजनिक सेवाएँ एंव जनोपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध कराने की कुल लागत का केवल एक निश्चित हिस्सा ही लाभग्राहियों से वसूल किया जाता है। इसी हिस्से को वसूली गयी लागत कहते हैं, शेष आर्थिक सहायता है।

आर्थिक सहायता (Subsidies): ऋणात्मक कर, सहायता प्रदान करने का आधार आगत तथा उत्पादन हो सकते हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा खाद्यान्नों का वितरण इसका उदाहरण हो सकता है। यहाँ विक्रेताओं को दी जाने वाली कीमत तथा परिवहन तथा वितरण पर आने वाली लागत से भी कम कीमत पर उपभोक्ताओं को खाद्यान्न बेचा जाता है और किसानों को आधुनिक निविष्टियाँ जैसे उर्वरक और ट्रैक्टर। आम बाजार भाव से कम कीमत पर उपलब्ध कराई जाती हैं।

17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सातवीं पंचवर्षीय योजना, 1985-90, योजना आयोग, नई दिल्ली।

मुद्रा तथा वित्त पर रिपोर्ट, 1989, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, मुंबई।

दांडेकर, वी.एम. और वाडिया एफ.के., 1989, डेवलपमेंट ऑफ इंस्टीट्यूशनल फाइनेंस फार एग्रीकल्चर इन इंडिया, *जरनल ऑफ इंडियन स्कूल ऑफ पॉलिटिकल इकॉनोमी* वाल्यूम 1 संख्या, 2 दिसम्बर।

दाँतवाला, एम.एल., 1970, "फ्रॉम स्टैगनेशन टू ग्रोथ", *इंडियन इकनॉमिक जरनल*, वाल्यूम XIX, संख्या 2, अक्तूबर-दिसम्बर।

गांधी, वेद प्रकाश, 1970, *सम ऐसपेक्टस ऑफ इंडियाज़ टैक्स स्ट्रक्चर*, (अध्याय 10), वोरा एंड कंपनी, बम्बई

गुलाटी, अशोक, 1987, "इफेक्टिव प्रोटेक्शन एंड सबूसिडीज इन इंडियन एग्रीकल्चर, *इंडियन जरनल ऑफ एग्रीकल्चरल इक्नॉमिक्स*, वाल्यूम XLII, अक्तूबर-दिसम्बर, पृष्ठ 561 से 577।

मंडल, सुदीप्त और एम.जी. रॉव, 1991, "वाल्यूम एंड कम्पोजीशन ऑफ गवर्मेंट सब्सिडीज़ इन इंडिया, 1987-88", *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, 4 मई।

राज, के.एन., 1973, "डाइरेक्ट टैक्सेशन ऑफ एग्रीकल्चर", *इंडियन इक्नॉमिक रिव्यू*, वाल्यूम VIII (न्यू सीरीज़), नंबर 1, अप्रैल, पृष्ठ 1-15।

रॉव, वी.के.आर.वी., 1931, *द टैक्सेशन ऑफ इंकम इन इंडिया* पब्लिशिंग प्रेस, (कलकत्ता), पृष्ठ 102-103।

गवर्मेंट ऑफ इंडिया, 1987, *द स्टेटिस्टिकल ऐबस्ट्रेक्ट्स ऑफ इंडिया*, सेंट्रल स्टेटिस्टिकल आरगेनाइजेशन, नई दिल्ली।

17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 17.2 देखिए। यह 1882-83 में शुरू हुआ था और इसके द्वारा राजस्व के निश्चित स्रोतों से प्राप्त आय को केंद्र तथा राज्यों में बाँटना था।
2) भाग 17.2 देखिए, आयकर और निर्यातकर प्रमुख थे।
3) राजस्व का प्रमुख स्रोत भू-राजस्व था, जिसका हिस्सा यद्यपि धीरे-धीरे कम हो रहा था, फिर भी काफी महत्वपूर्ण था। सीमा तथा उत्पाद शुल्क का अंशदान बहुत कम था। देखिए भाग 17.2.1।

बोध प्रश्न 2

1) देखिए 17.4.2 और उत्तर दीजिए।
2) देखिए 17.4.1 और उत्तर दीजिए।
3) देखिए 17.4.1 और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) देखिए 17.5 और उत्तर दीजिए।
2) देखिए 17.5.2 और उत्तर दीजिए।
3) 1). सही 2) गलत 3) सही

बोध प्रश्न 4

1) देखिए 17.7.1 और उत्तर दीजिए।
2) देखिए 17.7.2 और उत्तर दीजिए।
3) देखिए 17.7.3 और उत्तर दीजिए।

NOTES

NOTES

खंड

8

ग्रामीण गरीबी एवं असमानता तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

इकाई 18

ग्रामीण भारत में गरीबी और असमानता 5

इकाई 19

ग्रामीण स्तर पर गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम 23

खण्ड 8 ग्रामीण गरीबी एव असमानता तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

इस खण्ड के साथ ही भारत में कृषि विकास संबंधी पाठ्यक्रम समाप्त होता है। इसमें गरीबी और असमानता की रूपरेखा दोबारा प्रस्तुत की गई है, जिसे आप पहले ही ई.ई.सी.-02 में ग्रामीण भारत के विशेष संदर्भ में पढ़ चुके हैं। उसके बाद ग्रामीण क्षेत्र में विभिन्न गरीबी हटाओ कार्यक्रमों के बारे में बताया गया है। इस खण्ड में दो इकाई, इकाई 18 और 19 हैं।

इकाई 18 में ग्रामीण भारत में गरीबी और असमानता के स्वरूप तथा समय के साथ उनकी प्रवृत्ति और गरीबी के निर्धारक तत्वों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

इकाई 19 में देश में प्रमुख गरीबी हटाओ कार्यक्रमों के बारे में बताया गया है तथा इन कार्यक्रमों के प्रभाव की समीक्षा भी की गई है।

इकाई 18 ग्रामीण भारत में गरीबी और असमानता

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 गरीबी रेखा-परिभाषा और माप
18.3 गरीबी की प्रवृत्ति
  18.3.1 कैलोरी मानदंड
  18.3.2 राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) बनाम योजना आयोग का प्राक्कलन
18.4 प्रतिमाह प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय (MPCE) स्तर : निरपेक्ष गरीबी
18.5 गरीबी की रूपरेखा
  18.5.1 क्षेत्रीय रूपरेखा
  18.5.2 संसाधन आधार और गरीबी
  18.5.3 गरीबी और बेरोजगारी
  18.5.4 पोषण स्तर (Nutritional Status)
18.6 गरीबी की माप के रूप में खाद्यान्न तक पहुँच
18.7 सापेक्ष गरीबी
18.8 अनाज उत्पादन, कीमतें और गरीबी
18.9 क्षेत्रीय स्वरूप
18.10 ग्रामीण परिसंपत्तियों का आकार और वितरण
18.11 सारांश
18.12 शब्दावली
18.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

स इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- गरीबी रेखा और उसके माप संबंधी समस्याओं को जान सकेंगे,
- गरीबी की रूपरेखा और उसकी प्रवृत्ति को समझ सकेंगे, और
- गरीबी के निर्धारक कारकों के अध्ययन के साथ-साथ खाद्यान्न और भूमि तक पहुँच संबंधी असमानता के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

रीबी हटाओ और वितरणात्मक न्याय अर्थात् असमानता में कमी, किसी भी समाज के लिए हत्वपूर्ण तथा वांछनीय लक्ष्य होता है। गरीबी हटाओ का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम विश्यक वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध कराना है। "साम्य" अथवा न्याय (इक्विटी) की वैचारिक कल्पना थोड़ी जटिल है। इसका आशय उपभोग, आय और संपत्ति के वितरण में सापेक्षिक समानता में कमी लाने से है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों तथा न्याय की दृष्टि भी अधिक समान वितरण प्रणाली को "कम समान वितरण प्रणाली" की तुलना में प्राथमिकता जाती है। हालाँकि समानता की अभीष्ट मात्रा निर्धारित करना या उसे मापना इतना आसान हीं है कि उसे प्राप्त करने का प्रयास किया जाए।

951 में योजना के आरंभ से ही आय में तीव्र वृद्धि दर के साथ-साथ उसके अधिक समान तरण द्वारा लोगों के जीवन-स्तर को उठाने का उद्देश्य हमारी योजनाओं का आधार रहा है। र भी लोगों का यह मानना है कि बहत से क्षेत्रों में प्रभावकारी उपलब्धियों के बाद भी एकदम र्धन व्यक्ति के जीवन स्तर को मात्र निम्नतम बिन्दु से ऊपर उठाने की प्रगति अत्यंत धीमी रही

है। जहाँ तक समता का प्रश्न है, यह संदेहास्पद है कि इस क्षेत्र में कुछ भी प्रगति हुई है। जीवन के लगभग हर पहलुओं या क्षेत्रों में आय और संपत्ति के वितरण में स्पष्ट अंतर देखने को मिलता है। इस इकाई का उद्देश्य ग्रामीण भारत में निर्धनता स्तर और परिसंपत्तियों के वितरण से संबंधित प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है।

18.2 गरीबी रेखा - परिभाषा और माप

गरीबी एक बहु-आयामी स्थिति है, जो हमारे समाज में बहुत से सामाजिक-आर्थिक कारणों से उद्भुत होती है। फिर भी, यदि किसी से इस प्रश्न का उत्तर पूछा जाए कि, क्या भारत में गरीबी कम हुई है? तो उसे गरीबी की परिकलनकारी परिभाषा का प्रयोग करना पड़ेगा और इसे मापने के लिए उसे कोई पद्धति विकसित करनी पड़ेगी जिससे वह प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर सके। वास्तव इन में समस्याओं के बारे में कोई भी निर्णय निर्धनता की परिभाषा और उसके मापने के लिए प्रयुक्त आँकड़ों के आधार पर निर्भर है। इस प्रयोजन के लिए निर्धनता का अर्थ—जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम वस्तुओं और सेवाओं का न मिल पाना है। न्यूनतम आवश्यक वस्तुओं में रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य और बहुत सी अन्य सेवाएँ आती हैं। फिर भी स्पष्ट रूप से रोटी की आवश्यकता सर्वोपरि आवश्यकता है। गरीबी-रेखा की परिभाषा उपभोक्ता-व्यय के उस स्तर के रूप में की गई है, जिससे यथेष्ट, सक्रिय और स्वस्थ जीवन बिताने के लिए कैलोरी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि व्यय-स्तर, न्यूनतम ऊर्जा (कैलोरी) देने वाले खाद्यान्न की कीमत भर हैं। अलग-अलग व्यक्ति विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपना धन खर्च करते हैं जिसमें से भोजन निश्चित रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण है, किंतु वे भोजन पकाने के लिए ईंधन और शरीर ढकने के लिए कपड़े भी खरीदते हैं। उन्हें यात्रा भी करनी पड़ती है और वे अपनी आदतों पर भी खर्च कर सकते हैं। जैसे—पान खाना, तंबाकू खाना या बीड़ी सिगरेट पीना, जिसे अवांछनीय या अनावश्यक समझा जा सकता है। गरीबी-रेखा की परिभाषा में यह मान लिया जाता है कि जब व्यक्ति अपनी पसंद के लिए विभिन्न वस्तुओं पर धन खर्च करता है (इसमें वे वस्तुएँ भी शामिल हैं जो आवश्यक नहीं भी हो सकती हैं) तो व्यय का ऐसा कोई स्तर होगा, जिस पर न्यूनतम खाद्य आवश्यकता पूरी होती है। व्यय का यही स्तर वह न्यूनतम व्यय है जिसे गरीबी-रेखा व्यय कहा जाता है। इस रेखा से नीचे के खर्च वाले व्यक्तियों और परिवारों को निर्धन या गरीब के रूप में परिभाषित किया जाता है।

इससे न्यूनतम खाद्य आवश्यकता को परिभाषित करने का दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। यह प्रश्न सर्वप्रथम 1957 में भारतीय मजदूर सम्मेलन (Indian Labour Conference) में उठाया गया। भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् (Indian Council of Medical Research) ने 1958 में एक पोषण सलाहकार समिति (Nutrition Advisory Committee) का गठन किया। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर योजना आयोग द्वारा 1962 में गठित "कार्य दल" (Working Group) ने यह सिफारिश की कि 1960-61 की कीमतों के आधार पर प्रति माह प्रति व्यक्ति 20 रु. का उपभोक्ता व्यय, कैलोरी आवश्यकता के मुताबिक न्यूनतम पोषक आहार प्रदान कर सकता है और गैर-खाद्य वस्तुओं पर एक संतुलित मात्रा में खर्च भी किया जा सकता है। इस दल ने यह सुझाव दिया कि यह न्यूनतम राशि, शहरी क्षेत्रों के लिए प्रतिमाह प्रति व्यक्ति 25 रु. और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए प्रति माह 18.90 रु. होगी। इन दोनों का आधार 1960-61 की कीमतें रही हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अंतर दो बातों के कारण है, अर्थात् (i) ग्रामीण कार्य अत्यंत श्रमसाध्य होता है, इसलिए अधिक मात्रा में भोजन ग्रहण करना आवश्यक होता है, और (ii) ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्य पदार्थों की लागत शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा कम होती है।

र्वप्रथम 1971 में प्रकाशित दांडेकर और रथ ने अपने एक महत्वपूर्ण अध्ययन में, 1960-61 की मतों के आधार पर यह बताया है कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए प्रति माह प्रति व्यक्ति 15 रु. और हरी क्षेत्रों के लिए 22.50 रु. का उपभोक्ता व्यय आवश्यक है। यह वह व्यय स्तर है, जिससे ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 2,250 कैलोरी (ऊर्जा) ग्रहण कर सकता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस व्यय-स्तर में स्वास्थ्य और शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय शामिल नहीं है और यह मान लिया जाता है कि इस व्यय की पूर्ति राज्य द्वारा की जाती है। 1977 में योजना आयोग ने "न्यूनतम आवश्यकता और प्रभावी उपभोग मांग प्रक्षेपण" (Task Force on Projection of Minimum Needs and Effective Consumption Demand) पर एक कार्य दल गठित किया। इस कार्य दल ने निर्धनता को प्रति माह प्रति व्यक्ति व्यय के रूप में परिभाषित किया और इस व्यय को ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 2,400 कैलोरी और शहरी क्षेत्रों में 2,100 कैलोरी प्रतिदिन ग्रहण करने के हिसाब से निर्धारित किया। कैलोरी के ये मानदंड पोषण विशेषज्ञ

दल (Nutrition Expert Group) की सिफारिशों क आधारपर अपनाए गए हैं। इस दल का गठन विभिन्न आयु वर्ग, लिंग (स्त्री-पुरुष) और कार्य करने वाले समूह के लोगों की कैलोरी संबंधी आवश्यकताओं के अध्ययन के बारे में किया गया था। किसी व्यक्ति के लिए कैलोरी संबंधी आवश्यकता उसकी उम्र, लिंग (स्त्री-पुरुष) और कार्य के स्वरूप पर निर्भर होती है। इसलिए पूरे देश में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के लिए औसत मानदंड उम्र, लिंग (स्त्री-पुरुष)और जनसंख्या की व्यावसायिक संरचना के आधार पर परिकलित किया गया। यह मानदंड 1973-74 की कीमतों के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति माह 49.09 रु. तथा शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति माह 56.64 रु. के व्यय के अनुरूप था।

18.3 गरीबी की प्रवृत्ति

20 से 30 वर्ष की अवधि में गरीबी की प्रवृत्ति का विश्लेषण करने से कई गंभीर प्रश्न उठते हैं। सभी अर्थशास्त्री इन उभर रही प्रवृत्तियों से सहमत नहीं हैं। माप संबंधी समस्याएँ निम्नलिखित प्रश्नों से जुड़ी हुई हैं :

18.3.1 कैलोरी मानदंड

कैलोरी मानदंड का उपयोग निर्धनता का एक संकेतक है। केवल कैलोरी-ग्रहण आधार के अलावा निर्धनता के बहुत से अन्य पहलुओं को इस माप में शामिल नहीं किया गया है। इसके साथ ही एक सांख्यिकीय समस्या यह है कि किसी आबादी के कैलोरी-ग्रहण के औसत की व्याख्या किस प्रकार की जाए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अलग-अलग व्यक्तियों की आहार-आवश्यकता बहुत से कारकों पर निर्भर करती है, जिनमें विभिन्न प्रकार की खाद्य वस्तुओं के ग्रहण करने के आधार पर मनुष्य की जैविक क्षमता भी शामिल है। प्रो. सुखात्मे (जो देश के एक जाने-माने वरिष्ठ सांख्यिकीविद और विद्वान हैं) ने यह तर्क दिया है कि चूँकि औसत कैलोरी-मानदंड, कैलोरी आवश्यकता के वितरण के आधार पर अपनाया गया है, इसलिए सांख्यिकीय रूप से किसी विनिर्दिष्ट श्रेणी में औसत कैलोरी-ग्रहण 25 प्रतिशत से कम या अधिक है तो किसी व्यक्ति की आहार आवश्यकता को पूरा कर सकता है और उसे अल्प कैलोरी पोषण के रूप में श्रेणीकृत नहीं किया जाएगा। इसका आशय यह है कि यदि औसत 2300 कैलोरी है तो 1900 कैलोरी ग्रहण भी सांख्यिकीय रूप से औसत मानदंड की स्वीकार्य सीमा के अंतर्गत है। इसका अभिप्राय यह है कि 2300 कैलोरी लेने वालों से नीचे के लोगों को निर्धन मानने के बजाए केवल उन लोगों को निर्धन माना जाना चाहिए जो 1900 कैलोरी लेने वालों से नीचे हैं। प्रोफेसर डान्डेकर इस विचार से सहमत नहीं है। फिर भी, यह बात पुनः कही जा सकती है कि हम पोषण के अर्थ में निर्धनता की माप में अल्प-पोषण को नहीं माप रहे हैं। हम केवल कैलोरी-ग्रहण को 'माप बिन्दु गणन संख्या इकाई' (Scalor Cardinal Unit) के रूप में ले रहे हैं जो निर्धनता का एक परोक्षी संकेतक है और एक बहु आयामी अदिश (Vector) है।

18.3.2 राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) बनाम योजना आयोग का प्राक्कलन

माप की इस चर्चा में दूसरी समस्या, निर्धनता व्यय की निर्धारण रेखा अपनाने से संबंधित है। उपभोक्ता व्यय विवरण, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन द्वारा किए गए "पारिवारिक उपभोग सर्वेक्षण" से प्राप्त किया जाता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) विभिन्न व्यय वर्गों के उपभोग में आने वाले विभिन्न खाद्य और गैर-खाद्य पदार्थों की मात्रा भी बताता है। व्यय निर्धारण रेखा को अद्यतन रखने के लिए दो विकल्प है : (क) वर्तमान प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय, जो कि गत वर्ष की गरीबी रेखा के रूप में दिखाया गया है और जिसे उपर्युक्त कीमत सूचकांक अपस्फाचक (Deflators) का उपयोग करके निर्धन वर्ग की उपभोग वस्तुओं के लिए बढ़ाया जा सकता है, (ख) चालू वर्ष के उपभोग सर्वेक्षण से एक नई गरीबी, रेखा जो वांछित न्यूनतम कैलोरी आवश्यकता की पूर्ति करती है, परिकलित की जा सकती है। यह पद्धति, अखिल भारतीय स्तर पर प्रवृत्ति प्राप्त करने के लिए उपयोग में अब तक नहीं लाई गई है। सामान्यतः निर्धनता प्रवृत्ति, कीमत अपस्फाचक का उपयोग करते हुए निर्धनता सीमा रेखा को अद्यतन करके प्राप्त की गई है। इस मामले में समुचित कीमत अपस्फीतक का विकास विवादास्पद मामला रह जाता है, क्योंकि विभिन्न अपस्फीतकों का उपयोग करने से उभर रही प्रवृत्तियाँ बिल्कुल असमान होती हैं। योजना आयोग के कार्य दल ने गरीबी को ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2100 कैलोरी-ग्रहण करने के मुताबिक परिभाषित किया है, जिसे 1973-74 की कीमतों के अनुसार अखिल भारतीय स्तर पर प्रति व्यक्ति प्रति माह

49.09 रु. (ग्रामीण) और 56.64 रु. (शहरी) के बराबर अनुमानित किया गया था। चालू वर्ष की कीमतों पर गरीबी-रेखा की व्यय सीमा तालिका 18.1 में दिखाई गई है।

तालिका 18.1 : गरीबी रेखा की व्यय-सीमा

प्रति व्यक्ति प्रति माह रु.

वर्ष	ग्रामीण	शहरी
1970-71	33.01	39.04
1973-74	49.09	56.64
1983	93.16	111.25
1987-88	122.63	158.31

स्रोत : मिन्हास-1991

माप की तीसरी समस्या यह है कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के उपभोग-व्यय से संबंधित आंकड़ों को केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) के राष्ट्रीय लेखा प्राक्कलन के साथ संगति लानी होगी। केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन का राष्ट्रीय लेखा, किसी वर्ष विशेष में राष्ट्रीय लेखा की समष्टिगत प्रणाली के रूप में कुल व्यय प्रदान करता है। चूँकि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण पाँच वर्ष में एक बार किया जाता है, इसलिए बीच के वर्षों से संबंधित प्राक्कलन, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के सर्वेक्षण से प्राप्त वितरण में उपयुक्त समायोजन किया जाता है। यह समायोजन केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा प्राक्कलित कुल व्यय के आधार पर प्राप्त करना होगा। तालिका 18.2 में दिखाए गए निर्धनता प्राक्कलन में अंतर का एक कारण, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के समानुपातों का केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन के कुल आंकड़ों के साथ समायोजन करने की पद्धति है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह जानना आश्चर्यजनक नहीं होगा कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के उपभोक्ता व्यय आँकड़ों से प्राप्त निर्धनता प्राक्कलन में काफी अंतर दिखाई देता है। निर्धनता का वैकल्पिक प्राक्कलन नीचे तालिका 18.2 में दिखाया गया है :

सारणी 18.2 : निर्धनता का वैकल्पिक प्राक्कलन (प्रतिशत आबादी)

वर्ष	ग्रामीण	शहरी	कुल
		योजना आयोग	
1972-73	54.1	41.2	51.5
1977-78	51.2	38.2	48.3
1983-84	40.4	28.1	37.4
1987-88	32.7	19.4	29.2
		बी.एस.मिन्हास	
1970-71	58.8 (254.5)	46.8 (48.7)	56.4 (303.2)
1983	50.9 (273.6)	40.0 (66.5)	48.4 (340.1)
1987-88	48.9 (280.5)	38.8 (75.3)	46.3 (355.8)

कोष्टक में दिए गए आंकड़ों की संख्या मिलियन में है। स्रोत : मिन्हास-1991

उपर्युक्त आकलन के आधार पर कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि इस सदी के 9वें दशक के दौरान ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में निर्धनता के स्तर में 7वें और 8वें दशक के मुकाबले में कमी आई है। 7वें दशक और 8वें दशक में निर्धनता के स्तर में कोई खास कमी नहीं आई है। निर्धनता में कमी का यह आकलन योजना आयोग के आकलन के अनुसार 1983 में 37.1 प्रतिशत और 1987-88 में 29.2 प्रतिशत रहा। किंतु प्रो. मिन्हास के अनुसार गिरावट बहुत ही कम रही अर्थात्

1983 में 46.6 रही जो 1987-88 मे गिरकर 42.7 प्रतिशत हो गई। इसका मतलब यह है कि निर्धनों की निरपेक्ष (कुल) संख्या में नवें दशक के दौरान भी कमी नहीं आई होगी और ग्रामीण/शहरी लोगों का विभाजन वैसा ही व्यापक बना रहा जैसा कि पहले था।

बोध प्रश्न 1

1) गरीबी रेखा को परिभाषित कैसे किया जाता है और क्यों?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) गत दो दशकों में निर्धनता प्रवृत्तियों की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निर्धनता के संबंध में व्यय की सीमा रेखा पर विचार-विमर्श के मुख्य मुद्दे क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

18.4 प्रति माह प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय स्तर (MPCE) निरपेक्ष निर्धनता

विश्लेषण की एक सरल पद्धति, यह है कि उपभोग व्यय के वितरण से संबंधित प्र
अलग-अलग "समूहों" में व्यय की वृद्धि में हुए परिवर्तनों का अध्ययन किया जा
वितरण से अलग-अलग "समूहों" का व्यय प्राप्त होता है जैसे–निम्नतम 5 प्र
प्रतिशत या 20 प्रतिशत। यदि कुल जनसंख्या को 10 प्रतिशत के समूहों में ब
इस वितरण को दशमक वितरण (decile distribution) कहा जाता है)। इस
यह है कि निम्नतम दो या तीन दशमलव वर्गों के व्यय पर ध्यान केंद्रित कि
18.3 से यह देखा जा सकता है कि निम्नतम दो ग्रामीण दशमलव अंकों में
उपभोग व्यय (MPCE) में 11 प्रतिशत वृद्धि हो गई अथवा प्रति वर्ष 0
दर से वृद्धि हुई। यह समग्र रूप में ग्रामीण आबादी की 0.97 प्रतिशत व

अथवा 13 प्रतिशत की वृद्धि से कम है। तालिका 18.3 में व्यय की दिखाई गई निर्धनता सीमा के साथ इस तालिका में दिखाए गए स्तर से तुलना करने पर यह देखा जा सकता है कि जनसंख्या का निम्नतम 20 प्रतिशत का व्यय स्तर गरीबी रेखा के आधे से थोड़ा सा अधिक था। यह अंतर सामान्य समूह के अंदर निर्धनता की गहनता का एक दूसरा संकेतक है जिसे गरीबी रेखा से नीचे बताया गया है। यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि व्यय स्तर में संवृद्धि की दृष्टि से शहरी क्षेत्र के गरीब ग्रामीण क्षेत्रों के गरीबों की अपेक्षा बेहतर रहे। तथापि प्रति माह प्रति व्यक्ति व्यय के स्तरों और संवृद्धि दर में क्षेत्रीय अंतर "निम्न व्यय दशमक" (lower expenditure decile) में काफी है। पूर्वी क्षेत्र (बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और असम) का प्रति माह प्रति व्यक्ति व्यय का स्तर निम्नतम है और उसके बाद दक्षिणी क्षेत्र (आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु) का है, हालाँकि दक्षिणी राज्यों में वास्तविक प्रति माह प्रति व्यक्ति व्यय की संवृद्धि दर ज्यादा रही है और देश के दूसरे क्षेत्रों की तुलना में काफी अवधि तक यह वृद्धि जारी रही है। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर तथा पंजाब) का प्रति माह प्रति व्यक्ति व्यय का स्तर सबसे अधिक है।

तालिका 18.3 : प्रति माह प्रति व्यक्ति व्यय रु.

	ग्रामीण दशमक			शहरी दशमक		
	0.20	20-40	जोड़	0-20	20-40	जोड़
1983 (1983 की कीमतें)	50.75	73.72	112.62	68.84	104.42	169.93
1983 (1970 की कीमतें)	17.97	26.10	39.88	24.13	36.64	59.63
1977/78 (1970 की कीमतें)	16.50	24.50	36.45	22.30	33.67	55.22
1970/71 (1970 की कीमतें)	16.20	23.75	35.31	21.27	31.37	52.85
संवृद्धि दर प्रति वर्ष प्रतिशत	(0.83)	(0.75)	(0.97)	(1.02)	(1.05)	(0.97)

स्रोत : विश्व बैंक—भारत : निर्धनता, रोजगार और सामाजिक सेवा 1989.
राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के उपभोक्ता व्यय सर्वेक्षण पर आधारित।

18.5 निर्धनता की रूपरेखा

बहुत से अनुसंधान अध्ययनों से प्राप्त निर्धनता की रूपरेखा से निम्नलिखित सामान्य विशेषताओं का पता चलता है, यद्यपि विशिष्ट ब्यौरे स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं :

18.5.1 क्षेत्रीय रूपरेखा

देश में कुछ ऐसे विशिष्ठ क्षेत्र हैं जहाँ पर गरीबी का स्तर अखिल भारतीय स्तर से बहुत अधिक है। राज्य स्तर पर बिहार सबसे अधिक निर्धन राज्य है। जिन राज्यों का स्तर अखिल भारतीय स्तर से ऊपर है वे हैं—पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और तमिलनाडु। ऐसा उन सभी वर्षों के दौरान रही जिसके लिए 1970-71 से राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से प्राप्त आँकड़े उपलब्ध थे। पंजाब का अनुपात (निर्धनता स्तर) सभी वर्षों में सबसे कम है। जिन राज्यों का स्तर, (निर्धनता स्तर) औसत-दर से कम है, वे हैं—राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर; कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश। गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और असम का निर्धनता स्तर औसत दर से कभी ज्यादा रहा तो कभी औसत दर से कम रहा। राज्य से नीचे के स्तरों पर यह पता चलता है कि पश्चिम में गुजरात के भागों से लेकर पूर्व में बिहार और उड़ीसा तक के लगभग संपूर्ण आदिवासी इलाकों, जिसमें राजस्थान और मध्यप्रदेश के विशाल आदिवासी इलाके भी शामिल हैं, में निर्धनता का स्तर इन इलाकों से सटे हुए गैर-आदिवासी इलाकों में पाए जाने वाले स्तरों की तुलना में काफी अधिक है। उत्तर पूर्वी आदिवासी क्षेत्रों को उपर्युक्त वर्गीकरण में

हीं शामिल किया गया है। इसी प्रकार से लाभ प्राप्त न कर पाने वाले कुछ क्षेत्रों में निर्धनता हुत अधिक है जैसे उत्तर प्रदेश और कर्नाटक तथा महाराष्ट्र के सूखा-पीड़ित क्षेत्र और निन्सुलर भारत के कुछ तटवर्ती क्षेत्र। संक्षेप में गरीबी, क्षेत्र-विशेष की विशेषताओं से जुड़ी हुई जो कि या तो भौतिक पर्यावरण (अर्थात् हिमालय के तराई वाले क्षेत्र या सूखा पीड़ित क्षेत्र) या सामाजिक-आर्थिक कारक जैसे भूमि संबंध या जाति परंपरा (अर्थात् पश्चिम बंगाल और हार) से संबंधित होती है या फिर भौतिक तथा सामाजिक-आर्थिक कारक (जैसे आदिवासी ाके) दोनों ही से संबंधित होती है।

8.5.2 संसाधन आधार और गरीबी

मीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में गरीब परिवारों की दूसरी विशेषता यह है कि उनके पास अपनी विका कमाने के संसाधन आधार बहुत ही सीमित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब व्यक्तियों में मिहीन हैं, सीमांत किसान हैं या सिंचाई के साधनों से विहीन छोटे-मोटे खेतिहर हैं अथवा काफी दाद में कारीगर और दस्तकार हैं जिनके पास न केवल सीमित परिसंपत्तियाँ है बल्कि रुचि astes) और तकनॉलोजी में हुए परिवर्तनों के कारण उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं और प्रदान गई सेवाओं की माँग में गिरावट होने कारण उन्हें नुकसान उठाना पड़ता है। गरीबी का दुष्चक्र उन्हें अन्य समूहों की अपेक्षा और भी गरीब बना देता है क्योंकि उनकी गरीबी ाधनों के अभाव के कारण (जैसे निरक्षरता, कुपोषण और खराब स्वास्थ्य) उनकी आय अर्जित रने की क्षमता को और भी कम करता है। शहरी गरीबों की दशा उसी ग्रामीण स्थिति का वक है जिसका ग्रामीण गरीब को उस समय सामना करना पड़ता है जब वह गाँवों से शहरों की र पलायन करता है।

8.5.3 गरीबी और बेरोजगारी

सरी विशेषता यह है कि ग्रामीण गरीबी के साथ-साथ सामान्यत: अत्यधिक बेरोजगारी व्याप्त अपर्याप्त रोजगार भूमिहीनों और सीमांत किसानों को सबसे अधिक प्रभावित करता है। लिए मज़दूर परिवारों में गरीब व्यक्तियों का अनुपात बहुत से राज्यों में कुल का 50 प्रतिशत अधिक होता है। बिहार और मध्य प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में यह अनुपात 75 से 80 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में जो भूमिहीन दैनिक एवं अनियमित रोजगार (casual daily employment) अंतर्गत मज़दूरी पर निर्भर करते हैं वे जहाँ एक तरफ देश में जनसंख्या वृद्धि के दबाव के स्वरूप रोजगार की अनिश्चितता और अपर्याप्तता के कारण समस्याओं का सामना करते हैं ं दूसरी तरफ कृषि तकनॉलोजी में हुए परिवर्तनों के कारण भी समस्याओं का सामना करते हैं। रिवर्तन प्राय: श्रम की बचत करने वाले होते हैं (ट्रैक्टर भूमि की जुताई के लिए और परिवहन लिए ट्रक) और उपलब्ध रोजगार को कम कर देते हैं। निम्न मज़दूरी, ट्रेड यूनियनों का अभाव न्यूनतम मज़दूरी कानूनों के कार्यान्वयन में कठिनाई, ग्रामीण क्षेत्र में मज़दूरी की आय को र अधिक सीमित कर देती है।

8.5.4 पोषण स्तर (Nutritional Status)

द्यान्न पर व्यय का अनुपात प्रति माह प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय (MPCE) से विपरीत रूप से iversely related) जुड़ा हुआ है। निम्न दशमक वर्ग (deciles) खाद्यान्न पर कुल उपभोग व्यय 70 प्रतिशत से अधिक खर्च करता है। फिर भी खर्च के निम्न स्तर के कारण पोषक आहार त्रा और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टि से बहुत कम होती है। कुपोषण एक स्थानीय या क्षेत्रीय शेषता है। बहुत से अध्ययनों से पता चला है कि भूख और कुपोषण के व्यापक रूप से शिकार ह विशेष वर्ग के लोग होते हैं। राष्ट्रीय पोषण मॉनिटरिंग ब्यूरो के अनुसार अनुसूचित जातियाँ, महीन मज़दूर और 5 वर्ष से कम उम्र वाले बच्चे, कमजोरी और कुपोषण के विशेष रूप से कार होते हैं। समन्वित शिशु विकास सेवा कार्यक्रम से प्राप्त आँकड़ों से भी इसी प्रकार की त्तियाँ परिलक्षित होती हैं। जिन राज्यों में गरीबी का अनुपात सबसे अधिक है (जैसे–बिहार, र प्रदेश, और मध्य प्रदेश) उन राज्यों में भी कुपोषित शिशुओं का प्रतिशत सबसे अधिक है। यु-दर की अधिकता विशेषकर शिशु-मृत्यु दर, कुपोषण और गरीबी का दूसरा अप्रत्यक्ष हरण है।

अ प्रश्न 2

प्रतिमाह प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय का फैक्टिल दशमक (decile) समूह क्या है?

.....

.....

2) निरपेक्ष निर्धनता के माप के रूप में प्रतिमाह प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताएँ क्या है?

3) गरीबी के स्वरूप की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।

18.6 गरीबी की माप के रूप में खाद्यान्न तक पहुँच

हमने अब तक निर्धनता के निरपेक्ष स्तर पर ही विचार किया है। तथापि इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि निरपेक्ष निर्धनता स्तर की कल्पना इतने कम स्तर पर है कि एंजिल अनुपात का सामान्य व्यवहार अर्थात् खाद्यान्न पर प्रति व्यक्ति व्यय अनुपात, प्रति व्यक्ति व्यय के निम्नतम दशमक समूहों में कमी लाने में समर्थ न रहा और ऊपर बताए गए पोषक आहार से वंचित होने की सीमा ही पुष्ट होती है। छठे और आठवें दशक के बीच राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार किसी भी दशमक समूहों में कुल खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपभोग की दीर्घकालिक प्रवृत्ति द्वारा कोई कमी या वृद्धि की बाजार प्रवृत्ति प्रदर्शित नहीं होती। तथापि अखिल भारतीय स्तर पर कुल खाद्यान्न को चावल, गेहूँ और अन्य अनाज वर्ग में विभक्त करने से महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का पता चलता है। गेहूँ की औसत प्रति व्यक्ति उपभोग, प्रति व्यक्ति व्यय वाले निम्नतम दशमक समूहों के लिए छठे दशक के मध्य प्रति माह 0.22 – 0.4 किलोग्राम से बढ़कर आठवें दशक के मध्य में प्रति माह लगभग 1.2 – 1.5 किलोग्राम हो गया किन्तु उसी अवधि में उच्चतम दशमक समूह के लिए यह बढ़कर 4.5 किलोग्राम से 7-8 किलोग्राम हो गया। उसी अवधि में निम्नतम तीन दशमक समूहों के लिए चावल का प्रति व्यक्ति उपभोग भी लगभग 10 प्रतिशत बढ़ गया किन्तु दूसरे अनाजों का उपभोग जिन्हें सामान्यत: घटिया अन्न माना जाता है और जिनका उपभोग गरीब तबकों में ज्यादा होता है, इसी अवधि में निम्न दशमक समूहों के लिए लगभग आधा रह गया। यह भारत में खाद्यान्न उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन की समग्र प्रवृत्ति के प्रभाव का स्पष्ट उदाहरण है। ऐसा हरित क्रांति से संभव हुआ क्योंकि इससे ज्यादा पानी की आवश्यकता वाले उम्दा अनाजों की प्राप्ति में वृद्धि हुई है, किन्तु यह शुष्क जमीन पर पैदा होने वाले घटिया अनाजो की कीमत पर हुई है। शुष्क जमीन में उत्पादित मोटे अनाज का उपभोग गरीब तबकों में होता है। यह बात कीमतों की प्रवृत्ति से भी प्रमाणित होती है। गेंहूँ की अपेक्षा अन्य अनाजों की कीमतो में अधिकांश वृद्धि हुई। गेहूँ की कीमतों में विशेषकर 1964-65 से लेकर आठवें दशक के मध्य तक न्यूनतम वृद्धि हुई।

8.7 सापेक्ष गरीबी

स संदर्भ में गरीबी के सापेक्षिक स्तर पर एक नज़र डालना उपयोगी रहेगा। इसके लिए विभिन्न शमक समूहों को प्रति व्यक्ति कुल उपभोग व्यय वर्गों में आबादी के आकार को बाँट दिया गया । इसकी माप लॉरेंज अनुपात द्वारा की गयी है। श्री एन. भट्टाचार्य ने अपने हाल के अध्ययन में हन-सहन के स्तरों में असमानता की प्रवृत्ति का ब्यौरेवार रूपरेखा प्रस्तुत की है। आबादी के बसे निचले तबके के 20 प्रतिशत भाग का अंश छठे और आठवें दशक के मध्य सामान्यत: बढ़ा । केवल 1977-78 में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 32 वें दौर में थोड़ी सी गिरावट आई थी। अत: ुल उपभोग व्यय में सबसे निचले तबके वाले 20 प्रतिशत ग्रामीण आबादी का प्रतिशत अंश .5 प्रतिशत से बढ़कर लगभग 9 प्रतिशत हो गया। और ग्रामीण आबादी के निम्नतम 50 तिशत का अंश जो छठे दशक के पूर्वार्द्ध में 27 प्रतिशत था बढ़कर 1963 से 1983 के 0 वर्ष की अवधि में लगभग 30 प्रतिशत हो गया। यहाँ पर ध्यान रहे कि इन दोनों दशकों के रान न्यूनतम 10 प्रतिशत वाले तबके के अंश में वस्तुत: कोई स्पष्ट प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती। थापि, ये परिकलन, मूल्य की दृष्टि से उपभोग व्यय कीमतों में उतार-चढ़ाव द्वारा प्रभावित होता और ग्रामीण क्षेत्र में अनाज की कीमतें भी गरीब और समृद्ध लोगों के लिए अलग-अलग ढंग से ठती और गिरती हैं। हमारी ग्रामीण आबादी के 10 प्रतिशत से 50 प्रतिशत निचले तबकों का ंश जहाँ तक अनाज की मात्रा से संबद्ध संकेन्द्रण अनुपात का प्रश्न है किसी स्पष्ट प्रवृत्ति को कट नहीं करता हालाँकि मूल्य की दृष्टि से खाद्यान्न के उपभोग में वृद्धिशील प्रवृत्ति स्पष्ट ष्टिगोचर होती है। इससे स्पष्ट है कि हरित क्रांति के बाद की अवधि में खाद्यान्न उत्पादन में च्च वृद्धि दर से गरीब ग्रामीणों की अनाज उपभोग में जो भी उपलब्धि रही हो वह खाद्यान्न की ीमतों में वृद्धि के फलस्वरूप अधिकांशत: समाप्त हो गयी। भट्टाचार्य ने एक तरफ वास्तविक ज़दूरी दर और दूसरी ओर खाद्यान्न की कीमत तथा कीमत स्तर के बीच विपरीत संबंध दर्शाया । यह बिल्कुल आश्चर्यजनक नहीं है कि ग्रामीण गरीब, किसी भी स्फीतिकारी प्रक्रिया में ाशेषकर, खाद्यान्न की कीमतों की दृष्टि से हानि की स्थिति में ही रहेंगे क्योंकि वे खाद्यान्नों के ावल खरीदार होते हैं तथा ग्रामीण आबादी के उन वर्गों से भिन्न होते हैं जिनके पास पर्याप्त पने जमीनें होती हैं और जो उत्पाद में से ही उन्हें (गरीबों को) खाद्यान्न बेचते हैं।

8.8 अनाज उत्पादन, कीमतें और गरीबी

ी भट्टाचार्य ने ग्रामीण निर्धनता के निर्धारक तत्वों से संबंधित विस्तृत सैद्धांतिक मॉडल पर चार किया है और निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए हैं :

) अनाज की वर्तमान प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि से ग्रामीण निर्धनता का प्रसार कम होता है,

) तथापि पिछली अवधि में अनाज के प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि वर्तमान अवधि में ग्रामीण निर्धनता के प्रभाव में कमी या वृद्धि कर सकती है अथवा इसे यथावत रख सकती है परंतु कोई भी व्यक्ति इसमें भी कमी होने की आशा कर सकता है।

) इसी प्रकार पिछली अवधि में खाद्यान्न की सापेक्ष कीमत में वृद्धि वर्तमान अवधि में ग्रामीण निर्धनता के प्रसार में वृद्धि या कमी कर सकती है किंतु कीमत में परिवर्तनों पर आपूर्ति की प्रतिक्रिया के अनुसार गरीबी के स्तर में वृद्धि हो सकती है।

) शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि ग्रामीण क्षेत्र में निश्चित रूप से गरीबी का प्रसार बढ़ाती है। यह ध्यान रहे कि हमारे देश में कृषि क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय और गैर-कृषि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में अंतर बढ़ता ही चला आया है।

) फिर भी, ग्रामीण गैर-कृषि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि ग्रामीण निर्धनता के प्रसार में वृद्धि या कमी कर सकती है अथवा इसे यथावत भी छोड़ सकती है और इसके प्रभाव का निर्धारण सैद्धांतिक आधार पर नहीं किया जा सकता यद्यपि पारंपरिक तौर पर किसी भी व्यक्ति को इसमें कमी होने की आशा करनी चाहिए।

सके बाद उन्होंने ने अपनी सैद्धांतिक प्रणाली में खाद्यान्न संबंधी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ामिल कर उसे तथ्यों के संदर्भ में जाँच करने के लिए अपने मॉडल का अंतिम रूप विकसित या। उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

हम देख सकते हैं कि अनाज के प्रति व्यक्ति वर्तमान उत्पादन में 1 प्रतिशत की वृद्धि ग्रामीण र्धनता को लगभग 0.62 प्रतिशत कम कर देती है जबकि प्रति व्यक्ति गैर-कृषि वास्तविक आय

यदि पिछले वर्ष अनाज की सापेक्ष कीमत 1 प्रतिशत बढ़ जाती है तो वर्तमान वर्ष में ग्रामीण गरीबी में लगभग 1.06 प्रतिशत की वृद्धि होती है। सरकार की वसूली एवं वितरण नीति ने कुछ हद तक ग्रामीण निर्धनता को कम किया है हालाँकि यह प्रभाव बहुत ही कम है। उदाहरणतया, पिछले वर्ष में प्रति व्यक्ति वसूली में 1 प्रतिशत वृद्धि होने से वर्तमान वर्ष में ग्रामीण निर्धनता लगभग 0.1 प्रतिशत कम हो जाएगी। अंततः पिछले वर्ष में प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन में 1 प्रतिशत वृद्धि होने पर वर्तमान वर्ष में ग्रामीण निर्धनता में लगभग 0.54 प्रतिशत कमी आएगी।"

अनाज तक पहुँच तथा जमीन और अन्य ग्रामीण परिसंपत्तियों तक पहुँच के बीच स्पष्टतया घनिष्ठ संबंध हैं और यह सर्वविदित है कि इनके वितरण में भारी असमानता है।

विशेष रूप से, मुख्यतः खाद्यान्न तक पहुँच के आधार पर आँका जाने वाला ग्रामीण निर्धनता का यह स्वरूप ग्रामीण भारत में अब भी भूमि तक पहुँच द्वारा अधिशासित होता है। फलस्वरूप ग्रामीण निर्धन व्यक्ति दो बार नुकसान उठाते हैं—

एक बार तब जब वे अपनी उपज को कटाई के पश्चात् ही कम कीमतों पर बेचने के लिए विवश होते हैं और दूसरी बार तब जब उन्हें अनाज की उपभोग संबंधी अपनी आवश्यकताओं के लिए उच्च कीमतों पर अनाज खरीदना पड़ता है। यह ध्यान रहे कि गरीबों को मज़दूरी दरों, रोजगार और आय में होने वाले उतार-चढ़ाव के कारण अधिक कीमत देने को विवश होना पड़ता है। जब कृषि का मौसम नहीं होता तब मजदूरी दरें कम हो जाती हैं, रोजगार कम हो जाते हैं और खाद्यान्न की कीमतें ऊँची होती हैं।

18.9 क्षेत्रीय स्वरूप

जिस प्रकार ग्रामीण भारत में जमीन की जोतों तथा परिसंपत्तियों के वितरण में अलग-अलग राज्यों में अंतर है, भट्टाचार्य तथा उनके समूह ने यह सिद्ध कर दिया है कि उपभोग व्यय के आधार पर वर्गीकृत की गई ग्रामीण जनसंख्या के एक ही दशमक वर्ग के लिए भी एक राज्य से दूसरे राज्य में (सामान्य कीमत स्तर के तुलना में) अनाज और खाद्यान्न की सापेक्ष कीमतों में अधिक वृद्धि हुई है। जब अखिल भारतीय स्तर पर वास्तविक प्रति व्यक्ति व्यय ढाँचे की राज्य स्तर पर तुलना की जाती है तो यह पाया जाता है कि बिहार, पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिम बंगाल जैसे चार राज्यों में सातवें दशक में 1967-68 तक अखिल भारतीय स्वरूप की भाँति ह्रासमान प्रवृत्ति विद्यमान रहा। किन्तु इसके बाद मौटे तौर पर वृद्धि की समान प्रवृत्ति बनी रही। किन्तु दक्षिणी राज्यों जैसे केरल तथा तमिलनाडु में कुछ भिन्न पैटर्न विद्यमान रहे जिनमें न्यूनतम 20 प्रतिशत तथा 50 प्रतिशत सहित सामान्य जनसंख्या के लिए पूरी अवधि में लगातार वृद्धि दर्ज की गई। हालाँकि तमिलनाडु के दो अपेक्षाकृत न्यूनतम निर्धन समूहों की दशा में बहुत कम सुधार हुआ। ई.ई.सी 02 खण्ड 10 में हम पहले ही देख चुके हैं कि केरल उन राज्यों में से एक है जहाँ कृषि श्रमिक की वास्तविक मज़दूरी में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

उपभोक्ता कीमतों में राज्यवार तथा दशमक (डिसाइल) ग्रुपवार अंतर को ध्यान में रखते हुए गरीबी का क्षेत्रीय प्रसार नीचे चित्र संख्या 18.1 में दर्शाया गया है

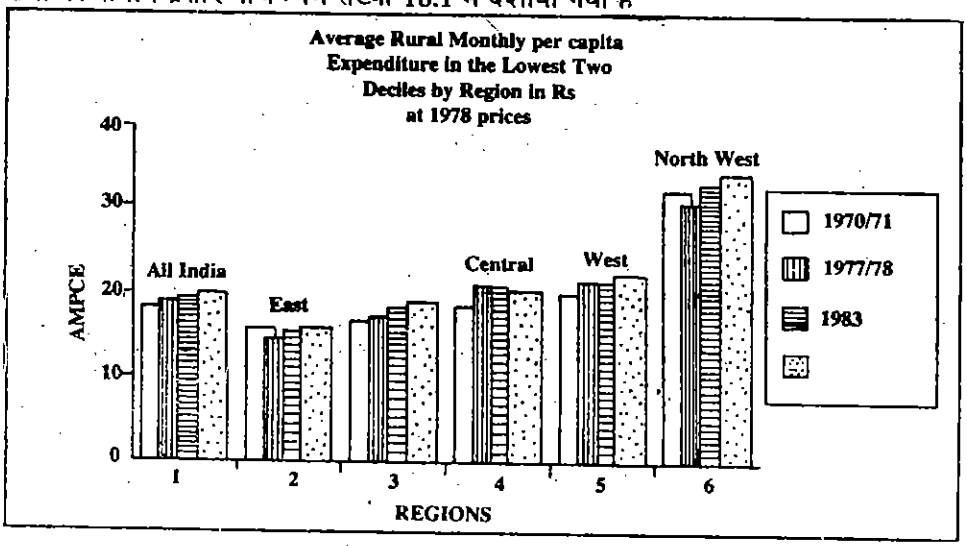

चित्र 18.1

पूर्वी ग्रामीण भारत (Rural Eastern India) स्पष्ट.. सबसे गरीब क्षेत्र के रूप में उभरा है और उसके बाद दक्षिणी भारत का नंबर आता है। इस चित्र में यह भी दर्शाया गया है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक मासिक व्यय (एम.पी.सी.ई.) किस प्रकार 1970-71 से 1988 तक की अवधि के दौरान विभिन्न क्षेत्रों में बदलता रहा। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एन.एस.एस.ओ.) के सबसे गरीब दो दशमकों के लिए, 1970 के स्थिर कीमतों से संबंधित आँकड़ों के अनुसार, केवल पश्चिमी और दक्षिणी भारत में सबसे गरीब ग्रामीण दशमकों के मामले में निरंतर सुधार होता रहा। दूसरी ओर, पूर्वी क्षेत्र में सबसे गरीब दशमक के वास्तविक उपभोग में पहले तो कमी आई और उसके बाद फिर यह आरंभिक स्तर पर वापस पहुँच गया।

राज्यों के भीतर दशमक ग्रुपवार अंतर, खासतौर से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के मामले में देखा गया है। उदाहरणस्वरूप, ग्रामीण क्षेत्र की अनुसूचित जातियों और जनजातियो के लिए औसत व्यय संपूर्ण जनसंख्या के लिए किए जाने वाले खर्च की तुलना में क्रमश: 14 प्रतिशत व 28 प्रतिशत कम था, यह अंतर दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रों में विशेष रूप से अधिक है। विस्तृत आंकड़ों से यह पता चलता है कि अनुसूचित जनजातियों में उपभोग की मात्रा अधिकांश राज्यों में दो निम्नतम दशमकों के लिए निकाले गए माध्य (mean) के मौटे तौर पर 80 प्रतिशत के बराबर है।

इसी प्रकार, विभिन्न व्यावसायिक ग्रुपों के वास्तविक उपभोग स्तर में भी महत्वपूर्ण अंतर है, जैसे स्वनियोजित और कृषि मज़दूरों के बीच बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में कृषि मज़दूर, जो अधिकांशत: जनजातियों अथवा अनुसूचित जातियों के हैं, का प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय विशेष रूप से कम है। तालिका संख्या 18.4 में संगत आँकड़े व्यवसाय के अनुसार अर्थात् स्वनियोजित और ग्रामीण मज़दूर के आधार पर दिए गए हैं।

तालिका 18.4 : विभिन्न ग्रामीण व्यावसायिक ग्रुपों में गरीबी रेखा से नीचे का अनुपात

(प्रतिशत)

	स्वनियोजित		मज़दूर	सभी ग्रामीण गरीबों के प्रतिशत के रूप में गरीब मज़दूर परिवार के व्यक्ति	
	कृषि	गैर-कृषि	कृषि	अन्य ग्रामीण गरीब	
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
आंध्र प्रदेश	34.3	38.2	56.8	42.3	54.0
बिहार	42.4	53.4	77.0	64.7	42.3
कर्नाटक	31.0	36.0	57.6	36.9	48.0
केरल	19.2	25.1	43.8	36.1	38.9
मध्य प्रदेश	48.7	48.8	72.4	59.2	40.6
महाराष्ट्र	35.1	39.5	65.3	43.1	56.6
उड़ीसा	45.3	46.5	68.0	62.2	51.4
राजस्थान	39.0	43.0	53.8	49.2	28.1
भारत	37.7	42.8	63.8	46.4	45.6

स्रोत : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 38 दौर, से परिकलित।

कृषि मज़दूरी संबंधी उपलब्ध आँकड़ों से राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के उन आँकड़ों की पुष्टि होती है, जो 1970 से 1975 तक की संपूर्ण अवधि के लिए पचास कृषि क्षेत्रों के संबंध में एकत्र किए गए हैं, जिनमें से प्रत्येक क्षेत्र में तीन से सात जिले हैं। मज़दूरी के इन स्वरूपों से संबंधित प्रवृत्तियों को निम्न चित्रों में विस्तार से दिखाया गया है।

श्री एस. आचार्य ने यह महत्वपूर्ण अध्ययन किया है कि 1982-85 की अवधि में 3/5 क्षेत्रों में ग्रामीण मज़दूरी प्रतिदिन पुरुषों के लिए 2.5 रु. और 4 रु. के बीच थी और महिलाओं के लिए यह प्रतिदिन 1.75 रु. से 3.25 रु. थी। पंजाब, हरियाणा और गुजरात तथा केरल के कुछ चुने हुए क्षेत्र अपेक्षाकृत उच्च मज़दूरी वाले क्षेत्र हैं। उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र और कर्नाटक के विभिन्न भागों में बहुत ही कम आय है। निम्न वास्तविक मज़दूरी और प्रति व्यक्ति निम्न उपभोग व्यय वाले राज्यों तथा उच्च मज़दूरी और प्रति व्यक्ति उच्च मासिक व्यय वाले राज्यों के बीच काफी समानता है। फिर भी इन चित्रों से यह भी संकेत मिलता है कि बहुत से क्षेत्रों में ग्रामीण मज़दूरी में वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। उदाहरणस्वरूप, 1982-85 तक की अवधि के

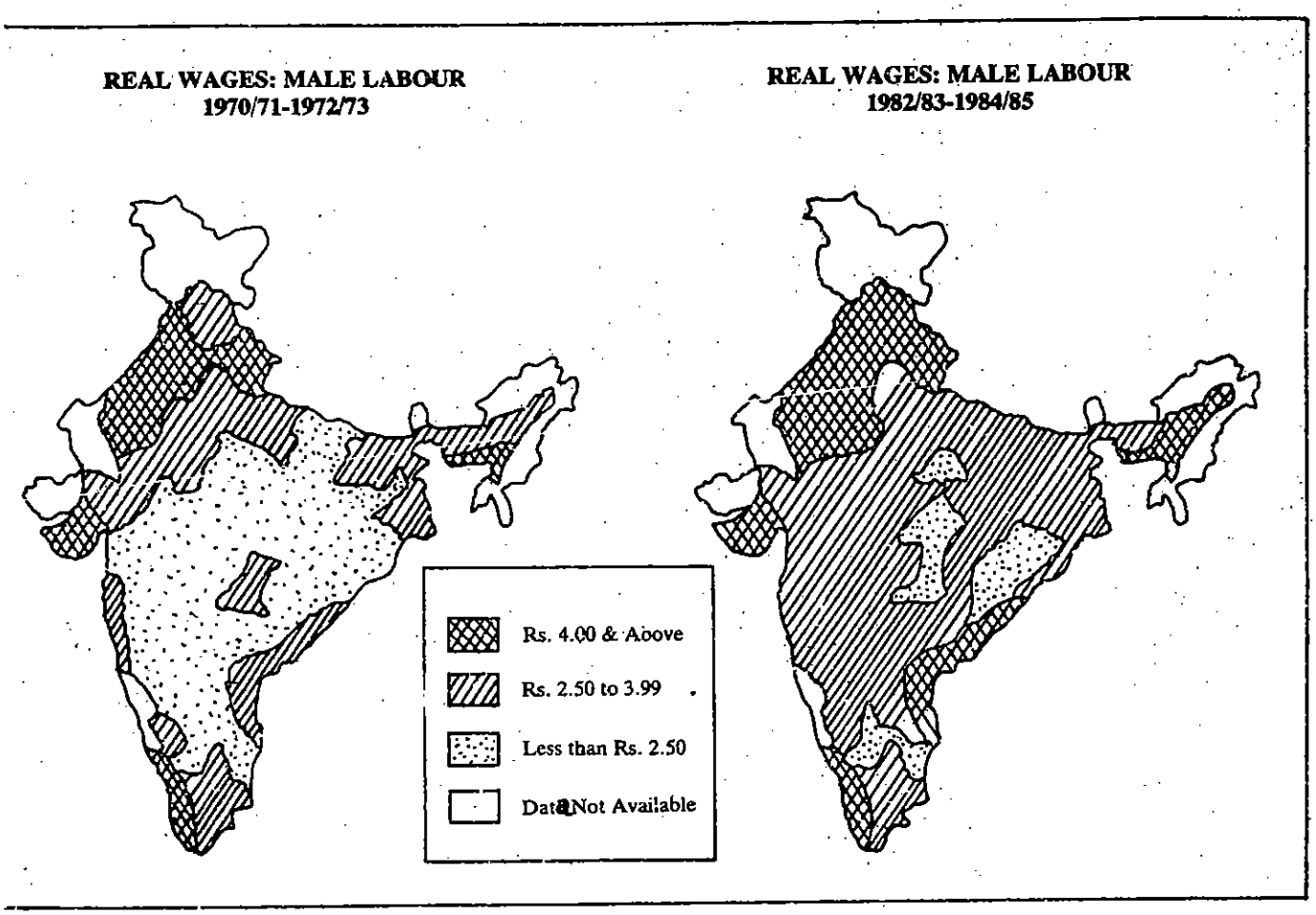

चित्र 18.2

दौरान कुल सर्वेक्षित क्षेत्र के पाँचवें भाग से भी कम क्षेत्र में महिलाएँ एवं पुरुषों की मज़दूरी 2.5 रु. अथवा उससे कम थी। जबकि मज़दूरी स्तर की यह स्थिति 1970 से 73 की अवधि में कुल सर्वेक्षित क्षेत्र की दो तिहाई क्षेत्रों में थी। इसके अतिरिक्त निम्नतम दो दशमकों में भी क्षेत्रीय मज़दूरी और प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय की प्रवृत्ति में काफी समानता है।

ग्रामीण गरीबी के क्षेत्रीय वितरण और कृषि तथा जलवायु संबंधी परिस्थितियों के बीच परस्पर संबंध है। अपेक्षाकृत शुष्क और पठारी क्षेत्रों में और जहाँ प्रायः अनुसूचित जनजातियाँ बसती हैं, गरीबी से बुरी तरह पीड़ित हैं।

18.10 ग्रामीण परिसंपत्तियों का आकार और वितरण

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीनता और परिसंपत्तियों के वितरण में असमानता का निचले दशमकों में गरीबी से गहरा संबंध है। ऐसी असमानताओं के बारे में हम (ब्लॉक-2 ई.ई.सी 02) पहले से ही जानते हैं। यहाँ हम केवल गरीबी के संदर्भ में भूमि के वितरण की मुख्य-मुख्य बातें संक्षेप में बता रहे हैं। तालिका संख्या 18.5 में विभिन्न आकार वर्गों में कार्यशील जोत का वितरण दर्शाया गया है। इस तालिका से स्पष्ट है कि अधिकांश राज्यों में सीमांत और लघु जोत के अंतर्गत जोत का बहुत बड़ा भाग आता है। अखिल भारतीय स्तर पर, सीमांत और लघु जोत की मात्रा कुल जोत संख्या के लगभग 3/4 भाग के बराबर है।

तालिका 18.6 में विभिन्न आकार वर्गों के बीच विभिन्न समयों में भूमि का वितरण दर्शाया गया है। वर्ष 1980-81 में 89.4 मिलियन कार्यशील जोतों में से 57 प्रतिशत भाग का आकार एक हे० से कम था, 18 प्रतिशत भाग लघु जोत (एक से दो हे.) वाला था, 14 प्रतिशत भाग अर्द्ध-मध्यम

तालिका 18.5 : कार्यशील जोतों का राज्यवार वितरण (1980-81)

(हजार में)

राज्य	सीमांत	छोटे	अर्ध मध्यम	मध्यम	बड़े	कुल जोत
असम	1363	523	314	92	6	2298
बिहार	8321	1218	951	472	68	11030
गुजरात	710	634	728	686	172	2930
हरियाणा	326	194	211	216	65	1012
हिमाचल प्रदेश	352	140	97	42	1	1035
कर्नाटक	1489	1057	918	662	183	4309
केरल	3728	290	124	36	3	4181
मध्य प्रदेश	2103	1226	1372	1275	435	6411
महाराष्ट्र	1926	1541	1685	1372	318	6862
मणिपुर	65	48	20	3	–	136
मेघालय	59	51	45	14	1	170
नागालैंड	10	20	16	33	37	116
उड़ीसा	1560	891	610	239	28	3328
पंजाब	198	199	288	261	74	1020
राजस्थान	1317	878	917	885	490	4487
सिक्किम	25	13	11	6	1	56
तमिलनाडु	5015	1209	658	269	40	7191
त्रिपुरा	211	62	29	6	–	308
उत्तर प्रदेश	12572	2898	1614	661	72	17817
पश्चिमी बंगाल	4096	1149	519	112	2	5878
अखिल भारतीय	50122	16072	12455	8068	2166	88883

टिप्पणी : सीमांत : 1 हेक्टेयर से कम : छोटे-1 से 2 हेक्टेयर, अर्ध-मध्यम-2 से 4 हेक्टेयर, मध्यम-4 से 10 हेक्टेयर, बड़े-10 हेक्टेयर से अधिक।

स्रोत : कृषि जनगणना 1980-81, कृषि और ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली।

तालिका 18.6 : विभिन्न आकार समूह वाले जोतों का वितरण, 1980-81

आकार समूह (हेक्टेयर में)	कार्यशील जोतों की संख्या (मिलियन में)			प्रतिशत अंतर	
	1970-71	1976-77	1980-81	1970-71 की तुलना में 1976-77	1976-77 की तुलना में 1980-81
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
सीमांत 1 से कम	36.20 (51.0)	44.52 (54.6)	50.52 (56.5)	23.0	13.5
छोटे 1-2	13.43 (18.9)	14.73 (18.1)	16-08 (18.0)	9.6	9.2
अर्ध-मध्यम 2-4	10.68 (15.0)	11.67 (14.3)	12-51 (14.0)	9.2	7.2
मध्यम 4-10	7.93 (11.2)	8.21 (10.0)	8-09 (9.1)	3.5	– 1.5
बड़े 7-10	2.77 (3.9)	2.41 (3.0)	2-15 (2.4)	– 11.8	– 12.7
जोड़	71.01 (100.0)	81.57 (100.0)	89.35 (100.0)	14.9	9.5

टिप्पणी : कोष्ठक में दिए गए आंकड़े कुल का प्रतिशत बताते हैं।

स्रोत : कृषि जनगणना 1980-81, कृषि और ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली 1981।

2 प्रतिशत भाग 10 हे. से अधिक जोत वाला अर्थात् बड़ी जोत वाला था। दो हे. से कम आकार की सीमांत और लघु जोत, जो कि कुल जोत संख्या के 3/4 भाग के बराबर थी, के अंतर्गत कुल क्षेत्र का केवल 26.3 प्रतिशत भाग आता था, जबकि बड़ी जोतें कुल कृषि क्षेत्र के 22.8 प्रतिशत भाग के बराबर थी।

समय के साथ सीमांत जोतों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। वर्ष 1960-61 में बीस मिलियन सीमांत जोत थे। उनकी संख्या वर्ष 1980-81 में बढ़कर इक्यावन मिलियन हो गई। सीमांत जोतों की बढ़ती हुई संख्या से समस्याएँ पैदा होती हैं क्योंकि जोत का आकार प्रायः इतना छोटा होता है कि भूमि का कारगर ढंग से सुधार करने में यह व्यवधान उत्पन्न करता है। छोटे-छोटे भूखण्ड अधिकतर उसी गाँव में इधर-उधर बिखरे होते हैं। इससे ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, जिससे कि लाभ की मात्रा में कमी हो जाती है। चूँकि जोत का आकार प्रायः बहुत छोटा होता है इसलिए किसान भूमि की गुणवत्ता में सुधार करने के लिए कोई निवेश नहीं कर सकता।

बड़ी जोतों की संख्या में कुछ-कुछ गिरावट आई है और उसके अंतर्गत आने वाला क्षेत्र जो 1970-71 में 31.6 प्रतिशत था वर्ष 1980-81 में घटकर 23 प्रतिशत रह गया है। तालिका 18.7 में विभिन्न राज्यों में कार्यशील जोतों का औसत आकार दर्शाया गया है। इससे स्पष्ट है कि सीमांत

तालिका 18.7 : बड़े आकार वाले ग्रुप के अनुसार कार्यशील जोतों का राज्यवार औसत आकार, 1980-81

(हेक्टेयर में)

राज्य	सीमांत	छोटे	अर्ध-मध्यम	मध्यम	बड़े	सभी जोत
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
आंध्र प्रदेश	0.50	1.52	2.78	6.16	18.03	1.94
असम	0.43	1.43	2.74	5.29	73.67	1.36
बिहार	0.35	1.35	2.73	5.74	17.13	1.00
गुजरात	0.53	1.47	2.86	6.14	14.57	3.45
हरियाणा	0.51	1.57	2.95	6.23	17.26	3.52
हिमाचल प्रदेश	0.42	1.43	2.75	5.82	17.86	1.54
जम्मू और कश्मीर	0.42	1.40	2.72	5.57	44.00	0.99
कर्नाटक	0.49	1.46	2.80	6.07	15.74	2.73
केरल	0.20	1.37	2.68	5.45	43.33	0.43
मध्य प्रदेश	0.44	1.46	2.82	6.18	17.15	3.42
महाराष्ट्र	0.51	1.51	2.86	6.07	15.06	3.11
मणिपुर	0.55	1.37	2.59	5.31	-	1.24
मेघालय	0.53	1.32	2.55	4.97	13.00	1.74
नागालैंड	0.45	1.31	2.67	6.12	15.81	7.41
उड़ीसा	0.51	1.34	2.59	5.51	15.04	1.59
पंजाब	0.60	1.41	2.75	5.99	15.36	3.82
राजस्थान	0.48	1.45	2.86	6.24	20.17	4.44
सिक्किम	0.47	1.44	2.79	5.80	14.00	1.94
तमिलनाडु	0.38	1.41	2.77	5.78	17.85	1.07
त्रिपुरा	0.48	1.51	2.79	5.58	21.00	1.07
उत्तर प्रदेश	0.37	1.40	2.73	5.70	15.43	1.01
पश्चिम बंगाल	0.40	1.51	2.70	5.32	101.50	0.95
अखिल भारतीय	0.39	1.44	2.78	6.02	17.41	1.84

स्रोत : कृषि जनगणना 1980-81,—कृषि और ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली-1981

जोतों का औसत आकार पंजाब, हरियाणा, उड़ीसा, और गुजरात जैसे राज्यों में अपेक्षाकृत बड़ा है। दूसरी ओर उत्तर प्रदेश और केरल जैसे राज्यों में इन जोतों का कार्यशील आकार इस आकार वर्ग के अखिल भारतीय औसत से छोटा है। जब कोई बड़ी जोतों के औसत आकार की तरफ देखता है तो केरल और पंजाब की स्थिति बिल्कुल उल्टी दिखती है। जहाँ पंजाब में औसत आकार कम दिखता है, वहीं केरल में बड़ी जोतों का औसत आकार इस आकार वर्ग के अखिल भारतीय औसत से अधिक है। यह संभवतः केरल मे बगान फसलों (इलायची, रबर और चाय) के कारण है।

जोतों के ढाँचे में क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं, जो मिट्टी, कृषि एवं जलवायु संबंधी परिस्थितियों तथा सिंचाई की मात्रा से संबंधित हैं। वर्ष 1980-81 में राजस्थान में जोतों का औसत आकार 4.4 हे. है, जबकि केरल में यह केवल 0.4 हे. ही है। तथापि, कृषि से प्रति हे. होने वाली आय केरल में 4510 रु. है और मध्य प्रदेश में केवल 1186 रुपए है, जहाँ जोतों का औसत आकार वर्ष 1980-81 में 3.4 हे. था।

उप-काश्तकारी (sub-tenancy) और फसल की बंटाई की व्यवस्था भी काफी प्रचलित है। ये उप-काश्तकारियाँ प्रायः मौखिक उप-काश्तकारियाँ हैं, इसलिए ये भूमि सुधार कानून के उपबंधों से बच जाती हैं। कभी-कभी बंटाइदारों की स्थिति मज़दूरों से भी बदतर हो जाती है क्योंकि वे अनिश्चित कृषि एवं अधिक लगान का जोखिम वहन करते हैं। भारत के अधिकांश भागों में वे ऐसे सहायता प्राप्त करने के पात्र नहीं होते, जो अपनी भूमि पर स्वयं खेती करने वाले कृषकों को भूमि सुधार कानून के अधीन दी जाती हैं। भूमि सुधारों का इस श्रेणी की ग्रामीण आबादी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में, उनकी स्थिति और खराब हो गई होगी, क्योंकि किसानों ने उस जमीन को स्वयं खेती करने के लिए वापस ले ली होगी।

भूमि के जोत के ढाँचे में परिवर्तन से गरीब पर प्रभाव पड़ता है। पहली बात तो यह है कि सीमांत जोत का औसत आकार भले ही बहुत छोटा हो, फिर भी, आंकड़ों में भूमि धारक परिवारों की संख्या में निरंतर वृद्धि दिखाई देती है। भूमि, क्रय-विक्रय द्वारा बाजार के माध्यम से अथवा भूमि आबंटन की कई सरकारी योजनाओं के माध्यम से या तो हस्तांतरित की गई है या अर्जित की गई है। थोड़ी-बहुत भूमि वाले परिवारों की संख्या में तेजी से वृद्धि देखी गई है, अपेक्षाकृत उन परिवारों की संख्या के जिनके पास बिल्कुल भूमि नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 38वें दौर की रिपोर्ट में यह दर्शाया गया है कि ग्रामीण परिवारों में से लगभग 14 प्रतिशत परिवारों के पास किसी प्रकार की भूमि नहीं है। इनमें से 22 प्रतिशत परिवारों के पास बसने की जगह थी और शेष (कुल का 11 प्रतिशत) के पास बसने के लिए अपनी जमीन भी नहीं थी।

भूमि के जोत के ढाँचे में परिवर्तन से गरीबी पर प्रभाव पड़ता है। पहली बात तो यह है कि सीमांत (क) कुछ भूमि होने के कारण उन्हें आसानी से ऋण मिल जाता है, और (ख) इससे उन पर घटती हुई मज़दूरी से उत्पन्न होने वाला दबाव कुछ कम हो जाता है, क्योंकि भूमि के छोटे टुकड़ों पर कुछ कार्य उत्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर, चूँकि उत्तरोत्तर अधिक से अधिक जोतें सीमांत होती जाती हैं, इसलिए ऐसी जोतों वाले वर्ग से बड़ी संख्या में लोग मज़दूरी पाने हेतु अनियत श्रम बाजार (casual labour market) में प्रवेश कर जाते हैं और इससे श्रमिक बाजार में दबाव बढ़ जाता है। यद्यपि देश के बहुत से भागों में वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि का कुछ संकेत मिला है तो भी मज़दूरी का स्तर उन न्यूनतम आवश्यकताओं की तुलना में कम ही बना हुआ है जिनकी पूर्ति की जानी आवश्यक है।

ग्रामीण मज़दूरों को भी चारागाह, जंगल, तालाबों और पोखरों जैसे सामुदायिक संसाधनों में कमी का सामना करना पड़ा है। ये साझा संपत्ति संसाधन (सी.पी.आर.) कहल [illegible] इन [illegible] चारा, ईंधन और अन्य छोटे-छोटे उत्पाद मिलते हैं। इस उपलब्धता में [illegible] दबाव के कारण कमी आई है और गाँवों में संसाधन [illegible] बंध की पारंपरिक व्यवस्था [illegible] ने से उत्पन्न रिक्तता के परिणामस्वरूप उनकी गुणवत्ता में गिरावट आई है।

भूमि सुधारों के बारे में जब तक कोई समुचित रूप से मौलिक एवं प्रगतिशील कार्यक्रम नहीं चलाया जाएगा और ग्रामीण [illegible] की प्रणाली फिर से बहाल [illegible] जाएगी तब तक ग्रामीण क्षेत्रों से [illegible] "गरीबी हटाओ" कार्यक्रमों [illegible]

[illegible] परिवार के [illegible] के बीच खाद्यान्न सुलभता अर्थात् खाद्यान्न तक पहुँच (access to food) की प्रासंगिकता पर अपनी टिप्पणी दें।

.....

2) गरीबी के सापेक्ष स्तरों की मुख्य बातों का संक्षेप में वर्णन करें।

3) अनाज उत्पादन, कीमतें और गरीबी के बीच परस्पर संबंध के बारे में भट्टाचार्य और उनके अन्य सहयोगियों की मुख्य प्रस्थापना क्या हैं?

4) अनाज उत्पादन, कीमतों, सार्वजनिक वितरण प्रणाली और गरीबी के बीच परस्पर संबंध के बारे में भट्टाचार्य और उनके अन्य सहयोगियों के मुख्य निष्कर्षों का उल्लेख करें।

5) गरीबी के क्षेत्रीय आयामों (dimensions) का संक्षेप में वर्णन करें।

8.11 सारांश

स इकाई में हमने गरीबी रेखा की परिभाषा और मापदंड तथा उससे संबंधित विवादों की मीक्षा की है। हमने गरीबी की प्रवृत्ति तथा इस प्रवृत्ति की माप से संबंधित समस्याओं का र्वेक्षण किया है, इसके बाद हमने अपना ध्यान प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग व्यय एम.पी.सी.ई.) के स्तरों और प्रतिव्यक्ति मासिक उपभोग व्यय में विभिन्न दशमक ग्रुपों के कुल पभोक्ता व्यय में इसके हिस्सों पर लगाया है, जो गरीबी के क्रमशः निरपेक्ष और सापेक्ष मापदंड । इससे हम गरीबी के क्षेत्रीय आयाम पर भी एक नजर डाल लेते हैं। उसके बाद, हमने ग्रामीण त्र की गरीबी के निर्धारक तत्वों के बारे में हाल ही में किए गए अध्ययन के निष्कर्षों का सार स्तुत किया है। अंत में इनमें से एक निर्धारक भूमि वितरण में असमानता का सार प्रस्तुत किया या है।

8.12 शब्दावली

ाझे संपत्ति संसाधन : वे संसाधन, जिनका उपयोग ग्रामवासियों द्वारा साझे में किया जाता है, से—चारागाह, बन, तालाब और पोखर, जिससे कि वे अपने पशुओं के लिए चारा, ईंधन और नेक उपयोग के अन्य छोटे उत्पाद प्राप्त करते हैं।

रीबी की रेखा : गरीबी की रेखा को उपभोक्ता व्यय के उस स्तर के रूप में परिभाषित किया या है जो एक स्वस्थ और सक्रिय जीवन व्यतीत करने के लिए कैलोरी आवश्यकताओं की पूर्ति रता है। योजना आयोग ने यह बताया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 2400 कैलोरी या शहरी क्षेत्रों में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 2100 कैलोरी की आवश्यकता पर्याप्त होगी।

रीबी रेखा व्यय : व्यक्ति अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न चीजों पर धन व्यय करते हैं। इसके रिणामस्वरूप व्यय का एक ऐसा स्तर बनता है, जहाँ भोजन संबंधी न्यूनतम आवश्यकताओं की र्ति होती है। व्यय के इस स्तर को गरीबी रेखा व्यय कहा जाता है। इस स्तर के नीचे व्यय करने ले लोगों को गरीब कहा जाता है।

8.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ट्टाचार्य, *निखिलेश और अन्य,* 1991 : पावर्टी, इनइक्वलिटी एंड प्राइसेस इन रूरल इंडिया, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

ट्टोपाध्याय, बी. 1991 : *फूड इनसेक्योरिटी एंड द सोशल एनवायरमेंट,* के.पी. बागची एंड कंपनी, कलकत्ता।

इयन सोसाइटी ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनॉमिक्स : 1990. *एग्रीकल्चरल डेवलपमेंट पॉलिसी,* ऑक्सफोर्ड एंड आई.बी एच. पब्लिसिंग कंपनी प्राइवेट लि., नई दिल्ली। (लेख संख्या 2, 7, 8 और 15)

न्हास, बी.एस. और अन्य, *डिक्लाइनिंग इंसीडेंस ऑफ पावर्टी इन नाइनटीन एटीज़ : इवीडेंस वर्सस आरटीफैक्ट्स,* इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, जुलाई 6-13, 1991।

ह, तरलोक, (संपादित) (1991), *सोशल साइंस रिसर्च एंड प्रॉब्लम ऑफ पावर्टी,* कांसेप्ट पब्लिसिंग कंपनी, नई दिल्ली।

र्ड बैंक (1990) : *वर्ल्ड डिवलपमेंट रिपोर्ट,* ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

ध प्रश्न 1

भाग 18.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

भाग 18.3 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

3) भाग 18.3 विशेषकर उप-भाग 18.3.2 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 18.4 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।
2) भाग 18.4 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।
3) भाग 18.5 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 18.6 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।
2) भाग 18.7 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।
3) भाग 18.8 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।
4) भाग 18.8 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।
5) भाग 18.9 पढ़िए और प्रश्न का उत्तर दीजिए।

इकाई 19 ग्रामीण स्तर पर गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम
  19.2.1 पृष्ठभूमि
  19.2.2 प्रगति मूलक कार्यनीति
  19.2.3 कार्यनीति में कठिनाइयाँ
19.3 न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम
  19.3.1 न्यूनतम आवश्यकता की अवधारणा
  19.3.2 भारत में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम
19.4 लक्षित समूहों के लाभों के लिए कार्यक्रम
  19.4.1 पृष्ठभूमि
  19.4.2 चौथी और पाँचवी योजनाओं में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम
  19.4.3 संमन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम
19.5 क्षेत्र-विशेष आधारित विकास कार्यक्रम
  19.5.1 कमांड-क्षेत्र विकास कार्यक्रम
  19.5.2 सूखा उन्मुख क्षेत्र कार्यक्रम
  19.5.3 मरुस्थल विकास कार्यक्रम (DDP) और पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम (HADP)
19.6 ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम
  19.6.1 आरंभिक रोजगार सृजन योजनाएँ
  19.6.2 राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण मजदूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम
19.7 कुछ ग्रामीण सामाजिक सेवाएँ
  19.7.1 ग्रामीण स्वास्थ्य देखरेख संबंधी सेवाएँ
  19.7.2 ग्रामीण शिक्षा प्रणाली
  19.7.3 सामाजिक सुविधाओं का सामान्य मूल्यांकन
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर-संकेत

19.0 उद्देश्य

ससे पूर्व की इकाई में हम ग्रामीण स्तर पर गरीबी तथा असमानता की चर्चा कर चुके हैं। इस काई में हम इस बात का विश्लेषण करेंगे कि गरीबी का उन्मूलन कैसे किया जाये। हम इस श्न का उत्तर स्वयं नहीं देंगें। किन्तु हम यह अवश्य देखना चाहेंगे कि सरकार तथा इसकी स्थाओं ने इस दिशा में क्या कार्य किये हैं?

स इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- भारत में गरीबी उन्मूलन वाले कार्यक्रमों के विकास को समझ सकेंगें,
- गरीबी उन्मूलन संबंधी रोजगार तथा समाजसेवा कार्यक्रमों का विवरण दे सकेंगे,
- इन कार्यक्रमों के संचालन तथा इनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन और विश्लेषण कर सकेंगे, तथा
- इस संबंध में सुधार के सुझावों को बता सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

रीबी की समस्या तथा इसका उन्मूलन सरकार के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य रहा है। देश

में जब से आयोजन शुरू हुआ है, तब से सरकार इस एक स्पष्ट रूप देने की चेष्टा में लगी हुई है। फिर भी समय के साथ-साथ समस्या का स्वरूप तथा इसके समाधान के निदान बदलते रहे हैं। इस इकाई में हम उन विभिन्न नीतियों, कार्यक्रमों तथा उपायों की चर्चा करेंगे, जिन्हें ग्रामीण परिवेश में व्याप्त गरीबी उन्मूलन के लिए कार्य में लाया गया है।

इस इकाई में हम यह भी देखेंगे कि नियोजन के प्रारंभ में पुनर्वितरण के बजाय प्रगतिमूलक नीति अपनाई गई थी। भूमि सुधार कार्यक्रमों की शुरुआत अवश्य हुई थी। तत्पश्चात् इस नीति को सामाजिक न्याय के साथ प्रगति का नाम दिया गया। गरीबी पर सीधा प्रहार तो पांचवीं पंचवर्षीय योजना में ही किया गया। इस योजना में "गरीबी रेखा" पर ध्यान दिया गया तथा उद्देश्य था गरीबों का उपभोग स्तर इस रेखा से ऊपर उठाना।

19.2 प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

भारत के स्वाधीनता के समय जब योजनाएँ बनाई जा रही थीं, तब गरीबी को आर्थिक असमानता से जोड़ा गया था। जब विकास योजनाएँ बनाई गई, तब भी यही दृष्टिकोण था। इसका सीधा संबंध भारत के संविधान से था, जिसमें देश को एक ऐसे कल्याणकारी राज्य की स्थिति प्रदान करने की योजना थी, जहाँ लोगों को सामाजिक न्याय तथा अवसरों की बराबरी मिल सके।

19.2.1 पृष्ठभूमि

गरीबी उन्मूलन के संबंध में दो मापदंड (Parameters) ध्यान में रखे गए–विकास और उसका वितरण। गरीबी उन्मूलन के संदर्भ में इनको कई प्रकार से देखा जा सकता है : प्रगति से पहले वितरण, केवल प्रगतिमूलक योजना, प्रगति के साथ-साथ पुनर्वितरण, और प्रगति की जगह पुनर्वितरण। इससे यह स्पष्ट है कि विकास और समानता के बीच एक प्रकार से विकल्प की स्थिति (trade off) उत्पन्न हो जाती है।

जब भारत स्वतंत्र हुआ और नियोजन प्रारंभ हुआ, तो विकास से पहले पुनर्वितरण की नीति पर विचार किया जा रहा था। एक कार्यनीति के तौर पर इसकी संभावनाओं पर विचार किया गया। यह अनुभव किया गया कि जनतांत्रिक देश में विकास से पहले बँटवारा संभव नहीं है, क्योंकि इसकी सामाजिक कीमत बहुत अधिक थी।

उस समय यह भी अनुभव किया गया कि देश का समस्त उत्पादन तथा उसकी समस्त सम्पत्ति गरीबी उन्मूलन पर लगाने पर भी वांछित लाभ नहीं हो सकेगा क्योंकि आय का स्तर बहुत निम्न था। पंडित नेहरू ने कहा था, "एक गरीब देश में केवल गरीबी का ही बँटवारा किया जा सकता है।" इस प्रकार, उस समय यह अनुभव किया गया कि समस्त पैदावार तथा सम्पत्ति को लोगों में बांटने से पहले उसे और अधिक विकसित करने की आवश्यकता है। उस समय केवल राष्ट्रीयकरण (जैसे–इम्पीरियल बैंक का) तथा जमींदारी उन्मूलन के लिए कदम उठाए गए।

19.2.2 प्रगतिमूलक कार्यनीति

विकास से पूर्व पुनर्वितरण की कार्यनीति आयोजकों द्वारा आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार्यता को ध्यान में रखते हुए और अधिक आगे नहीं बढ़ायी गयी। अंततः प्रगतिमूलक कार्यनीति अपनाई गई, जिसमें पुनर्वितरण को गौण स्थान दिया गया।

संक्षेप में यह कार्यनीति इस प्रकार की थी: इस कार्यनीति में निवेश विशेष महत्वपूर्ण बिन्दु था। द्वितीय पंचदर्षीय योजना के समय पहली बार इस संदर्भ में एक संगत कार्यनीति बनाई गई। उस समय यह माना गया कि थोड़े समय में प्रगति का प्रभाव रिस कर निम्नतम स्तर तक पहुँच जाएगा। इसका आशय यह था कि विकास भी जनसंख्या के निम्नतम स्तर तक पहुँच सकेगा। इसके अतिरिक्त यह भी माना गया कि इसका प्रभाव आय की गतिशीलता पर भी पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विकास का प्रभाव तथा पैदावार की बढ़त का लाभ लोगों तक पहुँचेगा और उनकी आय बढ़ेगी। आय की गतिशीलता के कारण विषमताएँ नहीं बढ़ेंगी क्योंकि आय-गतिशीलता को वितरण तटस्थ (distribution neutral) माना गया। यह माना गया कि सभी वर्गों के लोगों को आय की बढ़त का आभास होगा तथा सामाजिक संस्थाएँ आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप समायोजित हो जाएंगी।

यद्यपि यह अनुभव किया गया कि विकास की इस प्रक्रिया में कुछ असमानता बढ़ेगी, किन्तु यह भी आशा की जाती थी कि सामुदायिक विकास संबंधी कार्यक्रमों द्वारा इसे संभाल लिया जाएगा। भूमि सुधार तथा सहकारिता जैसे कार्यक्रम आरंभ किए जा चुके थे। इसके अतिरिक्त विद्यमान राजकोषीय उपकरणों पर भी पूरा विश्वास जताया गया।

19.2.3 कार्यनीति में कठिनाइयाँ

जल्दी ही यह आभास होने लगा था कि प्रगतिमूलक कार्यनीति में कहीं कुछ गड़बड़ी है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह कहा गया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम (C.D.P.) गाँव के उन लोगों तक पूरी तरह नहीं पहुँच पा रहा है, जो साधनविहीन थे। सरकार द्वारा किए गए तीन अध्ययनों में इस पर अधिक बल दिया गया।

इनमें से सबसे पहला जयप्रकाश नारायण अध्ययन समूह था, जो 1960 में बना था। इसने तृतीय पंचवर्षीय योजना की प्रगतिमूलक कार्यनीति के विरुद्ध तर्क दिया। इसमें यह कहा गया कि "हम यह मानते हैं कि कमज़ोर वर्गों के विकास के लिए ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था में सुधार लाना आवश्यक है। फिर भी यह एक पर्याप्त शर्त नहीं है, इससे ग्रामीण आय में भले ही वृद्धि हो, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कमज़ोर वर्ग इस सुधरी हुई अर्थव्यवस्था से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित हो सकेगा।"

इससे संबंधित दूसरी समीक्षा उस समिति द्वारा की गई, जिसकी नियुक्ति 1960 में रहन-सहन के स्तर तथा आय के वितरण की जाँच करना था। इस समिति के अध्यक्ष प्रो. महालनोबिस थे। इसका उद्देश्य 1951 से 1961 तक की अवधि में पुनर्वितरण के उद्देश्य तथा इसकी कार्यनीति की समीक्षा करना था। इस संदर्भ में उन्होंने भी इसी प्रकार की राय व्यक्त की थी। उन्होंने लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित कराया कि न तो विकास कार्यक्रमों के लाभ ही गरीबों तक पहुँच पा रहे हैं और न हीं विद्यमान राजकोषीय-उपकरण इस असमानता को कम कर पाने में सफल हुए हैं। इसके बावजूद प्रगतिमूलक कार्यनीति पर बल दिया जाता रहा।

1962 में श्री पिताम्बर पंत के संरक्षण में "**विकास परिप्रेक्ष्य : 1961—1976 : न्यूनतम जीवन से संबंधित नियोजन का निहितार्थ**" नामक एक उल्लेखनीय अध्ययन किया गया। इस अध्ययन में पहली बार निरपेक्ष गरीबी (absolute poverty) का उल्लेख किया गया। इसमें सापेक्षिक असमानताओं पर ज़ोर नहीं दिया गया। इसमे 20 रुपए प्रतिमाह प्रति व्यक्ति (1960-61 की कीमतों पर) का जिक्र गरीबी रेखा के संदर्भ में किया गया था और यह अनुमान लगाया गया था कि देश की आधी जनसंख्या नितांत गरीबी में रहती है। इस अध्ययन में इस बात पर बल दिया गया कि योजनाओं में केवल गरीबी दूर करने का ही उद्देश्य प्रमुख होना चाहिए। इस रिपोर्ट से प्रेरित होकर 1970 के दशक में इस प्रकार के अध्ययनों पर अत्यधिक बल दिया गया। इस अध्ययन में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि पुनर्वितरण के कार्यों को विकास के साथ जोड़ना ही अधिक उपयुक्त होगा।

1960 के दशक के अंत और 1970 के दशक के आरंभ में कई अध्ययन किए गए जिनमें इस बात पर जोर दिया गया कि उस जनसंख्या को आँका जाए, जो गरीबी रेखा के नीचे हैं। लेकिन प्रत्येक अध्ययन में ये अनुमान अलग-अलग रहे, इसमें से कुछ की हम पिछली इकाई में चर्चा कर चुके हैं। इससे निरपेक्ष गरीबी के विषय में एक नई दिशा एवं नया आधार बनाने में सहायता मिली।

इसी बीच 3 वर्ष के अन्तराल के बाद चौथी योजना आरंभ हुई, लेकिन इन तीन वर्षों के दौरान अनायास ही योजना में रुकावट आ गई। चौथी योजना में विकास पर अधिक बल देने के साथ ही समानता और सामाजिक न्याय के उद्देश्य पर भी बल दिया गया। 1971 में चुनाव हुए, जिसमें "गरीबी हटाओ" का महत्वपूर्ण नारा बुलंद किया गया। 1960 के दशक के अंतिम तथा 1970 के दशक के आरंभिक वर्षों में किसान आन्दोलन हुए जिनसे सरकार की तन्द्रा टूटी और व्याप्त गरीबी पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया ताकि इस प्रकार की अशांति को फैलने से रोका जा सके।

सन् 1974 में पाँचवी योजना आरंभ की गई, जिसमें गरीबी हटाने के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं पर बल दिया गया। अब हम न्यूनतम आवश्यकताओं के विषय में वर्णन करेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) प्रगति मूलक कार्यनीति की अवधारणा बताइए। क्या यह कहना उचित है कि योजना बनाने वाले लोगों ने इस कार्यनीति को अपनाते समय गरीबी उन्मूलन की ओर ध्यान नहीं दिया था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) उन तथ्यों को बताइए, जिनके कारण पुनर्वितरण को विकास और गरीबी उन्मूलन की अवधारणा से जोड़ा गया।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.3 न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, 1962 की समिति ने एक प्रकार से न्यूनतम आवश्यकताओं पर ध्यान देने का कार्य आरंभ किया था। उससे पूर्व 1957 में पंद्रहवीं भारतीय मजदूर कांफ्रेंस ने यह तकरीर की कि न्यूनतम मजदूरी, आवश्यकताओं के आधार पर ही निश्चित होनी चाहिए। किन्तु पहले हम न्यूनतम आवश्यकताओं की अवधारणा को समझने का प्रयास करेंगे।

19.3.1 न्यूनतम आवश्यकता की अवधारणा

सर्वप्रथम पाँचवी पंचवर्षीय योजना में इस अवधारणा को काफी स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया। मोटे तौर पर इसमें यह कहा गया कि रोज़गार अपने आप में, गरीबों के लिए उन आवश्यक वस्तुओं को खरीदने और सेवाओं को प्राप्त करने में काफी नहीं था, जो रहन-सहन के न्यूनतम मानदंडों के लिए आवश्यक थी। अतः रोज़गार और आय बढ़ाने के साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वास्थ्यवर्धक खुराक, पीने का पानी, आवास जैसी सामाजिक सेवाओं पर भी विनियोग करना पड़ेगा।

यहाँ दो महत्वपूर्ण पहलू हैं : प्रथम रहन-सहन का न्यूनतम स्तर और दूसरा इस स्तर तक पहुँचने के लिए सामाजिक सेवाओं को उपलब्ध कराना। इस प्रकार पाँचवी योजना का लक्ष्य–"सामाजिक उपभोग के लिए आवश्यक प्राथमिकताओं के क्षेत्रों का पता लगाना और इनमें से प्रत्येक की पूर्ति के लिए न्यूनतम मानदंड स्थापित करना" था।

इसी से जुड़ी हुई एक और अवधारणा है–मूल आवश्यकताएँ (basic needs)। इसका उल्लेख अन्य प्रकाशनों के साथ-साथ, आई.एल.ओ. के दस्तावेज में भी किया गया है, जिसका शीर्षक–**"रोजगार, विकास और मूल आवश्यकताएँ : एक विश्वव्यापी समस्या"** है। इससे पहले 1976 में आई.एल.ओ. ने इस अवधारणा को प्रतिपादित किया था, जिसमें मूल आवश्यकताओं का सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने भोजन, मकान और कपड़ा इत्यादि के ऊपर व्यय से था। आवश्यक सेवाओं की उपलब्धि से हमारा आशय पीने का साफ पानी, सफाई, यातायात के साधन, स्वास्थ्य और शिक्षा से है। अर्थात् सामाजिक उपभोग की दी, निर्णय प्रक्रिया में जनता का सहयोग, मानवीय अधिकारों की पूर्ति, तथा रोज़गार पुनर्वितरण, तेजी से बढ़ता हुआ आर्थिक विकास और रोजगार की गुणवत्ता तथा कार्य करने की दशाओं में सुधार–ये सभी हमारी विकास नीति के मुख्य अंग होने चाहिये।

19.3.2 भारत में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

भारत में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (MNP) को एक अलग कार्यक्रम के रूप में लागू नहीं किया गया है। संक्षेप में यह उन सभी सामाजिक सेवाओं का संकलन है, जिसमें उद्देश्य, लागत, और लक्ष्यों का समन्वय किया गया है। ये कार्यक्रम विभिन्न खंडों के कार्यक्रमों के ही भाग हैं और इनके लिए अलग से धनराशि की व्यवस्था नहीं की जाती है। उदाहरण के लिए, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों को सामान्य स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों में जोड़ दिया गया है। और इसके लिए वही धनराशि थी जो कि स्वास्थ्य कार्यक्रमों के लिए रखा गया था।

पाँचवीं योजना में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के निम्नलिखित अंग थे :

1) 0-14 वर्ष तक की आयु वर्ग के सभी बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा का व्यापक प्रबंध उनके रहने के स्थान के आसपास किया जाए,
2) गांवों में न्यूनतम स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराई जाए,
3) पानी की कमी वाले ग्रामीण क्षेत्रों में पीने का पानी उपलब्ध कराया जाए,
4) 1,500 अथवा उससे अधिक जनसंख्या वाले भागों में सभी ऋतुओं में काम आने वाली सड़कें बनाई जाए,
5) ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन मजदूरों के लिए पक्के मकान बनताए जाए,
6) शहरों की गंदी बस्तियों में पर्यावरण को सुधारा जाए,
7) बिजली की सुविधाओं को ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँचाया जाए, ताकि 30-40 प्रतिशत गाँवों में रहने वाली जनसंख्या लाभान्वित हो सके।

उपरोक्त सूची में केवल नं. 6 शहरों से संबंधित है और नं. 1 का लक्ष्य ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही क्षेत्र हैं। यद्यपि न्यूनतम आवश्यकताओं की अवधारणा पाँचवी पंचवर्षीय योजना में ही शामिल की गई थी, लेकिन इस प्रकार के कार्यक्रमों का उल्लेख पूर्ववर्ती योजनाओं में भी मिलता है।

छठी पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम को मानव संसाधन विकास के लिए एक आवश्यक निवेश के रूप में स्वीकार किया गया। इसमें इस कार्यक्रम द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं के माध्यम से मुफ्त अथवा आर्थिक सहायता द्वारा उन लोगों के रहन-सहन को ऊँचा करना है, जो गरीबी की रेखा के नीचे हैं। इस प्रकार ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की उत्पादन क्षमता का विकास हो सकेगा। इस योजना में पिछली पाँचवी योजना की सभी अवधारणाओं को शामिल किया गया था। शिक्षा के क्षेत्र में प्रौढ़ शिक्षा को सम्मिलित करके उसकी परिधि को बढ़ा दिया गया। इसमें पोषक आहार की एक नई अवधारणा को भी सम्मिलित किया गया है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में कुछ और अवधारणाओं को सम्मिलित किया गया है, जो इस प्रकार हैं—ग्रामीण घरेलू कार्यों के लिए ऊर्जा, जन-वितरण प्रणाली तथा ग्रामीण क्षेत्रों की सफाई। इस प्रकार सातवीं पंचवर्षीय योजना में इसके 12 अंग थे, जिनमें से सात का उल्लेख विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों तथा एक का उल्लेख केवल शहरी क्षेत्रों के लिए किया गया था।

हम यहाँ न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम की उपलब्धियों का उल्लेख कर सकते हैं। किन्तु यह बात हम उस खंड में करेंगे, जहाँ हम सामाजिक सेवाओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

19.4 लक्षित समूहों के लाभों के लिये कार्यक्रम

इससे पूर्व के खंड़ों में आपने यह पढ़ा है कि योजना बनाने वालों ने प्रगति मूलक कार्यनीति से किस प्रकार कार्य आरंभ किया था। फिर भी, पहले तीन दशकों के आयोजन के बाद लोगों का मोह भंग हुआ तथा उन के मन में शंकायें आने लगीं और धीरे-धीरे सामाजिक न्याय तथा विकास के साथ-साथ पुनर्वितरण पर अधिक बल दिया जाने लगा। इन्हीं में से एक अवधारणा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम की भी थी, जिसका विवरण अभी दिया गया है। यहाँ हम गरीबी उन्मूलन पर सीधे प्रहार के एक अन्य पक्ष पर भी बात करेंगे। अगले अनुच्छेद में हम तीसरी अवधारणा का वर्णन करेंगे, जिसका नाम है—क्षेत्र-आधारित कार्यक्रम। वास्तव में विशेष रोज़गार बढ़ाने वाले कार्यक्रम भी उसी तरह के हैं, जिस प्रकार के कार्यक्रमों का इस खंड में विवरण दिया जा चुका है।

हम इन रोज़गार बढ़ाने वाले कार्यक्रमों का विश्लेषण उस अनुच्छेद में करेंगे, जो क्षेत्र-आधारित कार्यक्रम के बाद आएगा।

19.4.1 पृष्ठभूमि

लक्षित वर्ग के लिए कार्यक्रम बनाने का एक कारण विकासोन्मुख कार्यनीति से मोहभंग था। इसके साथ किसान आंदोलन तथा 1967 के बाद के चुनाव संबंधी परिवर्तन भी इसके कारण बने। निरपेक्ष गरीबी से संबंधित विचारधारा में परिवर्तन के लिए दो अन्य कारण भी थे।

पहला कारण स्वयं विकास अर्थशास्त्र में 1970 के दशक के आरंभ से होने वाला परिवर्तन है। विकासशील तथा विकसित देशों की सापेक्ष प्रगतियों पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाय अब विकासशील देशों में व्याप्त गरीबी के रूप में असमानताओं पर ध्यान दिया जाने लगा। दूसरा कारण है, जीवन स्तर की गुणवत्ता में सुधार के लिए. न्यूनतम आवश्यकताओं से संबंधित उठाए गए विभिन्न कदम। यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण बन गया। अंतिम कारण स्वयं गरीबी रेखाएँ तथा उनकी अवधारणा एवं माप हैं। इनसे शोध के लिए नए क्षेत्र सामने आये।

1960 के दशक के मध्य में नई कृषि नीति अथवा "हरित क्रांति" का आरंभ किया गया। विभिन्न अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि असमानता के उन्मूलन में इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, बल्कि इससे ग्रामीण क्षेत्रों में असमानताएँ और अधिक बढ़ीं। साथ ही समय-समय पर वहाँ बेरोज़गारी भी बढ़ी है। इन सभी बातों का प्रभाव यह हुआ कि सरकार को गरीबी उन्मूलन के लिए विशेष कार्यक्रम चलाने पड़े।

19.4.2 चौथी और पाँचवी योजनाओं में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

हमने इस बात का उल्लेख किया है कि इन योजनाओं में निरपेक्ष गरीबी के ऊपर ध्यान केन्द्रित किया गया था, लेकिन इनका मुख्य ध्येय यह था कि इन गरीबों में से कुछ ऐसे लक्ष्य-समूहों का पता लगाया जाए, जिन्हें गरीबी रेखा से ऊपर उठाने का प्रयास किया जाए।

सन् 1969 में अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण समीक्षा समिति (AIRCRC) ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें दिए गए विचारों के आधार पर चौथी योजना में ऐसे कदम उठाए गए, जिससे गरीबी सीमा रेखा के पास के छोटे एवं सीमान्त किसान और भूमिहीन कृषि श्रमिक विकास की प्रक्रिया में भाग ले सकें तथा उससे होने वाले लाभों को पा सकें, क्योंकि भूमि एवं अन्य परिसम्पत्तियों का वितरण इस प्रकार का है कि विकास प्रक्रिया से होने वाले लाभ अब तक उन्हें प्राप्त नहीं हुए थे।

चौथी पंचवर्षीय योजना में दो तरह के कदम उठाए गए--पहला, छोटे किसानों के लिए और दूसरा सीमांत किसानों तथा कृषि संबंधी मजदूरों के लिए। छोटे किसान वे किसान थे, जिनके पास 1 से 2 हैक्टेयर के बीच सिंचित अथवा सिंचाई योग्य भूमि और शुष्क क्षेत्र में 3 हैक्टेयर भूमि हो। 1 हैक्टेयर से कम भूमि वाले किसानों को सीमान्त किसानों की संज्ञा दी गई। उन्हें कृषि संबंधी मज़दूर कहा गया, जो अपनी आय का 50 प्रतिशत मजदूरी करके प्राप्त करते थे।

इस योजना में यह मानकर चला गया कि यदि इन लोगों को ऋण, सिंचाई की सुविधाएँ, समर्थन कीमतों तथा फसल बेचने की सुविधाएँ प्रदान की जाएँ, तो इनकी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जाएगी। अतः सरकार ने सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट, 1860 के अंतर्गत छोटे किसानों तथा भूमिहीन मजदूरों के लिए लघु किसान विकास एजेंसियाँ (SFDA) तथा सीमान्त किसानों के लिये सीमान्त किसानों तथा कृषक मजदूर विकास एजेंसियाँ (MFALDA) बनाईं। इन एजेंसियों का काम था उन्हें सिंचाई तथा उपज को बढ़ाने के अन्य साधन प्रदान करें और उनके आर्थिक विकास के लिए पशुपालन, डेरी फार्म, बागबानी, कृषि आदि को बढ़ावा दें। इन संस्थाओं का यह काम भी था कि वे उन सभी लाभान्वित होने वाले लोगों को ऋण देने वाली सहकारी समिति का सदस्य बनाए तथा कृषि संबंधी नई तकनीकों का लाभ प्राप्त करना सिखाएँ।

चौथी योजना के दौरान इस प्रकार की 46 संस्थाएँ छोटे किसानों के लिए (SFDAs) और 41 सीमांत किसान तथा लघु कृषक मज़दूर विकास एजेंसियाँ (MFALs) बनाई गई। यद्यपि लघु किसान विकास संस्थाओं का कार्य 1969 में लागू हो गया था, परंतु 1971-72 में ही ये दोनों संस्थाएँ कार्य करने योग्य हो पाई थीं। राष्ट्रीय कृषि आयोग की सलाह पर 1975 में इन दोनों संस्थाओं को मिलाकर एक कर दिया गया। उस समय अर्थात् 1980 में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) (जिसके बारे में आप अभी पढ़ेंगे देश के 1818 खंडों में कार्यशील थे। 1980 में इन्हें ग्रामीण विकास कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया।

इन दोनों ही प्रकार की संस्थाओं (SFDAs तथा MFALs) से यह अपेक्षा नहा का जाता था कि व स्वयं ही किसी भी कार्यक्रम को सीधे लागू करेंगी, बल्कि ये अन्य संस्थाओं को इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिए उत्तरदायी बनाएंगी। MFAL संस्थाएँ कृषक मज़दूरों के लिए अच्छे रोज़गार ढूंढ़ने में भी मदद करती थीं, किंतु सीमित वित्त होने के कारण केवल वही किसान इसका लाभ उठा पाते थे, जो तकनीकी मदद मिलने पर अपनी आवश्यकता से अधिक पैदावार करने योग्य समझे जाते थे।

आइए अब हम SFDAs और MFLAs द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा करें। योजना आयोग की कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन (PEO) ने 17 राज्यों में इस प्रकार के 20 SFDAs और 13 MFLAs का 1974 और 1975 के बीच अध्ययन किया था। इनके परिणाम 1978 में तैयार किए गए। इस अध्ययन में 296 गाँवों के लाभ उठाने वाले 2,557 व्यक्ति सम्मिलित थे। इस अध्ययन के कुछ परिणाम इस प्रकार थे—कुल मिलाकर SFDAs वर्ष में केवल 18 श्रम दिवसों (Mandays) को काम देते थे और MFALs 10 दिन। केवल एक तिहाई परियोजनाओं के कार्यक्रमों में वर्ष में 15 दिन से अधिक समय तक रोज़गार दिया जाता था।

लाभान्वित होने वाले लोगों, विशेषकर MFALs का पता लगाने की प्रक्रिया संतोषजनक नहीं थी। कुल 20 प्रतिशत MFALs में 5 प्रतिशत से भी कम कृषक मजदूरों की पहचान की जा सकी थी। अनुपयुक्त अथवा अयोग्य लाभान्वित लोगों की संख्या कुल मिलाकर 9 प्रतिशत थी। इसी अध्ययन के कुछ और परिणाम इस प्रकार थे—

- अधिकतर परियोजना क्षेत्रों में सहकारी कार्य करने के लिए प्रशासनिक व्यवस्थाएँ कमजोर थीं। ऋण देने के तरीके बड़े कष्टकारक थे।
- परियोजना क्षेत्रों का चुनाव करते समय सदैव सूझ-बूझ से काम लिया जाता था।
- SFDAs के लगभग पाँचवें भाग में कोई विशेष परियोजनायें नहीं लागू की गई थी, जिससे आगतों की पूर्ति की जा सके।
- प्राय: लोगों को इन कार्यक्रमों के बारे में कोई जानकारी नहीं थी।
- लोगों की नियुक्तियों में विलंब होता था और उनकी जल्दी-जल्दी बदली कर दी जाती थी। कर्मचारियों की संख्या भी कम थी।

19.4.3 समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम

SFDA और MFAL के होते हुए भी यह अनुभव किया गया कि गाँव में रहने वाले गरीबों पर किसी का ध्यान नहीं जाता है। यानी विकास की कार्यनीति एक अंधे कुएँ में डुबकी लगाकर गरीबी उन्मूलन के लिए एक कामयाब होने वाले प्रस्ताव को ढूँढ़ रही थी, जो गरीबों की सहायता कर सके।

जो मूल प्रस्ताव सामने आया, वह समन्वित ग्रामीण विकास था। संशोधित छठी योजना (1978-83) में ग्रामीण विकास को समन्वित ग्रामीण विकास ही माना गया था। यह अनुभव किया गया कि ग्रामीण विकास का अर्थ केवल कुछ परियोजनाएँ और योजना बनाना ही नहीं है। इसका अर्थ और अधिक विस्तृत होना चाहिए। गरीबी और बेरोजगारी की समस्या का प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग स्वरूप है, अत: इस समस्या को सुलझाने के लिए बनाई गई अवधारणाएँ प्रत्येक क्षेत्र के लिए विशेष रूप से तैयार की गई, जिससे स्थानीय सुविधाओं और सेवाओं का उपयोग किया जा सके। छठी योजना के प्रारूप में यह कहा गया है कि समन्वयन का तात्पर्य क्षेत्रीय कार्यक्रमों (sectoral programmes) सामाजिक तथा आर्थिक क्रियाओं और इन सबके साथ नीतियों का भी समन्वय हो, जिससे विकास, गरीबी उन्मूलन तथा रोज़गार की बढ़ोत्तरी हो। यदि अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाए तो इन से लाभान्वित होने वाले लक्ष्य-समूहों को ध्यान में रखा गया, चाहे वे छोटे अथवा सीमान्त किसान हों, चाहे कृषक-मजदूर अथवा ग्रामीण शिल्पकार, कलाकार अथवा कारीगर हों। इसके साथ-साथ इसका तात्पर्य यह है कि विशेष प्रकार के स्थान के लिए विशेष योजना बनाना।

आरंभ के कुछ कार्यक्रमों के प्रस्ताव इस प्रकार थे :

- कृषि विकास कार्यक्रम
- पशुपालन को एक सहायक/पूरक रोज़गार मानते हुए उसके विकास के कार्यक्रम
- समुद्री, पोखर तथा खारे पानी की मछलियों के पालन के कार्यक्रम
- आदिवासी इलाकों के कार्यक्रम

- छोटे किसान परिवारों के लिए फार्म के रूप में वानिकी विकास कार्यक्रम
- ग्रामीण तथा गृह उद्योग
- ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए सेवा क्षेत्र।

इनमें से पहले चार को समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के ही एक अंग के रूप में देखा गया था। सन् 1976 में इस अवधारणा को 20 जिलों में प्रयोग के रूप में चलाया गया। 1978-79 में 2,300 विकास खंडों में इसे चलाया गया और सन् 1980 में देश के सभी विकास खंडों में इसे फैलाया गया।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लक्षित-वर्ग वे गरीब थे, जो सीमान्त अथवा छोटे किसान या कृषक मजदूरों की श्रेणी में आते थे। गरीबी की परिभाषा में वे लोग आते थे, जिनकी वार्षिक आय 6,400 रु. से अधिक नहीं थी। फिर भी आईआरडीपी में अंत्योदय की अवधारणा का प्रयोग किया गया, जिससे गरीबों में सबसे गरीब को सबसे पहले लाभ दिया जा सके। अत: केवल वे ही परिवार जिनकी आय 4,800 रु. से कम थी, इस कार्यक्रम से लाभान्वित हो सके, किन्तु साथ ही जिनकी आय 3,500 रु. से कम थी, उन्हें सहायता के लिए प्राथमिकता दी गई।

इस कार्यक्रम के कुछ दिशा-निर्देश हैं जैसे—इन लाभान्वित होने वालों में 30 प्रतिशत अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लोग हों, उनमें महिलाओं की संख्या 30 प्रतिशत होनी चाहिए और इस कार्य के लिए कोई ठेकेदार नहीं लगाया जाना चाहिए इत्यादि। इस कार्य को करने के लिए जिले के स्तर पर एक नई विकास संस्था—जिला डी.आर.डी.ए. की स्थापना की गई, जो इस कार्यक्रम को लागू कर सकें।

आई.आर.डी.पी. का मूल आशय, गरीबों को आय बढ़ाने के साधन देकर, उन्हें स्वत: रोजगार करने योग्य बनाकर उनकी गरीबी का निवारण करना है। इस कार्य को करने के लिए ऋण तथा आर्थिक सहायता दोनों ही प्रदान करने का प्रावधान है। आर्थिक सहायता तथा ऋण का अनुपात 1:2 रखा गया और ऋण का अधिक भाग संस्थागत वित्त के माध्यम से दिया जाना निश्चित किया गया।

इस कार्यक्रम में इस प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम भी सम्मिलित थे। जैसे ग्रामीण युवकों को स्व-रोजगार संबंधी प्रशिक्षण (TRYSEM) जिसे सन् 1979 में एक अलग कार्यक्रम के रूप में चालू किया गया। इसी प्रकार का एक अन्य कार्यक्रम था ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों का विकास (DWCRA) जिसे 1982-83 में उस समय चालू किया गया, जब यह अनुभव किया गया कि ये सभी कार्यक्रम महिलाओं पर ध्यान नहीं दे रहे थे।

अब देखें कि आई.आर.डी.पी. का कार्य कैसा रहा। योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन के अतिरिक्त भारतीय रिजर्व बैंक (1982-83), NABARD (1984), IFMR (1984) ने विशेष अध्ययन किए। इन अध्ययनों के परिणाम इस प्रकार सामने आए—

- लगभग 40 प्रतिशत लाभान्वित होने वाले लोगों की आय 3,500 रु. से अधिक हो गई है और 55 से 90 प्रतिशत (विशिष्ट अध्ययन के अनुसार) को अपनी आय में कुछ बढ़ोत्तरी का अनुभव हुआ है। इसके अतिरिक्त लाभान्वित होने वालों के सापेक्ष उपभोग लाभान्वित न होने वालों की अपेक्षा अधिक थी।
- वित्तीय बंटन तथा भौतिक लक्ष्य प्रत्येक विकास खंड के आधार पर एक ही प्रकार से तय किए गए, जिसके कारण कुछ स्थानों में ऐसे लोगों का चयन भी हो गया था, जो लाभान्वित होने वालों की श्रेणी में नहीं आते थे। बाद में इसे ठीक कर दिया गया।
- इस प्रकार की पहचान संबंधी गलतियाँ 15 से 20 प्रतिशत थीं।
- इस कार्य में भ्रष्टाचार तथा गलत तरीके अपनाए जाने के सबूत भी पाए गए।
- कुछ विशेष क्षेत्रों में परियोजनाओं के चयन में पक्षपातपूर्ण व्यवहार भी देखने को मिली जैसे—दूध देने वाले जानवर। इसी प्रकार के कई अन्य प्रमाण भी मिले। जैसे—अ) अच्छी नस्ल के जानवरों की कमी, ब) इनके लिए सहायक सुविधाएँ जैसे—चारा, पशु चिकित्सा और बाजार हाट का अभाव। प्राय: आवश्यकताओं और परियोजनाओं के बीच कोई तालमेल नहीं होता था।
- बैंक की सुविधाएँ अपर्याप्त थीं।
- प्रशिक्षकों की कमी थी।
- अगली और पिछली कड़ियों में तालमेल नहीं था।

आई.आर.डी.पी. में वह नहीं है, जो छठी योजना के प्रारूप (1978-83) में बताया गया था, बल्कि यहाँ उसका अर्थ बहुत सीमित है। पैकेज प्रस्ताव तो लगभग समाप्त ही कर दिया गया है। इस कार्यक्रम की एक अन्य कमी, उन लोगों का निर्धारण करने में थी जो गरीबी रेखा के नीचे थे। जहाँ भी आई.आर.डी.पी. ने गरीबों में से सबसे गरीब की मदद की वहाँ साधनों की अपर्याप्तता के कारण गरीबों को वास्तविक गरीबी रेखा से ऊपर उठाना संभव नहीं हुआ। इसके लिये बहुत बड़े स्तर पर विनियोग की आवश्यकता थी।

आई.आर.डी.पी. के बारे में एक और तथ्य जो सामने आया वह यह था कि इसकी प्रगति तथा कार्य विभिन्न राज्यों में अलग-अलग रहा है। संभवतः सत्ता में आई सरकार तथा नौकरशाही रवैया इस कार्यक्रम की प्रभाविता को निर्धारित करता है। राज्यों में स्थानीय स्व-शासित सरकार का ढाँचा तथा विकास के कार्यों में गरीबों की भागीदारी की मात्रा कुछ सीमा तक इस कार्यक्रम की सफलता के लिए जिम्मेदार हो सकते हैं। साथ ही विशिष्ट परिवेश से संबंधित सामुदायिक आवश्यकताओं को क्षेत्र/समुदाय विशेष के लिए कार्यक्रम बनाते समय ध्यान में नहीं रखा गया।

इससे पहले कि हम क्षेत्र विशेष के लिए कार्यक्रमों तथा रोजगार बढ़ाने संबंधी कार्यक्रमों की चर्चा करें, इसके मूलभूत दर्शन तथा एम.एन.पी. और आई.आर.डी.पी. की प्रगति की चर्चा करना उचित रहेगा।

इन सबका मूल आधार यह था कि आर्थिक सहायता और राजनीतिक व्यवस्था गरीबों की पहुँच में हो और यह उनके लिए एक "सुरक्षा" का कार्य करे, किन्तु इसके साथ ही राज्य का एक तटस्थ रूप सामने आया। इसके फलस्वरूप बड़े उद्योगों, संपन्न किसानों तथा व्यावसायिक वर्गों का आपस में तालमेल बढ़ा और वे अपने आंतरिक विरोधों को भूला दिए। यही बात पंचायती राज, सामुदायिक विकास तथा प्रसार सेवाओं के विषय में भी लागू होती है। इस प्रकार राज्य को इस गठबन्धन के किसी भी वर्ग के पक्षधर या उसके किसी सदस्य के विशेष हितों से ऊपर उठकर व्यवहार करना चाहिए।

तथापि वास्तविक दृश्य कुछ और ही हैं। सरकारी नीतियों के साथ-साथ विशुद्ध आर्थिक शक्तियाँ भी गरीबी के स्तर और उसके प्रसार को प्रभावित करती हैं। अनाज़ के बढ़ते हुए दाम, घटता हुआ रोजगार तथा स्थिर वास्तविक मजदूरी का ग्रामीण गरीबी पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार सरकारी नीतियों का अर्थव्यवस्था पर उलटा असर पड़ता है। अतः इन अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि जहाँ आई.आर.डी.पी. के कारण कुछ लोग गरीबी रेखा को पार करने में समर्थ हो सके, वहीं कुछ अन्य लोग गरीबी रेखा के नीचे आ गए। ये लोग एक या दो वर्ष पहले गरीबी रेखा के ऊपर थे और इस वजह से उनका इस कार्यक्रम के लिए चुनाव नहीं किया जा सका था।

शासकीय समूहों के इस गठबंधन में कुछ सदस्य ऐसे थे जो विकास की रणनीति से लाभ उठाने का प्रयास कर रहे थे। जैसे—संपन्न ज़मींदार तथा प्रशासन से जुड़े हुए लोग। अतः बहुत से कार्यक्रम संपन्न ग्रामीणों के विचारों को ही आगे बढ़ाते रहे और इनके कार्यान्वयन में बेईमानी के दृष्टांत भी मिलते हैं।

अब एम.एन.पी. जैसे कार्यक्रमों को ही लें। यद्यपि ये कार्यक्रम विकासोन्मुख कार्यनीति से अलग हटकर हैं, फिर भी ये वितरण के संबंध में तटस्थ हैं। यद्यपि अधिकतर कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्र के लिए हैं, फिर भी यह कहना सही नहीं है कि ये विशेष रूप से ग्रामीण गरीबों के लिए ही हैं। शिक्षा अथवा स्वास्थ्य सेवाओं को ही लें। इनके गाँवों में होने के कारण ही यह कहना ठीक नहीं होगा कि गरीब भी इनसे लाभान्वित होंगे। वास्तव में इनमें से अनेक कार्यक्रमों से ऐसे लोगों ने लाभ उठाया है, जो इसके हकदार नहीं थे।

इस विषय में दूसरी ध्यान देने वाली बात यह है कि नौकरशाही को इस दिशा में ठीक से प्रशिक्षण नहीं दिया गया कि गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों को किस प्रकार लागू किया जाना चाहिए। भारत में नौकरशाही ही उपनिवेशी राज्य की देन है और शायद इसका स्वरूप ऐसा है जो सर्वोत्तम सांस्थानिक मदद देने में सक्षम नहीं है।

19.5 क्षेत्र-विशेष आधारित विकास कार्यक्रम

न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रमों तथा लक्षित समूहों के कल्याण के कार्यक्रमों के साथ-साथ ग्रामीण गरीबी उन्मूलन के लिए क्षेत्र-विशेष पर आधारित विकास कार्यक्रम भी आरंभ किए गए थे। यह

ध्यान में रखा गया था कि पिछड़े हुए क्षेत्रों या प्राकृतिक रूप से हुई कुछ हानियों के कारण कुछ क्षेत्र ग्रामीण गरीबी के निकट आ गए। इस प्रकार उन क्षेत्रों के ऊपर जो परिस्थितियों की चपेट में आकर मरुभूमि बन गए हैं तथा पहाड़ी क्षेत्रों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। इन कार्यक्रमों में "सूखोन्मुख क्षेत्र कार्यक्रम" (Drought Prone Area Programme - DPAP) और "मरुस्थल विकास कार्यक्रम" (Desert Development Programme - DDP) की कल्पना उन क्षेत्रों के विकास के लिए की गई थी, जो पारिस्थितिक दृष्टि से प्रतिकूल स्थिति के कारण पर्याप्त वर्षा आकर्षित नहीं कर पाते और जहाँ गरीबी बहुत ही अधिक है। इस प्रकार की योजनाएँ "कमांड क्षेत्र विकास कार्यक्रम" सिंचाई जल को बेहतर ढंग से उपयोग में लाने के लिए बनाई गई थीं। पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, विशेष रूप से पर्वतीय क्षेत्रों के लिए बनाया गया था।

19.5.1 कमांड क्षेत्र विकास कार्यक्रम (CADP)

ये कार्यक्रम सन् 1975 में केन्द्र द्वारा प्रायोजित (centrally sponsored) योजना के रूप में लागू किए गए। इसके लिए 13 राज्यों में वहाँ की सरकारों की मदद से 50 चुनी हुई सिंचाई परियोजनाओं की पहचान की गई। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य था कि सिंचाई की संभावनाओं का जल्दी से जल्दी पता लगाकर देश के चुने हुए मध्यम तथा बृहत् सिंचाई योजना क्षेत्रों में कृषि उत्पादन की क्षमता बढ़ाई जाए। इस कार्य के लिए कमांड क्षेत्र विकास प्राधिकरणों की स्थापना की गई। सन् 1976 में राष्ट्रीय कृषि आयोग ने इस बात पर ज़ोर दिया कि इन क्षेत्रों में भूमि विकास समन्वित ढंग से किया जाए। इस आयोग की सिफारिश यह भी थी कि भूमि विकास उसी विभाग के अंतर्गत रखा जाए जो सिंचाई का कार्य देखता है।

मोटे तौर पर सी.ए.डी.पी. चालू फार्मों के विकास के लिये कार्य करते हैं, उनमें (1) खेतों पर सिंचाई के लिए नहरें, (2) नालियाँ, (3) भूमि को समतल करना, (4) जोतों की चकबंदी करना, तथा (5) उनकी मेंड़ें बनाना शामिल है। इनमें कमांड क्षेत्रों में बारी-बारी से पानी के वितरण की सुविधा पर भी जोर दिया गया। वन्य क्रियाकलापों में भूमिगत पानी का विकास, कृषि संबंधी सेवाओं को उपलब्ध कराने के साथ अन्य सुविधाओं जैसे—सड़कें, विभिन्न फसलों के ढाँचे की एक उपयुक्त विधि और बारी-बारी से सिंचाई करना आदि भी शामिल है।

यद्यपि यह कार्यक्रम अपने निष्पादन में बहुत बुरा नहीं था, लेकिन इसमें कुछ कमियाँ भी हैं जैसे :

- इसके कार्यान्वयन की धीमी गति,
- बाढ़ की समस्याओं को ठीक से नियंत्रित नहीं किया गया,
- सिंचाई के पानी की उपलब्धि की अनिश्चितता,
- प्रशिक्षित कर्मचारियों के अभाव में प्रसार-सहायता का अभाव,
- कार्यों को सही ढंग से चलाने के लिए वित्तीय तथा सही व्यवस्था का अभाव,
- सी.डी.ए. का नहरें बनाने आदि के लिए कई राज्यों में संबंधित विभागों पर उचित अधिकार न होना।

19.5.2 सूखा-उन्मुख क्षेत्र कार्यक्रम (DPAP)

वे क्षेत्र जो वर्षा पर निर्भर हैं और जहाँ फसलें भी कम होती हैं, वहाँ बड़ी मात्रा में मोटा अनाज, दालें, तिलहन और कपास की पैदावार होती है। ऐसे क्षेत्रों में पानी की कमी रहती है, भूमिका क्षय होता है और प्रायः पर्यावरण खराब हो जाता है।

चौथी योजना के पूर्व सूखाग्रस्त इलाकों के लिए विभिन्न योजनाएँ बनाई गई थीं और जिसके अन्तर्गत डी.पी.ए.पी. का गठन हुआ था। इसके अन्तर्गत सड़कों की मरम्मत तथा नई सड़कें बनाना, सूखी खेती की परियोजनाएँ तथा ग्रामीण निर्माण से संबंधित कार्यक्रम शुरू किये गये। सन् 1970-71 में ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम लगातार सूखे की चपेट में आने वाले क्षेत्रों के लिए लागू किया गया था। इसका लक्ष्य ग्रामीण निर्माण का विकास करना तथा रोज़गार को बढ़ावा देना था। तब यह अनुभव किया गया कि इसके लिए एक लंबे समय की योजना की व्यवस्था की जाए। अतः सन् 1973 में DPAP को ऐसे क्षेत्र में समन्वित विकास कार्यक्रम के रूप में आरंभ किया गया। इसे आवश्यक समझा गया क्योंकि देश के कुल क्षेत्र का लगभग 19 प्रतिशत भाग सूखाग्रस्त में रहने वाले 12 प्रतिशत जनसंख्या पर इसका प्रभाव पड़ेगा। सूखे के कारण देश में

क्षेत्रीय संतुलन डगमगा गया और अप्रत्याशित राहत व्यय के कारण देश की वित्तीय क्षमताओं पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

इस कार्यक्रम का मुख्य ध्येय ऐसे सूखे इलाकों में उपज बढ़ाना था जो वहाँ की भूमि तथा सीमित पानी में पैदा हो सकती थीं। इसके माध्यम से भूमि की सिंचाई करने, पानी इकट्ठा करने, जानवर पालने, मत्स्य पालन आदि कामों को बढ़ावा मिलता था। डी.पी.ए.पी. का विशेष उद्देश्य भूमि और पानी का संरक्षण तथा भूमि को समतल बनाना, वन-रोपण, चारागाह बनाना तथा पानी से संबंधित संसाधन का विकास करना था।

इस कार्यक्रम की मुख्य कमी थी—राज्य की अन्य योजनाओं के साथ तालमेल का अभाव। अन्य परियोजनाओं को आरंभ करने से पहले उपलब्ध होने वाली सुविधाओं का सर्वेक्षण नहीं किया जाता था और न ही स्थानीय लोगों को इसमें भाग लेने का कोई साधन ही होता था। कई बार लक्ष्य केवल आम विभागों तक ही सीमित रह जाता था और कार्यक्रम के मूल उद्देश्यों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

19.5.3 मरुस्थल विकास कार्यक्रम तथा पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम (DDP तथा HADP)

ये दोनों कार्यक्रम मरुस्थल तथा पहाड़ी क्षेत्रों के लिए अलग-अलग बनाए गए हैं। डी.डी.पी. के मुख्य लक्ष्य : मरुस्थल के फैलाव पर काबू पाना, मरुस्थल तथा मरुस्थलीय क्षेत्रों में पारिस्थितिक संतुलन कायम रखना, उत्पादन-स्तर, रोज़गार और आय में वृद्धि के लिए भूमि, पानी, पशु-पालन तथा मानव संसाधन में उत्पादकता में वृद्धि के माध्यम से दशाओं का सृजन करना था। राष्ट्रीय कृषि आयोग की सिफारिश पर डी.डी.पी. को सन् 1977-78 में लागू किया गया था। एच.ए.डी.पी. का मुख्य लक्ष्य देश के पहाड़ी क्षेत्रों में पर्यावरण को बचाना और उसकी उन्नति करना था, जिससे वहाँ की विशिष्ट कठिनाइयों का समाधान किया जा सके। पहाड़ी क्षेत्रों में प्रति इकाई आधारिक सुविधाएँ प्रदान करना काफी महँगा होने के कारण राज्य सरकार की कोशिशों में सहायता देना इन कार्यक्रमों का उद्देश्य था।

डी.डी.पी. के प्रमुख अंग हैं, वन रोपण, हरे-भरे खेतों का विकास तथा रेत के टिब्बे का स्थायीकरण, भूमिगत पानी का सर्वोत्तम उपयोग एवं संरक्षण, गाँवों में ट्यूब वेल तथा पंप लगाने के लिए बिजली पहुँचाना, खेतों तथा पशुपालन की वृद्धि करना जो उस क्षेत्र की सुविधाओं से जुड़े हुए हैं। इस कार्यक्रम में उत्तर-पूर्व में "झूम" खेती जैसी विशिष्ट समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया गया। इसी प्रकार पश्चिमी घाट विकास कार्यक्रम (WGDP) भी है।

क्षेत्र आधारित कार्यक्रमों के विषय में ध्यान देने योग्य मूल बात यह है कि ये (कार्यक्रम) विशिष्ट क्षेत्रों के लिए होते हैं, लेकिन इनके लाभों का प्रभाव वितरण को प्रभावित नहीं करता क्योंकि ये वितरण की दृष्टि से तटस्थ होते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि ये कार्यक्रम, भूमि और प्राकृतिक संसाधनों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए बनाए जाते हैं, फिर भी परिसंपत्तियों के वितरण की दृष्टि से उपभोगकर्ताओं में विभेद पैदा करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है। जैसे—मान लीजिए कि सूखा पीड़ित क्षेत्रों का विकास किया गया है। यह बिल्कुल संभव है कि अपेक्षाकृत अधिक संपन्न किसानों को इससे लाभ पहुँचेगा और उन्हें ही अच्छी फसलें प्राप्त होंगी। यद्यपि इन कार्यक्रमों को गरीबी हटाओं कार्यक्रम कहा जाता है, लेकिन वास्तव में ये उत्पादकता बढ़ाने वाले कार्यक्रम होते हैं। हालाँकि इनसे गरीबी उन्मूलन के लिए भी आवश्यक सहायता मिलेगी।

19.6 ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (REP)

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से श्रम शक्ति में सामान्य रोज़गार अवसरों की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त यहाँ बड़े पैमाने पर अल्प रोज़गार भी है। प्रायः रोज़गार मौसमी प्रकार का होता है। इसी तरह यह कहना भी सही है कि ग्रामीण गरीब अधिकांशतः बेरोज़गार होता है।

19.6.1 आरंभिक रोज़गार सृजन योजनायें

तृतीय पंचवर्षीय योजना के दौरान 1964-65 के अंत तक 1,000 सामुदायिक विकास खंडों (Blocks) में रोज़गार के अवसर प्रदान करने के लिए ग्रामीण श्रम शक्ति कार्यक्रम (Rural

Manpower Programme - RMP) चलाया गया था। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत सरकार ने एक विशेष योजना चलाई, जिसे ग्रामीण द्रुतगामी रोज़गार योजना (Crash Scheme for Rural Employment—CSRE)) कहा गया। इसे एक विशेष गैर-योजना (नॉन-प्लान) कार्यक्रम के रूप में प्रारंभ किया गया था। इसका उद्देश्य टिकाऊ परिसंपत्तियाँ निर्माण करना तथा प्रति वर्ष प्रत्येक जिले में 1,000 लोगों के लिए रोज़गार सृजित करने का लक्ष्य था। द्रुतगामी ग्रामीण रोज़गार योजना के भाग के रूप में एक अग्रगामी गहन ग्रामीण रोज़गार परियोजना (Pilot Intensive Rural Employment Project—PIREP) चलाई गई। मूलतः यह द्रुतगामी रोज़गार योजना के लिए "आँकड़ा" संग्रहण परियोजना थी।

ग्रामीण श्रमशक्ति कार्यक्रम (RMP) और द्रुतगामी ग्रामीण रोज़गार योजना बहुत सफल नहीं रही। इसके बाद 1972 में महाराष्ट्र सरकार ने रोज़गार गारंटी योजना (EGS) चलाई, जिसमें पहली बार रोज़गार की गारंटी का प्रावधान किया गया और वह मौसमी रोज़गार के प्रतिकूल प्रभावों को कम कर देने में बिल्कुल सफल रहा। यह आर.एल.ई.जी.पी. के लिए प्रेरणा बनी, जिसके बारे में आप अभी पढ़ेंगे।

1977 में सरकार ने "काम के बदले अनाज़" (Food for Work – FFW) नाम से एक नया कार्यक्रम शुरू किया। इसमें मज़दूरी का भुगतान, खाद्यान्न के रूप में देने की योजना का शुभारंभ किया गया, जिससे अनाज के अतिरिक्त भंडार को इस काम में इस्तेमाल किया गया। इसका उद्देश्य आधारिक संरचना तथा टिकाऊ सामुदायिक परिसंपत्तियों के निर्माण द्वारा ग्रामीण गरीबों को रोज़गार प्रदान करना था।

19.6.2 राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम और ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम

ग्रामीण क्षेत्रों में रोज़गार बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम चलाया गया। इसमें ग्रामीण क्षेत्रों में आय के पुनर्वितरण तथा उपभोग पर भी विचार किया गया था। 1981 में इसने "काम के बदले अनाज" कार्यक्रम का स्थान ले लिया और इसे छठी पंचवर्षीय योजना का भाग बना दिया गया।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (NREP) का मूल उद्देश्य अल्प रोज़गार प्राप्त व्यक्तियों तथा बेरोज़गारों के लिए लाभदायी अतिरिक्त रोज़गार पैदा करना, ग्रामीण क्षेत्रों में आधारिक संरचना बढ़ाने के लिए टिकाऊ सामुदायिक परिसंपत्तियाँ सृजित करना और काम के लिए बड़ी मात्रा में श्रम-दिवस सृजित करना था। इसमें ग्रामीण क्षेत्रों में रहन-सहन के स्तर में समग्र सुधार पर भी विचार किया गया था।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के अंतर्गत मज़दूरी, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम के अनुसार दी जानी थी। मज़दूरी का एक अंश खाद्यान्न के रूप में दिया जाना था और इसके लिए प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 1 से 2 कि.ग्रा. खाद्यान्न दिए जाने का मानदंड निश्चित किया गया था। मज़दूरी का एक अंश खाद्यान्न के रूप में अदा करने की यह विधि, खाद्यान्न की कीमतों में उतार-चढ़ाव से ग्रामीण मज़दूरों को बचाने के लिए अपनाई गई थी। कामगारों को भी न्यूनतम मात्रा में खाद्यान्न देने का आश्वासन दिया गया था। 1986 में कामगारों को कम दर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराया गया था। जहाँ मज़दूरी के एक अंश का भुगतान खाद्यान्न के रूप में देना संभव न था, वहाँ संपूर्ण मज़दूरी का भुगतान नकद किया गया था। ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) 1983 में शुरू किया गया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में टिकाऊ सामुदायिक परिसंपत्तियाँ सृजित करने और उनके रहन-सहन की गुणवत्ता में सुधार लाने के अलावा यह भी था कि रोज़गार के अवसर बढ़ाए जाएँ, विशेषकर उनके लिए जो ग्रामीण भूमिहीन मज़दूर हैं, ताकि प्रत्येक भूमिहीन परिवार के कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन के लिए रोज़गार की गारंटी दी जा सके। ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) के अंतर्गत से संबद्ध माना गया। ये कार्यक्रम थे—ग्रामीण क्षेत्रों को जोड़ने वाली सड़कों का निर्माण, भूमि विकास, परती भूमि सुधार, सामाजिक वानिकी, सुलभ शौचालयों का विनिर्माण, इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत छोटे-छोटे आकार के आवास का निर्माण (यह एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसके अंतर्गत अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जन जातियों के भूमिहीन मज़दूरों के लिए आवास बनाना) तथा बंधुआ मज़दूरों को मुक्त करना था।

ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम कई प्रकार से राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के समान था और कई प्रकार से भिन्न भी था। मख्य रूप से इनमें जो समानताएँ थीं वे यह थीं कि दोनों ही

लक्ष्य-केंद्रित (target-oriented) रोज़गार सृजन कार्यक्रम थे और ग्रामीण गरीबों के लिए थे। दोनों ही कार्यक्रमों में मज़दूरी के एक अंश को अनाज के रूप में अदा किया जाना था और दोनों ही जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों के माध्यम से संचालित किए गए थे। इन दोनों में ही पंचायती राज संस्था तथा ऐच्छिक एजेंसियों से सहायता ली गई थी और इन कार्यक्रमों में मज़दूरी को सांविधिक रूप से निर्धारित किया गया था।

इसमें जो महत्वपूर्ण असमानताएँ थीं, वे यह थीं कि "ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम" में "राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम" से हटकर ग्रामीण भूमिहीनों पर ध्यान विशेष रूप से केंद्रित किया गया था। "ग्रामीण मज़दूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम" (RLEGP) में "राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम" से अलग हटकर प्रत्येक भूमिहीन ग्रामीण परिवार के एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन के लिए रोज़गार की गारंटी प्रदान की गई थी। ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम के अंतर्गत व्यय की व्यवस्था पूर्णतः केन्द्र सरकार द्वारा की गई थी, लेकिन ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के अंतर्गत ऐसा नहीं था।

अब आइए, हम कार्यक्रमों के कार्यान्वयन और उसके पीछे छिपी धारणाओं का मूल्यांकन करें। मूलतः मज़दूरी के किसी अंश का अनाज़ के रूप में भुगतान करने के पीछे जो धारणा है, वह इस तथ्य के कारण व्यर्थ हो जाती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी कोई सार्वजनिक वितरण प्रणाली नहीं है, जिसका उल्लेख किया जा सके। इसके अलावा यह मान लिया जाता है कि अनाज की कीमतें, अनाज की उपलब्धता से जुड़ी हुई हैं, क्योंकि प्रायः मज़दूरी पूरी नहीं पड़ती और कीमतों में इस तरह से उतार-चढ़ाव होता रहता है जिससे भूमिहीन नुकसान में ही रहते हैं। आइए, अब हम मज़दूरी की संकल्पना पर विचार करें। यह एक सामान्य तथ्य है कि प्रायः मज़दूरी उससे कम दी जाती है जितना न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम में निर्धारित किया गया है। यदि मज़दूरी इस अधिनियम के अनुरूप भी हो तो भी उसे कीमतों के अनुसार बढ़ाया नहीं जाता और वास्तविक मज़दूरी में समय के साथ वृद्धि न हो।

दूसरा महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम का गारंटी वाला भाग कार्यान्वित नहीं किया जा सका, क्योंकि संसाधनों की बहुत ही कमी थी। किंतु ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम का निष्पादन इंदिरा आवास योजना के तहत रहने के लिए छोटे-छोटे मकानों का निर्माण, सामाजिक और वानिकी कार्य, लाख-कूएँ योजना के तहत कुओं की खुदाई तथा प्राथमिक विद्यालयों, गाँवों को जोड़ने वाली सड़कें आदि ऐसे ही अन्य कार्यक्रमों की दृष्टि से कुछ हद तक संतोषजनक रहा।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम से संबंधित कुछ अध्ययनों का मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार था—

राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के तहत रोज़गार मिलने से मजदूरी-आय, ग्रामीण परिवार की कुल औसत मज़दूरी-आय का 1982-83 में 23 प्रतिशत थी। प्रतिदर्श परिवारों में राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के तहत रोज़गार की कुल रोज़गार में औसत भागीदारी 21.6 प्रतिशत पाई गई। कुछ अन्य निष्कर्ष ये थे कि राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के तहत निर्माण कार्य के निर्धारण के लिए ऊँची प्राथमिकता नहीं दी गई, सांख्यिकीय आँकड़ों का आधार अपर्याप्त था, खंड-विकास अधिकारी और वी.एल. डब्ल्यू. ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (NREP) से संबंधित सूचनाओं को समुचित रूप से नहीं दिया। कुछ राज्यों में अनाज की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक थी, कुछ मामलों में खुले बाज़ार की अपेक्षा अनाज की कीमतें अधिक थीं। फलस्वरूप श्रमिकों ने खाद्यान्न का क्रय नहीं किया। यह देखा गया कि मज़दूरी का हिस्सा कुल लागत का 53 प्रतिशत था। प्रति व्यक्ति औसतन 2.48 कि.ग्रा. खाद्यान्न मज़दूरी के एक अंश के रूप में वितरित किया गया। मज़दूरों में 38 प्रतिशत मज़दूर अनुसूचित जाति के और 20 प्रतिशत भूमिहीन मज़दूर थे। 28 प्रतिशत सीमांत किसान और 19 प्रतिशत छोटे किसान तथा 5 प्रतिशत ग्रामीण कारीगर थे। महिला मज़दूरों का अनुपात 18 प्रतिशत था। कार्यक्रम के तहत लाभ पाने वालों में 44 प्रतिशत कृषि मजदूर, 24 प्रतिशत गैर-कृषि मज़दूर, 8 प्रतिशत छोटे किसान तथा 6 प्रतिशत सीमांत किसान थे। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के तहत निर्माण कार्य के अंतर्गत कार्यरत व्यक्तियों में 29 प्रतिशत की वार्षिक आय 3,500 रु. से कम थी। 44 प्रतिशत कामगार 3,501 से 5,400 रुपये के बीच आय-समूह के थे।

इन कार्यक्रमों के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में मज़दूरों की कुल क्षमता का ज्यादा उपयोग नहीं हो पाया। प्रायः कार्यक्रमों से संबंधित आयोजना व्यवस्थित नहीं हो पाई। परियोजना और श्रम शक्ति के बीच ठीक तालमेल न था। कार्यान्वयन अवधि के दौरान यह देखा गया कि मज़दूरी के एक अंश के रूप में खाद्यान्न का उपभोग कम रहा। बहुत-सी सड़कें कच्ची ही बनीं। ठेकेदारों की बन आई और इन कार्यक्रमों में उनकी दखल बढ़ती गई।

1989 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम और ग्रामीण मज़दूर रोज़गार गारंटी कार्यक्रम को एक में मिलाकर जवाहरलाल नेहरू रोज़गार योजना नामक एक नया कार्यक्रम भी चलाया गया जो एक रोज़गार सृजन कार्यक्रम था और विशेषकर पिछड़े इलाकों के लिए था। इस नए एकल कार्यक्रम को जवाहर रोज़गार योजना कहा गया और इसी रूप में यह कार्यक्रम अभी भी विद्यमान है। इसमें मुख्य नई बात यह है कि जिन पिछड़े इलाकों में चिरकालिक गरीबी थी, उन इलाकों के ध्यान में रखा गया है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें केन्द्र और राज्य 4:1 के अनुपात में निधि की व्यवस्था मिलकर करते हैं। केंन्द्र से धनराशि जिलों में सीधे ही "जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों" (DRDAs) को दी जाती हैं। राशि का 80 प्रतिशत भाग ग्राम पंचायतों को देना पड़ता है। अतः यह स्थानीय भागीदारी की शुरुआत करने का एक प्रयास था।

बोध प्रश्न 2

1. एम.एन.पी. के तहत किए जाने वाले उपाय और लक्षित समूहों को लाभ देने वाले कार्यक्रमों के तहत किए जाने वाले उपायों में मौलिक अंतर बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) एवं ग्रामीण मजदूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.7 कुछ ग्रामीण सामाजिक सेवाएँ

हम विभिन्न प्रकार के निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों और प्रक्रियाओं पर चर्चा कर चुके हैं। अब हम ग्रामीण लोगों को उपलब्ध उन सामाजिक सुविधाओं का उल्लेख करेंगे, जो निर्धनता उन्मूलन से जुड़ी हुई हैं। हम पाएँगे कि निर्धन वर्ग के जीवन पर इन सुविधाओं का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हम मानव संसाधन विकास के दो प्रमुख साधनों के रूप में ग्रामीण स्वास्थ्य देख-रेख संबंधी सेवाएँ और शिक्षा सेवाओं पर विचार करेंगे।

19.7.1 ग्रामीण स्वास्थ्य देख-रेख संबंधी सेवाएँ

स्वास्थ्य का विकास पर दो तरफा असर पड़ता है। स्वास्थ्य का संतोषप्रद होना अपने आप में ही विकास की निशानी है। इसके अलावा अच्छा स्वास्थ्य लोगों को अधिक उत्साहवर्धक बनाता है तथा आय और जीवन स्तर ऊँचा उठाने के योग्य बनाता है।

स्वास्थ्य पोषण के स्तर से जुड़ा होता है। यहाँ हम पोषण के मामले को छोड़ देंगे, क्योंकि इसकी चर्चा हम पिछली इकाई में कर चुके हैं। हमारी चर्चा स्वास्थ्य और मृत्यु-दर तक सीमित रहेगी।

समुचित स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं के अभाव में निर्धन लोग अस्वस्थता के चंगुल में फंसे रहते

स्वास्थ्य के कतिपय संकेतकों की मदद से हम इस बात का अंदाजा लगा सकते हैं। निम्न लिका (19.1) इस तथ्य का एक अंश दर्शाती है :

तालिका 19.1 : स्वास्थ्य संकेतक

केतक	वर्ष	स्तर
शु मृत्यु दर	1987	104 (ग्रामीण) 6.1 (शहरी)
4 आयु वर्ग में मृत्यु दर	1987	39.7 (ग्रामीण) 18.2 (शहरी)
शोधित (crude) मृत्यु दर	1987	12.0 (ग्रामीण) 7.4 (शहरी)
न्म के समय पूर्वानुमानित वन (वर्ष)	1981-85	53.7 (ग्रामीण) 62.8 (शहरी)

ोत : जीवन मृत्यु संबंधी सांख्यिकीय प्रभाग, भारतीय रजिस्ट्रार जेनरल का कार्यालय।

ह सभी को ज्ञात है कि नवजात बालिकाओं तथा जनन अवस्था के दौरान महिलाओं को स्वस्थता के सबसे अधिक खतरे होते हैं। प्रायः शिशुओं की मृत्यु पेचिश, साँस की बीमारी और मोनिया, कुपोषण तथा पोलियो, डिप्थीरिया और खसरे जैसे संक्रमण से होती है। छोटी उम्र में वाह और उच्च प्रजनन शक्ति ऊँची मातृ-मृत्यु दर के कारण हैं। ग्रामीण लोगों पर प्रभाव लने वाले अन्य रोग—साँस संबंधी रोग, संक्रमण रोग तथा नहरूआ (guineaworm) हैं। अभी मने कुपोषण और अल्प-पोषण से उत्पन्न खतरों के कारकों को नहीं बताया है। अतः वारणात्मक (Preventible) रोग ग्रामीण भारत में रोग और मृत्यु के लिए काफी हद तक म्मेदार हैं। जैसा कि आप जानते हैं, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर लोगों की तुलना में निर्धन लोग न खतरों से अधिक ग्रस्त रहते हैं।

इए, अब हम भारत में स्वास्थ्य देख-रेख संबधी सुविधाओं और उनकी पहुँच पर विचार करें। तंत्रता के पश्चात् स्वास्थ्य नीति का बुनियादी ढाँचा, वर्ष 1943 में नियुक्त स्वास्थ्य सर्वेक्षण र विकास समिति (भोरे समिति) की सिफारिशों पर तैयार किया गया था। इस समिति ने र्वव्यापी निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधाओं तथा रोगों की रोकथाम पर बल देने संबंधी व्यापक विधाओं को उपलब्ध कराने की सिफारिश की थी। इस समिति ने स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं के र्धन में लोगों के योगदान और चिकित्सा को समाज के अनुकूल बनाने पर जोर दिया।

ोरे समिति ने जिले को प्रशासन के एक मूलभूत इकाई के रूप में मानते हुए यह सिफारिश की ा कि दीर्घावधिक आधार पर लघुतम इकाई को 10,000 से 20,000 तक की आबादी के लिए ाथमिक स्वास्थ्य इकाई (पी.एच.यू.) समझा जाए। लगभग 20 पी.एच.यू को मिलाकर मध्यम ास्थ्य इकाई तथा 3 से 5 मध्यम स्वास्थ्य इकाई मिलाकर जिला स्वास्थ्य संगठन बनाने की ाफारिश की गई। पहली पंचवर्षीय योजना में इनमें से अधिकाँश सिफारिशें मंजूर कर ली गई। र्ष 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के एक अंग के रूप में पहली प्राथमिक स्वास्थ्य इकाई निट चालू की गयी। तब से लेकर आज तक प्राथमिक स्वास्थ्य इकाई बुनियादी इकाई के रूप में वा कर रही है।

ब हम स्वास्थ्य देख-रेख संबंधी सेवाओं की मूलभूत संगठनात्मक संरचना पर ध्यान दें। ग्राम तर पर सामुदायिक स्वास्थ्य स्वयंसेवक (सी.एच.वी.) होता है, जो लोगों और स्वास्थ्य सेवाओं के ोच एक कड़ी का काम करता है। एक उप-केन्द्र में 3,000 से 5,000 की आबादी के लिए एक रुष और एक महिला बहुउद्देशीय कार्यकर्ता (एम.पी.डब्ल्यू) काम करते हैं। चार उप-केन्द्रों का ाम एक पुरुष और एक महिला स्वास्थ्य सहायक (एच.ए.) देखते हैं। स्वास्थ्य सहायक प-केन्द्र तथा पी.एच.सी. के बीच कड़ी का काम करता है। एक पी.एच.सी. 20,000-30,000 ी आबादी के लिए काम करता है। सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र (सी.एच.सी.) 100,000 की ाबादी का ध्यान रखता है। प्रत्येक सी.एच.सी. में 30 बिस्तर वाला अस्पताल तथा एक्स-रे ाशीन और चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं।

द्यपि, पी.एच.सी. की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, तथापि आधारिक संरचना infrastructure) की कमी तथा प्रशिक्षित कर्मचारियों के अभाव के कारण ग्रामीण निर्धन वर्ग, ी.एच.सी. का भरपूर उपयोग नहीं कर पाता। निम्न तालिका (19.2) में छठवीं योजना के आरंभ

के दौरान निर्धारित लक्ष्यों सहित पी.एच.सी. की आधारिक संरचना का एक सामान्य लेखा-जोखा दिया गया है :

तालिका 19.2 : पी.एच.सी. की आधारिक संरचना का सामान्य लेखा-जोखा

	कुल अपेक्षित	4.1.85 को स्थिति	1985-90 के लिए लक्ष्य
1. सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र (सी.एच.सी.)	5,417	649	1,553
2. प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (पी.एच.सी.)	23,000	11,000	12,000
3. उप-केंद्र	1,37,000	83,000	54,000
4. अपनी इमारतों सहित उप-केन्द्र	1,37,000	33,475	23,837

स्रोत : सातवीं पंचवर्षीय योजना, खंड-II, योजना आयोग, भारत सरकार, नई दिल्ली।

सितम्बर 1989 तक ग्रामीणी क्षेत्रों में लगभग 19,000 पी.एच.सी, 1,22,000 उप केंद्र तथा 1,600 सी.एच.सी. कार्यरत थे। वर्ष 1988 में ग्रामीण भारत में लगभग 1,3200 डिस्पेंसरियाँ और 16,000 बिस्तरों वाली डिस्पेंसरियाँ थीं।

आइए, अब हम स्वास्थ्य सेवाओं के वित्त पोषण और व्यय संबंधी पहलुओं पर विचार करें। निम्न तालिका (19.3) में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय दर्शाया गया है :

तालिका 19.3 : विभिन्न योजनाओं के दौरान स्वास्थ्य क्षेत्र पर हुआ व्यय

अवधि	व्यय (करोड़ रु.)	सार्वजनिक क्षेत्र पर हुए कुल व्यय की तुलना में स्वास्थ्य सेवा पर हुए व्यय का प्रतिशत
1	2	3
पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56)	65.2	3.3
दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61)	140.8	3.0
तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66)	225.9	2.6
वार्षिक योजनाएँ (1961-66)	140.2	2.1
चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74)	335.5	2.1
पाँचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79)	766.8	1.9
छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) (परिव्यय)	1821.1	1.9
सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) (परिव्यय)	3392.9	1.9

स्रोत : स्वास्थ्य सूचना, भारत-1988, ब्यूरो ऑफ हेल्थ इंटेलिजेंस, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली-1988

कॉलम (3) से यह देखा जा सकता है कि व्यय का प्रतिशत, पहली योजना में 3 प्रतिशत की तुलना में सातवीं योजना में कम हो कर लगभग 2 प्रतिशत हो गया व्यय का अधिकाँश भाग सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं और चिकित्सा के प्रशिक्षण पर खर्च न करके उपचार संबंधी स्वास्थ्य सेवाओं और स्वास्थ्य शिक्षा पर खर्च किया गया।

बहुधा त्रुटिपूर्ण चयन मानदंड, दवाइयों की अपर्याप्त आपूर्ति, अपर्याप्त प्रशिक्षण और निरीक्षण, नाममात्र की स्वास्थ्य सूचना प्रणाली, राजनीतिक हस्तक्षेप और निम्न जीवन स्तर स्वास्थ्य प्रणाली के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य हैं। इन सब कारणों से निर्धन वर्ग स्वास्थ्य सेवाओं का अपूर्ण उपयोग कर पाता है।

स्वास्थ्य संबंधी देख-रेख प्रणाली का उद्देश्य, स्वास्थ्य संबंधी व्यापक सेवाओं को प्रस्तुत करना है। किन्तु इसके अन्तर्गत महामारी और क्षेत्र-विशेष की विशेषताओं, विशिष्ट आयु वर्ग और परंपरागत स्वास्थ्य संबंधी पद्धतियों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

स्वास्थ्य संबंधी देख-रेख प्रणाली की निर्दिष्ट व्यवस्था में सुधार लाने, महिलाओं, शिशुओं और बच्चों पर ध्यान केंद्रित करने तथा परिवार में महिलाओं को स्वास्थ्य का प्रमुख स्रोत और निर्णायक के रूप में स्थापित करने की गुंजाइश है। स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप उपयुक्त सुविधाएँ निर्धारित करने के लिए परामर्शदायी सेवाओं की सहायता लेना जरूरी है।

19.7.2 ग्रामीण शिक्षा प्रणाली

न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम का उल्लेख करते समय हमने संक्षेप में शिक्षा की चर्चा की थी। वर्ष 1985 में सरकार द्वारा "शिक्षा की चुनौती–एक नीतिगत संभावना" नामक पुस्तिका प्रकाशित किया गया, जिसमें यह स्वीकार किया गया कि राष्ट्रीय विकास और गरीबी कम करने के लिए शिक्षा अनिवार्य है। इसके साथ ही शिक्षा पर खर्च किए जाने वाले कम परिव्यय का उल्लेख भी किया गया। शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय नीति (एन.पी.ई.) (1986) एक ऐसा व्यापक प्रयास है, जिसमें कार्यक्रम संबंधी महत्वपूर्ण कमियों को समाप्त करते हुए, वर्ष 1995 तक 6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग वाले सभी बच्चों के लिए सर्वव्यापी शिक्षा की उपलब्धि सुनिश्चित की जाएगी। इसमें शिक्षा संबंधी अवसरों में असमानताएँ और विषमताएँ दूर करने, बाल अवस्था में देख-रेख तथा शिक्षा को उच्च प्राथमिकता देने, प्रारंभिक शिक्षा को अधिक महत्व देने, प्राथमिक शिक्षा के संबंध में आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने तथा माध्यमिक शिक्षा आदि को व्यापक विस्तार देने का भी प्रयास किया जाएगा।

पाँचवें अखिल भारतीय शिक्षा संबंधी सर्वेक्षण (1986) के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में 135,000 स्कूल थे। इन स्कूलों में से 9,76,000 प्राथमिक स्कूल, 113,000 उच्च प्राथमिक स्कूल, 39,000 माध्यमिक स्कूल और 7,000 उच्चतर माध्यमिक स्कूल थे। आरंभिक शिक्षा के संबंध में अन्य नवीन योजनाओं में अनौपचारिक केंद्र, "ब्लैक बोर्ड की मदद से पढ़ाई, मॉडल स्कूल" शामिल हैं।

प्रौढ़-शिक्षा को भी नियमित महत्व मिल रहा है। पहली योजना में प्रौढ़ शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय बोर्ड का गठन किया गया था। वर्ष 1978 में 15 से 35 वर्ष के आयु वर्ग के प्रौढ़ लोगों के लिए प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम आरंभ किया गया। वर्ष 1960 में आरंभ किए गए प्रयोगमूलक साक्षरता कार्यक्रम को अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम में मिलाकर उसे ग्रामीण प्रयोगमूलक साक्षरता परियोजना (आर.एफ.एल.पी.) का नया नाम दिया गया। निरक्षरता उन्मूलन के लिए वर्ष 1988 में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एन.एल.एम.) आरंभ किया गया। एन.एल.एम. ने प्रारंभ में ग्रामीण क्षेत्रों पर ध्यान दिया। इस मिशन का 15 से 35 आयु वर्ग के 800 लाख अशिक्षित में से 1990 तक 300 लाख तथा 1995 तक क्षेत्र 500 लाख लोगों को शिक्षा देने का लक्ष्य है।

उपर्युक्त विवरण शैक्षणिक उपायों का एक संक्षिप्त विवरण है। आइए अब हम शिक्षा संबंधी प्रयासों तथा उनके निष्पादन पर एक नजर डालें। हमें दो चीजों को समझना है–पहला, शिक्षा मानव रूपी पूँजी की गुणवत्ता में सुधार लाती है। दूसरा, माताओं द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से स्वास्थ्य सेवाओं पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा, जिससे उत्पादकता में वृद्धि होगी। शिक्षा का विशेष रूप से महिला साक्षरता और जनन क्षमता तथा मृत्यु दर के बीच आपसी संबंध है। जैसा कि आपको मालूम है कि ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषकर निर्धन लोगों में साक्षरता की दर नीची है। इस संबंध में राजस्थान, बिहार, आंध्र प्रदेश और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों की स्थिति काफी दयनीय है।

शिक्षा प्रणाली कई गंभीर समस्याओं से घिरी हुई है। बढ़ती हुई भर्ती संख्या, हर स्तर पर स्कूल छोड़ देने वाले (drop-outs) छात्रों की संख्या से संतुलित हो जाती है। ऐसा प्रायः सुविधाओं की अपर्याप्त उपलब्धता और शिक्षण संबंधी दोषों के कारण होता है। यह भी देखा गया है कि कुछ मामलों में साक्षर लोग भी निरक्षरता की दुनिया में गुम हो जाते हैं।

19.7.3 सामाजिक सेवाओं का सामान्य मूल्यांकन

जब हम सामाजिक सेवाओं का मूल्यांकन करते हैं, तो उनकी कार्यक्रम संबंधी उपेक्षा, वित्त

पोषण और वितरण प्रणाली आदि को मोटे तौर पर मूल्यांकन किया जाता है।

किसी भी प्रतिवाद की आशंका किए बगैर एक सामान्य मत यह दिया जा सकता है कि निर्धन वर्ग में सामाजिक सुविधाओं का अल्प उपयोग करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसा सामाजिक सुविधाओं के अपर्याप्त वित्त पोषण के साथ कार्यक्रम की रूपरेखा में कमी होने और समेकित वितरण व्यवस्था के माध्यम से इन सुविधाओं को उपलब्ध न करा पाने के कारण हो सकता है। सूचना का आधार प्रायः कमजोर होता है और आँकड़ों का अभाव होता है। कुछ अध्ययन यह भी दर्शाते हैं, कि ग्रामीण निर्धन वर्ग द्वारा बहिरंग (outdoor) सुविधाओं का भरपूर इस्तेमाल किया जाता है, जबकि अंतरंग (indoor) सुविधाओं का इस्तेमाल कम किया जाता है।

अधिकांश सामाजिक सुविधाएँ ऊँची लागत पर संचालित होती हैं और कम कुशल सेवा प्रदान करती हैं। इन सुविधाओं में निर्धन वर्ग पर सीमित ध्यान दिया जाता है। आदिवासियों की स्थिति सबसे बदतर है, क्योंकि आदिवासी क्षेत्रों में भेजे गए स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रायः स्थानीय भाषा नहीं बोल पाते। वर्ष 1985 में भारतीय प्रबंध संस्थान के अध्ययन में, निर्धन वर्ग तक यह सुविधाएँ न पहुँच पाने के कारण हैं--वित्त पोषण की समस्या, विभिन्न प्रबंधकीय त्रुटियाँ और कर्मचारियों के कार्य-निष्पादन का निम्न स्तर। यहाँ तक कि बच्चों के लिए बनायी गयी "समेकित बाल विकास सेवा (आई.सी.डी.एस.)" भी इन्हीं समस्याओं से ग्रस्त है।

आइए, अब हम सामाजिक सेवाओं के वित्त पोषण और खर्च करने की पद्धति पर विचार करें। सामाजिक सुविधाओं और कल्याण संबंधी सार्वजनिक परिव्यय, वर्ष 1976-77 में सकल घरेलू उत्पाद के 5.3 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 1986-87 में 7.6 प्रतिशत हो गया तथा इन क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति खर्च की गई वास्तविक राशि इसी अवधि के दौरान 5.65 प्रतिशत वार्षिक गति से बढ़ी। सामाजिक सुविधाओं पर होने वाले परिव्यय का लगभग 70 प्रतिशत स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए है। देश के अन्य भागों की तुलना में पूर्वी और मध्य क्षेत्रों में इन पर कम खर्च किया जाता है, विशेष रूप से बिहार में काफी कम खर्च किया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में सरकार का व्यय वर्ष 1976-77 में घरेलु उत्पाद के 2.6 प्रतिशत की तुलना में वर्ष 1986-87 में बढ़कर 3.4 प्रतिशत हो गया। आधारभूत लक्ष्य प्राप्त करने के लिए यह प्रतिशत अभी भी अपर्याप्त है। निरक्षरता और स्कूल छोड़ने की ऊँची दर तथा शिक्षा के निम्न स्तर वाले बिहार और उड़ीसा जैसे राज्यों में प्रति व्यक्ति परिव्यय का स्तर भी बहुत कम है, जबकि केरल और गुजरात जैसे राज्यों में प्रति व्यक्ति परिव्यय का स्तर ऊँचा है।

केंद्रीय निधियों की उपलब्धता सीमित होने के कारण व्यय तथा वास्तविक आवश्यकताओं के बीच तालमेल नहीं होता। वर्ष 1986-87 में राज्य के कुल व्यय में शिक्षा संबंधी अनुदान का अंश केवल एक प्रतिशत था। कुल केंद्रीय परिव्यय में सरकारी शिक्षा संबंधी वित्त पोषण का अंश मात्र 10 प्रतिशत था। इसके अलावा प्राथमिक स्कूलों में कम भर्ती और स्कूल छोड़ने की ऊँची दर से यह प्रतीत होता है, कि प्राथमिक शिक्षा पर आनुपातिक रूप से अधिक खर्च किया जाना जरूरी है। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता। माध्यमिक स्कूलों पर इससे कहीं अधिक खर्च किया जाता है। पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में प्राथमिक स्कूल छोड़ने वालों की ऊँची दर के बावजूद माध्यमिक शिक्षा पर होने वाले खर्च में वृद्धि की गई है। शिक्षा संबंधी खर्चों में अपव्यय भी शामिल हैं।

यदि हम स्वास्थ्य पर होने वाले खर्चों की ओर ध्यान दें तो पाएंगे कि वर्ष 1986-87 में सकल घरेलू उत्पाद का 1.6 प्रतिशत ही स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं पर खर्च किया गया। चूँकि कई मंत्रालय स्वास्थ्य से जुड़े कार्यक्रम चलाते रहते हैं, इसलिए स्वास्थ्य संबंधी व्यय के तत्वों का निर्धारण कर पाना कठिन है। बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में 1986-87 में प्रति व्यक्ति परिव्यय निम्नतम था। आंध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक सहित अनेक अन्य राज्यों में सामाजिक सुविधाओं पर हुए कुल खर्च की तुलना में स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं पर खर्च में कमी आई हैं।

शिक्षा की तुलना में स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं में खर्च का केंद्रीय योगदान बहुत अधिक है। आई.सी.डी.एस. पर किए जाने वाले खर्च को छोड़कर केंद्र, स्वास्थ्य सेवाओं के लिए सार्वजनिक व्यय का लगभग एक चौथाई वित्त की व्यवस्था करता है और राज्य सरकार के खर्चों का लगभग 20 प्रतिशत की व्यवस्था करता है।

यहाँ दो अन्य बातों का उल्लेख किया जा सकता है। पहली, उपचारात्मक और निवारक सेवाओं संबंधी खर्च का पता लगाना कठिन होता है। दूसरी, जल आपूर्ति और सफाई संबंधी खर्च में सफाई और मल निकासी योजनाओं पर किए जाने वाले खर्च में कमी आई है।

समग्र रूप से पूरी बात संक्षेप में इस प्रकार कही जा सकती है कि सामाजिक क्षेत्रों के लिए

आबादी ससाधन आवश्यकता से बहुत कम रहे। राज्यों में व्यय-आवश्यकता अंतराल में भी अंतर है। आवश्यकता की तुलना में सामाजिक खर्च उन राज्यों में निम्नतम दिखाई देता है, जहाँ शिक्षा तथा स्वास्थ्य का स्तर भी निम्नतम है। बहुत से राज्यों में शिक्षा और स्वास्थ्य से भिन्न अन्य सामाजिक सेवाओं पर कुल खर्च की राशि बढ़ी है। इसके अलावा सामाजिक सेवाओं के अंतर्गत आने वाले उन क्षेत्रों में वृद्धि नहीं दिखाई देती है, जिन क्षेत्रों का इस्तेमाल गरीब कर रहे हों, जैसे—प्राथमिक शिक्षा और प्राथमिक स्वास्थ्य देख-रेख सुविधाएँ।

बोध प्रश्न 3

1) उन रोगों के नाम बताइए, जिनसे स्वास्थ्य के लिए भारी खतरा उत्पन्न होता है और वह आयु वर्ग भी बताइए जो रोगों से सबसे अधिक प्रभावित होता है।

.....

.....

.....

.....

.....

2) शिक्षा और स्वास्थ्य के बारे में वित्त व्यवस्था प्रणाली की पाँच मुख्य खामियाँ बताइए

.....

.....

.....

.....

.....

19.8 सारांश

इस इकाई में हमने उन मुख्य उपायों और नीतियों के बारे में चर्चा की है जिसे सरकार ने गरीबी में सुधार लाने के लिए अपनाया है। हमने देखा कि आरंभ में देश में प्रगति मूलक कार्यनीति अपनायी गयी। यह नीति तब अपनाया गयी जब यह पता चल गया कि संवृद्धि (growth) के पहले पुनर्वितरण की नीति व्यवहार्य नहीं है।

आगे चलकर संवृद्धि उन्मुख नीति, अपेक्षा से बहुत कम सफल हुई और पुनर्वितरण के साथ वृद्धि के लिए नए उपाय अपनाए गए। इसके अंतर्गत तीन प्रकार की नीतियाँ अपनाई गई—क्षेत्र आधारित उपाय, गरीबी हटाओ और रोजगार सृजन के लिए एक "लक्ष्य आधारित समूह हिताधिकारी कार्यक्रम", और न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम।

हमने यह भी देखा है कि न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम पाँचवीं योजना के दौरान शुरू किया गया था यह किसी कार्यक्रम के रूप में नहीं था बल्कि यह विभिन्न क्षेत्रीय कार्यक्रमों का एक संकलन था। बाद की योजनाओं में छोटे-मोटे परिवर्तन किए गए। "लक्ष्य आधारित समूह हिताधिकारी केंद्रित कार्यक्रम" के लिए गरीबी निवारण और रोजगार सृजन कार्यक्रम जैसे एस.एफ.डी.ए. और एम.एफ.ए.एल.। रोजागर सृजन कार्यक्रम के तहत पी.आई.आर.ई.पी., सी.एस.आर.एफ. और एफ.एफ.डब्ल्यू आरंभ में शुरू किए गए। आगे चलकर गरीबी हटाओं के लिए मुख्य कार्यक्रम समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम और रोजगार सृजन के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और आर.एल.ई.जी.पी. शुरू किए गए जो आगे चलकर जवाहर रोजगार योजना में मिला दिए गए।

क्षेत्र आधारित कार्यक्रम के लिए भी हमने सी.ए.डी.पी., डी.डी.पी और डी.पी.ए.पी. के कार्य पर चर्चा की है। हमने इन कार्यक्रमों की कुछ क्रियात्मक त्रुटियों का भी उल्लेख किया है।

अंत में हमने दो सामाजिक सेवाओं जैसे—स्वास्थ्य और शिक्षा के बारे में भी संक्षेप में चर्चा की है।

19.9 शब्दावली

बाड़बंदी : निर्गम द्वार के अन्तर्गत ही जल वितरण की चक्रीय प्रणाली का आरंभ।

आर्थिक सहायता : बाजार कीमत और लाभग्राही क्रयदाता द्वारा प्रदत्त कीमत के बीच अंतर, यह अंतर सरकार द्वारा पूरा किया जाता है।

19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बंधोपाध्याय, डी (1986) : *ए स्टडी ऑन पॉवर्टी एलीवेशन इन रूरल इंडिया थ्रू स्पेशल एम्प्लायमेंट जेनरेशन प्रोग्राम,* एशिया एम्प्लायमेंट प्रोग्राम, आई एल ओ-ए आर टी ई पी, नई दिल्ली।

चक्रवर्ती, सुखमय, (1987) : डिवलपमेंट प्लानिंग—*दि इंडियन एक्सपीरिएंस,* ओ यू पी, नई दिल्ली।

चटर्जी, मीरा (1988) : *इम्प्लीमेंटिंग हेल्थ पॉलिसी,* मनोहर पब्लिसिंग कंपनी, नई दिल्ली।

कुरियन, एन जे (1987): *आई आर डी पी हाऊ रेलिवेंट इज इट?* इकोनॉमिक एंड पोलिटिकन वीकली, दिसंबर 26, 1987

तेंदुलकर, सुरेश डी (1983) : *इकोनॉमिक इनइक्वलिटी इन इंडियन पर्सपेक्टिव''* इन अंद्रे बिटिल (संपादक) इक्वलिटी एंड इनइक्वलिटी ऐन इंडियन पर्सपेक्टिव, ओ यू पी, नई दिल्ली।

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर या उत्तर संकेत

बोध प्रश्न 1

1) आयोजकों द्वारा प्रगति मूलक कार्यनीति अपनाये जाने का अभिप्राय गरीबी उन्मूलन की उपेक्षा नहीं था। उनका यह विश्वास था कि प्रगति द्वारा ही गरीबी उन्मूलन संभव है। वे "ट्रिकल डाउन" अर्थात विकास का लाभ गरीबी तक पहुँचेगा और आय प्रवाह दृष्टिकोण के प्रति आशान्वित थे।
   (संकेत : इन अवधारणाओं के लिए अनुच्छेद 19.2 देखिए)।
2) अनुच्छेद 19.2.3 पढ़िए और उत्तर तैयार कीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) अनुच्छेद 19.3 एवं 19.4 की सहायता से उत्तर तैयार कीजिए।
2) अनुच्छेद 19.6.2 पढ़िए और उत्तर देने का प्रयास कीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) डायरिया, साँस की बीमारियाँ, निमोनिया, कुपोषण और संक्रमणकारी-शिशु रोग जैसे पोलियो, डिपथीरिया और मेजल्स क्वीनवार्म आदि। वह वर्ग जिसे रोग लगने का भय सर्वाधिक है, जैसे महिला शिशु, गर्भावस्था में महिलाएँ तथा सभी वर्गों के निर्धन व्यक्ति।
2) अनुच्छेद 19.7.1 एवं 19.7.3 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

NOTES

NOTES